ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क १५

जैन-जागरणके अग्रदूत

बीसवीं शताब्दीके दिवगत और वयोवृद्ध
प्रमुख दिगम्बर जैन कार्यकर्त्ताओंके
सस्मरण एव परिचय

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

जैन-जागरणके अग्रदूत

"क़ौम जाग उठती है अक्सर इन्हीं अफसानोंसे ।"

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

परिचय-तालिका

[त्याग और साधनके पावन-प्रदीप]

[तत्त्वज्ञानके आलोक-स्तम्भ]

[नवचेतनाके प्रकाशवाह]

——:o:——

प्रकाशकीय

१. इस प्रथम भागमें पहली पीढ़ीके उन दि० जैन कुलोत्पन्न २९ दिवंगत और ८ वर्त्तमान वयोवृद्ध महानुभावोंके संस्मरण एवं परिचय दिये गये हैं, जो बीसवी शताब्दीके लगभग प्रारम्भसे लोकोपयोगी कार्य्यों अथवा जैनसमाजके जागरणमें किसी-न-किसी रूपमें सहयोग देते रहे है।

२. दूसरी पीढ़ीके उन प्रमुख व्यक्तियोंका परिचय जो १९२० के आस-पास कार्य्य-क्षेत्रमें आये, द्वितीय भागमे दिया जायगा। पहली पीढ़ीके साथ द्वितीय पीढ़ीको बिठाना उपयुक्त नहीं समझा गया।

३. यूं तो न जाने कितने त्यागी, विद्वान्, सुधारक, लोकसेवक, साहित्यिक, दानवीर और मूक साधक जैनसमाजमें हुए और हैं; किन्तु उन सभीका परिचय पाना, लिखना, लिखाना किसी भी एक व्यक्ति द्वारा सम्भव नही। यह महान् कार्य्य तो समूचे समाजके सहयोगसे ही सम्भव हो सकता है। ज्ञानपीठ तो एक प्रथाका उद्घाटन कर रहा है। अब यह समाजके लेखकोंका कर्तव्य है कि वे जिनके बारेमें जानकारी रखते हैं, उनके सम्बन्धमें लिखें और इस प्रथाको अधिकाधिक विकसित करें। सुरुचिपूर्ण संस्मरणोंका 'ज्ञानोदय' सदैव स्वागत करेगा।

४. हम कब तक इतिहासके अभावका रोना रोते रहेंगे? हमारे पूर्वजोंका इतिहास जैसा चाहिए वैसा उपलब्ध नहीं है, तो न सही। हमें नये इतिहासका निर्माण तो अविलम्ब प्रारम्भ कर ही देना चाहिए। जो हमारी समाजकी विभूतियाँ हमारे देखते-देखते ओझल हो गईं, या आज भी जिनका दम ग़नीमत है, उनका परिचय तो शीघ्र-से-शीघ्र लिख ही डालना होगा। अन्यथा जो उलाहना आज हम अपने पूर्ववर्त्ती

लेखकोंको देते रहे है, वही उलाहना आगेकी पीढ़ी हमें देनेको मजबूर होगी।

५. हमें खेद है कि इन महानुभावोंके सम्बन्धमें अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी कुछ नही दिया जा सका--डिप्टी चम्पतराय, पं० चुन्नीलाल, पं० बालमुकन्द, जैनी जीयालाल, जैनी ज्ञानचन्द, तीर्थभक्त ला० देवीसहाय, ला० शिब्बामल, ला० जगन्नाथ जौहरी, पं० मेवाराम रानीवाले, बा० ऋषभदास वकील, बा० प्यारेलाल वकील, पं० वृजवासी लाल, जिनवाणीभक्त ला० मुसद्दीलाल, रायबहादुर पारसदास।

६. पुस्तकमें कई महानुभावो का परिचय क़तई अधूरा है। हम उनका विस्तारसे परिचय देना चाहते थे। लेकिन उनके कुटुम्बियों, समकालीन सहयोगियों-मित्रोंको अनेक पत्र लिखने पर भी सफलता नहीं मिली। यहाँ तक कि कई व्यक्तियो की तो जन्म-मरण की तिथियाँ भी विदित न हो सकी; और जो मिली भी वे बेतरतीब। कहीं, जन्म-समय तिथि-संवत्का उल्लेख है तो मृत्यु-समय तारीख सन् का।

७. एक-दो को छोडकर प्रायः सभी चित्र पुराने पत्र-पत्रिकाओंसे लेकर नये सिरेसे उनका डिज़ाइन कराके ब्लाक बनवाये है। यदि चित्र सुन्दर मिलते तो ब्लाक भी उतने ही आकर्षक होते। कई चित्र तो मिल ही नही सके।

यह एक जलती मशाल है !

"जैन जागरणके अग्रदूत" नामकी एक पुस्तक ज्ञानपीठ प्रकाशित कर रहा है। उसमें आपके भी कुछ लेख ले रहा हूँ। जानता हूँ इसमें कोई ऐतराज़ तो आपको हो ही नहीं सकता; इसलिए यह सिर्फ़ इत्तला है।"

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीयका बहुत दिन हुए यह पत्र मिला, तो सचमुच मैंने इसे एक मामूली इत्तला ही माना और यह इत्तला बस मेरे दिमाग़को ज़रा यो ही छूकर रह गई, पर ज्यों-ज्यो पुस्तकके छपे फ़र्मे मेरे पास आते गये, मै रसमें डूबता गया—जैसे अनेक बार हरकी पैड़ियाँ उतरकर ब्रह्मकुण्डमें नहाया हूँ, और आज जब यह पुस्तक पूरी हो रही है, तो मुझे लगता है कि रोज़-रोज़ छपकर हमारे हाथों आनेवाली पुस्तकोंकी तरह यह कोई पुस्तक नही है, यह तो एक जलती मशाल है।

जलती मशाल : जो हमारे चारो ओर फैले और हमें पूरी तरह घेरकर खड़े हुए भूतोकी भीड़-से अँधेरेको चीरकर हमें राह दिखाती है। राह; जिसपर हमारे पैर हमें हमारी मंज़िलकी ओर लिये चलें और राह—जिसपर हमारे दिल-दिमाग़ दूर तक साफ़-साफ देख सकें !

एक घना अँधेरा है, जो हमें चारो ओरसे घेरे खड़ा है। वह अँधेरा है–'आज' के मोहका। हम हर बातमें 'आज' को कलसे अधिक महत्त्व देते हैं। अधिक महत्त्व देना कोई बुरी बात नही, अनहोनी घटना भी नहीं; क्योंकि हमारी आँखें देखनी ही हैं, हमारे सामनेकी चीज—न पीछे, न बहुत आगे, पर हम आजके इस मोहमें कलकी उपेक्षा करते है।

कल : जो कल बीत चुका और कल, जो कल आयेगा। एक कल, जिसने अपनेको मिटाकर, खपाकर हमारे आजकी नींव रक्खी और एक

कल, जो अपनेको छिपाये, गुमनाम रक्खे, हमारे जीवनमहलके गुम्बदोंपर स्थापित करनेके लिए सोनेके कलश गढ़े जा रहा है !

नीव : जिसके बिना अस्तित्व नहीं और कलश, जिसके बिना व्यक्तित्व नहीं; तो 'कल' ही है, जो हमारी सम्पूर्णताकी रचनामें अपनी सम्पूर्णताका आत्मार्पण किये जा रहा है और उसके ही द्वारा रचित है वह सम्पूर्णता हमारी, जिसके गर्वमें, दर्पमें और भुलावेमें पड़े हम उसकी उपेक्षा करें !

कल : जो कल बीत चुका और कल, जो कल आयेगा !

× × ×

एक घना अँधेरा है, जो हमें चारों ओरसे घेर खड़ा है। यह अँधेरा है—आजकी उपेक्षाका। हम हर बातमें कलके गीत गाते हैं, कलके सपने देखते हैं। कल : जो बीत गया, और कल, जिसका अभी कोई अस्तित्व नहीं। कलके गीत और कलके सपने कोई बुरी बात नहीं, क्योंकि स्मृतियों का आधार है कल और कल्पनाओंका आगार है कल, पर हम कल और कलके मोहमें आजकी उपेक्षा करते हैं।

× × ×

आजका मोह, कलकी उपेक्षा, एक अँधेरा !
कलका मोह, आजकी उपेक्षा, दूसरा अँधेरा !!
फिर स्वस्थता कहाँ है ? प्रकाश कहाँ है ?

स्वस्थता और प्रकाश जीवनके व्यापक तत्त्व हैं। स्वस्थता, तो फिर सम्पूर्ण स्वस्थता और प्रकाश तो बस प्रकाश ही प्रकाश। एकांगिता अन्धकार है, समन्वय प्रकाश ! एकान्तवादी दृष्टिकोण है अन्धकार और अनेकान्तवादी दृष्टिकोण है प्रकाश !!

हम कल थे, हम आज हैं, हम कल होंगे और यों हमारा अस्तित्व कलसे कलतक फैला है। एक कल हमारी बायीं मुट्ठीमें, एक दायीमें और हमारे साँस आजकी हवामें। हम देखें पीछे, हम जियें आज, हम बढ़ें आगे। पीछे देखनेका अर्थ है जीवनके अनुभव, आज जीनेका अर्थ है जीवनकी साधना, आगे बढ़नेका अर्थ है जीवनकी सिद्धिका विश्वास !

जीवनके अनुभव, जीवनकी साधना, जीवनकी सिद्धि, इनमें किसी एककी भी उपेक्षाका अर्थ है खण्डित जीवन और खण्डित जीवन निश्चय ही खण्डित देहसे बड़ी विडम्बना है।

यह पुस्तक हमें जीवनकी इस विडम्बनासे बचाती और जीवनकी स्वस्थ राह दिखाती है। हम उनका अभिनन्दन करें, जो कल आजका निर्माण कर गये; हम इस तरह जियें कि कलके निर्माता हों और यही मैं कहता हूँ—रोज-रोज छपकर हमारे हाथो आनेवाली पुस्तकोंकी तरह यह कोई पुस्तक नही, यह तो एक जलती मशाल है!

× × ×

पुरानोकी स्मृतिका अभिनन्दन, हमारे लिए कोई नई बात नही। हमारा ही राष्ट्र तो है, जिसने जीवितोके प्रति श्रद्धाके साथ मृतकोंका श्राद्ध करनेकी महान् प्रथाका आविष्कार किया और हमीं तो हैं, जिनके आँगनमें प्यारकी स्मृति ताजमहल बन, संसारका सातवाँ आश्चर्य हो गई!

पुरानोंकी स्मृतिका अभिनन्दन, हमारे लिए कोई नई बात नही, पर हमी तो है, जिनका इतिहास दूसरोंका अन्दाज बनकर जी रहा है और हमी तो हैं, जिनके पास, अपने शहीदोंकी एक सूची तक नही। पुरानी बात मैं नही कहता, यही १८५७ से १९४७ तकके स्वतन्त्रता-युद्धमें बलि हुए शहीदोंकी सूची!

१८५७; जब घने अंधकारमें पड़े-सोते राष्ट्रके जीवनमें ग़ैरतकी पहली पौ फटी और १९४७; जब कुलमुलाते, करवट बदलते राष्ट्रके जीवनमें स्वतन्त्रताका सूर्योदय हुआ। ४३ साल वे; और ४७ साल ये! ग़ैरतसे आज़ादी तकके नये जागरणके पथचिह्न; जो कुछ हमारे चलते पैरो रौंदे गये और कुछ समयकी हवासे धुंधले पड़ चले।

हम लापरवाही और प्रमादका मद पिये पड़े रहें और अपनी घड़ीको भी उसकी ख़ूराक न दे, गतिहीन रक्खें, पर समयकी गतिका रोकना तो हमारे वश नही! और कौन-सा कायर है, जिसे समयकी गतिने धुंधला कर मिटा न दिया? तो हम चाहें या न चाहें, समयकी हवा नये जागरण-

के इन असुरक्षित धुँधले पथचिह्नोंको धुन्दकी तरह उड़ानेमें चूकेगी नहीं। और ये पथचिह्न ही तो हैं, जो भविष्यमें हमारे नये जागरणके इतिहास-निर्माणका बल होंगे।

'जैन-जागरणके अग्रदूत' अपनी दिशामें इन धुँधले और मिटे जा रहे पथचिह्नोंको श्रद्धासे, श्रमसे, सतर्कतासे समेटकर सेफमें रख लेनेका ही एक मौलिक प्रयत्न है और यह प्रयत्न अपनी जगह इतना सफल रहा है कि 'आज' उसका मान करनेमें चूक भी जाये, तो 'कल' उसका सम्मान कर स्वयं अपनेको कृतार्थ मानेगा।

× × ×

इस प्रयत्नकी मौलिकतापर हम एक नजर डालते चलें। हम संक्रान्ति-कालसे गुज़र रहे है, जब बहुत कुछ पुराना टूट रहा है और नया बन रहा है। हर आदमी निर्माता नही होता और टूटफूटकी अव्यवस्थामें घबराया-सा रहता है। अव्यवस्थाकी इसी घबराहटमें आज हम जी रहे हैं और इस स्थितिमें नहीं हैं कि अपने जागरणका इतिहास लिखनेको पलौथी मार बैठें! उधर समयकी हवा पुराने पथचिह्नोंके खण्डहरोंका मलवा साफ़ करनेमें तेजीसे लगी है, तो आज जो अनिवार्य है, वह यही कि हम अपने-अपने हिस्सेकी स्मृतियोंका चयन कर लें। इस चयनमें इतिहासका ठोस होगा, तो काव्यकी तरलता भी। यह ठोस भविष्यमें इतिहासका ईंट-चूना, तो यह तरलता उसे जोड़नेकी प्रेरणा और यों दोनों ही अत्यन्त उपयोगी।

यह पुस्तक, यह जलती मशाल, इस चयनका महत्त्व बताती, उसका तरीक़ा सिखाती और नये जागरणके भिन्न-भिन्न क्षेत्रोके साधकोंको हाँक लगाती है। मेरा विश्वास है कि यह हाँक कण्ठकी नहीं, हृदयकी है और कानों तक ही नही, दिलोंकी गुफाओं तक गूँजेगी!

× × ×

यहाँ जो लेख हैं, वे जीते-जागते लेख हैं और 'वकालतन' नहीं, जनता की अदालतमें 'असालतन' आनेवालोंमें हैं। वे न उनकी क़लमके आँसू

हैं, जो पैसे लेकर स्यापा करते हैं और न उनके ओठोंकी मुस्कराहट, जो दिलके सोते-सोते भी ओठोंसे हँसना जानते हैं। वे उनकी क़लमके करिश्मे हैं, जो अपने ही दुखमें रोते और अपने ही सुखमें हँसते हैं। यही कारण है कि भीतरके पन्नोंकी तसवीरोंमें रंगोंकी चमक भले ही कहीं हल्की हो, भावनाओंकी दमक हर जगह झलकी हुई है। हाँ, उनसे कुछ कहनेकी अभिरुचि मुझमें नही, जो अध्ययनके लिए नही, गेटप देखकर अलमारीमें सजानेके लिए ही किताबें खरीदते हैं। जानता हूँ ज्ञानपीठका प्रकाशन-मानदण्ड उनकी प्यासके लिए भी पर्याप्त है, पर मै अपनी सिफ़ारिशका आधार उसे क्यों दूँ !

और अब इस चयनके माली श्री गोयलीयके लिए क्या कहूँ, जो सदा साधनोंकी उपेक्षा कर, साधनाके ही पीछे पागल रहा और जिसके निर्माण में स्वयं ब्रह्माने पक्षपात कर शायरका दिल, सिंहका साहस और सपूतकी सेवावृत्तिको एक ही जगह केन्द्रित कर दिया।

हमारे ही बीच है, वे जो धर्मशाला बनाते हैं और हमारे ही बीच हैं, वे जो मन्दिरोंका निर्माण करते है, पर क्या इस पुस्तकका निर्माण धर्मशाला और मन्दिरके निर्माणसे कम पवित्र है ?

सहारनपुर, **कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'**
१८ दिसम्बर १९५१

ये टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ

हमारे यहाँ तीर्थङ्करोंका प्रामाणिक जीवन-चरित्र नहीं, आचार्योंके कार्य-कलापकी तालिका नहीं, जैन-संघके लोकोपयोगी कार्योंकी सूची नहीं; जैन-सम्राटों, सेनानायकों, मंत्रियोंके बल-पराक्रम और शासन-प्रणालीका कोई लेखा नही, साहित्यिकों एवं कवियोंका कोई परिचय नही। और-तो-और, हमारी आँखोंके सामने कल-परसों गुज़रनेवाली विभूतियोंका कही उल्लेख नही; और ये जो दो-चार बड़े-बूढ़े मौतकी चौखटपर खड़े है; इनसे भी हमने इनके अनुभवोंको नहीं सुना है, और शायद भविष्यमें दस-पाँच पीढ़ीमें जन्म लेकर मर जानेवालों तकके लिए परिचय लिखनेका उत्साह हमारे समाजको नहीं होगा।

प्राचीन इतिहास न सही, जो हमारी आँखोंके सामने निरन्तर गुज़र रहा है, उसे ही यदि हम बटोरकर रख सकें, तो शायद इसी बटोरनमें कुछ जवाहरपारे भी आगेकी पीढ़ीके हाथ लग जाएँ। इसी दृष्टि से—

बीती ताहि बिसार दे आगेकी सुध लेहि

नीतिके अनुसार संस्मरण लिखनेका डरते-डरते प्रयास किया। डरते-डरते इसलिए कि प्रथम तो मै संस्मरण लिखनेकी कलासे परिचित नहीं। दूसरे अत्यन्त सावधानी बरतते हुए भी यत्र-तत्र आत्म-विज्ञापनकी गन्ध-सी आने लगी। नौसिखुआ होनेके कारण इस गन्धको निकालनेमें समर्थ न हो सका। तीसरे मेरा परिचय क्षेत्र भी अत्यन्त संकुचित और सीमित था। फिर भी साहस करके दो-एक संस्मरण, पत्रोको भेज दिये। प्रकाशित होनेपर ये अनसँवरी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ भी अपनोंको पसन्द आईं, और उन्हींके आग्रहपर ये चन्द संस्मरण और लिखे जा सके।

इन संस्मरणोंको ज्ञानपीठकी ओरसे पुस्तकाकार प्रकाशित करनेकी बात उठी तो मुझे स्वयं यह प्रयत्न अधूरा और छिछोरापन-सा मालूम देने लगा। "इन्हीं महानुभावोंके संस्मरण क्यों प्रकाशित किये जायें, अमुक-अमुक महानुभावोंके संस्मरण भी क्यों न प्रकाशित किये जायें?" यह स्वाभाविक प्रश्न उठना लाज़िमी था। लोकोदय-ग्रन्थमालाके विद्वान्

और यशस्वी सम्पादक भाई लक्ष्मीचन्द्रजीकी सम्मतिसे निश्चय हुआ कि ये संस्मरण निम्नलिखित चार भागोमें प्रकाशित किये जायें—

प्रथम भागमें—पहली पीढ़ीके उन दिवंगत और वर्त्तमान वयोवृद्ध दि० जैन कुलोत्पन्न विशिष्ट व्यक्तियोंके संस्मरण एवं परिचय दिये जायें जो बीसवी शताब्दीके पूर्व या प्रारम्भमे समाज-सेवाकी ओर अग्रसर हुए।

द्वितीय भागमें—दूसरी पीढ़ीके उन महानुभावोंका उल्लेख रहे, जो १९२० के बाद कार्य-क्षेत्रमें आये।

तृतीय-चतुर्थ भागमें—श्वेताम्बर-स्थानकवासी जैन प्रमुखोंके परिचय १९०१ से १९५२ तकके दिये जायें।

इस निर्णयके अनुसार प्रथम भागकी जो तालिका बनी, उन सबपर किसी एक व्यक्ति द्वारा लिखा जाना क़तई असम्भव और उपहासास्पद प्रतीत हुआ। अतः निश्चय हुआ कि प्रत्येक व्यक्तिका संस्मरण एवं परिचय सम्बन्धित और अधिकारी महानुभावोसे लिखाये जायें और अधिक-से-अधिक जानकारी दी जाय, ताकि पुस्तक इतिहास और जीवनीका काम भी दे सके।

जितना मैं लिख सकता था, मैंने लिखा, अनुनय-विनय करके जितना लिखवा सकता था, लिखवाया। जीवन-चरित्रों, अभिनन्दन-ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओंसे जो मिल सका, चयन किया। मेरे निवेदनको मान देकर—महात्मा भगवानदीनजी, भाई प्रभाकरजी, श्री खुशालचन्द्रजी गोरावाला, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य पं० नेमिचन्द्रजी, पं० नाथूराम जी प्रेमी, पं० रूपचन्द्रजी गार्गीय, श्री कौशलप्रसादजी, गुलाबचन्द्रजी टोंग्या, प० हरनाथ द्विवेदी, श्री हुकमचन्द्रजी बुखारिया, श्रीमती कुन्था देवी जैनने संस्मरण एवं परिचय भेजनेकी कृपा की है। इन्हीके लेखों से पुस्तकमें निखार आया है, और इन्हींके सौजन्यसे पुस्तक अपने वास्तविक उद्देश्यकी पूर्ति कर सकी है।

डालमियानगर (बिहार) **अ० प्र० गोयलीय**

५ जनवरी १९५२
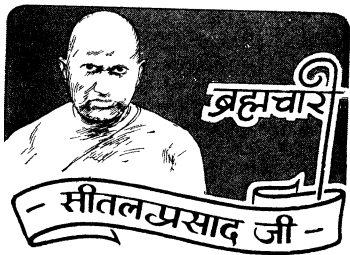
जन्म—	लखनऊ १८७९ ई०
दीक्षा—	सोलापुर १९११ ई०
स्वर्गवास—	लखनऊ १० फरवरी १९४२ ई०

जैनधर्म-प्रेमकी सजीव प्रतिमा

सर सेठ हुकमचन्द्र

पूज्य ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीको हम जैनधर्मके सच्चे महात्मा मानते हैं। धर्मकी वे एक सजीव मूर्ति थे। उनकी धार्मिक निष्ठा और लगनके कारण हमारी उनपर महान् श्रद्धा थी, और हम उनके प्रति बहुत पूज्य बुद्धि रखते थे। जब-जब वे इन्दौर पधारते हमें उनके दर्शन करके अत्यन्त खुशी होती थी; और एक दिन तो अवश्य उनके साथ जीमते थे।

वे एक महापुरुष थे।

स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीके साथ उनकी मेरी पहिली भेंट हुई थी। उनके अन्तिम दर्शन मुझे रोहतकमें हुए। रोहतकमें वे अस्वस्थ थे और विशेषकर उनके स्वास्थ्यको पूछनेके लिए और उनके दर्शन करनेके लिए हम रोहतक गये थे। चूंकि उस महान् आत्मामें हमारी अत्यन्त पूज्य बुद्धि थी।

जब-जब वे हमसे मिलते थे, तब-तब जैन विश्वविद्यालयकी स्थापनाके लिए अवश्य प्रेरणा करते थे। इस सम्बन्धमें उनकी बड़ी दृढ़ लगन और भावना थी। यह उनकी साधना अपूर्ण रह गई।

—वीर, ८ अप्रैल, १९४४

संस्मरण

गोयलीय

सन् १३ या १४ की बात है, मैं उन दिनों अपनी ननिहाल (कोसीकलाँ, मथुरा) की जैन पाठशालामें पढ़ा करता था। बालबोध तीसरा भाग घोटकर पी लिया गया था और महाजनी हिसाबमें कमाल हासिल करनेका असफल प्रयत्न जारी था। तभी एक रोज़ एक गेरुआ वस्त्रधारी—हाथमें कमण्डलु और बग़लमें चटाई दबाये क़सबेके १०-५ प्रमुख सज्जनोंके साथ पाठशालामे पधारे। चाँद घुटी हुई,चोटीके स्थानपर यूँही १०-५ रत्तीभर बाल, नाकपर चश्मा, सुडौल और गौरवर्ण शरीर, तेजसे दीप्त मुखाकृति देख हम सब सहम गये। यद्यपि हाथमें उनके प्रमाण-पत्र नही था, फिर भी न जाने कैसे हमने यह भाँप लिया कि ये कोरे बाबाजी नहीं, बल्कि बाबू बाबाजी हैं। साधु तो रोज़ाना ही देखनेमें आते थे, बल्कि आगे बैठने के लालचमें हम ख़ुद कई बार रामलीलाओंमें साधु बन चुके थे, परन्तु किताबी पाठके सिवा सचमुचके जीते जागते साधु भी जैनियोंमें होते हैं; इस विलुप्त पुरातत्त्वका साक्षात्कार अनायास उसी रोज़ हुआ। मैं आज यह स्मरण करके कल्पनातीत आनन्द अनुभव कर रहा हूँ कि बचपनमें मैंने जिस महात्माके प्रथमवार दर्शन किये, वे इस युगके समन्तभद्र ब्र० सीतलप्रसादजी थे।

विद्यार्थियोंकी परीक्षा ली। देव-दर्शन और रात्रि-भोजन त्यागका महत्त्व भी समझाया। दो-एक रोज़ रहे और चले गये, मगर अपनी एक अमिट छाप मार गये। जीवनमें अनेक त्यागी और साधु फिर देखनेको मिले, मगर वह बात देखनेमें न आई।

"तुलसी कारी कामरो, चढ़ौ न दूजौ रंग।"

सैकड़ों पढ़े हुए पाठ भूल गया। जीरेकी बजाय सौंप और धनियेके बजाय अजमायन लानेकी मैंने अक्सर भूल की। पर न जाने क्यों ब्र० सीतलप्रसादजीको जो पहलीवार देखा तो फिर न भूला।

उस बोरिया नशींका[1] दिलीमें मुरीद हूँ।
जिसके रियाज़ों ज़ुहदमें[2] बूएरिया[3] न हो॥

—अज्ञात

सन् १९१९ में रौलटऐक्ट विरोधी आन्दोलनके फलस्वरूप अध्ययनके बन्धनको तोड़कर सन् २० मे में दिल्ली चला आया। उसी वर्ष ब्रह्मचारीजीने दिल्लीके धर्मपुरेमे चातुर्मास किया। भूआजीने रातको आदेश दिया कि प्रातःकाल ५ बजे ब्रह्मचारीजीको आहारके लिए निमन्त्रण दे आना, निमन्त्रण विधि समझाकर यह भी चेतावनी दे दी कि "कही ऐसा न हो कि दूसरा व्यक्ति तुमसे पहले ही निमन्त्रण दे जाय और तुम मुँह ताकते ही रह जाओ।"

ब्रह्मचारीजीके चरणरज पड़नेसे घर कितना पवित्र होगा, आहार देनेसे कौन-सा पुण्य वन्ध होगा, उपदेश-श्रवणसे कितनी निर्जरा होगी और कितनी देर संवर रहेगा—यह लेखा तो भूआजीके पास रहा होगा, मगर अपनेको तो बचपनमें देखे हुए उन्ही ब्रह्मचारीजीके पुनः दर्शनकी लालसा और निमन्त्रण देनेमें पराजयकी आशकाने उद्विग्न-सा कर दिया, बोला—

"यदि ऐसी बात है तो मैं वहाँ अभी जा बैठता हूँ, अन्दर किसीको घुसते देखूँगा तो उससे पहले मैं निमन्त्रण दे दूँगा।"

भूआजी मेरे मनोभावको न समझ कर स्नेहसे बोली—"नहीं, बन्ने! (दूल्हा) अभीसे जानेकी क्या ज़रूरत है! सवेरे-सवेरे उठकर चले जाना।"

---

१ बोरिया अथवा चटाई पर बैठा हुआ तपस्वी। २ व्रत और त्यागमें। ३ बनावटकी गन्ध।

मजबूरन रातको सोना पड़ा, मगर उत्साह और चिन्ताके कारण नीद नहीं आई; और ३-४ बजे ही पहाड़ी धीरजसे दो मील पैदल चलकर धर्म-पुरे पहुँचा तो फाटक बन्द मिला। बड़ा क्रोध आया—"अभीतक मन्दिरके नौकर सोये ही हुए हैं। लोग निमन्त्रण देने चले आ रहे हैं, मगर इन्हें होश तक नहीं। ऐसे मूर्ख हैं कि एक रोज़ भी दर्वाज़ा बन्द करना नही भूलते, गावदी कहींके!"

अन्धेरेमें ही दरवाज़ा खुला तो मालूम हुआ कि ब्रह्मचारीजी मन्दिरकी छतपर हैं। जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ चढ़कर मैं चाहता था कि ब्रह्मचारीजीके पाँव छूकर निमन्त्रण दे दूँ, कि देखा ब्रह्मचारीजी अटल समाधिमें लीन हे। सुहावनी ठण्डी-ठण्डी हवामें मीठी नीद छोड़कर विदेह बने बैठे हैं। भक्तिविभोर होकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उठकर सतर्कतासे इधर-उधर देखता रहा कि कोई अन्य निमन्त्रणदाता न आन कूदे; और इसी भयसे मन्दिरके आदमीसे तनिक ऊँची आवाज़में पूछ भी लिया कि ब्रह्मचारीजी कितनी देरमें सामायिकसे उठेंगे, मै उन्हें निमन्त्रण देने आया हूँ। ताकि ब्रह्मचारीजी भी सुन लें और अब और किसीका निमन्त्रण स्वीकृत न कर ले। निश्चित समयपर सामायिकसे निवृत्त हुए, निमन्त्रण मंजूर किया और सानन्द आहार और उपदेश हुआ।

तबसे यानी सन् '२० से ब्रह्मचारीजीके स्वर्गासीन होनेतक—रोहतक, पानीपत, सतना, खण्डवा, लाहौर, बड़ौत, दिल्ली आदिके उत्सवोंपर पचासों बार साक्षात्कार हुआ, उत्तरोत्तर श्रद्धा बढ़ती ही गई। जैनधर्म के प्रति इतनी गहरी श्रद्धा, उसके प्रसार और प्रभावनाके लिए इतना दृढ़प्रतिज्ञ, समाजकी स्थितिसे व्यथित होकर भारतके इस सिरेसे उस सिरे तक भूख और प्यासकी असह्य वेदना को बसमें किये रातदिन जिसने इतना भ्रमण किया हो, भारतमें क्या कोई दूसरा व्यक्ति मिलेगा? आज महात्मा गांधीके थर्डक्लासमें सफ़र करनेपर लोगोंको आश्चर्य होता है। जबकि उनका थर्डक्लास भी फर्स्टसे अधिक उपयोगी बन जाता है और साथमें सेवा-शुश्रूषाके लिए एक खासा दल साथ रहता है। पर जैन

समाजके किसी धनिकने इस तपस्वीको इण्टरका भी टिकिट लेकर नहीं दिया। वही धकापेलवाला थर्डक्लास, उसीमें तीन-तीन वक्त सामायिक, प्रतिक्रमण। उसीमें जैनमित्रादिके लिए सम्पादकीय लेख, पत्रोत्तर, पठन-पाठन अविराम गतिसे चलता था। मार्गमें अष्टमी, चतुर्दशी आई तो भी उपवास, और पारणाके दिन निश्चित स्थानपर न पहुँच सके तो भी उपवास और २-३ रोज़के उपवासी जब सन्ध्याको यथास्थान पहुँचे तो पूर्व सूचनाके अनुसार सभाका आयोजन, व्याख्यान, तत्त्वचर्चा !

न जाने ब्रह्मचारीजी किस धातुके बने हुए थे कि थकान और भूख-प्यासका आभास तक उनके चेहरेपर दिखाई न देता था।

ब्रह्मचारीजी जैसा कष्टसहिष्णु और इरादेका मज़बूत लखनऊ-जैसे विलासी शहरमें जन्म ले सकता है, मुझे तो कभी भी विश्वास न होता, यदि ब्रह्मचारीजी इस सत्यको स्वयं स्वीकृत न करते। भला जिस शहर-वालोको बग़ैर छिला अंगूर खानेसे क़ब्ज़ हो जाय, ककड़ी देखनेसे जिन्हें छींक आने लगे, तलवार बन्दूकके नामसे जम्हाइयाँ आने लगें, उस शहरको ऐसा नरकेशरी उत्पन्न करनेका सौभाग्य प्राप्त हो सकता है ? परन्तु धन्य है लखनऊ ! मुझे तो लखनऊमें उत्पन्न होनेवाले बन्धुओ--लाला बरारतीलालजी, जिनेन्द्रचन्द्रजी आदिसे ईर्ष्या होती है कि वे उस लखनऊ में उत्पन्न होनेका सौभाग्य रखते है, जिसे ब्रह्मचारीजीकी बालसुलभ अठखेलियाँ देखनी नसीब हुईं और परिषद्के सभापति दानवीर सेठ शान्ति-प्रसादजीने जिसकी रजको मस्तकसे लगानेमें अपनेको गौरवशील समझा।

मुझे सन् २७-२८ के वे दुर्दिन भी याद हैं, जब चाणक्यको अँगूठा दिखानेवाले एक मायावी पंडितजीके षड्यन्त्र स्वरूप उन्होने सनातन जैन समाजकी स्थापना कर दी थी। वे इसके परिणामसे परिचित थे। इसी-लिए उन्होंने उक्त संस्थाकी स्थापनासे पूर्व उन सभी जैन-संस्थाओंसे त्याग-पत्र दे दिया था, जिनसे उनका तनिक भी सम्बन्ध था। क्योंकि वे स्वप्न में भी उन संस्थाओंका अहित नहीं देख सकते थे; किंतु जो अवतरित ही ब्रह्मचारीजीको मिटानेके लिए हुए थे, उन्हें केवल इतनेसे सन्तोष न

हुआ। वे ब्रह्मचारीजीके व्यक्तित्वको ही नहीं, अस्तित्वको भी मिटानेके लिए दृढ़संकल्प थे। इस भीष्म पितामहपर धर्मकी आड़में प्रहार किये गये।

आचार्य शान्तिसागरजीके संघको उत्तर भारतमें लाया गया। सम्मेद शिखरपर बृहद् महोत्सवका आयोजन किया गया और इस बहाने गाँव-गाँव और शहर-शहरमें यह संघ भ्रमण करता हुआ सम्मेदशिखर पहुँचा। ब्रह्मचारीजीके व्यक्तित्व और प्रभावके ईर्ष्यालु कुछ लोग इस संघमें घुस गये और ब्रह्मचारीजीके विरोधमें विष-वमन करने लगे। इन धर्मके ठेकेदारोंने भोली-भाली धर्मभीरु जनताको धर्म डूबनेकी दुहाई देकर उत्तेजित कर दिया। ब्रह्मचारीजीका बहिष्कार कराया गया, और तारीफ़ यह कि यह बहिष्कार-लीला केवल एक ही जगह करके आत्मसुख नहीं मिला। गाँव-गाँवमें यह लीला दिखाई गई। मुनिसंघ और अखिल भारतीय महासभाका प्रमाण-पत्र ही इसके लिए काफ़ी नहीं था, इसपर गाँव-गाँवकी जनताके हस्ताक्षर भी ज़रूरी थे। मानो वे ऐसे मुजरिम थे कि क़त्ल-नामेपर जजके हस्ताक्षरोंके अलावा चपरासी, पटवारी और चौकीदारके दस्तख़त भी लाज़िमी थे।

लाओ तो क़त्लनामा मेरा, मैं भी देख लूँ।
किस-किसकी मुहर है, सरे महज़र[1] लगी हुई॥

—अज्ञात

यह ऐसी आँधीका बवण्डर था कि इसमें अच्छे-से-अच्छे ब्रह्मचारी जीके भक्त उखड़ गये। जो उखड़े नहीं, वह झुककर रह गये। दो-चार खड़े भी रहे तो ठुण्ठकी तरह बेकार, कुछ सूझ ही न पड़ता था कि क्या किया जाय? उनके ही शहरोंमें उनकी ही उपस्थितिमें यह सब कुछ हुआ, पर वे एक आह भी मुँहसे न निकाल सके। पुलिसकी बर्छियोंका सामना करनेवाले जैन कांग्रेसी भी इन अहिंसकोंकी सभामें बोलनेका साहस

---

१ वह क़ाग़ज़ जिसपर न्यायाधीशोंने निर्णय लिखा हो।

न कर सके। बैरिस्टर चम्पतरायजी और साहित्यरत्न पं० दरबारीलालजी (वर्तमान स्वामी सत्यभक्त) जैसे प्रखर और निर्भीक विद्वान् साहस बटोरकर गये भी, मगर व्यर्थ।

उन्हे भी तिरस्कृत किया गया, बेचारे मुँह लटकाये चले आये। "सीतलप्रसादको ब्रह्मचारी न कहा जाय, उसे आहार न दिया जाय, धर्म-स्थानोमें न घुसने दिया जाँय, उसे जैन संस्थाओसे निकाल दिया जाय, उसके व्याख्यान न होने दिये जायँ, उसके लिखने और बोलनेके सब साधन समाप्त कर दिये जाँय।" यही उस समयके जैन-धर्मोपयोगी नारे उस संघने तजवीज किये थे।

ब्रह्मचारीजीके भक्तोने उन्हे काफ़ी समझाया कि इस समय समाज काफ़ी क्षुब्ध कर दी गई है; सनातन समाजके प्रचारको छोड़ दीजिये, थोडे दिन भ्रमण बन्द रखिये। भ्रमणमे योग्य स्थान, आहार, व्याख्यान-आयोजनोंकी तो असुविधा रहेगी ही, पानी छानकर पीनेवाले बहुतसे लोग आपका अनछना लहू पीना भी धर्म समझेगे!

भक्तोने काफ़ी उतार-चढावकी बातें की; मगर वे टस-से-मस न हुए। वही धुन अविराम बनी रही। दिवाकर उसी गतिसे चलता रहा। आँधियाँ, मेह, तूफ़ान, भूकम्प, राहु, केतु सब मार्गमें आये, मगर वह बढता ही गया, उसकी गतिमे कोई बाधा न डाल सका।

अहले हिम्मत मंज़िले मक़सूद तक आ ही गये।
बन्दये तक़दीर क़िस्मतका गिला करते रहे॥

—चकबस्त

उन्होंने सब सस्थाओसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था, परन्तु स्याद्वाद विद्यालयके भूलसे सदस्य बने रह गये। उन्हें यह ध्यान ही न आया कि उनका सदस्य रहना भी विद्यालयके लिए घातक समझा जायगा। अतः उनको सदस्यतासे पृथक् करनेके लिए भी एक सर्कूलर जारी किया गया। स्व० रायबहादुर साहू जुगमन्दरदासजीके पास भी यह प्रस्ताव सम्मत्यर्थ आया। मै उनके पास उस समय मौजूद था।

वे पत्र पढ़कर विह्वल-से हो गये, मैंने घबराकर सबब पूछा तो चुपचाप पत्र सामने रख दिया। मैं पत्र पढ़ ही रहा था कि बोले—"गोयलीय ! उस विद्यालयके उत्सवोंपर जैनेतर विद्वान् तो सभापति हो सकते हैं, जो न जाने कैसे-कैसे अपने विचार रखते हैं और वे ब्र० सीतलप्रसादजी सदस्य भी नही रह सकते, जिन्होंने उसके निर्माणमें जीवन समर्पित कर दिया है।" कहते, कहते जी भर-सा आया, मेरे मुँहसे बे साख्ता निकल पड़ा—

तेरी गलोमें मैं न चलूँ, और सबा चले।
जो ख़ुदा ही यह चाहे तो, फिर बन्दे की क्या चले॥

—अज्ञात

सुना तो उठकर चले गये, फिर उस रोज़ मुलाक़ात न हो सकी। दूसरे रोज जो उन्होने पत्र स्याद्वाद विद्यालयके अधिकारी वर्गको लिखा, काश वह पुरानी फाइलोंमें मिल सके तो वह भी इतिहासकी एक अमूल्य निधि होगी।

इन्ही आँधी तूफ़ानोंके दिनों (सन् २८ या २६) में पानीपतमें श्री ऋषभजयन्ती-उत्सव था। मै और स्वर्गीय पं० वृजवासीलालजी वहाँ गये थे। रात्रिके ८ बजे होगे, सभामण्डपमें हिसाब आदिको लेकर खासी गर्मा-गरम बहस हो रही थी। मैं सोच ही रहा था कि आज क्या खाक सभा जम सकेगी कि प० वृजवासीलालजी बदहवास-से मेरे पास आये और एकान्तमें ले जाकर बोले—"गोयलीय ! अनर्थ हो गया, अब क्या होगा ?"

मै घबराकर बोला—"पण्डितजी, खैर तो है, क्या हुआ ?"

वे पसीनेको चान्दपरसे पोंछते हुए बोले—"बाबाजी स्टेशनपर बैठे हुए हे" और यह कहकर ऐसे देखने लगे जैसे किसी भागी हुई स्त्रीके मरनेकी खबर फैलानेके बाद, उसे पुनः देख लेनेपर होती है। मुझे समझते देर नहीं लगी कि ये बाबाजी कौन-से हैं और क्यों आये हे। बात यह थी कि पानीपतमें ब्रह्मचारीजीके भक्त काफ़ी थे, उन्होंने आनेके लिए उन्हें

निमंत्रण भी दिया था, पर इस हवामें कुछ विरोधी विचारके भी हो गये थे, उन्होंने ब्रह्मचारीजीको न आनेका तार दे दिया।

स्थानीय उत्सव था, कोई अखिल भारतीय तो था नहीं। चाहते तो आना टाला जा सकता था; परन्तु विरोधी तार पहुँचनेपर तो मानो उनको चुनौती मिल गई कि सब कार्यक्रम छोड़कर पानीपत आगये। वहाँके सुधारक भी नहीं चाहते थे कि व्यर्थमें आपसमें मनमुटाव बढ़े और अभिलाषा यही रखते थे कि समयाभाव बस न आ सकें तो अच्छा ही है।

लेकिन जब यकायक उनके आनेका समाचार मिला तो मानो अँधेरेमें साँपपर पाँव पड़ गया। अब स्थानीय मनमुटावकी बात तो गौण हो गई, उनके मानापमानकी समस्या खड़ी हो गई। ऐसे अवसरोंपर स्थानीय कार्यकर्त्ताओंकी स्थिति बड़ी नाजुक हो जाती है। घरमें ही दलबन्दी शुरू हो जाती है। रात-दिनके उठने-बैठनेवाले भी विरोध करने लगते हैं! मित्र भी शत्रु पक्षमें जा खड़े होते हे। खैर, जैसे-तैसे ब्रह्मचारीजीको सभामें लाया गया।

सभाका अध्यक्ष भी उन्हींको चुना गया तो एक दो व्यक्तियोंने कुछ पक्षियो-जैसी आवाज़में फब्ती कसी। मुझे ही सबसे पहले बोलनेको खड़ा किया गया। अभी मुँह खोला भी न था कि बाहर दर्वाज़ेपर लोग लाठियाँ लेकर आ गये। इधर से भी लोग सामना करनेको जा डटे। हम परेशान थे कि क्या आज सचमुच हमारे जीतेजी ब्रह्मचारीपर हाथ छोड़ दिया जायगा? उन दिनो मैं आर्यसमाजी टाइप डंडा अपने साथ रखता था, लपककर उसे उठा लिया और आवेश भरे स्वरमें बोला—"ब्रह्मचारीजी, अब आप व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दें, देखें कौन माईका लाल आप तक बढ़ता है।"

ब्रह्मचारीजी सिहर-से गये, बोले—"भाई शान्त रहो, मेरा व्याख्यान करा दो, फिर चाहे मेरा कोई प्राण ही निकाल दे।"

आखिर पाला सुधारकोंके हाथ रहा और मुट्ठी भर विरोधी खदेड़कर दूर भगा दिये गये। उन दिनों पानीपतमें पं० अरहदासजी जीवित

थे। क्या ही पुरानी वजअ्-कतअके धर्मात्मा जीव थे। उनकी मृत्युसे पानीपतकी समाजको बहुत गहरी क्षति पहुँची है। आज भी बा० जय-भगवानजी वकील जैसे दार्शनिक और ऐतिहासिक विद्वान्, पं० रूपचन्दजी गार्गीय आदि जैसे धर्मोपकारी मनुष्य पानीपतमें मौजूद है। इन्हीं सबके साहस और सतर्कतासे उस रोज़ पानीपतके सुधारकोंको पानी देखने को मिला। पहले तो ब्रह्मचारीजीको केवल धर्मोपदेशके लिए ही निमंत्रित किया गया था। अब विरोधी पक्षके इस रवैयेसे चिढ़कर वहाँके कुछ लोगोंने, जो विधवा-विवाहके पक्षपाती थे—दूसरे रोज़ एक सार्वजनिक सभाका बहुत बड़ा आयोजन किया। कानमें भनक पड़ी कि कुछ लोग ब्रह्मचारीजी-की नाक काटनेको फिर रहे है। सुना तो मै और पं० वृजवासीलालजी भौंचक रह गये। हे भगवन्! जब उन्हीकी नाक चली जायगी, तब हमारी नाककी क़ीमत भी क्या रहेगी? पानीपतमें आकर बुरे फँसे। बादशाही लड़ाइयोका पानीपत क्षेत्र रहा है, यह तो इतिहासमें पढ़ा था, पर हम भी कभी जा फँसेगे, यह कभी ख्यालमें भी न आया था। सभा-स्थान जैन-अजैन जनतासे खचाखच भरा था, विरोधी भी डटे खड़े थे। जहाँ तक ख्याल है उस सभाके अध्यक्ष बा० जयभगवान्जी बनाये गये थे। प्रारम्भमे ही खड़े होकर उन्होंने जो मौलिक सारगर्भित, प्रामाणिक, नपा-तुला भाषण दिया तो मैं स्तब्ध-सा रह गया! पानीपत ४-५ बार व्याख्यान देने गया था, परन्तु बा० जयभगवान्जीका व्याख्यान नही सुना था। यह तो जानता था कि ये एक सुलझे हुए और दार्शनिक व्यक्ति हैं, परन्तु इतना गहरा अध्ययन है और ऐसा मर्मस्पर्शी भाषण दे लेते है, यह नहीं मालूम था। इनके बाद ब्रह्मचारीजीका भाषण हुआ, उनके भाषण सैकड़ों बार सुने थे, परन्तु उस रोज़-जैसा भाषण फिर सुननेको नहीं मिला। सभा शान्त थी और यह मालूम होता था कि किसी जादू-गरने मोहनी डाल दी है।

सन् ४० में रुग्ण होकर रोहतकसे दिल्ली आये। २-४ रोज़ रहकर लखनऊ जब जाने लगे तो कारमें बैठते हुए बोले—"गोयलीय! हमारा

जमाना समाप्त हुआ, अब तुम लोगोका युग है। कुछ कर सको तो कर लो, समाज-सेवा जितनी अधिक बन सके कर लो, मनुष्य-जन्म बार-बार नही मिलनेका. . .. "कहते हुए गला रुँध गया। मै टप-टप रोने लगा, पाँव तो छू सका पर मुँहसे न बोला गया। उस समय यह आभास भी न हुआ कि समाजके प्रति इतनी मोह-ममता रखनेवाला व्यक्ति लखनऊ जाकर यूँ निर्मोही हो जायगा और जिस लखनऊने उसे दिया था, वही हमसे बिना पूछे-ताछे अपने उदर-गह्वरमें रख लेगा।

ब्रह्मचारीजीकी मृत्युपर पत्रोने आँसू बहाये, शोक-सभाएँ भी हुई। शीतल-होस्टल, शीतल-वीर-सेवा-मन्दिर और शीतल-ग्रन्थमालाकी योजनाएँ भी कुछ दिनो बड़ी सरगर्मीसे चली, पर आखिर सब सीतल-स्मारक--शीतल होकर रह गये।

—वीर, १५ फरवरी, १९४७ ई०

इस युगके समन्तभद्र

साहू शान्तिप्रसाद

पूज्य ब्रह्मचारीजी इस युगके समन्तभद्र थे, पर इस युगने अपने समन्तभद्रको पहचाननेमें कितनी देर कर दी! मन चाहता है, आज वह जीवित होते और हम उनके इशारे पर अपना जीवन न्यौछावर कर सकते! पर यह होने का नहीं; और आदमी खोकर ही दुर्लभ को पहचानता है!

पूज्य ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी जैन-भारतीके मन्दिरकी देवली पर ज्ञान की जो अखंड ज्योति जला गये हैं, वह युग-युग तक ज्ञाताका मार्ग प्रदर्शन करेगी और ज्ञेयको आलोकित करेगी। सच पूछिये तो उन्होंने समाजको जीवन देनेके लिए स्वयं अपने जीवनको, और इससे भी अधिक, अपने जीवनके उपार्जित यश की भी बलि चढ़ा दी!

जीवन-झाँकी

श्री राजेन्द्रकुमार, भू० पू० प्रधानमंत्री, जैन-परिषद्

ब्रह्मचारीजीका जन्म लाला मक्खनलालकी धर्मपत्नी श्रीमती नारायणी देवीके उदरसे सन् १८७९ ई० मे लखनऊमें हुआ था। जिस गृहमे आप का जन्म हुआ, वह कालामहलके नामसे प्रसिद्ध है। आपने १८ वर्षकी आयुमें मेट्रिक्युलेशनकी परीक्षा प्रथम श्रेणीमें तथा ४ वर्ष बाद रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेजसे एकाउण्टेण्टशिपकी परीक्षा पास की। परीक्षाएँ पास करनेके बाद आपको गवर्नमेंट सर्विस मिल गई। इतनी शिक्षा प्राप्त कर लेने तथा गवर्नमेंट सर्विस मिलनेसे कोई बाबू सीतलप्रसादजीकी विशेषता या मान्यता बढ गई हो सो बात नहीं; बल्कि **"होनहार बिरवानके होत चीकने पात"** वाली कहावतके अनुसार पूज्य ब्रह्मचारीजीमें बाल्यकालसे ही उन उत्तम गुणोंका समावेश पाया जाता था, तथा उनका हृदय उन शुभ भावनाओंसे ओत-प्रोत दिखाई देता था, जो गुण और भावनाएँ उदीयमान नेताके लिए उपयुक्त होती हैं। इसकी झाँकी ब्रह्मचारीजीके उस सर्वप्रथम लेखमें मिलती है जो २४ मई सन् १८९६ ई० के "हिन्दी जैन गजट" में प्रकाशित हुआ था, उस लेखका कुछ अंश निम्न प्रकार है:—

"ऐ जैनी पंडितो ! यह जैनधर्म आप ही के आधीन है। इसकी रक्षा कीजिये, ज्योति फैलाइये, सोतोंको जगाइये और तन-मन-धनसे परोपकार और शुद्धाचार लानेकी कोशिश कीजिये, जिससे आपका यह लोक और परलोक दोनों सुधरे।"

१८वर्षकी आयुवाले उदीयमान समाजोद्धारक सीतलप्रसादके ये लेखांश धर्म-प्रचार और समाज-सेवाके सूत्र थे। विज्ञ पाठक देखेंगे कि इन सूत्रों का महाभाष्य ही ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीका जीवन कर्म-क्षेत्र रहा है।

या यों कहिये कि जैन-भवनमें ब्रह्मचारीजीकी जीवनज्योति इनके निमित्त ही प्रकाशित रही।

गृहस्थ, आकस्मिक घटना

आपका विवाह कलकत्ताके वैष्णव अग्रवाल छेदीलालजीकी सुपुत्रीसे हुआ था। आपने अपनी धर्मपत्नीको धार्मिक शिक्षा और संस्कारोंसे आदर्श पत्नी बनाया था। उन्होंने अपने मानव शरीरको केवल अपनी गृहस्थ-रूपी गाड़ीके खींचने ही में नही लगाया; बल्कि बीसवी सदीमें जैन-समाज का उत्कर्ष और जैन-धर्मका अनन्य प्रचार करनेमें लगाया। भावी-घटनाओके घटित होनेके लिए परिस्थितियाँ स्वयं पथ निर्माण कर लेती हैं। सन् १९०४ ई० में प्लेगने देशमें नरसंहार करके त्राहि-त्राहि मचा दी थी। इसी महामारीमें १३ फरवरीको उनकी आदर्श पत्नी, ९ मार्चको जननी तथा १५ मार्चको अनुज पन्नालालजी सदाके लिए सो गये। इसे हम समाजके लिए भगवान्‌की गुप्त देन कहें तो अनुचित न होगा हालाकि वेदना कितनी तीव्र हुई होगी, इसका पाठक स्वयं अनुमान लगा लें।

अग्नि-परीक्षा

इस प्रकार एक महीनेमें ही स्नेही सबंधियोके आकस्मिक वियोगके कारण गृहस्थ सीतलप्रसादजीकी जीवन-नाट्यशालासे मोह-यवनिका उठ चुकी थी; किन्तु अभी उनकी अग्नि-परीक्षा और भी शेष थी। इसके लिए आपने प्रतिदिन सैद्धान्तिक ग्रंथोंके स्वाध्याय और सामाजिक सेवाओं द्वारा पर्याप्त बल प्राप्त कर लिया था। एक ओर तो सरकारी नौकरीमें पद और वेतनवृद्धिकी बलवती आशा, प्रौढ़ावस्थाकी उठती हुई हिलोरें, कुटुम्बियों, संबधियों और सहयोगियोंका पुनः पुनः गृहस्थी बसानेका आग्रह, कन्याओंका सौदर्य्य, योग्यता और उनके पिताओंका संबंध स्वीकार करनेकी प्रार्थना आदि, दूसरी ओर गृहस्थ सीतलप्रसादजीके मनमें समाजसेवाकी लगन। सीतलप्रसादजी इस अग्नि-परीक्षामें पूरे उतरे। जैन ग्रंथोंके स्वाध्याय ने आपके हृदयको विषय-वासनाओंसे विरक्त तथा समाजसेवाके लिए

बलिष्ठ बना दिया था। आपने १६ अगस्त सन् १६०५ ई० को अपनी सरकारी नौकरीसे त्याग पत्र दे दिया। अब आपके समयका बहुभाग उच्चकोटिके ग्रंथोंके मनन करने और समाज-सेवाओंमें व्यतीत होने लगा।

स्व० सेठ माणिकचन्दजीके साथ

इसी वर्ष दिसम्बरमें श्री भा० दिगम्बर जैन महासभाका अधिवेशन सहारनपुरमें था। इस अधिवेशनके सभापति प्रसिद्ध दानवीर से० माणिकचन्द्र हीराचन्द्र जे० पी० थे। इसी समय आपका विशेष परिचय सेठजीसे हुआ। स्व० सेठजी सच्चे कार्यकर्त्ताओंके पारखी थे। आपने वैरागी, जिनधर्मभक्त और सच्चे समाजसेवी श्री ब्रह्मचारीजीको अपने यहा बंबईमें रहनेके लिए आग्रह किया। श्री ब्रह्मचारीजीने उनके पास रहकर उनको धार्मिक कार्यों और समाज-सेवाके लिए उकसाया और अपना सहयोग दिया। स्व० सेठजीने बंबई, सांगली, आगरा, अहमदाबाद, शोलापुर, कोल्हापुर, लाहौर आदि स्थानोंमें जैन बोर्डिंग हाउस, सभा आदि जैनोपयोगी अनेक संस्थाओंको स्थापित किया था। इनमें अधिकतर स्व० ब्रह्मचारीजीका ही हाथ था। स्व० सेठजी प्रत्येक धार्मिक और सामाजिक कार्योंमें पूज्य ब्रह्मचारीजीसे सम्मति लेते थे। सेठजी ब्रह्मचारीजीकी प्रेरणासे अपना व्यापार छोड़कर समाज-सेवाके कार्योंमें संलग्न हो गये। इस प्रकार आपने सन् १६०६ तक स्व० सेठजीके साथ रहकर समाज-सेवा की।

दीक्षा, चरित्र-पालन

श्री ब्रह्मचारीजीके शुद्ध चरित्र-पालनके भाव और संस्कार बाल्यकालसे ही हो गये थे। ब्रह्मचारीजीके पितामह ला० मंगलसेनजी अपने समयका बहुभाग श्री गोम्मटसार, समयसार आदि सैद्धान्तिक ग्रंथराजोके अवगाहन और तत्त्वचर्चामें लगाते थे। ब्रह्मचारीजीके चरित्रमें धार्मिकता, जैनधर्ममें लगन और चरित्रनिष्ठाको निर्माण करनेकी आधार-शिलाका न्यास आपके पितामह द्वारा रक्खा जा चुका था। इसको स्वाध्याय,

सत्संग और आत्ममननने और बढाया । अंतमें आपने ३२ वर्षकी आयुमें सन् १९११ ई० के मार्गशीर्ष मासमे श्री ऐलक पन्नालालजीके समक्ष शोलापुरमें ब्रह्मचर्य-प्रतिमा धारण कर ली। ब्रह्मचारीजी चरित्रके बड़े पक्के थे। शुद्ध-आहार, प्रासुक जल, और शुद्धताके बड़े कट्टर पक्षपाती थे। रेलके सफ़रमें दो-दो दिन व्यतीत हो जाते थे, पर आप इनमें जरा भी शिथिलता नहीं होने देते थे। त्रिकाल-सामायिक, ग्रथोके स्वाध्याय आदि दैनिक-चर्यामे कभी कमी नही होने पाती थी।

उनका वेष

गृहस्थ अवस्थामें लखनवी देशी चलनकी पोशाक और सातवी प्रतिमा धारण करनेके पश्चात् रंगीन गेरुआ शुद्ध खादीकी धोती चादरमे बहुत ही भव्य मालूम होते थे। प्रथम रगीन कपडे जैनमहिलारत्न मगन बाईजी-ने तैयार किये थे। खद्दरका उपयोग उनका चिरसगी रहा। उनकी शव-यात्रापर भी खद्दरके तिरंगे झंडे उनके स्वदेशी वेषकी रागिनी गा रहे थे।

उनका भाव

अध्यात्म रसमे उनका अंतरंग रँगा हुआ था। उदारता, सहिष्णुता और विश्वकल्याण उनकी अपनी विशेषता थी। जैनोमें, अजैनोंमे, स्वदेश में, विदेश मे—जैनत्वकी झलक भरनेका प्रयत्न करना उनकी श्वासोका मधुर संगीत बन गया था।

वे पडितोमें पंडित थे और बालकोंमें विद्यार्थी। उदारता और कट्टरताका उनमें विलक्षण समन्वय था। आटा हाथका पिसा हो, मर्यादाके अन्दर हो, जल छना हुआ तथा शुद्ध हो, गृहस्थकी जैनधर्ममें निःशकित श्रद्धा हो, वही उनका आहार होता था। उनका आहार-विहार शास्त्रोक्त था। साथ ही उनका दृष्टिकोण उदार था। सुधारकों में वे उग्रतम सुधारक थे। कुरीतियों और लोकमूढ़ताओके लिए तो वे प्रलयंकारी ज्वाला थे। जननी जातिकी उन्नतिके लिए उनका हृदय तड़पता था।

असाधारण मिशनरी !

"आप क्या स्वाध्याय करते हैं ?" जैनोंसे यह उनका पेटेण्ट प्रश्न था। "जैन धर्मकी छायामें आप भी आत्मकल्याण करें" अजैनोंके लिए उनका यह पवित्र संदेश था। इसी रटनामें उन्होंने अटकसे कटकतक और कन्याकुमारीसे रासकुमारीतक भ्रमण किया। बौद्ध संस्कृति और साहित्यसे निकट संपर्क स्थापित करनेके लिए वे लंका भी गये। शहरोंमें ही नहीं, देहातोंमें भी उन्होंने जाग्रतिका मंत्र फूँका।

आप अजैन विद्वानोंके सामने एक सच्चे जैन मिशनरीकी स्प्रिटसे जा पहुँचते थे। आज पंजाब विश्वविद्यालयके वाइस चान्सलर प्रो० वुल्नर को प्रभावित कर विश्वविद्यालयमें जैनदर्शन प्रचारकी जड़ जमाई जा रही है तो कल राधा स्वामियोंके 'साहब' जीको जैनदर्शनकी खूबियाँ समझाने दयालबाग़ पहुँच रहे हैं।

तीर्थोद्धारक

जैन चिह्नोंकी जहाँ गंध मिली, अखंड जैनसंघकी कमनीय कल्पनामें रत ब्रह्मचारीजी वहीं खोजको डट गये। इटावाकी नसियाँ, कलुआ पहाड़ आदि अनेक क्षेत्रोंका अनुसंधान और उद्धार आपने किया। अलीगढ़ के एक पत्रसे आपको 'कैलाश यात्रा' का पता चला। उस पुस्तकको आपने तीर्थक्षेत्र कमेटीसे प्रकाशित कराया। तीर्थक्षेत्रोंके रक्षार्थ आपने पूरा प्रयत्न किया।

जैनोंकी बाइबिल

'द्रव्यसंग्रह' और 'तत्त्वार्थसूत्र' को वे "जैनोंकी बाइबिल" समझते थे। जहाँ जाते, योग्य छात्रोंको पढ़ाते। इन ग्रंथोंका अधिक-से-अधिक प्रचार करते।

वे राष्ट्रिय थे !

राजनीतिमें उनके विचार कांग्रेसके समर्थक थे। श्री अर्जुनलालजी सेठीकी नज़रबंदीके विरोधमें आन्दोलनका नेतृत्व किया। हज़ारों हस्ताक्षर

कराकर मेमोरियल भेजे; फण्ड स्थापित किये। जैन धनिकों और वकील बैरिस्टरोंसे निर्भय होकर सहायताकी प्रेरणा की। राष्ट्रिय महासभाके प्रत्येक अधिवेशनमें वे शामिल होते थे।

आप जैन-पोलिटिकल कान्फ्रेंसके जन्मदाताओंमेंसे थे, जिसके द्वारा आप जैनों व राष्ट्रिय नेताओंमें सपर्क स्थापित करना चाहते थे।

कुछ लोगोंने उसमें अडंगा लगाया। इसपर आपने "जैन मित्र" द्वारा उनकी खूब खबर ली।

काशी स्याद्वादविद्यालयके "अधिष्ठाता" होनेके समय, विद्यालयका स्वयंसेवक-दल कानपुर काग्रेसके अवसरपर सेवार्थ गया।

५ दिसम्बर सन् १९४० ई० के 'जैनमित्र' में 'देशसेवा' शीर्षक लेख में आपने निम्न भाव प्रकट किये थे--

"भारतकी दशा दयाजनक है, देशसेवा धर्म है--कठिन व्रत है। यह एक ऐसा यज्ञ है, जिसमे अपनेको होम देना होता है।"

अंतमें आपने जैनसमाजको उपदेश दिया था कि "अपनेको भारतीय समझो। काग्रेसका साथ दो।"

उनकी प्रचार-शैली

ब्रह्मचारीजी विवादसे कोसो दूर रहते थे। अतएव अपने उग्र-से-उग्र आलोचकको भी वे उग्र उत्तर न देते थे। वे अपनी बात, युक्ति तथा प्रमाण सहित कहकर चुप हो जाते थे।

१९४०ई० मे--तारण तरण समाजके कुछ नेताओंने मूर्तिपूजा खंडन का आन्दोलन चलाया। शास्त्रार्थ करनेके लिए चैलेंज दिये जाने लगे। समाचार-पत्रोंमें वर्ष दो वर्ष तक पृष्ठके पृष्ठ खंडन-मंडनमें रँगे जाने लगे। ब्रह्मचारीजी शान्तिपूर्वक गतिविधिका अध्ययन करते रहे। नवम्बर १९४० ई० में यह आन्दोलन अप्रिय कटुताकी सीमा तक जा पहुँचा; तब ब्रह्मचारीजीने १२ दिसम्बर सन् १९४० ई० के 'जैनमित्र' द्वारा अपने तरुण तारण भाइयोंको समझाते हुए प्रतिपादन किया कि:--

(१) तारण स्वामीने कहीं भी मूर्ति-पूजाका खंडन नहीं किया है; निश्चय-नयकी अपेक्षा कथन किया है।

(२) तत्त्वार्थ-सूत्रकी मान्यता आपको भी है ही। उसमें स्थापना-निक्षेपका विधान है। इसलिए सिद्धान्ततः आप मूर्तिपूजाका विरोध कैसे कर सकते हैं ?

(३) समोशरणकी रचना आप स्वीकार करते ही हैं। उसमें भगवत् पूजन होता ही है। तब आप मूर्तिपूजाका विरोध नहीं कर सकते !

इस शीतल-वाणीने जादू कर दिया। वह आन्दोलन ही ठप हो गया। विरोधी आन्दोलनके प्रमुख सूत्रधार श्री जयसेनजी (क्षुल्लक) की विज्ञप्ति हम मई '४१ में पढते हैं—

"जो पूजीपति नाना मानसिक अत्याचार करते थे और हाँमें हाँ न मिलाने पर पीछी कमंडलु छुड़ानेकी धमकी देते थे, उनकी सेवामें मैंने पीछी कमंडलु भेज दिये है।"

गृहत्यागी—गृहस्थ

वैराग्यभावनाके वशीभूत घर छोड़कर भी वे समाजकी ममतामें माँकी तरह लिप्त थे ! अखिल जैन संघ उनका कुटुम्ब बन गया था। "अजितप्रसादजी ! तुम्हारी स्त्री चल बसी है—आओ त्यागी बनो।.... न सही वकालत तो छोड़ ही दो।" "भाई पन्नालालजी, चम्पतरायजीसे काम लेना चाहिए वरना वे फिर वकालतमें जा फँसेंगे।"

उनके इन शब्दोंमें—उनके महान् हृदयका चित्रण मिलता है। वस्तुतः धर्मप्रचार और समाजसुधारके लिए ब्रह्मचारीजीकी आशाएँ—वकीलों, बैरिस्टरों, विद्यार्थियों और नवयुवकोंपर खास रूपसे केन्द्रित थीं। इस क्षेत्रमें वे सदैव जाग्रत रहकर अपने मिशनका प्रचार करते रहे।

महासभामें कार्य्य

पूज्य ब्रह्मचारीजी श्री भा० दि० जैन महासभाके कार्योंमें बाल-अवस्थासे योग देते थे। आप इसके प्रत्येक वार्षिक अधिवेशनमें सम्मिलित

होते थे और इसकी उन्नतिकी चेष्टा करते थे। इसके मुखपत्र "जैन गज़ट" में आप समाज-सुधारके लेख देते रहते थे।

सन् १६०२ ई० में "जैन गज़ट" का प्रकाशन पूज्य ब्रह्मचारीजीके नियंत्रणमें लखनऊसे होने लगा। आपके २ या ३ वर्षके अथक परिश्रम और लगनने इसको उन्नत बना दिया और उसके फलस्वरूप यह पाक्षिकसे साप्ताहिक हो गया।

जैन-पत्रोंका सम्पादन

"जैनमित्र"का संस्थापन पं० गोपालदासजी "बरैया" ने किया था, तथा इसका संपादन भी कुछ समय तक उन्होंने ही किया। यह पत्र सर्वप्रथम बंबईसे पाक्षिक रूपमें निकला था। सन् १६०६ ई० में पूज्य ब्रह्मचारीजी इसके संपादक नियुक्त हुए। सन् १६२६ तक आपने इसका संपादन बड़ी योग्यता, निर्भीकता और श्रमसे किया। आपके संपादन कालमें समाज-सुधार, ऐतिहासिक खोज, जैनधर्म-प्रचार, सामाजिक संगठन, शिक्षाप्रचार आदि उपयोगी विषयोंपर उच्च कोटिके लेख और आपके महत्त्वपूर्ण संपादकीय वक्तव्य निकला करते थे। आप प्रायः प्रत्येक अंकमें धर्मात्माओंके लिए अध्यात्मरसका अमृत देते थे और साथ-साथमें "मॉडर्न रिव्यू" आदि अंग्रेज़ी पत्रोंसे इतिहास, कला, प्राचीनता आदि विषयोंकी अच्छी-अच्छी सामग्री संचित करके "जैनमित्र" के पाठकोंको प्रति सप्ताह देते थे। "मित्र" द्वारा आपने सच्ची समाज-सेवा और आदर्श धर्म-प्रचार किया। ब्रह्मचारीजीने "मित्र" द्वारा समाजमें जाग्रति ही नहीं, बल्कि उद्भट लेखकों और सुयोग्य संपादकोंको भी पैदा किया। ब्रह्मचारीजी अनेक जैन नवयुवकोंको लेख लिखनेकी प्रेरणा करते रहते थे।

"वीर" का संपादन भी आपके द्वारा बहुत समय तक हुआ है। आपके सम्पादकीय वक्तव्य और लेख मार्मिक और उच्च कोटिके होते थे। आपने परिषद्के उद्देश्योंके प्रचारमें बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आपके वक्तव्य और लेख नियमित रूपसे ठीक समयपर "वीर"में प्रकाशित होने के लिए प्राप्त होते थे। चाहे सफ़रमें हों, तूफ़ानी दौरेमें हों, रोगशय्यापर

हों, अथवा सभामें हों, लेखोंके पहुँचनेकी नियामकता (Regularity) कभी भंग नहीं हुई। आपका सदैव यही आदेश रहता था कि "वीर" के प्रकाशनमें देरी न हो। "सनातन जैन" पत्रकी स्थापना भी ब्रह्मचारीजी द्वारा ही हुई थी।

जैन-साहित्य-सेवा

ब्रह्मचारीजीकी साहित्यिक सेवा पत्रोंके संपादन तक ही सीमित नहीं थी। बल्कि उनके जीवनका बहुभाग जैन-साहित्यके निर्माणमें बीता है। आप प्रतिदिन प्रायः १२ घंटे तक लिखते रहते थे। ब्रह्मचारीजी द्वारा विभिन्न विषयोंपर रचना किये गये स्वतंत्र-ग्रंथों, भाषा टीकाओं और पुस्तकोंकी संख्या लगभग ७७ है; जिनका विभाजन विषयोंके अनुसार इस प्रकार है:—आध्यात्म-विषयक २६, जैनदर्शन और धर्मसंबंधी १८, नैतिक ७, अहिंसासंबंधी २, जीवनचरित्र ५, खोज तथा इतिहास संबंधी ६, काव्य २, कोष १, प्रतिष्ठा पाठ १, तारण साहित्य ६। इन ग्रंथोंके अतिरिक्त एक पुस्तक बा० कामताप्रसादजीके पास है, जो शिवचरनलाल फंडकी ओरसे प्रकाशित हो रही है। ब्रह्मचारीजीकी अंतिम पुस्तक "देव पुरुषार्थ" है, जिसे उन्होंने कंप रोगमें पूरा किया था। इनमेंसे अनेक सैद्धान्तिक ग्रंथोंके बड़े-बड़े पोथे प्राकृत और संस्कृत भाषाके हैं, जिनका पूज्य ब्रह्मचारीजीने बड़ी सरल और सरस भाषामें अनुवाद किया है। आज देशमें लाखों जिन-भक्त इन ग्रंथराजोंका स्वाध्याय कर आत्म-कल्याण कर रहे हैं। आपने जिस विषयको लिया है, उसे ख़ूब माँजा है। आपकी लेखन-शैली जैसी सरल और सरस है वैसी ही मनमोहक भी है।

बौद्ध-साहित्यका गहन-अध्ययन व फल

ब्रह्मचारीजी बौद्ध तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए लंका और वर्मा गये। वहाँ उन्होंने पाली भाषामें बौद्ध-साहित्यका गहन अध्ययन किया और "बौद्ध जैन तत्त्वज्ञान" नामक ग्रंथकी हिन्दी व अंग्रेजीमें रचना की, जिसमें आपने अकाट्य प्रमाणों और बौद्धिक सिद्धान्तोंसे प्रमाणित कर दिया है कि बौद्धदर्शनमें मांसाहार या मृतक जीवके मांस-भक्षणका विधान नहीं है।

विविध-भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान

पूज्य ब्रह्मचारीजी पठनावस्थासे ही अंग्रेजी, हिन्दी और उर्दू भाषाओं के ज्ञाता थे, किन्तु आपके ज्ञानकी भूख, तुलनात्मक अध्ययनकी लगन, समाज को विविध विषयोंके ज्ञान करानेकी प्रबल इच्छा और धर्म-प्रचारकी धुनने संस्कृत, फारसी, पाली, अपभ्रंश, प्राकृत, मागधी, कनड़ी, गुजराती और मराठी भाषाओंका भी ज्ञान प्राप्त करा दिया था। विशेष बात यह है कि यह ज्ञान उन्होंने अपने ही परिश्रमसे उपार्जित किया था।

स्तुत्य समाज-सेवा व पदवी-सम्मान

ब्रह्मचारीजीका कार्यक्षेत्र संपूर्ण समाज था। उस समाजकी उलझी हुई समस्याओंकी सुलझन, सेवा और अभ्युत्थानके निमित्त उनके इस मानव शरीरका सदुपयोग हुआ है। जिस समय वे समाजके कार्यक्षेत्रमें आये, कोई ऐसी व्यवस्थित सभा न थी, जिसके द्वारा समाजमें धर्मप्रचार, संगठन, शिक्षाप्रचार, कुरीतिनिवारण, रूढ़ियोंका दमन और जैन-समाजके स्वत्वों की रक्षा हो सके। उस समय समाजमें केवल दि० जैन महासभा थी। ब्रह्मचारीजीने इसीमें कार्य किया। इसके द्वारा ब्रह्मचारीजीने समाज की स्तुत्य सेवाएँ की। समाजमे सगठन, जनतामें जागरण और सुधारोंकी उत्सुकता उत्पन्न होने लगी। ब्रह्मचारीजीने स्याद्वाद विद्यालय काशी, श्री ऋषभब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुर, श्री जैन श्राविकाश्रम बंबई, जैनबाला-आश्रम आरा, श्री जैन व्यापारिक विद्यालय देहली, तथा अनेक जैन बोर्डिंग हाउसों और जैन पाठशालाओंका संस्थापन किया। इधर समाजकी अन्य शिक्षणसंस्थाओं, ग्रंथप्रकाशन समितियों और जैन-धर्म-प्रचारक मंडलोंको भी सहयोग और सहायता दी। जैन संस्थाओंके वार्षिकोत्सवों में सम्मिलित होना, उनकी उन्नतिका पथप्रदर्शन करना, नवयुवकोंको समाज-सेवाके लिए प्रेरित करना, शुद्ध आचरण फैलाना, जैन-तीर्थोंकी रक्षा, समाजके स्वत्वोंकी चिन्ता आदि विषयोंने ब्रह्मचारीजीको मूर्तिमान् जैन-संस्था बना दिया। यही कारण था कि २८ दिसम्बर सन् १९१३ ई० को काशीमें पूज्य ब्रह्मचारीजीके सम्मानके लिए डाक्टर हर्मन जैकोबी

की अध्यक्षतामें "जैनधर्मभूषण" पदवीका प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्तावका समर्थन विद्वद्वर पं० गोपालदासजी बरैयाने बड़े मार्मिक शब्दोंमें किया था, किन्तु इस महात्माने इस पदवी-दानके समाचार तक अपने पत्र में न दिये और न कभी इस पदवीको अपने नामके साथ लिखा ही।

समाज-संघर्ष

ब्रह्मचारीजीका कार्यक्षेत्र समाजमें व्यापक हो गया था। उनके समाज-सुधार सर्वांगीण और सार्वदेशिक थे। उनके लेखों, व्याख्यानों और प्रबल-प्रचारने समाजमें स्थान-स्थानपर सुधारक दल पैदा कर दिया था। इधर जैन-शिक्षण-संस्थाओंसे जैन विद्वान् भी तैयार होकर कार्यक्षेत्र में आने लगे। इन विद्वानोंके एक दल और सुधारक दलमें कुछ विचार-युद्ध चलने लगा। यद्यपि गुरु गोपालदासजीके जीवनकालमें ही समाजके इन दो दलोंमें विचार-विभिन्नता और कार्यक्षेत्रमें पथ-विभिन्नता दिखाई देती थी; किन्तु गुरु गोपालदासजीके प्रभाव और कार्यपटुतासे ये दोनों दल एक दूसरेके लिए मैदानमें नहीं उतरे थे। गुरु गोपालदासजीके स्वर्ग-वास होते ही इस पंडित-दलकी बागडोर स्व० पं० धन्नालालजीके हाथमें पहुँची। उधर सुधारक दलने जैन-ग्रंथों (पौराणिक ग्रंथों) की समीक्षा कर कुछ पंडितोंके हृदयमें यह आशंका पैदा कर दी थी कि ये सुधारक जैनधर्मको डुबो देंगे। इन दोनों दलोंमें यह भेदकी खाई बढ़ने लगी। महासभाकी सभासद्-नियमावलीमें बन्दिशें (Restrictions) होने लगी कि विजातीय विवाह, विधवा विवाह और छूताछूतके लोपक विचारोंके जन इसके सभासद् न हो सकेंगे; किन्तु कर्मशूर ब्रह्मचारीजी इसकी सेवामें ही लगे रहे। इन दोनों दलोंमें स्व० ब्रह्मचारीजीकी स्थिति अजीब थी। वे जैन-समाजसे दल-दलको अलग कर समाजका सर्वांगीण संगठन चाहते थे। वे शास्त्र-अविरुद्ध समाज-सुधारोंके पक्षपाती थे।

सन् १९२३ में श्री भा० दि० जैन महासभाका देहली अधिवेशन था। महासभाके पत्र "जैनगजट" का बहुभाग खंडन-मंडन और व्यर्थके लेखोंमें जा रहा था। पत्रका संपादन और प्रकाशन अच्छी तरहसे हो

इसके लिए सहायक संपादक पदके लिए श्रीमान् स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजीका शुभ नाम पेश किया गया; किन्तु पंडित-दलने इसका प्रबल-विरोध किया। पूज्य ब्रह्मचारीजीने पंडित-दलको बहुत आश्वासन दिया तथा समझाया, किन्तु पंडित-दल अपने हठपर डटा रहा।

परिषद्की स्थापना

जब ब्रह्मचारीजीको पूर्ण निश्चय हो गया कि इस संस्था द्वारा समाज की समुचित सेवा और कल्याण न हो सकेगा—इधर सुधारक-दल भी कार्यक्षेत्रके लिए संस्थाकी माँग कर रहा था—तब आपने उसी समय श्री भा० दि० जैन परिषद्की स्थापना की। परिषद् द्वारा समाजसेवा और अभ्युत्थानका आदरणीय कार्य किया। परिषद्के जन्मकालमें इसपर यह घोर संकट आया कि पडित-दलके प्रबल प्रोपेगेंडाके फलस्वरूप रा० ब० सेठ माणिकचन्द्रजीने इसके सभापति पदसे अपना त्यागपत्र दे दिया। उस समय नवजात परिषद् शिशुको पुनर्जीवित करनेका श्लाघनीय श्रेय पूज्य ब्रह्मचारीजीको ही है। परिषद्की स्थापना, रूपरेखा, ढाँचा, नीति-रीति और कार्यप्रणाली ये सब ब्रह्मचारीजी द्वारा ही निर्धारित हुई हैं।

परिषद्की स्थापनासे अनेक जैन-सुधारक कार्यक्षेत्रमें कूद पड़े। दस्सा पूजाधिकार, अन्तर्जातीय-विवाह, विजातीय विवाह आदि सुधारों का सूत्रपात शुरू हो गया। पंचायती-मरणभोज आदि रूढ़ियोंका मूलोच्छेद होना भी प्रारम्भ हो गया।

उग्र-सुधारक

समयकी प्रगति और समाजकी विकट परिस्थितिने जैनसमाजमें भी उग्रसुधारक दल उत्पन्न कर दिया। यह सुधारक दल प्रचार करने लगा कि पुरुषकी भाँति बालविधवाओंका भी पुनर्विवाह होना असंगत नहीं है। इस उग्रदलकी संस्थाका नाम "सनातन जैन समाज" था। इसकी स्थापना स्व० ब्रह्मचारीजी द्वारा हुई। इस संस्थाको स्थापित कर ब्रह्मचारीजीका मुख्य ध्येय समाजोन्नति तथा बालविधवाओंकी विषम और दयनीय स्थितिका सुधार करना था। इन्हीं दो उद्देश्योंकी ओर अपना

दृष्टि-कोण रखते हुए वे इस आन्दोलनकी आगमें एक दम कूद पड़े। उन्होंने अपनी मान, प्रतिष्ठा और पदकी भी चिन्ता नहीं की। उनके अनेक धार्मिक सहयोगी मित्रोंने उनके इस कार्यको धर्मके विरुद्ध माना; परन्तु अनेक सुधारकोंने इसे समयकी अत्यन्त आवश्यकता (Pressing necessity) समझकर उनका स्वागत किया।

सच्चे एकाउण्टेण्ट

अपनी शिक्षाको समाप्त कर प्रारम्भमें हम उन्हें रेलवे कम्पनीका अच्छा एकाउण्टेण्ट देखते हैं, जो अपने धार्मिक कर्तव्यको जैनधर्मके महान् दशलाक्षिणी पर्वके दिनोंमें दफ्तरके साहब द्वारा शास्त्र पढ़नेके लिए अवकाश मिलनेपर भी पहिले एकाउण्टेण्टके उत्तरदायित्वको पूरा करके ही करते हैं। आमतौरसे दफ्तरके कार्यकर्ता अपनी पदवृद्धि और वेतन-वृद्धिके लिए लोगोंसे बड़ी-बड़ी सिफारिशें पहुँचवाते हैं, किन्तु यहाँ दफ्तरका साहब स्वय बाबू सीतलप्रसादजीकी पदवृद्धि और वेतनवृद्धि करके अन्य लोगोंसे कहता है कि आप बाबू सीतलप्रसादजीको समझावें कि वे इसे स्वीकार करें और नौकरी न छोड़ें। बाबू सीतलप्रसादजी किसीकी चिन्ता न कर रेलवेकी नौकरीसे त्यागपत्र दे देते हैं; किन्तु एकाउण्टेण्टके कार्यको वे फिर भी नहीं छोड़ते। वे अपने जीवनकी एक-एक क्षणकी क्रियाओंका एकाउण्ट रखते हैं। एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते। वे पूर्वसे ही दिन में करने योग्य कार्य्योंको अपनी डायरीमें नोट कर लेते और रातको चतुर व्यापारीकी भाँति उनका मिलान करते और उनकी सफलता-विफलताको देखकर दूसरे दिनकी डायरीमें अपनी दिनचर्य्या बनाते। यह एकाउण्टेण्ट साहब अन्य जनोंको स्वाध्याय-प्रतिज्ञा, व्रत, नियम दिलाना, सामाजिक कार्य्य करनेके लिए औरोंको उत्तेजित करना आदिका ठीक-ठीक हिसाब (Account) रखनेके लिए दूसरोंको भी एकाउण्टेण्ट बनाते। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारीजी आरम्भमें रेलवेके एकाउण्टेण्ट थे तो अपने अन्तिम समय तक अपने तथा समस्त समाजके आध्यात्मिक एका-उण्टेण्ट रहे।

अपने ही पथपर

अपने शरीर और संसारसे विरक्त होकर वे आत्मसुखके लिए जीवन-साधनामें लगते हैं। वे अपने परमार्थको भी गौण कर समाजको समुन्नत बनानेके लिए अपने मानव-शरीरको लगाते हैं। अनेक पारमार्थिक सस्थाओंको संस्थापित कर उन्हे व्यवस्थित करते हैं। स्कूलों, विद्यालयों, पाठशालाओंको जन्म देते है। सभा-सोसाइटियोमें योग देते हैं। देशमें समाज-सुधारों और जैनधर्मप्रचारके लिए तूफानी दौड़ लगाते हैं। अपने जीवनके समयको स्याद्वाद साहित्यके प्रसारमें झोकते हे। अतः समाज उनकी पालकी उठाता है, किन्तु कर्तव्यवश जब वे अन्तर्जातीय विवाह, दस्सा पूजाधिकार, और असमर्थ बालविधवाओके पुनर्विवाहके लिए अपने स्पष्ट विचार प्रकट करते हैं तो जनता बहिष्कारकी कीचड़ फेंकती है, उनकी पदवियाँ छीनती है, उन्हें पथभ्रष्ट अन्धा भी कहती है; किन्तु उनकी जीवन-साधनाने सुधारकसे सदैव यह कहा—"अपनी राह चल, अपनी आपत्ति और आराम, साथियोके सहयोग और वियोग, जनताकी पालकी और बहिष्कारकी ओर मत देख।"

संस्थाओंके लिए

उन्होने अपने जीवनको सामाजिक संस्थाओंके संचालनमें ऐसा लगाया, जैसे माता अपने कलेजेके लालके लिए लगाती है। भोजन पीछे करते हैं पहिले अपने कुटुम्बियों—आश्रित संस्थाओं—के लिए आहारके लिए कहते हैं। जिस प्रकार स्नेहमयी जननी अपने घरको छोड़नेके पहिले सोचती है कि चाहे कुछ हो मेरी सन्तानको हानि न हो, उसी प्रकार ब्रह्मचारीजी उग्र-सुधारक होनेके पूर्व अपनी संस्थाओं—स्याद्वाद विद्यालय आदिसे त्यागपत्र दे देते है कि कही मेरे कारण इनको हानि न उठानी पड़े। 'जैनमित्र' की सम्पादकी छूट जाती है पर वे 'जैनमित्र' को नही छोड़ते अपने लेखों, टिप्पणियों और खोजपूर्ण सामग्रीसे सजाते रहते हैं।

लेखन-कला, प्रचार-प्रधान

उन्होंने ग्रंथकार, अनुवादक, लेखक और सम्पादकके नाते इस
जैनियोंमें सबसे बढ़कर प्रचुर-साहित्य समाज और देशके लिए दिया।
ो लेखन-कला, प्रचार-प्रधान रही है। वे इस दृष्टिसे अपने लेखोंको
लिखते थे, जिसमें शब्दालंकार हो, किन्तु जिस विषयको भी वे लेते,
और सरस लेखोंसे पाठकोंके हृदयोंको अपनी ओर खींच लेते थे।

धर्म और सुधारका समन्वय

ब्रह्मचारीजी अपने जीवनमें धर्ममय रहे और दूसरोंको भी धार्मिक
ा रहे। पर कोरे धर्मात्मा न थे, उनके दिल, दिमाग और आत्मा
ोंसे आर्द्र थे। वास्तवमें ब्रह्मचारीजीका जीवन उस प्रतिमाके
ा था जो धर्मात्माओंको धर्मरूपी सोनेसे निर्मित मालूम होती थी
सुधारकोंको सुधाररूपी रजतसे निर्मित दिखाई देती थी, पर हमारी
में ब्रह्मचारीजी धर्म और सुधारके समन्वय थे। वे सच्चे जैनधर्मको
ते थे, किन्तु समाजके अन्धविश्वाससे प्रचलित और रूढ़िसे सने हुए
ो नहीं चाहते थे। वे आधुनिक धर्मप्रकाशमें सुधार चाहते थे।

उनका निर्माण

यद्यपि उनका नश्वर शरीर जगत्के पंचतत्त्वोंमें मिल चुका है,
ु उनकी आत्मा सदैव अजर और अमर रहेगी—इस हेतुसे नहीं कि
ीव है और जीवका स्वभाव निश्चय-नयसे अजर और अमर है, बल्कि
दृष्टिसे कि उन्होंने अपनी जीवन-साधनासे समाजमें अनेक स्थानोंपर
ा युवकों और आदर्श महिलाओंका निर्माण किया है। उनके हृदयों-
ह मंत्र फूंका है जो जीवन भर देश और समाजकी सेवा करेंगे। जैन-
ा प्रसारके लिए अपने जीवनकी बाज़ी लगायेंगे।

बेचैन वीतराग

शरीरकी मोह-ममता त्यागने और कषायरहित होने तथा अध्यात्म-
ा पथिक होनेसे वे वीतराग थे, किन्तु वे बेचैन-वीतराग थे। उन्हें
समाज-हितकी चिन्ता और जैनधर्मके प्रचारकी बेचैनी रहती थी।

इसी कारणसे वे सातवीं प्रतिमासे बढ़कर आत्म-कल्याणके लिए मुनि न बने। वे चातुर्मासमें भी चैनसे ४ माह न बैठते, वहाँकी समाजको जगाते, आम जनतामें जैनधर्म प्रचारके लिए व्याख्यान देते, शास्त्रसभा प्रतिदिन करते तथा अपने ग्रंथोंका निर्माण करते। वे इस बेचैनीको दूर करनेके लिए वर्षके ८ माहोंमें दौरा करते थे। सारे भारतवर्ष, लंका और वर्मामें घूमे, पर उनकी धर्मप्रचारकी बेचैनी न गई। वे शरीर छोड़ते हैं तब भी उनके श्वासोंसे यह बेचैनी निकलती थी कि मैं धर्मप्रचारके लिए इंगलैंड और अमेरिका न गया।

जैनी बनाकर समाज-सेवा लेना

वे केवल जैनधर्मके प्रचारक ही न थे, बल्कि समाज-सुधारक भी थे। इटारसीमें जाते है, अपने कुछ घंटोके प्रचारसे वर्षोंके पंचायती झगड़ोंको समाप्त कर एक पंचायत बना देते हैं। उपदेश देते है तो उनके उपदेशोंसे वहाँके प० मूलचन्द्रजी तिवारी (रिटायर्ड पुलिस-इन्सपेक्टर, वायस चेयरमैन म्यूनिसिपल कमेटी) उनके परमभक्त और जैनधर्मके श्रद्धालु बन जाते है। श्रद्धेय ब्रह्मचारीजी इन्ही पं० मूलचन्द्रजी तिवारी को इटारसीके परिषद् अधिवेशनका स्वागताध्यक्ष बनाकर उनसे समाज-सेवा भी लेते हैं।

विशाल जैनसंघके प्रथम संयोजक

श्रद्धेय ब्रह्मचारीजीके लगभग ४५ वर्षके (सयाने होनेसे जीवन-पर्यन्त तक) जीवनमें उनको इस बीसवी सदीमें विशाल जैनसंघके प्रथम संयोजकके रूपमें हम देखते हैं। इसके लिए उन्होंने समाजमें अनेक स्थानों पर अनेक पारमार्थिक संस्थाएँ स्थापित की। वे समाजके श्रीमानों, विद्वानों और योग्य कार्यकर्ताओंसे मिले, उनसे पृथक्-पृथक् कार्य्य लिये। महिलाओंको जाग्रत करने, उनकी जीवन-साधनाओंकी पूर्तिके लिए जैन-महिलाश्रम और जैन श्राविकाश्रम स्थापित कराये। महिलाओंके जन्म-सिद्ध अधिकारोंकी प्राप्तिके लिए उन्होंने अपने मान और प्रतिष्ठा तककी चिन्ता न की। बल्कि इस संकल्पकी साधनामें उन्होंने जो उत्सर्ग किया

है, वह उनके जीवनकी कठिन तपस्या थी। ब्रह्मचारीजी स्वयं आदर्श जैन त्यागी थे और समाजमें जैनत्यागियोंको तैयार करते थे। जैन विशाल संघकी योजना उनकी जीवन-साधनाओंसे कहाँ तक हो पाई है और कब तक पूरी हो सकेगी, इसका उत्तर उनके श्रद्धालु भक्त, सहयोगी, और खासकर उनकी योजनाकी पूर्तिमें संलग्न समाजके वर्तमान कार्यकर्त्ता ही दे सकेंगे।

रोग-पीडा

ब्रह्मचारीजीको कार्याधिक्यके कारण वायुकम्प रोग हो गया था। जीवनमें लिखाई अधिक करनेसे इसका प्रवेश उनके हाथसे हुआ था। बम्बई, दिल्ली, रोहतक और लखनऊमें उनकी चिकित्सा हुई। अन्तिम चिकित्सा लखनऊमें हुई और परिचर्य्याका भार पं० अजितप्रसादजी एडवोकेटपर था। कुछ स्वास्थ्यलाभ भी हुआ, किन्तु ६ जनवरी सन् १९४२ को खड़े हुए थे कि अचानक गिर पड़े, जिससे कूल्हेकी हड्डीके ४ टुकड़े हो गये और १० फरवरीको ४ बजे प्रातः श्री ब्रह्मचारीजीके प्राण-पखेरू उड़ गये। उनका देहोत्सर्ग समाधि अवस्थामें हुआ।

धैर्य-मूर्ति

क़रीब १५ महीनोंमें कष्टकी तीव्र-वेदना होते रहनेपर भी ब्रह्मचारी-जीके ओष्ठसे कभी भी 'हाय' शब्द नहीं निकला। असह्य शारीरिक-यंत्रणाओंको धैर्यसे सहते रहे। ब्रह्मचारीजीके आपरेशन करनेवाले डाक्टर ने कहा—"जीवनमें मैंने हज़ारों पुरुषोंके आपरेशन किये हैं, किन्तु ब्रह्म-चारीजी की-सी कष्टक्षमता और धैर्य्य नही देखा।"

लखनऊमें उनकी शव-यात्राका जलूस बहुत ही आकर्षक था। जैन-जनताके अतिरिक्त अजैन जन भी पर्याप्त थे। उनके मृतक शरीरका दाहसंस्कार चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओंसे किया गया था।

आज ब्रह्मचारीजी नही हैं, पर उनका आदर्श सदैव समाजके सेवकों को बल और प्रकाश देता रहेगा।

—'वीर' सीतल अंक १९४४

अमर विभूति

श्री कामताप्रसाद, अलीगंज

सन् १९१६ या १७ की बात है। मैं उन दिनों हैदराबाद सिन्धमें अंग्रेज़ी पढ़ता था। जसवन्तनगरसे मुझे बुलावा आया—वहाँ वेदी-प्रतिष्ठोत्सव था। मेरे बहनोई दानवीर स्व० शिवचरणलालजीके चाचाजी की दानशीलताका वह परिणाम था। मैं वहाँके लिए चला और आगरा ठहरता हुआ जसवन्तनगर पहुँचा। आगरा फ़ोर्ट स्टेशनपर मैंने एक तीसरे दर्जेके डिब्बेमें गेरुआ रंगके कपड़े पहने हुए ऐनक लगाये सौम्यमूर्ति संन्यासीको देखा। इत्तफ़ाक़से मैं भी उसी डिब्बेमें बैठ गया। यह मुझे मालूम था कि ब्र० सीतलप्रसादजी भी जसवन्तनगर आनेवाले हैं; परन्तु उस समय तक मेरे लिए वह अपरिचित थे, और जब मैंने यह जाना कि ब्र० जी मेरे सामने मौजूद हैं, तो मेरे आनन्दका वारापार न था। मेरा उनका केवल धार्मिक सम्बन्ध था—सांस्कृतिक अनुराग था। मैंने उनके लेख पढ़े थे—उनका नाम सुना था। उनके नाम और कामने मेरे हृदयमें उनके प्रति आत्मीयताका भाव जाग्रत कर दिया था। मैं झुका उन प्रतिभाशालीके पैरोंमें और उनके वरद हाथ मेरे मस्तकपर थे। उन्होंने प्यारसे मुझे अपने पास बिठाया और नाम-धाम पूछा। कहा, "क्या पढ़ते हो?" मेरा उत्तर पाकर बोले, "स्वाध्याय भी करते हो?" मैंने कहा—"जी हाँ!" तो बोले, "किस शास्त्रका?" "सागार-धर्मामृत" नाम सुनकर उन्होंने मुझे शाबाशी दी और अन्य लोगोंके प्रश्नोंका उत्तर देने लगे। यह मेरे प्रथम दर्शन थे ब्रह्मचारीजीके। और वह सजीव दृश्य आज भी मेरे हृदयपर जैसेका तैसा अंकित है।

टूँडला जंक्शनपर हम लोगोंने गाड़ी बदली। मैंने देखा ब्र० जी एक बड़ा थैला और चटाई वग़ैरह लिये प्लेटफार्मपर उतर आये हैं। उनके थैलेको देखकर मैं कौतूहलमें पड़ा—उसमें भला क्या हो सकता है? मैं

क्या अनुभव करता ? किन्तु जब उन्होंने उसको खोला और उसमेंसे अनेक पुस्तक, और पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं, तो मै समझा, यह ब्र० जीका चलता-फिरता पुस्तकालय है। वह थैला उनके साथ हमेशा रहा और उसमें होकर ब्र० जीकी मूल्यमयी रचनाएँ प्रकाशमें आईं ! न मालूम ब्र० जीका वह पवित्र-स्मृति-चिह्न अब कहाँ है ? उस थैलेके सहारे वह सफ़र करते हुए भी साहित्य-रचना करनेमे सफल हुए थे !

टूंडलापर दूसरी गाड़ी आनेमें कुछ देरी थी। ब्र० जीने अपना थैला हमारे सुपुर्द किया और स्वयं प्लेटफ़ार्मके एक छोरपर चटाई बिछाकर सामायिक करने लगे। हम लोग द्विविधामें थे कि कही गाड़ी न आ जावे ? परन्तु ब्र० जी शान्ति और निश्चिन्ततासे जाप करनेमें मग्न थे। जैसे गाड़ी आई, वैसे ही वह भी आ गये। हमने देखा, ब्र० जी समयका मूल्य जानते हैं। वह अपने समयका हिसाब रखते हैं। इसीलिए वह रेलकी बेमुरव्वत सवारीमे सफ़र करते हुए भी अपनी धर्मचर्याका निर्विघ्न पालन कर लेते थे। वक़्तकी क़द्र करना इसीको कहते हैं।

रेलमें एक भक्तने उन्हें सोडावाटर भेंट किया। उन्होंने सधन्यवाद अस्वीकार किया। वह बोला, बहुतसे साधु इसे पीते हैं। ब्र० जी हँसे और बोले—"जैनी त्यागी और ब्रह्मचारी संयमसे रहते हैं। वह हर समय और हर एक चीज़ नही खाते है।" लोगोमें इसीकी चर्चा होने लगी—उनको अपना वक़्त गँवाना था—सफ़रको पूरा करना था। समयका मूल्य वसूल करना उनके बसका न था, परन्तु ब्र० जी समयका महत्त्व जानते थे। उन्होंने ताजा अंग्रेजी अखबार लिया और लेटे-लेटे उसे पढ़ने लगे। मैंने देखा, पढ़ते हुए वह अखबारमें निशान लगाते जाते थे। मनमें सोचा, कोई ख़ास बात होगी और उसे पूछा भी। ब्र० जी बोले, यह निशान मै उन खबरो और ख़ास बातोंपर लगाता हूँ जिनका सार मैं "जैन-मित्र" में देना चाहता हूँ। 'मित्र' को उपयोगी बनानेके लिए वह हर समय सावधान रहते थे। यही कारण था कि दिनरात सफ़रमें रहते हुए भी उसका सम्पादन नियमित रूपमें सुचारु रीतिसे करते थे।

उसी उत्सवमें मैंने ब्र० जीका भाषण पहले-पहल सुना। वह सीधे-सादे ढंगसे सरल भाषामें बोलते थे—जो भी उनके भाषणको सुनता, वह प्रभावित हुए बिना न रहता। उनको मैंने हिन्दीमें ही बोलते सुना। हाँ, जब कोई अंग्रेज़ी-दाँ होता तो वह बीच-बीचमें अंग्रेज़ी भी बोलते जाते थे। उनके भाषणमें आध्यात्मिकताकी पुट रहती थी। वह अध्यात्ममय थे—ब्रह्ममें चर्या करते और आत्मसुधाका रस स्वयं लेते और दूसरोंको देते थे। इटावेमें उन्होंने चातुर्मास किया था—किसी संस्थाकी ओरसे उनका सार्वजनिक व्याख्यान हुआ। विषय था 'उपकार'! मुझे इमकान न था—मैं यह अनुमान न कर सका था कि 'उपकार' पर बोलते हुए, वह जैन-सिद्धान्तकी आध्यात्मिकताको जनताके सम्मुख रख देंगे। उन्होंने उसका खूब प्रतिपादन किया और फिर उसे राष्ट्रियताके रंगमें भी रँग दिया—स्वदेशी व्यवहार भी 'उपकार' में ला दिखाया! सुननेवाले दंग थे। ऐसा भाषण उन्होंने नहीं सुना होगा!

जसवन्तनगरके प्रतिष्ठोत्सवकी परिसमाप्तिपर वह जाने लगे—हम लोग उनको विदा करने स्टेशन तक गये। मैंने चरण-रज ली। आशीर्वाद देकर बोले—"देखो, सिगरेट कभी मत पीना, स्कूलके लड़के सिगरेट पीकर बुरी संगतिमें पड़ते है।" ब्र० जीका कहना सच था। जिस बात की चेतावनी उन्होंने मुझे दी थी, वह मेरे छात्र-जीवनमें आगे आई थी। उनकी शिक्षाका ही शायद यह अज्ञात प्रभाव था कि मैं दुस्संगतिमें पड़नेसे बच गया। वह अपने भक्तजनोंके चरित्रनिर्माणका पूरा ध्यान रखते थे; क्योंकि वह जानते थे कि कोरी श्रद्धा और छूंछा ज्ञान, चरित्र बिना अधूरे हैं। वह नियम लिवाते थे, परन्तु वही जिनको लेनेवाला सुगमतासे पाल सके।

'दिगम्बर जैन' और 'जैन-मित्र' के पढ़ते रहनेसे मुझे लेख लिखनेका चाव हुआ। मुझे समाचार-पत्र पढ़नेका शौक़ 'दिगम्बर जैन' के सचित्र विशेषांकोंसे हुआ। मैंने भी कुछ लिखा। क्या? यह याद नहीं। वह शायद समाजोन्नतिके विषयपर था! डरते-डरते मैंने उसे ब्र० जीके

पास भेज दिया । शायद तब मैंने ठीक-सी हिन्दी भी न लिखी होगी। किन्तु ब्र० जीने उसे 'मित्र' में प्रकाशित कर दिया । अपना लेख पत्रमें छपा हुआ देखकर में बहुत प्रसन्न हुआ । मै लिखता रहा ! परिषद् की स्थापनाके समय 'वीर' के सम्पादकका चुनाव होनेको था । शायद ब्र० जीने ही मेरा नाम तजवीज़ किया, मैं असमंजसमें पड़ गया, एकदम इतना बड़ा उत्तरदायित्व मै कैसे लेता ? किन्तु ब्र० जी व्यक्तियोंसे काम लेना जानते थे । मेरे साहसको उन्होंने बढ़ाया । आख़िर इस शर्तपर मैंने उनकी बात मानी कि वह सम्पादक रहें और मैं सहायक । वह प्रत्येक अंकमें अपना लेख देते रहे; बाक़ी मैटर मैं जुटाऊँ ! यही हुआ । शायद एक साल वह सम्पादक रहे । बादमें 'वीर' का भार मुझे सौंप दिया ! ब्र० जीने मुझे लेखक और संपादक बना दिया—निमित्त उन्हींने जुटाया था !

इटावेके चातुर्मासमें मै उनकी सत्संगतिका लाभ उठानेके लिए भादोंके महीनेमें वही रहा । श्री मुन्नालालजीकी धर्मशालामें ऊपर ब्र० जी ठहरे हुए थे और उसी धर्मशालामें नीचे हम लोग थे । उस समय मुझे ब्र० जीको निकटसे देखनेका अवसर मिला था और मैं ज़्यादा न लिखकर यही कहूँगा कि ब्र० जी ओतप्रोत धर्ममय थे । उनमें राष्ट्रधर्म भी था, समाजधर्म भी था और आत्मधर्म भी था । उस समय एक दफ़ा उन्हें लगातार दो दिन निर्जल उपवास करना पड़ा, इसमें शारीरिक शिथिलता आना अनिवार्य था । ब्र० जी रातको धर्मोपदेश दिया करते थे । हम लोगोंने यह उचित न समझा कि ब्र० जी वैसी दशामें बोलें । जब उन्होने सुना, वह मुस्कराये और धर्मोपदेश देनेमें लीन हो गये । उस रोज़ वह ख़ूब बोले—अध्यात्म रस उन्होंने ख़ूब छलकाया । यह था उनका आत्म-बल !

इटावेके चातुर्मासमें उन्होने मुझे 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्रजी' का अर्थ पढ़ाया । मुझे ही नहीं; इटावेके एक तत्त्वदर्शी अजैन विद्वान्को भी वह जैनधर्मका स्वरूप समझाते रहते थे । आखिर जैनधर्मको उन्होंने ब्र० जीसे पढ़ा । जैनपूजामें भक्तिरसकी निर्मल विशुद्धिका परिचय भी

स्वयं पूजा करके उन्होने सबको बताया ! सारांश यह कि अज्ञान अन्ध-कार मेटनेके लिए ब्र० जी सदा प्रयत्नशील रहते थे !

लखनऊमें परिषद्का अधिवेशन था और उसमें मुख्य कार्य एक अजैन क्षत्रियको जैनधर्मकी दीक्षा देना था ! उस क्षत्रियवीरका नाम श्री प्यारेलाल था। ब्र० जीने ही उसको जैनधर्मका श्रद्धालु बनाया था और उन्होंने ही उसे जैनधर्मकी दीक्षा दी थी। जैनदीक्षा कार्यका प्रचार उन्होने प्लेटफार्म और प्रेससे ही नही किया, बल्कि स्वयं अपने कर्मसे उसे मूर्तिमान् बनाकर दिखाया ! किन्तु जो जैनी आज अपने जन्मतः जैनी भाइयोंसे मिल-जुलकर एक होनेमें संकोच करते है, उपजातिके मोहमें जैनत्वको भुलाते हैं, वह भला अजैन बन्धुके जैनधर्ममे आनेपर उसे कैसे गले लगाते ? यही कारण है कि ब्र० जी द्वारा रोपा गया जैनदीक्षाका पवित्र धर्मवृक्ष पल्लवित न होकर सूख गया है। विवेकशील जैनजगत् ही इस वृक्षको फिरसे रोप सकता है !

मेरी इच्छा थी कि ब्र० जी कभी अलीगंज आवें। मैंने उनसे कह भी रक्खा था; परन्तु उस दिन वह जैसे आये, वह उनकी सरलता और समुदारहृदयताका द्योतक है। मै घरमें था—एक लड़केने आकर कहा, "आपके साधुजी धर्मशालाके चबूतरेपर बैठे है।" मेरा माथा ठनका, मनने कहा, क्या ब्र० जी आ गये ? जाकर देखा, सचमुच ब्र० जी आ गये हैं। वह बोले, "लो, हम तुम्हारे घर आ गये !" इस वत्सलताका भी कोई ठिकाना था। मै सकुचाया-सा रह गया और उन्हें आदरपूर्वक घर लिवा लाया। उस समय स्थितिपालक जैनी ब्र० जीकी स्पष्टवादिता और 'सनातन जैन समाज' की स्थापना करनेके कारण उनसे विमुख-से हो रहे थे। अलीगंजमें भी कुछ जैनी इस रंगके थे। ब्र० जीका भाषण हुआ, सब सुनने आये, वह भी आये जो उनसे असहमते थे। उनके सयुक्तिक भाषणको सुनकर सब ही प्रभावित हुए !

ब्र० जीको पुरानी वस्तुओंको देखने और उनका इतिहास संग्रह करनेकी भी अभिरुचि थी। कम्पिलाजी तीर्थमें जब वह आये, तब हम

भी उनके साथ गये। उससे पहिले भी हम कम्पिला गये थे, परन्तु वह चीजें न देखी थीं, जो उस रोज़ ब्र० जीके साथ देखीं। इसी तरह इटावेमें ब्र० जीने जाना कि असाई खेड़ामें प्राचीन जिनमूर्तियाँ हैं—वहाँके लिए चल पड़े। दोपहर हो गया जब हम लोग वहाँ पहुँचे, भूख और प्यासकी आकुलता हम लोगोंके मुखोंपर नाच रही थी। किसीने कहा कि जलपान कर लिया जावे, तब स्थानका निरीक्षण किया जावे! ब्र० जी इसे सहन न कर सके। सब लोग चुपचाप उनके पीछे-पीछे चल दिये और चहुँ ओर जिनमूर्तियोंका पता लगाते फिरे! ब्र० जीने कई मूर्तियोंके लेखोंकी प्रतिलिपि ली। तभीसे मैंने जाना कि प्रतिलिपि कैसे लेते हैं और प्राचीन लेखों को पढ़नेका भी चाव हुआ!

शायद सन् १९२८ के जाड़ोंमें मैं बम्बई गया था। ब्र० जी जैन बोर्डिङ्गमें ठहरे हुए थे। मैं गया और उनसे मिला। उन्होंने, जैन जाति की उन्नतिके लिए किस तरह निःस्वार्थ सेवक तैयार किये जावें, इसपर बहुत-सी बातें कीं। जैन-सिद्धान्तके विषयमें भी कई बातें बताईं। जैन-भूगोल का ठीकसे अध्ययन नहीं हुआ है, यह भी बताया और कहा कि पृथ्वीको गोल माननेमें एक बाधा आती है और वह यह कि गोलाकारके इतर भाग का जीव ऊद्र्ध्वगतिसे किस प्रकार सिद्धलोकमें पहुँचेगा! इसलिए जैन मान्यता पृथ्वीको नारंगीकी तरह गोल नहीं मान सकती! जीवकी अनन्तराशिपर भी उन्होंने जो कहा वह सरल और जीको रुचनेवाला था। उन्होंने जैन-महिलाओंकी दयनीय दशापर भी अपने विचार दर्शाये। उनके विचारोंसे भले ही कोई सहमत न हो, परन्तु वह वस्तुस्थितिके ज्ञापक और समयकी आवश्यकताके अनुरूप थे, यह हर कोई माननेको बाध्य होगा। उस दिन उन्होंने श्राविकाश्रममें धर्मोपदेश दिया। मैं समझा, ब्र० जी वह पिता है जो पुत्र-पुत्रियोंकी समान हितकामनामें हर समय निमग्न रहता है।

जैन-धर्म-प्रचारकी भावना उनके रोम-रोममें समाई थी। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियोंमें जिस प्रकार स्वामी समन्तभद्रजीने भारतके

इस छोरसे उस छोरतक घूमकर धर्मभेरी बजाई थी, उसी प्रकार इस बीसवी शतीमें ब्र० जी ने भारतका कोई कोना बाक़ी न छोड़ा, जहाँ उन्होंने धर्मामृतकी वर्षा न की हो ! अनेक अजैन विद्वानों और श्रीमानोंको उन्होंने जैनधर्मके महत्त्वसे अवगत कराया, साधारण जनताको भी उन्होंने धर्मका स्वरूप बताया । भारतमें ही नही, वह वर्मा और सीलोन भी धर्म-प्रचारकी भावना लेकर गये और यथाशक्य प्रचार भी किया । यदि सुविधा होती तो वह चीन और जापान भी जाते । यूरुप जाकर धर्म-प्रचार करनेके लिए भी वह तैयार थे; परन्तु उनके साथ एक और जैनी होना जरूरी था जो उनकी संयम-पालनाको निर्विघ्न रखता । यह सुविधा न जुट सकी; इसी कारण वह विलायत न पहुँच पाये । योग्य साथी न मिलनेके कारण वह कैलाशकी यात्रा भी नही कर पाये । जैन-धर्मकी स्थितिका पता लगानेके लिए वह सब तरहकी कठिनाइयाँ सहन करनेको तत्पर रहते थे ।

निस्सन्देह इस शतीके जैनियोंमें वह एक ही थे । उनके गुणोंका स्मरण कहाँ तक किया जावे ? निस्सन्देह ब्र० जीने जैनियोंको सोतेसे जगाया—उन्हें ज्ञानदान दिया और सम्यक् मार्गपर लगाया । वह धर्म और संघके लिए जीये और धर्म एवं संघके लिए ही उनका निधन हुआ । वह आधुनिक जैन संघकी अमर विभति हे और उनके स्वर्ण-कार्यों के भारसे जैन-सघ हमेशा उपकृत रहेगा ।

—'वीर' सीतल अंक १९४४ ई०

जन्म— पण्डापुर–मथुरा, १८६८ ई०

समाधिमरण— ईसरी, २६ जनवरी १९४२ ई०

निर्भीक त्यागी

क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी

एसा निर्भीक त्यागी इस कालमें दुर्लभ है। जबसे आप ब्रह्मचारी हुए, पैसेका स्पर्श नही किया। आजन्म नमक और मीठेका त्याग था। दो लँगोट और दो चादर मात्र परिग्रह रखते थे। एकबार भोजन और पानी लेते थे। प्रतिदिन स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा और समयसारका पाठ करते थे। स्वयम्भू स्तोत्रका भी निरन्तर पाठ करते थे। आपका गला बहुत ही मधुर था, जब आप भजन कहते थे, तब जिस विषयका भजन होता, उस विषयकी मूर्ति सामने आ जाती थी। आपका शास्त्र-प्रवचन बहुत ही प्रभावक होता था। आप ही के उत्साह और सहायतासे स्याद्वादविद्यालयकी स्थापना हुई थी। ..आपकी प्रकृति अत्यन्त दयालु थी। आप मुझे निरन्तर उपदेश दिया करते थे कि इतना आडम्बर मत कर। एक बारकी बात है, मैंने कहा—"बाबाजी ! आपके सदृश हम भी दो चद्दर और दो लँगोट रख सकते हैं, इसमे कौन-सी प्रशंसाकी बात है ?" बाबाजी बोले—"रख क्यों नही लेते ?" मैं बोला—"रखना तो कठिन नही है, परन्तु जब बाजारसे निकलूंगा, तब लोग क्या कहेंगे ? इसीसे लज्जा आती है।" बाबाजीने हँसकर कहा—"बस, इसी बलपर त्यागी बनना चाहते हो ? अरे, त्याग करना सामान्य पुरुषोका कार्य नही है।...हाँ यह मैं कहता हूँ कि एक दिन तू भी त्यागी बन जायगा। तू सीधा है, अच्छा है, अब इसी रूप रहना।"...लिखनेका तात्पर्य्य यही है कि जो कुछ थोड़ा-बहुत मेरे पास है वह उन्हीके समागमका फल है।

—मेरी जीवन-गाथा पृ० ५८१

निस्पृही

गोयलीय

छूटा-सा क़द, तुतई-सा मुँह, गोल और चुन्धी आँखें, दाँत ऊबड़-खाबड़, सर घुटा हुआ बैंगन-जैसा गोल, मुँहपर मूँछें नदारद, पाँव बेडौल, रंग ताँबे-जैसा, शरीर कृश और भक्तोंका यह आलम कि ग़रीब-अमीर, पण्डित-बाबू सभी पाँवोंमें गिरे जा रहे हैं और ये हैं कि सिहर-सिहर उठ रहे हैं। अपनी ब्रज मातृभाषामें पाँव छूनेको मना भी करते जा रहे हैं और जो जबरन छूते जा रहे हैं, उन्हें धर्मलाभका आशीर्वाद भी देते जा रहे हैं।

मेरे अहंकारने इजाजत नहीं दी कि मैं इनके पाँव पड़ूँ। एक तो स्वभावतः मुझे साधु-संन्यासियोंसे वैसे ही विरक्ति-सी रही है। दूसरे बिना परखे-बूझे चाहे जिसके सामने गर्दन झुकानेकी मेरी आदत नहीं है। इनके त्याग-तपकी अनेक बातें सुनी थीं, परन्तु न जाने क्यों विश्वास करनेको जी न चाहा और बात आई-गई हुई।

सम्भवतः उक्त बात १६१८ ई० की होगी। ये चौरासी (मथुरा) आये थे। मेरे गुरुदेव पं० उमरावसिहजी न्यायतीर्थ इनके परम भक्त थे और प्रसंग छिड़नेपर इनका बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे उल्लेख किया करते थे, परन्तु मुझपर इनका कोई प्रभाव न पड़ा। हाँ, ढोंगी और रँगे हुए नहीं हैं, यह उस छोटी-सी आयुमें भी जान लिया था।

१६२० के बाद जब मेरा दिल्ली रहना हुआ तो ये कई बार दिल्ली आये-गये। जान-पहचान बढ़ी, पर श्रद्धा-भक्ति न बढ़ी।

१६२६ में पं० जुगलकिशोर मुख्तारने करोलबाग़ दिल्लीमें वीर-सेवामन्दिरकी स्थापना की। मुझे भी 'अनेकान्त'के प्रकाशन निमित्त वहाँ छह माह रहना पड़ा। उन्हीं दिनों बाबाजीने भी दिल्लीमें चातुर्मास किया

था और आश्रममें ही ठहरे थे। आश्रमके नजदीक ही पहाड़ था, जहाँ लोग शौच आदिको जाते थे। मैं आश्रमकी छतपर खड़ा हुआ था कि देखा १५-२० मिनिटके अन्दर ४-५ बार बाबाजी उधरको गये-आये। मनमें बहम-सा हुआ, जाकर देखा तो वहाँ रक्तके पतनाले छूटे हुए हैं। देखकर जी घबरा गया। हे अरहंत, यह बाबाजीको क्या हुआ? कोई ऐसी-वैसी चीज तो किसीने नहीं खिला दी। दौड़कर बाबाजीके कमरेमें गया तो सहज स्वभाव बोले—"भैया, होतो कहा, ये तो शरीर है, यामें तो हजारों रोग भरे पड़े है, कब कौन-सौ उभर आवेगो, याकी सार-सम्भार कौन करे?"

और फिर लोटा लेकर पहाडकी तरफ़ चलते हुए। मैंने साथ चलते-चलते कहा—"महाराज! मुझे बहकाइये मत। स्पष्ट बताइये कि किस कारण यह सब हुआ है।"

परन्तु वे है कि हँसते हुए पहाड़की तरफ़ लपके जा रहे हैं और कहते जा रहे हैं—"भय्या, तुम तो बावरे हो, या शरीरको कितनों ही खवाओ-पिवाओ पर ऐब देनेसे नाय चूके। पढ़ो नाय तैने—

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादितें मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥

मै दौड़कर शहरसे मुख्य-मुख्य ४-५ जैनियोको बुला लाया। बाबाजीका यह हाल देखकर उनके भी तोते उड़ गये, दिल धक-धक करने लगा। मेरी खुद नब्ज़ रुक-रुककर-सी चलने लगी। बाबाजीके अचानक खतरेमें पड़ जानेकी तो चिन्ता थी ही, परन्तु पुलिस खूनकी गन्ध सूँघती हुई आश्रम में आ धमकेगी। बाबाजी तो अपनी इच्छासे मर रहे हैं, और मुझे उनकी सेवा करनेको पुलिस बेमौत उनके पास पहुँचा देगी, यह भय भी कम न था, क्योकि उन दिनों लाहौर और दिल्ली षड्यन्त्रके मुख्य कार्यकर्ता मेरे पास आया-जाया करते थे।

बहुत अनुनय-विनय करनेपर मालूम हुआ कि बाबाजी २०-२५ रोज़से भीगे हुए गेहूँ खाकर जीवन-निर्वाह कर रहे है। उन दिनों महात्मा गान्धीने इस तरहका प्रयोग किया था। इन्होंने सुना तो ये प्रफुल्ल हो उठे।

"कौन रोज़ाना आहार करने जानेकी इल्लतमें पड़े ? श्रावकोंको तो आहार बनानेमें परेशानी होती ही है, अपना समय भी एक घण्टेसे अधिक व्यर्थ ही चला जाता है। यह महात्माजीने निराकुलताका बहुत सरल उपाय निकाला। बस आध पाव गेहूँ भिगो दिये और खा लिये, फिर २४ घण्टे-को निश्चिन्त। न कही जाने-आनेकी चिन्ता, न कही गृहस्थोसे सम्भाषण की परेशानी। इतना समय स्वाध्यायके लिए और मिला।" इन्हीं विचारों में निमग्न होकर किसीको बताये बिना २०-२५ रोज़से भीगे गेहूँ चबा लेने थे। यों तो बाबाजी २५-३० वर्षसे नमक, घी, दूध-दही नही खाते थे। केवल उबाले साग और रूखी रोटियाँ खाते थे। अब जो महात्माजी के इस अनोखे आहारके सम्बन्धमें सुना तो वह उबला साग और अलोनी रोटी भी छोड़ दी।

परन्तु बड़ोंकी बातें बड़ी होती हैं। महात्माजीके ४-५ रोज़में ही ख़ूनी दस्त प्रारम्भ हो गये तो डाक्टरोने उन्हें भीगे गेहूँ खानेसे मना कर दिया और इसकी सूचना भी नवजीवनमें निकल गई, परन्तु बाबाजीको नवजीवन कौन पढ़कर सुनाता ? उनका क्रम जारी रहा !

अब समझाने है तो समझते नही, नवजीवन पढ़नेको देते है तो पढने नही, सुनाते हे तो हँसकर टाल देते हैं। मैंने रुँधे हुए कण्ठसे निवेदन किया—"महाराज, यह तो महात्माजीकी एक साधना थी। स्वास्थ्यके लिए हानिकर सिद्ध हुई तो उन्होंने तर्क कर दी। वे तो जीवनमें अनेक तरहके प्रयोग करते है। आत्मा और मनके लिए अनुकूल हुआ तो जारी रखते है, अन्यथा छोड़ देते हैं। आपने भी केवल यही जाननेको कि गेहूँ चबानेसे शरीर चल सकता है या नही, महात्माजीके प्रयोगका अनुकरण किया। जब महात्माजी उसे हानिकारक समझकर छोड़ बैठे और जनताको भी इसकी हानिसे अवगत कर दिया तब आपको भी यह प्रयोग छोड़ देना चाहिए।"

ग़रज़ हमारे दिनभर रोने-धोनेसे तंग आकर उन्हें भीगे गेहूँ छोड़ने पड़े और फिर वही नमक-घी रहित आहार स्वीकार करना पड़ा।

एक रोज़ सुबह उठकर देखा तो बाबाजी अपने कमरेसे मय अपनी चटाई और कमण्डलके ग़ायब हैं। बादमें मालूम हुआ कि पहाड़ी-धीरज दिल्लीके श्रावकोंके अनुरोधपर कुछ दिनोंके लिए वहाँ चले गये हैं।

८-१० रोज़ बाद जाकर देखा तो उनका पाँव टखनेसे लेकर घुटने तक बुरी तरह सूजा हुआ है। उसमेसे पीप और रक्त बह रहे हैं और बाबाजी ठीकरेसे रगड़-रगड़कर उसे और भी लहूलुहान कर रहे हैं और मट्टी थोपते जा रहे हैं।

मैं देखकर खिजलाहटके स्वरमें बोला—"महाराज, किसीको बताया भी नही, दस डाक्टरोंका प्रबन्ध किया जा सकता था।" सुनकर खिल-खिलाकर हँसे, फिर बोले—"भैया, तुम तो बडी जल्दी घबरा जाते हो, शरीर तो मिट्टी है, मिट्टीमे एक दिन मिल जायगो, याकी चाकरी कबलौ करूँ, तुम ही बताओ ?"

मेरी एक न चली, मिट्टी लगा-लगाकर ही पाँव ठीक कर लिया।

इतना बड़ा तपस्वी, सयमी, निस्पृही, निरहंकारी, क्षमाशील और पूजा-प्रतिष्ठाके लोभका त्यागी मुझे अपने जीवनमें अभी तक दूसरा देखने-को नही मिला।

—'ज्ञानोदय' दिसम्बर १९५०

एक स्मृति

पं० परमानन्द जैन शास्त्री

बाबा भागीरथजी वर्णी जैनसमाजके उन महापुरुषोंमेंसे थे, जिन्होंने आत्मकल्याणके साथ-साथ दूसरोंके कल्याणकी उत्कट भावनाको मूर्त रूप दिया है। बाबाजी जैसे जैनधर्मके दृढ़श्रद्धानी, कष्टसहिष्णु और आदर्श त्यागी संसारमें विरले ही होते है। आपकी कषाय बहुत ही मन्द थी। आपने जैनधर्मको धारणकर उसे जिस साहस एवं आत्मविश्वासके साथ पालन किया है, वह सुवर्णाक्षरोंमें अंकित करने योग्य है। आपने अपने उपदेशों और चरित्रबलसे सैकड़ों जाटोंको जैनधर्ममें दीक्षित किया है—उन्हें जैनधर्मका प्रेमी और दृढश्रद्धानी बनाया है, और उनके आचार-विचार-सम्बन्धी कार्योंमें भारी सुधार किया है। आपके जाट शिष्योंमेंसे शेरसिह जाटका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है, जो बाबाजीके बड़े भक्त हैं। नगला ज़िला मेरठके रहनेवाले हैं और जिन्होने अपनी प्रायः सारी सम्पत्ति जैन-मन्दिरके निर्माण-कार्यमें लगा दी है। इसके सिवाय खतौली और आसपासके दस्सा भाइयोंको जैनधर्ममें स्थित रखना आपका ही काम था। आपने उनके धर्मसाधनार्थ जैनमन्दिरका निर्माण भी कराया है। आपके जीवनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आप अपने विरोधी पर भी सदा समदृष्टि रखते थे और विरोधके अवसर उपस्थित होने पर माध्यस्थ्य वृत्तिका अवलम्बन लिया करते थे और किसी कार्यके असफल होने-पर कभी भी विषाद या खेद नहीं करते थे। आपको भवितव्यताकी अलंघ्य शक्ति पर दृढ विश्वास था। आपके दुबले-पतले शरीरमें केवल अस्थियोका पंजर ही अवशिष्ट था, फिर भी अन्त समयमें आपकी मानसिक सहिष्णुता और नैतिक साहसमें कोई कमी नही हुई थी। त्याग और तपस्या आपके जीवनका मुख्य ध्येय था, जो विविध प्रकारके संकटों-विपत्तियोंमें भी आपके विवेकको सदा जाग्रत (जागरूक) रखता था। खेद है कि वह आदर्श त्यागी आज अपने भौतिक शरीरमें नहीं है, उनका ईसरीमें २६ जनवरी सन् ४२ को समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवास हो गया

है ! फिर भी उनके त्याग और तपस्याकी पवित्र स्मृति हमारे हृदयको पवित्र बनाये हुए है और वीरसेवामन्दिरमें आपका ३॥ मासका निवास तो बहुत ही याद आता है ।

बाबाजीका जन्म सं० १९२५ में मथुरा ज़िलेके पण्डापुर नामक ग्राममें हुआ था । आपके पिताका नाम बलदेवदास और माताका मानकौर था । तीन वर्षकी अवस्थामें पिताका और ग्यारह वर्षकी अवस्थामें माता-का स्वर्गवास हो गया था । आपके माता-पिता ग़रीब थे, इस कारण आपको शिक्षा प्राप्त करनेका कोई साधन उपलब्ध न हो सका । आपके माता-पिता वैष्णव थे । अतः आप उसी धर्मके अनुसार प्रातःकाल स्नान कर यमुना-किनारे राम-राम जपा करते थे और गीली धोती पहने हुए घर आते थे । इस तरह आप जब चौदह-पन्द्रह वर्षके हो गय, तब आजीविका के निमित्त दिल्ली आये । दिल्लीमें किसीसे कोई परिचय न होनेके कारण सबसे पहले आप मकानकी चिनाईके कार्यमे ईंटोंको उठाकर राजोको देने का कार्य करने लगे । उससे जब ५-६ रुपये पैदा कर लिये, तब उसे छोड़कर तौलिया रूमाल आदिका बेचना शुरू कर दिया । उस समय आपका जैनियोंसे बड़ा द्वेष था । बाबाजी जैनियोके मुहल्लेमें ही रहते थे और प्रतिदिन जैनमन्दिरके सामनेसे आया-जाया करते थे । उस रास्ते जाते हुए आपको देखकर एक सज्जनने कहा कि आप थोड़े समयके लिए मेरी दुकानपर आ जाया करो । मै तुम्हें लिखना-पढ़ना सिखा दूंगा । तबसे आप उनकी दुकानपर नित्यप्रति जाने लगे । इस ओर लगन होनेसे आपने शीघ्र ही लिखने-पढ़नेका अभ्यास कर लिया ।

एक दिन आप यमुनास्नानके लिए जा रहे थे, कि जैनमन्दिरके सामनेसे निकले । वहाँ 'पद्मपुराण' का प्रवचन हो रहा था । रास्तेमें आपने उसे सुना, सुनकर आपको उससे बड़ा प्रेम हो गया और आपने उन्हीं सज्जन की मार्फ़त पद्मपुराणका अध्ययन किया । इसका अध्ययन करते ही आपकी दृष्टिमें सहसा नया परिवर्तन हो गया और जैनधर्मपर दृढ़ श्रद्धा हो गई । अब आप रोज़ जिनमन्दिर जाने लगे तथा पूजन-स्वाध्याय

नियमसे करने लगे। इन कार्योंमें आपको इतना रस आया कि कुछ दिन पश्चात् आप अपना धन्धा छोड़कर त्यागी बन गये, और आपने बाल-ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करनेका विचार किया। विद्याभ्यास करनेके लिए आप जयपुर और खुर्जा गये। उस समय आपकी उम्र पच्चीस वर्षकी हो चुकी थी। खुर्जामें अनायास ही पूज्य पं० गणेशप्रसादजीका समागम हो गया, फिर तो आप अपने अभ्यासको और भी लगन तथा दृढ़ताके साथ सम्पन्न करने लगे। कुछ समय धर्मशिक्षाको प्राप्त करनेके लिए दोनों ही आगरेमें पं० बलदेवदासजीके पास गये और पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका पाठ प्रारम्भ हुआ। पश्चात् पं० गणेशप्रसादजीकी इच्छा अजैन न्यायके पढ़नेकी हुई, तब आप दोनों बनारस गये और वहाँ भेलूपुरा की धर्मशालामे ठहरे।

एक दिन आप दोनों प्रमेयरत्नमाला और आप्तपरीक्षा आदि जैन न्याय-सम्बन्धी ग्रन्थ लेकर पं० जीवनाथ शास्त्रीके मकान पर गये। सामने चौकी पर पुस्तकें और १ रु० गुरुदक्षिणा स्वरूप रख दिया, तब शास्त्रीजीने कहा—"आज दिन ठीक नहीं है कल ठीक है।" दूसरे दिन पुनः निश्चित समय पर उक्त शास्त्रीजीके पास पहुँचे। शास्त्रीजी अपने स्थानसे पाठ्य स्थान पर आये और आसन पर बैठते ही पुस्तकें और रुपया उठाकर फेंक दिया और कहने लगे कि "मै ऐसी पुस्तकोंका स्पर्श तक नहीं करता।" इस घटनासे हृदयमें क्रोधका उद्वेग उत्पन्न होने पर भी आप दोनों कुछ न कह सके और वहाँसे चुपचाप चले आये। अपने स्थान पर आकर सोचने लगे कि यदि आज हमारी पाठशाला होती तो क्या ऐसा अपमान हो सकता था? अब हमें यही प्रयत्न करना चाहिए, जिससे यहाँ जैनपाठशालाकी स्थापना हो सके और विद्याके इच्छुक विद्यार्थियोंको विद्याभ्यासके समुचित साधन सुलभ हो सकें। यह विचार कर ही रहे थे कि उस समय कामा मथुराके ला० झम्मनलालने, जो धर्मशालामें ठहरे हुए थे, आपका शुभ विचार जानकर एक रुपया प्रदान किया। उस एक रुपयेके ६४ कार्ड खरीदे गये, और ६४ स्थानोंको अभिमत कार्यकी प्रेरणारूपमें डाले गये।

फलस्वरूप बा० देवकुमारजी आराने अपनी धर्मशाला भदैनी घाटमें पाठशाला स्थापित करनेकी स्वीकृति दे दी। और दूसरे सज्जनोंने रुपये आदिके सहयोग देनेका वचन दिया। इस तरह इन युगल महापुरुषोंकी सद्भावनाएँ सफल हुई और पाठशालाका कार्य छोटे-से रूपमें शुरू कर दिया गया। बाबाजी उसके सुपरिण्टेण्डेण्ट बनाये गये। यही स्याद्वादमहाविद्यालयके स्थापित होनेकी कथा है, जो आज भारतके विद्यालयोंमें अच्छे रूपसे चल रहा है और जिसमें अनेक ब्राह्मण शास्त्री भी अध्यापन कार्य करते आ रहे हैं। इसका पूरा श्रेय इन्ही दोनों महापुरुषोंको है।

पूज्य बाबा भागीरथजी वर्णी, और पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीका जीवनपर्यन्त प्रेमभाव बना रहा। बाबाजी हमेशा यही कहा करते थे कि पं० गणेशप्रसादजीने ही हमारे जीवनको सुधारा है। बनारसके बाद आप देहली, खुर्जा, रोहतक, खतौली, शाहपुर आदि जिन-जिन स्थानों पर रहे, वहाँकी जनताका धर्मोपदेश आदिके द्वारा महान् उपकार किया है।

बाबाजीने शुरूसे ही अपने जीवनको निःस्वार्थ और आदर्श त्यागीके रूपमें प्रस्तुत किया है। आपका व्यक्तित्व महान् था। जैनधर्मके धार्मिक सिद्धान्तोंका आपको अच्छा अनुभव था। समाधितंत्र, इष्टोपदेश, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र और आप्तमीमांसा तथा कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोके आप अच्छे मर्मज्ञ थे, और इन्हीका पाठ किया करते थे। आपकी त्यागवृत्ति बहुत बढ़ी हुई थी। ४० वर्षसे नमक और मीठेका त्याग था, जिह्वा पर आपका खासा नियन्त्रण था, जो अन्य त्यागियोंमें मिलना दुर्लभ है। आप अपनी सेवा दूसरोंसे कराना पसन्द नही करते थे। आपकी भावना जैनधर्मको जीवमात्रमें प्रचार करनेकी थी और आप जहाँ कही भी जाते थे, सभी जातियोंके लोगोसे मांस-मदिरा आदिका त्याग करवाते थे। जाट भाइयोंमें जैनधर्मके प्रचारका और दस्सोंको अपने धर्मने स्थित रहनेका जो ठोस सेवाकार्य किया है, उसका समाज चिरऋणी रहेगा।

—अनेकान्त, मार्च, १९४२

पूज्य बाबाजी

श्री खुशालचन्द्र गोरावाला

बाबाजी विहार करते हुए संवत् १९८२ के अगहनमें मड़ावरा (झांसी) पधारे थे। मैं उस समय महरौनीमें दर्जा ६ (हिन्दी मिडिल) में पढ़ता था, लेकिन श्री १०८ मुनि सूर्यसागरजी विहार करते मड़ावरा पहुँचे थे, इसलिए आहार-दानमें सहायता देनेके लिए माताजीने मुझे भी गाँव बुला लिया था। संयोगकी बात है कि जिस दिन स्व० बाबाजी मड़ावरा पधारे, उस दिन मुनि महाराजका मेरे घर आहार हुआ था और मैं आहारदाता था। फलतः अगवानीके समय ही लोगोंने परिचय देकर मुझे बाबाजीकी अनुग्रहदृष्टिका पात्र बना दिया था। बाबाजी इस बार जितने दिन मड़ावरा रहे, उतने दिन मैं यथायोग्य उनकी परिचर्यामें उपस्थित रहा। एक दिन अपराह्नमें बाबाजी अन्य त्यागियोंकी प्रेरणाके कारण ग्रामका ऊजड़ क़िला देखने गये। साथमें अनेक बालकोंके साथ मैं भी था, उस समय मैंने क़िलेसे सम्बद्ध कुछ ऐतिहासिक किवदन्तियाँ बाबाजीको सुनाईं। एकाएक बाबाजीने पूछा "तुम क्या पढ़ते हो?" मेरे उत्तर देनेपर उन्होंने पूछा "मिडिलके बाद क्या पढ़ोगे?" "घरके लोगोंका अंग्रेजी पढ़ानेका इरादा है।" उत्तर सुनते ही बोले—"तुम्हारे गाँवके ही पंडित गणेशप्रसादजी वर्णी हैं, इसलिए धर्म जरूर पढ़िओ।" इसके बाद और क्या-क्या हुआ सो तो मुझे याद नहीं, पर इतना याद है कि मिडिलका नतीजा निकलने पर जब मँझले भइयाने ललितपुर भेजनेकी चर्चा की तो काकाजीने कहा—"क्रिस्तान नहीं बनाना है, धर्म पढ़ेगा।" मैं आज सोचता हूँ कि मेरी तरह न जाने कितने और बालकोंको धार्मिक शिक्षा बाबाजी की ही उस सत्य प्रेरणासे मिली है, जिसे उनका सहधर्मी वात्सल्य कराता था।

मुझे याद है कि एक त्यागीजीके गुस्सैल स्वभावके कारण हम गाँव के बालक त्यागियोंको भी डरनेकी वस्तु समझने लगे थे, पर माताके समान बाबाजीकी कोमल शिक्षक प्रकृतिने बाबाओंके प्रति भक्ति बढ़ानेके साथ-साथ पूजा, स्तवन आदि पढ़नेमें भी अनुराग पैदा कर दिया था। दूसरी बात जिसने उस समय हमें बारबार बाबाजीके पास जानेको प्रेरित किया, वह यह थी कि बार-बार पूछने पर भी उन्होंने किसीको एक जगहसे दूसरी जगह अपनी चटाई तक भी न बिछाने दी थी, अपना अन्य काम तथा वैय्यावृत्ती कराने की तो बात ही क्या है। उनमें इस तरह अहंमन्यताका तथा पुजानेकी लालसाका अभाव देखकर गाँवके एक हँसमुख व्यक्ति बोले, "महाराज! अबतक जो त्यागी आये वे सेवा कराके सुबहसे शाम तक पुण्य तो कमाने देते थे, पर आप तो हाथ ही नही लगाने देते।" इस पर बाबाजी मुस्कराये और बोले—"भइया! हम तो अपने लिए ही परेशान है, दूसरोंको पुण्यप्राप्ति कराना महापुरुषोंका काम है।" आज कितने ऐसे त्यागी हैं, जो अपनी अवस्थाका ऐसा सच्चा अनुभव करते हों और जनसाधारणके सामने प्रतिष्ठाका मोह छोड़कर इतनी सरलतापूर्वक कह सकते हों।

दूसरी बार बाबाजीका पुण्यसमागम काशीके श्री स्याद्वाद दि० जैन विद्यालयमें हुआ था। उस समय मैं सेठ माणिकचन्द्र परीक्षालय बम्बईसे शास्त्री पास कर चुका था और बालकसे किशोर हो चुका था। मैं बाबाजीके सामने गया और वन्दना करके एक तरफ़ बैठ गया। बाबा जी छात्रोंसे हिलमिल करके बातचीत कर रहे थे और विद्यालयकी स्थापना की कहानी सुना रहे थे। पूज्य वर्णीजीका ज़िक्र आया तो पूछ बैठे—"मडावरेका कोई लड़का है?" विद्यार्थियोंने मेरी ओर संकेत किया तो मेरा नाम पूछा और नाम सुनते ही बोले—"तुम तो बहुत बड़े हो गये हो, मैं पहिचान भी न सका।" इसके बाद बाबाजी कई दिन रहे, उनके भाषण भी सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ और कुछ वाक्य अब भी याद हैं। लेकिन जिस भाषणका चित्र आज भी मानसिक क्षितिज पर अंकित

है, वह तो उनका मूक भाषण है, जिसे उनका जागरूक आचरण प्रति-क्षण मौन भाषामें देता था। उनके उपकरण, आहार और विहार सब ही अनोखे थे। मैंने देखा—बाबाजीके पास दो लँगोटी, दो चद्दर, एक मोटा ओढ़ना, एक छोटी और एक बड़ी चटाई तथा खुरजीमे कुछ किताबें, आवश्यक दो या तीन वर्तन और छन्ना आदि दो-एक आवश्यक वस्तुएँ है। उनका भोजन भी नीरसता और सादगीका आदर्श था। मैं बाबाजी को भोजन कराने स्वयं ले गया। वहाँ जो देखा, उसे देखकर मैं दंग रह गया। बिना नमक और घीकी खिचड़ी ही अक्सर बाबाजीका भोजन होती थी। यदि बड़ा रद्दो-बदल हुआ तो उबली तरकारी या कच्ची लौकी ले लेते थे। या कुछ फल वग़ैरह भी भोजनके ही साथ ले लेते थे, लेकिन इन चीजोंकी भी एक तरहसे मिट्टी-पलीत ही होती थी। क्योंकि बाबाजी उन सबको भी खिचड़ीमें ही मिलाकर उदरदरीको भर लेते थे। इन्द्रियोंका ऐसा दमन और खासकर जिह्वाका ऐसा पूर्ण नियंत्रण बाबाजीकी अपनी विशेषता थी।

उनका व्यवहार तो और भी अनोखा था। प्रातःकालकी सामायिक-से लेकर सोनेके क्षण तक उनके प्रत्येक कार्यमें एक ही धारा बहती थी। उठते-बैठते, बोलते-चालते एक आत्म-चिन्तवन और कषाय-विजयका विचार चलता था। हम लोगोंसे अनेक बार विद्यालयकी बाबत बात हुई, लेकिन उपसंहार हर बार यही होता था—"देखो! संसारके साधन तो हरएक माता-पिता विरासतमें देता है, पर इस आत्माको पतनसे बचाने-वाले आत्मज्ञानको देनेकी किसीको भी चिन्ता नहीं है।" स्व० बाबा-जीके यह उद्गार कितने सत्य हैं। आज हम अपने सगोंकी बीमारी, घाटे आदिकी खबर पाते ही विकल हो जाते हैं, पर दिनोंदिन बढ़ते भोग-विलास में पड़कर, खोखले हुए उनके आत्माको हम देखकर भी नहीं देखते हैं। मैंने देखा कि बाबाजी प्रतिज्ञा दिलाते थे और उनसे प्रतिज्ञा लेनेमें एक आन्तरिक उत्साहका अनुभव होता था, क्योंकि उनकी साधना इतनी ऊँची थी कि उसके प्रभावक्षेत्रसे बचकर निकलना ही मुश्किल था।

बचनेकी बात दूर रही, उनके सामने जानेसे ही मनमें त्याग-शक्तिको स्फूर्ति मिलती थी।

अन्तिम बार स्व० बाबाजीके दर्शन काशीमें ही संवत् ९४ में हुए थे। इस बार बाबाजी स्व० बा० छेदीलालजीके मन्दिरकी धर्मशाला में ही ठहरे थे। मैं भी इसकी एक कोठरीमें रहता था। फलतः बाबाजी के समागमका पूरा लाभ प्राप्त कर सका था। बाबाजीकी प्रत्येक प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो गई थी, मानो उन्हें अपने अन्तिम समयका भान हो गया हो। शरीर काफ़ी दुर्बल हो गया था, लेकिन धर्माचरणमें पहिलेसे अधिक जागरूक थे। मैंने पूछा—"बाबाजी, ईसरीके उदासीन आश्रमसे क्यों चले आये, वहाँ अधिक सरलतापूर्वक धर्म-साधन हो सकता था।" बोले—"धर्म-साधन कहीं भी हो सकता है, उसके लिए किसी अखाड़ेकी ज़रूरत नहीं पड़ती है।" है भी सच, सारी पराधीनताएँ और लौकिक बन्धन तो संसार बनानेके लिए आवश्यक है, संसार-त्यागमें उनकी क्या आवश्यकता है। लेकिन यह बात बाबाजीके सिवा कितने लोगोंने समझी है? एक दिन शामको बोले—"लोगोंमें धर्म-प्रेमके नाम पर दम्भ बढ़ता जा रहा है। प्रभावनाके नाम पर लोग अपना विज्ञापन करते हैं। सेवा का बाना धारण कर अपने आपको पुजवाते हैं।" मैंने कहा—"बाबाजी, पूर्ण जागृति हो जाने पर यह सब अपने आप दूर हो जायगा।" बोले—"भइया! यह तो दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। शिखरजीकी तेरह-पन्थी कोठीमें देखो क्या हो रहा है? पर, इस वनमें मोर नाचनेमें क्या लाभ है।" मैं चुप रहा, पर बाबाजीके हृदयमें समाजके इस आत्म-विज्ञापनने इतनी खलबली मचा रखी थी कि, उन्होंने 'मयूर-नृत्य' शीर्षक लेख लिखवाया, जो जैनदर्शन अंक ३, वर्ष ५, पृ० १३१ पर छपा था। इसमें बाबाजीने समाजकी कोरी कीर्ति-पिपासाको भूल बताकर, यह निवेदन किया था कि, समाजकी शक्तिका उपयोग एक-एक परमाणु-ज्ञान बढ़ाने और आचरणशील व्यक्ति पैदा करनेमें होना चाहिए।

—'जैन-सन्देश' ९ जुलाई १९४२

जन्म—	हसेरा (झाँसी) क्वार कृष्ण ४ वि० सं० १६३१
दीक्षा—	कुण्डलपुर (दमोह) अनुमानतः वि० सं० १६७१
वर्तमान आयु—	७७ वर्ष १६ सितम्बर १६५१ ई०

पावन चरण-रज

तपसे कृश, तेजसे दीप्त, रंगमें काला, हृदयका स्वच्छ, पण्डितोंका पण्डित, बालकों-जैसा सरल स्वभावी, उन्नत ललाट, नेत्र अन्तरंगको देखनेमें लीन अधखुले-से, कीर्ति-प्रतिष्ठासे निर्लिप्त एक ऐसा व्यक्ति वर्षोंसे नंगे पाँव एक लँगोटी लगाये, चादर ओढ़े सर्दी-गर्मीकी चिन्ता किये बिना ही गाँव-गाँव और शहर-शहरमें जन-जनको अहिंसा-सत्यका उपदेश देता हुआ घूम रहा है। वह चलता है तो धनकुबेर उसके पाँवोमें लक्ष्मी बखेरते चलते हैं। विद्वद्वर्ग अपनी सीमाओंमें ही रोक रखना चाहते हैं। लेकिन वह निर्विकार बढ़ता ही जा रहा है। वह अपनी दिव्य वाणीमें लोक-कल्याणका सन्देश अविराम गतिसे देता हुआ बढ़ रहा है, जिसमें जितनी गहरी डुबकी मारनेकी सामर्थ्य है, उतना ही ले पा रहा है। इस तपस्वीको लोग वर्णी कहते हैं। कई बार उसकी पावन चरण-रज लेकर हम कृतकृत्य हो चुके हैं। अभी १६ सितम्बर १६५१ को उनका ७८वाँ जन्म-समारोह जनताने श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मनाया है। हमारी भावना है यह सन्त इसी प्रकार धर्मप्रसार दिगदिगन्त करता रहे।

—गोयलीय

जीवन-रेखा

प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला

कौन जानता था–

'**समय एव करोति बलाबलम्**' का साक्षात् निदर्शन, आल्हा-ऊदलके कारण आबाल-गोपालमें सुख्यात, तथा पुण्यश्लोका, भारतीय जोन आफ आर्क, स्वतंत्र भारतमाताका अवतार महारानी लक्ष्मीबाईके नेतृत्वमें लड़नेवाले अन्तिम विद्रोहियोंकी पुण्य तथा पितृभूमि बुन्देलखंडपर भी जब सारे भारतके दास हो जाने पर अन्तमें दासता लाद ही दी गई, तो कूटनीतिज्ञ गोरे विजेता उसे सब प्रकारसे साधनविहीन करके ही संतुष्ट न हुए अपितु उन्होंने अनेक भागोंमें विभाजित करके पवित्र बुन्देलखंड नाम तकको लुप्त कर दिया। स्वतंत्रताके पुजारियोंका तीर्थस्थान झांसी सर्वथा उपेक्षित होकर ब्रिटिश नौकरशाहीका पिछड़ा हुआ ज़िला बना दिया गया; पर इससे बुन्देलखंडका तेज तथा स्वतंत्रता-प्रेम नष्ट न हुआ और वह अलख आज भी जलती है। इसी ज़िलेके मड़ावरा परगनेमें एक हँसेरा नामका ग्राम है। इस ग्राममें एक मध्यवित्त असाठी वैश्य-परिवार रहता था। इस घरके गृहपतिको ५० वर्षकी अवस्थामें प्रथम सन्तान प्राप्त हुई, जिसका नाम श्री हीरालाल रक्खा गया था। उनकी यद्यपि पर्याप्त शिक्षा नहीं हुई थी, तथापि वे बड़े सूक्ष्म विचारक तथा स्वाभिमानी व्यक्ति थे। परिस्थितियोंके थपेड़ोंने जब इनकी आर्थिक स्थितिको बिगाड़ना शुरू किया तब भी ये शान्त रहे। इन्हीं परिस्थितियोंमें वि० संवत् १९३१ में इनके घर एक पुत्रने जन्म लिया, जिसका नाम गणेशप्रसाद (आज पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी) रक्खा गया। ज्योतिषियोंने यद्यपि बालकको भाग्यवान् बताया था, किन्तु उसके जन्मके बाद छह वर्ष तक घरकी आर्थिक स्थिति हीयमान ही रही। फलतः कर्नल ह्यूरोज द्वारा मड़ावरा-विजयके २२ वर्ष बाद (१८८० ई०) यह परिवार भी आकर मड़ावरामें बस गया।

यद्यपि प्रतिशोध लेनेमें प्रवीण गोरोंने भारतीय शासकोंके सरदारों तथा अनुरक्त नागरिकोंका कसके दमन किया था, तथापि शाहगढ़ राजकी राजधानी मड़ावरा उस समय भी पर्याप्त धनी थी। नगरवासियोंके धर्म-प्रेमका परिचय दो वैष्णव मन्दिर तथा ग्यारह जैनमन्दिर शिर उठाकर दे रहे थे। फलतः इस ग्राममें आते ही श्री हीरालालजी सम्मानपूर्वक जीवन ही न बिताने लगे, अपितु बालक गणेशको भी यहाँके प्राईमरी तथा मिडिल स्कूलोंकी शिक्षाका सहज लाभ हो गया। इतना ही नहीं जैन-पुरामें रहनेके कारण चिन्तनशील बालक गणेशके मनमें एक अस्पष्ट जिज्ञासा भी जड़ जमाने लगी। उसकी लौकिक एवं आध्यात्मिक शिक्षाएँ साथ-साथ चल रही थी। एक ओर वह अपने गुरुजीके साथ प्रतिदिन संध्यासमय शाला (वैष्णव-मन्दिर) में आरती देखने, रामायण सुनने, तथा प्रसाद लेने जाते थे तो दूसरी ओर घरके सामने स्थित गोरावालोंके जैनमन्दिरके चबूतरे पर होनेवाली शास्त्रसभा तथा पूजा आदिसे भी आकर्षित हुए बिना नहीं रह सके। जैन-मन्दिरकी स्वच्छता, पूजाकी प्राञ्जल विधि, पूजन-पाठकी संगीतमयता, पुराणोंमें हनूमानजीको बानर न बताकर बानरवशी राजा कहना, आदि वर्णन जहाँ विवेकी बालकोंके मन पर अपनी छाप डाल रहे थे, वहीं पड़ोसी जैनियोंका शुद्ध आहार-विहार उन्हें अपने कुलके रात्रिभोजन, अनछना पानी, महीनों चलनेवाले दहीके जाँवन, आदि शिथिल आचारसे खींचता जा रहा था। जब दृढ़ श्रद्धानी पिता सामनेके जैन-मन्दिरमें होनेवाली सभामें जाने लगे, तब बालक गणेशको भी माता वहाँ जानेसे न रोक सकती थी। संयोगवश १० वर्षकी अवस्थामें किसी ऐसी ही सभामें प्रवचनके बाद जब श्रोता नियम ले रहे थे, तभी बालक गणेशने भी रात्रि-भोजनके त्यागका नियम ले लिया।

साँचो देव कौन है इनमें ?

बालक गणेशके मनमें प्रश्न उठता था कि किस धर्मपर श्रद्धा की जाय। कौल-धर्म तथा दृष्ट धर्ममें किसे अपनाया जाय! द्विविधा बढ़ती ही जा रही थी कि एक रात शालामें प्रसादके पेड़े बटे। इन्हें भी पुरोहित

देने लगे, पर इन्होंने इन्कार कर दिया। फिर क्या था सामने बैठे हुए गुरुजी दुर्वासा ऋषि हो गये और डट गया प्रह्लादकी तरह बालक गणेश, "मैं रातको नहीं खाऊँगा और न सम्यक्दृष्टि वानरवंशी राजा हनूमानको वानर मानूँगा। इतना ही नहीं, अब मैं कलसे शाला भी नहीं आऊँगा।" प्रकृत्या भीरु शिष्यसे गुरुजीको ऐसी आशा न थी, पर हुक्का फोड़कर हुक्का न पीनेकी प्रार्थना करने वाले शिष्यकी ये बातें व्यर्थ तो नहीं मानी जा सकती थीं। फलतः 'समझने पर सब करेगा, मन समझानेके सिवा चारा भी क्या था।'

दूसरी परीक्षा——माताके मुखसे "लड़का बिगरत जात है, देखत नइयाँ बारा बरसको तो हो गओ, जनेऊ काये नईं करा देत।" सुनकर पिताने आजाकी अनुमतिपूर्वक कुलगुरु बुडेराके पुरोतको बुलाया, तथा यज्ञोपवीत-संस्कारकी पूरी तैयारी कर दी। संस्कारके अन्तमें पुरोतजीने मंत्र दिया और आज्ञा दी 'किसीको मत बताना।' तार्किक बालकको समझमें न आया कि हज़ारोंको स्वयं गुरुजी द्वारा दिया गया मंत्र कैसे गोप्य है। शंका की और कुलगुरु उबल बड़े। माताके पश्चात्ताप और खेदकी सीमा न रही। मुँहसे निकल ही पड़ा "ईसे बिना लरकाकी भली हती।" जब प्रौढ़ा माता उत्तेजित हो गई तो बारह वर्षका लड़का कहाँ तक शान्त रहता? मनकी श्रद्धा छिपाना असंभव हो गया और कह ही उठा—"मताई-आपकी बात बिल्कुल ठीक आय, अब मोय ई धर्ममें नई रैने। आजसे जिनेन्द्रको छोड़कर दूसरेको नई मानूँगो। मैं तो भौत दिननसे जाई सोच रओ तो के जैन धर्मइं मोरो कल्याण करै।" माता-पुत्रके इस मतभेदमें भी सेठ हीरालाल अविचलित थे। पत्नीको समझाया कि ज़ोर-जबरदस्ती-से काम बिगड़ेगा, लड़केको पढ़ने-लिखने दो। पढ़ाई चलती रही। स्कूल-में जो वजीफ़ा मिलता था, उसे अपने ब्राह्मण साथी तुलसीदासको दे देते थे। इस प्रकार १४ वर्षकी उम्रमें हिन्दी मिडिल पास करनेपर लोगोंने नौकरी या धंधा करनेको कहा पर आन्तरिक द्विविधामें पड़ा किशोर कुछ भी निश्चित न कर सका। चार वर्ष बीत गये, धीरे धीरे छोटा भाई भी

विवाह लायक हो रहा था। फलतः १८वें वर्षमें इनका विवाह कर दिया गया।

यौवन-प्रभातमें संसारमें भूल जाना स्वाभाविक था, पर प्रकृतिका संकेत और था। यह वर्ष बड़े संकटका रहा। पहिले विवाहित बड़े भाई-की मृत्यु हुई, फिर पिता संघातिक बीमार हुए, जिसे देखकर ११० वर्षकी अवस्थामें आजाको इच्छामरण प्राप्त हुआ और अगले दिन पिता भी चल बसे। विधवा जीवितमृत युवती भाभी और बिलखती वृद्धा माताने सारे वातावरणको संसारकी क्षणभंगुरतासे भर दिया। सिरपर पड़े दायित्वको निभानेके लिए मदनपुरके स्कूलमें मास्टरी शुरू की। ट्रेनिंगका प्रश्न उठा और नार्मल पास करने आगरा गये, किन्तु प्रारम्भ हो गई सत्यकी खोज। किसी मित्रके साथ जयपुर गये और वहाँसे इन्दौर पहुँचे। फिर माता-पत्नीके भरण-पोषणकी चिन्ता हुई और शिक्षाविभागमे वही नौकरी कर ली, पर ये थपेड़े किनारेपर न ला सके, अतः फिर घर लौट आये।

तीसरी परीक्षा—घर आते ही पत्नीका द्विरागमन हो गया, अवस्थाने विजय पाई। कारीटोरन ग्रामके स्कूलमें अध्यापकी करने लगे। पत्नीको बुला लिया, सुखसे समय कट रहा था। ककेरे छोटे भाईका विवाह था, अतः उसमें गये। पंक्तिमें सबके साथ बैठकर जीमनेका मौका आया, किन्तु भोजन जैनियों-जैसा नही था, अतः पाँतमें बैठनेसे इन्कार कर दिया। जातिवाले आगबबूला हो गये, जातिसे गिरानेकी धमकी दी गई। माताने समझाया—"अब तुम लरका नौइ हो, समझबूझके चलो, अपनो धरम पालो, कायें मोय लजाउत हो।" पत्नी भी अपने संस्कार तथा सासके समझानेसे अपना वैष्णव-धर्म पालनेका आग्रह करने लगी। फलतः उससे मन हठ गया। सोचा जो करना है उसे कहाँ तक टाला जाय और किसलिए? "आप सब जनोंकी बात मंजूर है, मैं अपने आप अलग भओ जात।" कहकर घरसे निकल पड़े।

तैसी मिले सहाय—

घरसे चलकर टीकमगढ़ ओरछा पहुँचे। सौभाग्यसे वहाँ श्रीराम मास्टरसे भेंट हो गई और इन्होंने जताराके स्कूलमें नियुक्ति करवा दी।

यहाँ पहुँचनेसे श्री कड़ोरलाल भायजी, पं० मोतीलाल वर्णी तथा रूपचन्द्र बनपुरयाका समागम प्राप्त हुआ। खूब धर्मचर्चा तथा पूजादि चलती थी। बढ़ती आस्थाके साथ-साथ धर्मका रहस्य जाननेकी अभिलाषा भी बढ़ती जा रही थी। जवानीका जोश त्यागकी तरफ़ झुका रहा था, फलतः भायजीने समझाया पहिले ज्ञान सम्पादन करो फिर त्याग करना। उन्होंने यह भी बार-बार कहा कि माता-पत्नीको बुला लो। अब वे अनुकूल हो जायेंगी किन्तु आत्म-शोधके लिए कृतसंकल्प युवक गणेशप्रसादको कहाँ विश्वास था। उनके मनमें श्रद्धा बैठ गई थी कि सब जैनी अच्छे होते हैं। अतः उनकी ही संगति करनी चाहिए, शेष लोगोंसे बचना चाहिए। तथापि भायजीकी बात न टाल सके और माताजीको चले आनेके लिए निवेद-नात्मक पत्र डाल दिया, किन्तु इसमें स्पष्ट संकेत था कि "यदि आपने जिन-धर्म धारण न किया तो आप दोनोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा," पर कौन जानता था कि कुछ ही दिनमें वे माता मिल जानेवाली हैं जो युवक गणेशको शीघ्र ही पंडित गणेशप्रसाद वर्णीके रूपमें जैन-समाजको देंगी।

जताराके पासके सिमरा गाँवमें एक क्षुल्लकजी विराजमान थे। फलतः अपने साथियोंके कहनेपर वर्णीजी भी वहाँ गये। शास्त्र बाँचा तथा भोजन करने सम्पन्न विधवा, सिंघैन चिरोंजाबाईजीके यहाँ गये। भोजनके समय वर्णीजीका संकोच देखकर निस्सन्तान विधवाका मातृत्व उमड़ आया और मनसा उन्होंने, इन्हें अपना पुत्र उसी क्षणसे मान लिया, किन्तु वर्णीजी आत्मरहस्य जाननेके लिए उतावले थे। सोचा क्षुल्लकजी अधिक सहायक हो सकेंगे, पर निकट सम्पर्कने आशाको निर्मूल कर दिया। क्षुल्लक जीने युवक गणेशप्रसादको शास्त्र-प्रवचन करके आजीविका करनेकी सम्मति दी। इस प्रकार जब वर्णीजी अपनी धुनमें मस्त थे, उन्हें क्या पता था कि उनकी धर्ममाताको यह सब नागवार गुज़र रहा है। अन्तमें "बेटा घरे चलो" कहकर वे उन्हें अपने घर ले गईं। उनको घर रखा और पर्यूषण पर्व बाद जयपुर जाकर जैन-शास्त्रोंके अध्ययनकी सम्मति दी। फलतः पर्व समाप्त होते ही जयपुरको चल दिये। इनके चले

जानेके बाद माता-पत्नी आईं और इन्हें न पाकर भग्न-मनोरथ होकर फिर मड़ावराको लौट गईं।

लेकिन अभी समय नही आया था। मार्गमें गवालियर ठहरे तो वहाँ-पर चोरी हो गई फलतः पासमें कुछ न रहा। वर्णीजीने यद्यपि जयपुर-यात्राका विचार छोड़ दिया, तथापि जिस प्रकार कष्ट सहते हुए जतारा लौटे और लज्जा संकोचवश धर्ममाताके पास न गये, उसने ही बाईजी (सिघैन चिरोंजाबाईजी)को आभास दे दिया था कि यह ज्ञान प्राप्त किये बिना रुकनेवाले नहीं हैं। कुछ समय बाद इनके मित्र धर्मचर्चा सुननेके लिए खुरई गये। उनके आग्रहसे यह भी साथ गये। यद्यपि टीकमगढ़में ही गोटीराम भायजीकी उपेक्षाने इन्हें शास्त्रज्ञ बननेके लिए कृत-संकल्प बना दिया था, तथापि यह श्रेय तो खुरईको ही मिलना था। जहाँ खुरईके जिनमन्दिर, श्रावक, शास्त्र-प्रवचन, आदिने वर्णीजीको आकृष्ट किया था, वही खुरईकी शास्त्रसभामें--"यह क्रिया तो हर धर्म-वाले कर सकते है....तुमने धर्मका मर्म नही समझा। आजकल न तो मनुष्य कुछ समझें और न जाने केवल खान-पानके लोभसे जैनी हो जाते हैं। तुमने बड़ी भूल की जो जैनी हो गये।" किये गये व्यंग तथा तिरस्कार पूर्ण समाधानने वर्णीजीके सुप्त आत्माको जगा दिया। यद्यपि उनके अत-रंगमें कड़वाहट थी, तथापि ऊपरसे "उस दिन ही आपके दर्शन करूँगा जिस दिन धर्मका मार्मिक स्वरूप आपके समक्ष रखकर आपको संतुष्ट कर सकूंगा।" मिष्ट उत्तर देकर अध्ययनका अटल संकल्प कर लिया। उस समय तुरन्त कोई मार्ग न सूझनेके कारण वे पैदल ही मड़ावराको चल दिये और तीन दिन बाद रातमें घर पहुँचे।

द्वितीय यात्रा--माताने सोचा जगकी उपेक्षाने शायद आँखें खोल दी हैं और अब यह घर रहकर काम करेगा। पर उनके अन्तरंगमें तो ज्ञानतृषाकी अग्नि प्रज्वलित हो रही थी? तीन दिन बाद फिर बमरानेको और वहाँसे रेशन्दीगिरकी यात्राको पैदल ही चल दिये। वहाँसे यात्रा करके कुण्डलपुर गये। इस प्रकार तीर्थयात्रासे परिणाम तो विशुद्ध होते

थे पर ज्ञानवृद्धि न थी। बहुत सोचकर भी युवक वर्णी दिग्भ्रान्तसे चले जा रहे थे। रामटेक, मुक्तागिरि, आदि क्षेत्रोंकी यात्रा की, किन्तु मन्दिरों की व्यवस्था और स्वच्छताने रह-रहकर एक ही प्रश्नको पुष्ट किया—'क्या यहाँ आध्यात्मिक लाभ (ज्ञान-चर्चा) की व्यवस्था नहीं की जा सकती ? उसके बिना इस सबका पूर्ण फल कहाँ ?' प्रतीत होता है कि मार्गकी कठिनाइयाँ पूर्व बद्ध ज्ञानवरणीको समाप्त करनेके लिए पर्याप्त न थी, फलतः खुजलीने शरीर पर आक्रमण किया, और बढ़ते हुए शारीरिक कष्ट तथा घटते हुए पैसेने कुछ क्षणोंके लिए विवेक पर भी पर्दा डाल दिया। फलतः पैसा बढानेकी इच्छासे बेतूलमें ताशके पत्ते पर दाव लगाया और अवशेष तीन रुपया भी खो दिये। फिर क्या था शारीरिक कष्ट चरम सीमा पर पहुँच गया, उदर-भरणके लिए मिट्टी खोदनेका काम भी करना पड़ा, इस श्रम-संयोगने उन्हें सदैवके लिए अकार्य करनेसे विरत कर दिया।

"ज्ञानीके छनमें त्रिगुप्तिसे सहज टरेंते"—गजपंथामें आरवीके सेठसे भेंट हुई और बम्बई पहुँचे। बस यहाँसे विद्वान् वर्णीका जीवन प्रारम्भ होता है। खुरजाके श्री गुरुदयालसिंहसे भेंट हुई, उन्होंने इनके स्थानादि की व्यवस्था जमवा दी। इन दिनों वर्णीजी कापियाँ बेचकर आजीविका करते थे तथा प० जीवारामसे कातन्त्र व्याकरण तथा पं० पन्नालाल बाकलीवालसे रत्नकरण्ड पढ़ते थे। संयोगवश इसी समय श्री माणिकचन्द्र दि० जैन परीक्षालयकी स्थापना हुई और परीक्षामें ससम्मान उत्तीर्ण होनेके कारण वर्णीजीको पं० गोपालदासजीने छात्रवृत्ति दिलाकर जयपुर भेज दिया। यहाँ आने पर अध्ययनका क्रम और व्यवस्थित हो गया और वे सर्वार्थसिद्धि, आदि ग्रन्थोंको पढ़ सके। जिस समय कातन्त्रकी परीक्षा दे रहे थे, उसी समय पत्नीकी मृत्युका संवाद मिला। वर्णीजीने इसे भी अपने भावी जीवनका पूर्व चिह्न समझा और शान्त भावसे निवृत्तिमार्ग को अपनानेका ही संकल्प किया।

जैनसमाजमें भी सांस्कृतिक जागरण हो रहा था, फलतः

मथुरामें महाविद्यालयकी स्थापना हुई और वर्तमानमें प्राच्य शिक्षित जैनसमाजके महागुरु पं० गोपालदासजी वरैयाने वर्णीजीको मथुरा बुला लिया। अध्ययनका क्रम अब व्यवस्थित हो रहा था, तथा पूर्ण शिक्षा प्राप्त करनेका संकल्प दृढ़तर। फलतः गुरुभक्तिसे प्रेरित होकर वह कार्य भी कर देते थे जो नहीं करना चाहिए था। यही कारण था कि पं० ठाकुरप्रसादजीके लिए चौदशके दिन बाजारसे आलू-बैंगनकी तरकारी लानेसे इन्कार भी न कर सके तथा अत्यन्त भयभीत भी हुए। लक्ष्यके प्रति स्थिरता तथा भीरुताके विचित्र समन्वयका यह अनूठा निदर्शन था। वर्णीजी अपने विषयमें स्वयं एकाधिक बार यह कह चुके हैं कि "मेरी प्रकृति बहुत डरपोक थी, जो कुछ कोई कहता था चुपचाप सुन लेता था।" किन्तु यह ऐसा गुण सिद्ध हुआ कि वर्णीजी सहज ही उस समयके जैन नेताओं तथा गुरु गोपालदासजी, पं० बलदेव-दासजी, आदिके विश्वासभाजन बन सके। इतना ही नही, इस गुणने वर्णीजीको आत्म-आलोचक बनाया, जिसका प्रारम्भ सिमरा भेजे गये जाली पत्रको लिखनेकी भूलको स्वीकार करनेसे हुआ था। तथा हम देखते हैं कि इस अवसरपर की गई गुरुजीकी भविष्यवाणी "आजन्म आनन्दसे रहोगे" अक्षरशः सत्य हुई है। सच तो यह है कि इसके बाद ही आजके न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसादका प्रारम्भ हुआ था, क्योंकि इसके बाद दो वर्ष खुरजामें रहकर वर्णीजीने गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारसकी प्रथमा तथा न्यायम‍ध्यमाका प्रथम खण्ड पास किया था।

एक बार बन्दे जो कोई...—खुरजामें रहते समय एक दिन मृत्युका स्वप्न देखा। वर्णीजीकी अटल जैनधर्म श्रद्धाने उन्हें सम्मेद-शिखर यात्राके लिए प्रेरित किया। क्या पता जीवन न रहे? फिर क्या था, गर्मीमें ही शिखरजीके लिए चल दिये। प्रयाग आकर अक्षयवट देखकर जहाँ भारतीयोंकी श्रद्धालुताके प्रति आदर हुआ, वहीं उनकी अज्ञता को देखकर दया भी आई। वर्णीजीने देखा अज्ञ श्रद्धालु जनताको गुण्डे पण्डे किस प्रकार ठगते हैं फलतः उनकी वैदिक रीति-रिवाजों परसे

बची-खुची श्रद्धा भी समाप्त हो गई। शिखरजी पहुँचने पर गिरिराजके दर्शनसे जो उल्लास हुआ वह गर्मीके कारण होनेवाली यात्राकी कठिनाईका खयाल आते ही कम होने लगा। उनके मनमें आया "यदि हमारी बन्दना नहीं हुई तो अधम पुरुषोंकी श्रेणीमें गिना जाऊँगा", किन्तु उनकी अटल श्रद्धा फिर सहायक हुई और वे सानन्द यात्रासे लौटकर इस लोकापवाद-भीरुतासे सहज ही बच सके। वर्णीजी परिक्रमाको जाते हे और करके लौटते हैं, पर इस यात्रामें जो एक साधारण-सी घटना हुई वह उनके अन्तरंगको 'करतलामलक' कर देती है। वे मार्ग भूलते हैं और प्याससे व्याकुल हो उठते हैं, मृत्युके भय और जीवन-मोहके बीच भूलते हुए कहते हैं "यद्यपि निष्कामभावसे ही भगवान्का स्मरण करना श्रेयोमार्गका साधक है। हमें पानीके लिए भक्ति करना उचित न था। परन्तु क्या करें? उस समय तो हमें पानीकी प्राप्ति मुक्तिसे भी अधिक भान हो रही थी। ......तृषित हो प्राण त्यागूँ?......जन्मसे ही अकिञ्चित्कर हूँ। आज निःसहाय हो पानीके बिना प्राण गँवाता हूँ। हे प्रभो! एक लोटा पानी मिल जाय यही विनय है।....भाग्यमें जो बदा है वही होगा, फिर भी हे प्रभो! आपके निमित्तने क्या उपकार किया?" वर्णीजी जब इन संकल्प-विकल्पोंमें डूब और उतरा रहे थे, उसी समय पानी मिल जाता है। पूर्व पुण्योदयसे प्राप्त इस घटनाने उनमें जो श्रद्धा उत्पन्न की, उसकी प्रशंसा करते हुए वे स्वयं कहते हैं—"उस दिनसे धर्ममें ऐसी श्रद्धा हो गई जो कि बड़े-बड़े उपदेशों और शास्त्रोंसे भी बहुत ही श्रमसाध्य है।"

कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि—

सम्मेदशिखरसे सिमरा वापस गये। टीकमगढ़ रहकर ही अध्ययन चालू रखनेका प्रयत्न किया, किन्तु अध्यापक दुलार झासे पशुबलिको लेकर विवाद हो गया और अहिंसाके पुजारी वर्णीजीने तय किया "मूर्ख रहना अच्छा किन्तु हिंसाको पुष्ट करनेवाले अध्यापकसे विद्यार्जन करना अच्छा नहीं।" पर जिसकी जीवन-साध ही पांडित्य थी, वह कैसे पढ़ना छोड़कर

शान्त बैठता ? फलतः धर्ममातासे आज्ञा लेकर हरिपुर (इलाहाबाद) पं० ठाकुरप्रसादके यहाँ चले गये। अध्ययन सुचारु रूपसे चल रहा था किन्तु **संगात् संजायते दोषः**। एक दिन साथीके साथ भंग पी ली। नशा हुआ, पंडितजीने रात्रिमें खटाई खानेको कहा, पर 'आत्तं पाल्यं प्रयत्नतः' फलतः निशिभोजन त्याग व्रतको निभानेके लिए नशेमे भी जागरूक रहे। 'भंग खानेको जैनी न थे' सुनकर गुरुजीके पैरोंमें गिर पडे और अपने अपराधके लिए पश्चात्ताप किया तथा अपने जैनत्वको ऐसा दृढ़ किया कि **'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्'** के गढ़ काशीमे भी विजय पाई।

वर्णीजी ऊँची शिक्षाके लिए काशी पहुँचे। अन्य विद्यार्थियोंके समान पोथी लेकर पं० जीवनाथ मिश्रके सामने उपस्थित हुए। नाम-कुल-धर्म पूछा गया। प्रकृत्या भीरु प० गणेशप्रसादने साहसके साथ कह दिया 'मै ब्राह्मण नहीं हूँ।" पंडित आगबबूला हो गया। अब्राह्मण और उसपर भी वेदनिन्दक, कदापि नही, मेरे यहाँ त्रिकालमें नहीं पढ़ सकता। वर्णीजी भी शमीतरु है। उनके भीतर छिपा नैयायिक जाग उठा और बोले "ईश्वरेच्छा बिना कार्य नही होता, तब हम क्या ईश्वरकी इच्छाके बिना ही हो गये ? नही हुए; तब आप जाकर ईश्वरसे झगड़ा करो।" विचारे काशीके पंडितके लिए ही यह नूतन अनुभव न था, अपितु वर्णीजीके अन्तरंगमें भी नूतन प्रयोगका संकल्प उदित हो चुका था। नागरिकता एवं सभ्यताकी रग-रगमें भिदी साम्प्रदायिकताने क्षण भरके लिए वर्णीजी को निराश कर दिया। वे कोठीमें बैठ कर रुदन करने लगे और सो गये। स्वप्न देखा, बाबा भागीरथजीको बुलाओ और श्रुतपञ्चमीको काशीमें पाठशालाका मुहूर्त्त करो। फलतः प्रयत्न प्रारम्भ हुआ और दूसरे अध्यापककी खोजमें लग गये। तथा बड़ी कठिनाइयोंको पार करते हुए पंडित अम्बादास शास्त्रीके शिष्यत्वको प्राप्त कर सके।

इस समय तक परम तपस्वी बाबा भागीरथजी आ चुके थे। संयोगवश अग्रवालसभामें वर्णीजी चार मिनट बोले, जिससे काशीके लोग प्रभावित हुए। विद्यालयके प्रयत्नकी चर्चा हुई तथा झम्मनलालजी सा०,

कामासे एक रुपया प्रथम सहायता मिली। वर्णीजी तथा बाबाजी निरुत्साह न हुए, अपितु उस रुपयेके चौंसठ कार्ड लेकर समाजके विशेष व्यक्तियोंको लिख दिये[1]। विशुद्ध परिणामोंसे कृत प्रयत्न सफल हुआ। स्व० बाबू देव-कुमार रईस आरा, सेठ माणिकचन्द जवेरी बम्बई, बाबू छेदीलाल रईस बनारस आदिने प्रयत्नकी प्रशंसा की और सहायताका वचन दिया। पं० अम्बादासजीको आदि-अध्यापक तथा पं० वंशीधरजी इन्दौर, पं० गोविन्द-रायजी तथा अपने आपको आदि-छात्र करके वर्णीजीने काशीके श्री स्याद्वाद दिगम्बर जैन विद्यालयका प्रारम्भ किया, जिसने जैनसमाजकी सांस्कृतिक जाग्रतिके लिए सबसे उत्तम और अधिक कार्य किया है। स्याद्वाद दि० जैन विद्यालयने जैनसमाजकी वही सेवा की है, जो श्री सैय्यद अहमदके अलीगढ़ विश्वविद्यालयने मुसलमानोंकी, पूज्य माल-वीयजीके काशी विश्वविद्यालयने वैदिकोंकी तथा पूज्य गाधीजीके विद्या-पीठोंने पूरे भारतकी की है। प्रथम दो शिक्षासंस्थाओंकी अपेक्षा स्याद्वाद विद्यालयकी यह विशेषता रही है कि इसने कभी भी जैन साम्प्रदायिकता को उठने तक नही दिया है। यही एक संस्था वर्णीजीको अमर करनेके लिए पर्याप्त है, क्योंकि वे इसके संस्थापक ही नहीं हैं, अपितु आज जैन समाजकी विविध-संस्थाओंके पोषक होकर भी इसके स्थायित्वकी उन्हें सदैव चिन्ता रहती है। ऐसा लगता है कि वे अपनी इस मातृ-पुत्री संस्थाको क्षण भर नहीं भूलते हैं।

संसारको जितना अधिक वर्णीजी समझते हैं, उतना शायद ही कोई जानता हो तथापि इतने गम्भीर हैं कि उनकी थाह पाना असंभव है, किन्तु विशेषज्ञता तथा गाम्भीर्यने उनकी शिशु-सुलभ सरलता पर रंचमात्र प्रभाव नहीं डाला है। आज भी किसी बातको सुनकर उनके मुखसे आश्चर्य-सूचक प्लुत "अरे" निकल पड़ता है। यही कारण है कि स्व० बाईजी तथा शास्त्रीजी बहुधा कहा करते थे "तेरी बुद्धि क्षणिक ही नहीं, कोमल भी है। तू प्रत्येकके प्रभावमें आ जाता है।"

1. तब एक कार्डका मूल्य एक पैसा था।

मनुष्यके स्वभावका अध्ययन करनेमें तो वर्णीजीको एक क्षण भी नहीं लगता। यही कारण है कि वे विविध योग्यताओंके पुरुषोंसे सहज ही विविध कार्य करा सके हैं। यह भी समझना भूल होगी कि यह योग्यता उन्हें अब प्राप्त हुई है। विद्यार्थी जीवनमें बाईजीके मोतियाबिन्दकी चिकित्सा कराने किसी बंगाली डाक्टरके पास झाँसी गये। डाक्टरने यों ही कहा— "यहाँके लोग बड़े चालाक होते है," फिर क्या था माता-पुत्र उसकी लोभी प्रकृतिको भाँप गये और चिकित्साका विचार ही छोड़ दिया। बादमें उस क्षेत्रके सब लोगोंने भी बताया कि वह डाक्टर बड़ा लोभी था, किन्तु धर्ममाताकी व्यथाके कारण वर्णीजी दुःखी थे, उन्हें स्वस्थ देखना चाहते थे। तथापि उनकी आज्ञा होने पर बनारस गये और परीक्षामें बैठे गो कि मन न लग सकनेके कारण असफल रहे। लौटने पर बागमें एक अंग्रेज डाक्टरसे भेंट हुई। वर्णीजीको उसके विषयमें अच्छा ख्याल हुआ। उससे बाईजीकी आँखका आपरेशन कराया और बाईजी ठीक हो गई। इतना ही नहीं वह इनसे इतना प्रभावित हुआ कि उसने रविवारको मासाहारका त्याग कर दिया तथा कपड़ोंकी स्वच्छता आदिको भोजन-शुद्धिका अंग बनानेका इनसे भी आग्रह किया।

वर्णीजीका दूसरा विशेष गुण गुणग्राहकता है, जिसका विकास भी छात्रावस्थामें ही हुआ था। जब वे चकौती (दरभंगा) में अध्ययन करते थे, तब द्रौपदी नामकी भ्रष्ट बालविधवामें प्रौढावस्था आने पर जो एकाएक परिवर्तन हुआ, उसने वर्णीजी पर भी अद्भुत प्रभाव डाला। वे जब कभी उसकी चर्चा करते हैं तो उसके दूषित जीवनकी ओर संकेत भी नहीं करते हैं और उसके श्रद्धानकी प्रशंसा करते हैं। बिहारी मुसहरकी निर्लोभिता तो वर्णीजीके लिए आदर्श है। अल्पवित्त, अपढ होकर भी उसने उनसे दस रुपये नहीं ही लिये क्योंकि वह अपने औषधिज्ञानको सेवार्थ मानता था। घोर-से-घोर घृणोत्पादक अवसरोंने वर्णीजीमें विरक्ति और दयाका ही संचार किया हैं, प्रतिशोध और क्रोध कभी भी उनके विवेक और सरलताको नहीं भेद सके हैं। नवद्वीपमें जब कहारिनसे मछलीका

आख्यान सुना तो वहाँके नैयायिकोसे विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके प्रलोभनको छोड़कर सीधे कलकत्ता पहुँचे। और वहाँके विद्वानोंसे भी छह मास अध्ययन किया। इस प्रकार यद्यपि वर्णीजीने तब तक न्यायाचार्यके तीन ही खण्ड पास किये थे, तथापि उनका लौकिक ज्ञान खण्डातीत हो चुका था। तथा उन्होंने अपने भावी जीवनक्षेत्र–जैन समाजमें शिक्षाप्रचार तथा मूक सुधारके लिए अपने आपको भली भाँति तैयार कर लिया था।

जानो और जानने दो–

कलकत्तेसे लौटकर जब बनारस होते हुए सागर आये तो वर्णीजीने देखा कि उनका जन्म-जनपद शिक्षाकी दृष्टिसे बहुत पिछड़ा हुआ है। जब नैनागिरकी तरफ विहार किया तो उनका आत्मा तड़प उठा। बंगाल और बुन्देलखंडकी बौद्धिक विषमताने उनके अन्तस्तलको आलोडित और आन्दोलित कर दिया। रथयात्रा, जलयात्रा, आदिमें हज़ारों रुपया व्यय करनेवालोंको शिक्षा और शास्त्र-दानका विचार भी नहीं करते देखकर वे अवाक् रह गये। उन्होंने देखा कि भोजन-पान तथा लैङ्गिक सदाचारको दृढ़तासे निभाकर भी समाज भाव–आचारसे दूर चला जा रहा है। साधारण-सी भूलोंके लिए लोग बहिष्कृत होते हैं और आपसी कलह होती है। प्रारम्भमें किसी विधवाको रख लेनेके कारण ही 'विनैकावार' होते थे, पर हलवानीमें सुन्दर पत्नीके कारण बहिष्कृत, दिगौडे-में दो घोड़ोंकी लड़ाईमें दुर्बल घोड़ेके मरने पर सबल घोड़े वालेको दण्ड, आदि घटनाओंने वर्णीजीको अत्यन्त सचिन्त कर दिया था। हरदीके रघुनाथ मोदी वाली घटना भी इन्ही सब बातोंकी पोषक थी। उनके मनमें आया कि ज्ञान बिना इस जड़तासे मुक्ति नहीं। फलतः आपने सबसे पहिले बंडा (सागर, म० प्रा०) में पाठशाला खुलवाई। इसके बाद जब आप ललितपुरमें इस चिन्तामें मग्न थे कि किस प्रकार उस प्रान्त के केन्द्रस्थानोंमें संस्थाएँ स्थापित की जायें, उसी समय श्री सवालनवीसने सागरसे आपको बुलाया। संयोगकी बात है कि आपके साथ पं० सहदेव झा भी थे। फलतः श्री कण्डयाके प्रथम दानके मिलते ही अक्षय-तृतीया

को प्रथम छात्र पं० मुन्नालाल रांधेलीयकी शिक्षासे सागरमें श्री 'सत्तर्क-सुधा-तरंगिणी पाठशाला' का प्रारम्भ हो गया। गंगाकी विशाल धाराके समान इस संस्थाका प्रारम्भ भी बहुत छोटा-सा था। स्थान आदिके लिए मोराजी भवन आनेके पहिले इस संस्थाने जो कठिनाइयाँ उठाईं, वास्तव में वे वर्णीजी ऐसे बद्धपरिकर व्यक्तिके अभावमें इस संस्थाको समाप्त कर देनेके लिए पर्याप्त थीं। आर्थिक व्यवस्था भी स्थानीय श्रीमानोंकी दुकानोंसे मिलनेवाले एक आना सैकड़ा धर्मादाके ऊपर आश्रित थी। पर इस संस्थाके वर्तमान विशाल प्राङ्गण, भवन आदिको देखकर अनायास ही वर्णीजीके सामने दर्शकका शिर झुक जाता है। आज जैन-समाजमें बुन्देलखण्डीय पंडितोंका प्रबल बहुमत है, उसके कारणोंका विचार करने-पर सागरका यह विद्यालय तथा वर्णीजीकी प्रेरणासे स्थापित साढूमल, पपौरा, मालथौन, ललितपुर, कटनी, मड़ावरा, खुरई, बीना, बरुआसागर, आदि स्थानोंके विद्यालय स्वयं सामने आ जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि इन पाठशालाओंने प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा देनेमें बड़ी तत्परता दिखाई है। इन सबमें सागर विद्यालयकी सेवाएँ तो चिरस्मरणीय हैं।

वर्णीजीने पाठशाला स्थापनाके तीर्थका ऐसे शुभ मुहूर्तमें प्रवर्तन किया था कि जहाँसे वे निकले वही पाठशालाएँ खुलती गईं। यह स्थानीय समाजका दोष है कि इन सस्थाओंको स्थायित्व प्राप्त न हो सका। इसका वर्णीजीको खेद है। पर समाज यह न सोच सका कि प्रान्त भरके लिए व्याकुल महात्माको एक स्थानपर बाँध रखना अनुचित है। उनके संकेत पर चलकर आत्मोद्धार करना ही उसका कर्त्तव्य है। तथापि वर्णित्रय (पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी, बाबा भगीरथ वर्णी और पं० दीपचन्दजी वर्णी) के सतत प्रयास तथा विशुद्ध पुरुषार्थने बुन्देलखण्ड ही क्या अज्ञान-अन्धकाराच्छन्न समस्त जैन-समाजको एक समय विद्यालय पाठशाला रूपी प्रकाश-स्तंभोंसे आलोकित कर दिया था। इसी समय वर्णीजीने देखा कि केवल प्राच्य शिक्षा पर्याप्त नहीं है, फलतः योग्य अवसर आते ही आपने जबलपुर 'शिक्षा-मन्दिर' तथा जैन-विश्व विद्यालयकी स्थापनाके प्रयत्न किये।

यह सच है कि जबलपुरकी स्थानीय समाजके निजी कारणोंसे प्रथम प्रयत्न तथा समाजकी दलबन्दी एवं उदासीनताके कारण द्वितीय प्रयत्न सफल न हो सका, तथापि उसने ऐसी भूमिका तैयार कर दी है जो भावी साधकों के मार्गको सुगम बनावेगी। आज भी वर्णीजी बौद्धिक विकासके साथ कर्मठताका पाठ पढ़ानेवाले गुरुकुलों तथा साहित्य प्रकाशक संस्थाओंकी स्थापना व पोषणमें दत्तचित्त हैं। ऊपरके वर्णनसे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वर्णीजीने मातृमण्डलकी उपेक्षा की, पर ध्रुव सत्य यह है कि वर्णीजीका पाठशाला आन्दोलन लड़के-लड़कियोंके लिए समान रूपसे चला है। इतना ही नहीं ज्ञानी-त्यागी मार्गका प्रवर्तन भी आपके दीक्षा-गुरु बाबा गोकुलचन्द्र (पितुश्री पं० जगमोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री) तथा आपने किया है।

पर स्वारथके कारने–

आश्चर्य तो यह है कि जो वर्णीजी पैसा पास न होने पर हफ़्तों कच्चे चने खाकर रहे और भूखे भी रहे और अपनी माता (स्व० चिरोंजाबाईजी)से भी किसी चीज़को माँगते शरमाते थे, उन्हींका हाथ पारमार्थिक संस्थाओंके लिए माँगनेको सदैव फैला रहता है। इतना ही नहीं, संस्थाओंका चन्दा उनका ध्येय बन जाता था। यदि ऐसा न होता तो सागरमें सामायिकके समय तन्द्रा होते ही चन्देकी लपकमें उनका शिर क्यों फूटता। पारमार्थिक संस्थाओंकी झोली सदैव उनके गलेमें पड़ी रही है। आपने अपने शिष्योंके गले भी यह झोली डाली है। पर उन्हें देखकर वर्णीजीकी महत्ता हिमालयके उन्नत भालके समान विश्वके सामने तन कर खड़ी हो जाती है। क्योंकि उनमें **"मर जाऊँ माँगूँ नहीं अपने तनके काज।"** का वह पालन नहीं है जो पूज्य वर्णीजीका मूलमंत्र रहा है। वर्णीजीकी यह विशेषता रही है कि जो कुछ इकट्ठा किया वह सीधा संस्था-धिकारियोंको भिजवा दिया और स्वयं निर्लिप्त। वर्णीजीके निमित्त से इतना अधिक चन्दा हुआ है कि यदि वह केन्द्रित हो पाता तो उससे विश्वविद्यालय सहज ही चल सकता? तथापि इतना निश्चित है कि

असली (ग्रामीण) भारतमें ज्योति जगानेका जो श्रेय उन्हें है, वह विश्व-विद्यालयके संस्थापकोंको नहीं मिल सकता। क्योंकि वर्णीजीका पुरुषार्थ नदी, नाले और कूप-जलके समान गाँव-गाँवको जीवन दे रहा है।

वर्णीजीको दयाकी मूर्ति कहना अयुक्त न होगा। उनके हृदयका करुणास्रोत दीन-दुःखीको देखकर अबाधगतिसे बहता है। दीन या आक्रान्त को देखकर उनका हृदय तड़प उठता है। यह पात्र है या अपात्र यह वे नहीं सोच सकते, उसकी सहायता उनका चरम लक्ष्य हो जाता है। लोग वेश बनाकर वर्णीजीको आज भी ठगते हैं, पर बाबाजी **"कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति।"** के अनुसार **"अरे भइया हमें वो का ठगै जो अपने आपको ठग रहो।"** कथनको सुनते ही आज भी दयामय वर्णीके विविध रूप सामने नाचने लगते हैं। यदि एक समय लुहारसे सँड़सी माँगकर लकड़हारिनके पैरसे खजूरका काँटा निकालते दिखते हैं तो दूसरे ही क्षण बहेरिया ग्रामके कुआँपर दरिद्र दलित वर्गके बालकको अपने लोटेसे जल तथा मेवा खिलाती मूर्ति सामने आ जाती है, तीसरे क्षण मार्गमें ठिठुरती स्त्रीकी ठंड दूर करनेके लिए लँगोटीके सिवा समस्त कपड़े शरीर परसे उतार फेंकती श्यामल मूर्ति झलकती है, तो उसके तुरन्त बाद ही लकड़हारेके न्याय-प्राप्त दो आना पैसोंको लिए, तथा प्रायश्चित्त रूपसे सेर भर पक्वान्न लेकर गर्मीकी दुपहरीमें दौड़ती हुई पसीनेसे लथपथ मूर्ति आँखोंके आगे नाचने लगती है। कर्रापुरके कुँएपर वर्णीजी पानी पीकर चलना ही चाहते हैं कि दृष्टि पास खड़े प्यासे मिहतरपर ठिठक जाती है। दया उमड़ी और लोटा कुएँ से भरकर पानी पिलाने लगे, लोकापवादभय मनमें जागा और लोटा-डोर उसीके सिपुर्द करके चलते बने। स्थितिपालन और सुधारका अनूठा समन्वय इससे बढ़कर कहाँ मिलेगा?

जो संसार विषै सुख होतो–

इस प्रकार बिना विज्ञापन किये जब वर्णीजीका चरित्र निखर रहा था, तभी कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं, जिन्होंने उन्हें बाह्यत्याग तथा व्रतादि ग्रहणके लिए प्रेरित किया। यदि स्व० सिंघैन चिरोंजाबाईजीका वर्णीजी

पर पुत्र-स्नेह लोकोत्तर था तो वर्णीजीकी मातृश्रद्धा भी अनुपम थी। फलतः बाईजीके कार्यको कम करनेके लिए तथा प्रिय भोज्य सामग्री लाने के लिए वे स्वयं ही बाज़ार जाते थे। सागरमें शाक फलादि कूँजड़िनें बेचती हैं। और मुँहकी वे जितनी अशिष्ट होती हैं आचरणकी उतनी ही पक्की होती हैं। एक किसी ऐसी ही कूँजड़िनकी दुकानपर दो खूब बड़े शरीफा रखे थे। एक रईस उनका मोल कर रहे थे और कूँजड़िनका मुँह माँगा मूल्य एक रुपया नहीं देना चाहते थे, आखिरकार ज्यों ही वे दुकानसे आगे बढे वर्णीजीने जाकर वे शरीफे खरीद लिये। लक्ष्मी-वाहनने इसमें अपनी हेठी समझी और अधिक मूल्य देकर शरीफे वापस पानेका प्रयत्न करने लगे। कूँजड़िनने इस पर उन्हें आड़े हाथों लिया और वर्णीजीको शरीफे दे दिये। उसकी इस निर्लोभिता और वचनकी दृढ़ताका वर्णीजी पर अच्छा प्रभाव पड़ा और वहुधा उसीके यहाँसे शाक सब्ज़ी लेने लगे। पर चोर यदि दुनियाको चोर न समझे तो कितने दिन चोरी करेगा? फलतः स्वयं दुर्बल और भोग-लिप्त मानवोंमें इस बातकी कानाफूसी प्रारम्भ हुई, वर्णीजीके कानमें उसकी भनक आई। सोचा, संसार! तू तो अनादि कालसे ऐसा ही है, मार्ग तो मैं ही भूल रहा हूँ, जो शरीरको सजाने और खिलानेमें सुख मानता हूँ। यदि ऐसा नही तो उत्तम वस्त्र, आठ रुपया सेरका सुगंधित चमेलीका तेल, बड़े-बड़े बाल, आदि विडम्बना क्यों? और जब स्वप्नमें भी मनमें पापमय प्रवृत्ति नहीं तो यह विडम्बना शत-गुणित हो जाती है। प्रतिक्रिया इतनी बढ़ी कि श्री छेदीलालके बग़ीचेमें जाकर आजीवन ब्रह्मचर्यका प्रण कर लिया। मोक्षमार्गका पथिक अपने मार्गकी ओर बढ़ा तो लौकिक बुद्धिमानोंने अपनी नेक सलाहें दी। वे सब इस व्रतग्रहणके विरुद्ध थीं तथापि वर्णीजी अडोल रहे।

इस व्रत-ग्रहणके पश्चात् उनकी वृत्ति कुछ ऐसी अन्तर्मुख हुई कि पतितोंका उद्धार, अन्तर्जातीय विवाह आदिके विषयमें शास्त्रसम्मत मार्गपर चलनेका उपदेशादि देना भी उनके मनको संतुष्ट नहीं करता था। यद्यपि इन दिनों भी प्रति वर्ष वे परवार-सभाके अधिवेशनोंमें जाते थे, तथा बाबा

सीतलप्रसादजीके विधवा-विवाह आदि ऐसे प्रस्तावोंका शास्त्रीय आधार से खण्डन करते थे। बुन्देलखण्डके अच्छे सार्वजनिक आयोजन उनके बिना न होते थे। तथापि उनका मन बेचैन था। इन सबमें आत्मशान्ति न थी। व्यक्तिगत कारणसे न सही समष्टिगत हितकी भावनासे ही विरोध और विद्वेषका अवसर मिलता था। ऐसे ही समय वर्णीजी बाबा गोकुलचन्द्रजीके साथ कुण्डलपुर (सागर म० प्रा०) गये। यहाँ पर भी बाबाजीने उदासीनाश्रम खोल रखा था। वर्णीजीने अपने मनोभाव बाबाजीसे कहे और सप्तम 'प्रतिमा' धारण करके पदसे भी अपने आपको वर्णी बना दिया। ज्ञान और त्यागका यह समागम जैन-समाजमें अद्भुत था। अब वर्णीजी व्रतियोंके भी गुरु थे, और सामाजिक विरोध तथा विद्वेषसे बचनेकी अपेक्षा उसमें पड़नेके अवसर अधिक उपस्थित हो सकते थे, किन्तु वर्णीजीकी उदासीनतासे अनुगत विनम्रता ऐसे अवसर सहज ही टाल देती थी। तथा वर्णी होकर भी उनके सार्वजनिक कार्य दिन दूने रात चौगुने बढ़ते जाते थे।

लोग कहते हैं "पुण्य तो वर्णीजी न जाने कितना करके चले हैं। ऐसा सातिशय पुण्यात्मा तो देखा ही नही। क्योंकि जब जो चाहा मिला, या जो कह दिया वही हुआ" ऐसी अनेक घटनाएँ उनके विषयमें सुनी हैं। नैनागिर ऐसे पर्वतीय प्रदेशमें उनके कहनेके बाद घटे भरमें ही अकस्मात् अंगूर पहुँच जाना, बड़गैनीके मन्दिरकी प्रतिष्ठाके समय सूखे कुंओंका पानीसे भर जाना, आदि ऐसी घटनाएँ हैं, जिन्हें सुनकर मनुष्य आश्चर्यमें पड़ जाता है।

काहेको होत अधीरा रे–

जब वर्णीजी उक्त प्रकारसे समाजका सम्मान और पूजा तथा मातुश्री बाईजीके मातृस्नेहका अविरोधेन रस ले रहे थे, उसी समय बाईजी का एकाएक स्वास्थ्य बिगड़ा। विवेकी वर्णीजीकी आँखोंके आगे आद्य-मिलनसे तब तककी घटनाएँ घूम गईं और कल्पना आई प्रकृत्या विवेकी, बुद्धिमान्, दयालु तथा व्यवस्था-प्रेमी बाईजी शायद अब और

मेरे ऊपर अपनी स्नेह-छाया नहीं रख सकेंगी। उनका सरल हृदय भर आया और आँखें छलछला आई, विवेक जागा," माता! तुमने क्या नहीं दिया और क्या नहीं किया? अपने उत्थानका उपादान तो मुझे ही बनना है। आपके अनन्त फलदायक निमित्तको न भूल सकूंगा तथापि प्रारब्धको टालना भी संभव नहीं।" फलतः अनन्त मातृ-वियोगके लिए अपनेको प्रस्तुत किया। बाईजीने सर्वस्व त्याग कर समाधिमरण पूर्वक अपनी इहलीला समाप्त की। विवेकी लोकगुरु वर्णीजी भी रो दिये और अन्तरंगमें अनन्त-वियोग-दुःख छिपाये सागरसे अपने परम प्रिय तीर्थक्षेत्र द्रोणगिरिकी ओर चल दिये। पर कहाँ है शान्ति? मोटरकी अगली सीटके लिए कहा-सुनी क्या हुई; राजर्षिने सवारीका ही त्याग कर दिया। सागर वापस आये तो बाईजीकी "भैया भोजन कर लो" आवाज़ फिर कानोंमें आने-सी लगी। सोचा, मोहनीय अपना प्रताप दिखा रहा है। फिर क्या है अपने मनको दृढ़ किया और अबकी बार पैदल निकल पड़े वास्तविक विरक्तिकी खोजमें। फिर क्या था गाँव-गाँवने बाईजीके लाड़लेसे ज्योति पाई। यदि सवारी न त्यागते, पैसेवाले भक्त लोग आत्म-सुधारके बहाने उन्हें वायुयान पर लिये फिरते, पर न रहा बाँस, न रही बाँसुरी। वर्णीजी झोंपड़ी-झोंपड़ीमें शान्तिका सन्देश देते फिरने लगे और पहुँचे हज़ारों मील चलकर गिरिराज सम्मेदशिखरके अंचलमें। शायद पूजनीया बाईजी जो जीवित रहके न कर सकतीं वह उनके मरणने संभव कर दिया। यद्यपि वर्णीजीको यह कहते सुना है "मुझे कुछ स्वदेश (स्वजनपद)का अभिमान जाग्रत हो गया और वहाँके लोगोंके उत्थान करनेकी भावना उठ खड़ी हुई। लोगोंके कहनेमें आकर फिरसे सागर जानेका निश्चय कर लिया। इस पर्यायमें हमसे यह महती भूल हुई, जिसका प्रायश्चित्त फिर शिखरजी जानेके सिवाय अन्य कुछ नहीं, चक्रमें आ गया।" तथापि आज वर्णीजी न व्यक्तिसे बँधे हैं न प्रान्त या समाजसे, उनका विवेक और विरक्तिका उपदेश जलवायुके समान सर्वसाधारणके हिताय है।

—वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ

अणोरणीयान् महतो महीयान्

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीकी उपमा देवताओंमेंसे यदि किसीसे दी जा सकती है तो शिवजीसे। शिवजीके बावा भोलानाथ, विश्वनाथ आदि अनेक नाम हैं और ये नाम वर्णीजीमें भी घटित होते हैं। वे सदा सबका कल्याण करनेमें तत्पर हैं। कोई भी व्यक्ति अपना दुःख-दर्द उनके सामने रखकर उनसे क्रियात्मक सहानुभूति प्राप्त कर सकता है। वे किसीको मना करना जानते ही नही। उनके मुखसे सबके लिए एक ही शब्द निकलता है–'हओ भैय्या।' और राजाओंमेंसे यदि किसीसे उनकी उपमा दी जा सकती है तो राजा भोजसे। राजा भोज विद्वानोंके लिए कल्पवृक्ष था। एक बार किसीने यह अफ़वाह उड़ा दी कि राजा भोज मर गये। विद्वानोंमें कुहराम मच गया और एक विद्वान् के मुखसे निकल पड़ा—

'अद्य धारा निराधारा, निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते॥*'

इतनेमें ही ज्ञात हुआ कि अफ़वाह झूठी थी, राजा भोज सकुशल हैं। तब वही विद्वान् कह उठा—

---

* अर्थात् 'आज राजा भोजका स्वर्गवास हो जानेसे धारा नगरी निराधार हो गई, सरस्वतीका कोई अवलम्बन नहीं रहा और पण्डित खण्डित हो गये–उनको सन्मान देनेवाला कोई नहीं रहा।'

'अद्य धारा सदाधारा सदालम्बा सरस्वती।
पण्डिता मण्डिताः सर्वे भोजराजे भुवं गते॥'*

वर्णीजी भी विद्यार्थियों और विद्वानोंके कल्पवृक्ष है। यदि वह राजा भोजकी तरह किसी राज्यके स्वामी होते तो विद्वानोंको आजीविका के लिए किसीका मुँह ताकना न पड़ता। जब वे सुनते हैं कि किसी विद्वान् को जीविकाका कष्ट है या किसीने विद्वान्‌की अवहेलना की है, तो उनका अन्तःकरण आकुल हो उठता है, और वे भरसक उसकी सहायता के लिए प्रयत्न करते हुए रंचमात्र भी नहीं सकुचाते। उनका एक सिद्धान्त है कि यदि हमारे चार अक्षरोसे किसीका हित होता हो तो इससे अच्छी क्या बात है। उनके चार अक्षरोंसे न जाने कितने पीड़ित, दुःखी और निष्कासित छात्रों तथा विद्वानोंका हित हुआ है। ऐसे भी लोग है जो उनकी इस उदार वृत्तिकी आलोचना करते है और इसलिए कभी-कभी वर्णीजी भी संकोचमें पड़ जाते है, किन्तु उनका वह संकोच उनकी उदार मनोवृत्तिके सामने एक क्षणसे अधिक नही ठहरता। ठीक ही है, क्या किसीके कहनेसे नदी अपना बहना बन्द कर सकती है, या जलसे भरा मेघ बरसे बिना रह सकता है?

जिस दिन वर्णीजी अस्त हो जायेगे, विद्वानोंके सिर बिना मुकुटके हो जायेंगे और उनकी जन्मभूमि बुन्देलखण्ड तो सदाके लिए अनाथ हो जायेगा। विरले ही महापुरुष ऐसे होते है, जो अपनी जन्मभूमिको इतना प्यार करते हैं। वर्णीजी समस्त भारतकी जैन-समाजके द्वारा आदरणीय होकर भी और भारतके विविध प्रान्तोंमें भ्रमण करते हुए भी अपनी जन्मभूमि और उसके निवासियोंको नहीं भूल सके। बुन्देलखण्डका छोटे-से-छोटा अधिवासी भी उनके लिए प्रिय है। वे उसके बच्चोंकी शिक्षाकी सदा चिन्ता करते रहते हैं।

* अर्थात् आज राजा भोजके जी उठनेसे धारा नगरी सदाके लिए साधार हो गई, सरस्वतीका अवलम्बन स्थायी हो गया और पण्डितवर्ग मण्डित (भूषित) हो गया।

जैन-समाजमें और विशेष करके बुन्देलखण्डकी जनसमाजमें शिक्षा का प्रसार करनेमें वर्णीजीने अथक प्रयत्न किया है, और ७७ वर्षकी अवस्था हो जाने पर भी वे अपने प्रयत्नसे विरत नहीं हुए हैं।

उनकी बालकों-जैसी सरलता तो सभीके लिए आकर्षक है। उन्हें अभिमान छू तक नहीं गया है। सदा प्रसन्न मुख, मीठी-मीठी बातें, पर-दुःखकातरता और सदा सबकी शुभ कामना, ये वर्णीजीकी स्वाभाविक विशेषताएँ हैं। जबसे मैंने उन्हें देखा और जाना, तबसे आज तक मुझे उनमें कोई भी परिवर्तन दिखलाई नही दिया। उत्तरोत्तर उनकी ख्याति, प्रतिष्ठा, भक्तोंकी संख्या बराबर बढ़ती गई, किन्तु इन सबका प्रभाव उनकी उक्त विशेषताओं पर रंचमात्र भी नही पड़ा।

वे सदा जनताकी भाषामें बोलते हैं, जनताके हृदयसे सोचते है और जनताके लिए ही सब कुछ करते हैं। इसीसे जनताके मनोभावोंको जितना वे समझते हे, जैनसमाजका कोई अन्य नेता नही समझता। वे उसकी कमज़ोरीको जानते हुए भी उससे घृणा नही करते, किन्तु हार्दिक सहानुभूति रखते है। इसीसे वे जनसाधारणमें इतने अधिक प्रिय हैं। उनसे मिलनेके बाद प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वर्णीजीकी मुझ पर असीम कृपा है। यही उनकी महत्ताका सबसे बड़ा चिह्न है। सचमुच में वे छोटे-से भी छोटे और महान्-से भी महान् है।

१० सितम्बर, १९५१

जन्म—	उमराला (काठियावाड़) वि० सं० १९४६
दीक्षा—	उमराला वि० सं० १९७०
वर्तमान आयु—	६२ वर्ष वि० सं० २००८

काठियावाड़ के रत्न

श्री कानजी महाराज प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। उनके परिचयमें आने वालोंपर उनकी प्रतिभाका अमिट प्रभाव पड़े बिना रहता ही नहीं। उनकी स्मरणशक्ति वर्षोंकी बातको तिथि-वारसहित याद रख सकती है। उनकी कुशाग्र बुद्धि हरेक वस्तुकी तहमें प्रवेश करती है: उनका हृदय वज्रसे भी कठिन और कुसुमसे भी कोमल है। वे एक अध्यात्मरसिक पुरुष हैं। उनकी नस-नसमें अध्यात्म-रसिकता व्याप्त है। कानजी स्वामी काठियावाड़के रत्न हैं।

आत्मार्थी श्री कानजी महाराज

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

सन् १६४० की घटना है। श्रमणबेलगोलाके महामस्तकाभिषेकसे लौटते हुए अम्बाला-सघ स्पेशल श्री गिरनार क्षेत्रपर पहुँची। क्षेत्रके मुनीमसे ज्ञात हुआ कि कानजी महाराज यहीं है और कल यहाँसे चले जायँगे। हम लोग तुरन्त ही उनसे मिलने गये और हमने लकड़ीके तख्तेपर बैठी हुई एक भव्य आकृतिको देखा, जिसने प्रसन्नमुद्रासे हमारा स्वागत किया। यह प्रथम दर्शन था। उसके पश्चात् १६४६ में दूसरा अवसर उपस्थित हुआ।

महाराजकी भक्त-मंडलीने सोनगढ़से दि० जैन विद्वत्परिषद्को आमन्त्रित किया और मुझे उसका प्रमुख बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। तीन दिनतक चर्चा-वार्ताका आनन्द रहा और जो कुछ सुना करते थे उसे प्रत्यक्ष देखनेका अवसर मिला।

× × ×

कानजी महाराजका जन्म वि० सं० १६४६ के वसाख मासमें रविवारके दिन काठियावाड़के उमराला गाँवमें, स्थानकवासी जैन-सम्प्रदायकी अनुयायी दशा श्रीमाली जातिमें हुआ। आप बचपनसे ही विरागी थे। छोटी उम्रमें ही माता-पिताके स्वर्गस्थ हो जानेसे कानजी अपने बडे भाईके साथ आजीविका उपार्जन करनेके लिए पालेजमें चालू दूकानमें शामिल हुए, किन्तु व्यापार करते हुए भी आपका दिल व्यापारी नहीं था। आपके मनका स्वाभाविक झुकाव सत्यकी खोजकी ओर था। उपाश्रयमें किसी मुनिके आनेका समाचार मिलते ही आप उनकी सेवा और धर्म-चर्चाके लिए उनके पास दौड़ जाते थे। इस तरह आपका बहुत-सा समय उपाश्रयमें ही बीतता था। आपके सम्बन्धी आपको 'भगत' कहते थे।

एक दिन आपने अपने बड़े भाईसे साफ़-साफ़ कह दिया कि मुझे विवाह नहीं करना, मेरे भाव दीक्षा लेनेके हैं। भाईने बहुत समझाया कि तुम लग्न करो चाहे न करो, तुम्हारी इच्छा, किन्तु दीक्षा मत लो। परन्तु बहुत समझानेपर भी उनका विरागी चित्त संसारमें नहीं लगा। दीक्षा लेनेसे पहले आप कितने ही महीनों तक आत्मार्थी गुरुकी खोजमें काठियावाड़, गुजरात और मारवाडके अनेक गाँवोंमें घूमे। अन्तमें संवत् १९७० में मार्गशीर्ष सुदी नवमी, रविवारके दिन उमरालामें ही बोटाद सम्प्रदायके हीराचन्दजी महाराजसे दीक्षा ले ली।

दीक्षा लेनेके पश्चात् आपने श्वेताम्बर आम्नायके शास्त्रोंका गहरा अभ्यास किया। आपकी ज्ञानपिपासा और सुशीलताकी ख्याति शीघ्र ही सौराष्ट्रमें फैल गई। जब कोई मुनि कहता—'चाहे जितना उग्र चारित्र पालन करो, किन्तु यदि सर्वज्ञ भगवान्ने अनन्त जन्म देखे होंगे तो उनमेंसे एक भी जन्म घटनेका नहीं।' आप तुरन्त बोल उठते–'जो पुरुषार्थी है, उसके अनन्त जन्म सर्वज्ञ भगवान्ने देखे ही नहीं।'

सं० १९७८ में भगवान् कुन्दकुन्द विरचित समयसार ग्रन्थ आपके हाथमें आया। उसे पढ़ते ही आपके आनन्दकी सीमा न रही। आपको ऐसा प्रतीत हुआ कि जिसकी खोजमें थे, वह मिल गया। समयसारका आपपर अद्भुत प्रभाव पड़ा, और आपकी ज्ञानकला चमक उठी।

सं० १९९१ तक कानजीने स्थानकवासी साधुकी दशामें काठियावाड़के अनेक गाँवोंमें विहार किया और लोगोंको जैनधर्मका रहस्य समझानेका यत्न किया। अपने व्याख्यानोंमें आप सम्यग्दर्शनपर अधिक ज़ोर देते थे। 'दर्शन-विशुद्धिसे ही आत्म-सिद्धि होती है' यह आपका मुख्य सूत्र रहा है। वे अनेक बार कहते—"शरीरकी चमड़ी उखाड़कर उसपर नमक छिड़कनेपर भी क्रोध नही किया, ऐसा चारित्र जीवने अनन्त बार पाला है, किन्तु सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त नही किया। लाखों जीवोंकी हिंसासे भी मिथ्यात्वका पाप अधिक है।. . .सम्यक्त्व सुलभ नही है। लाखों करोड़ोंमेंसे किसी एक विरलेको ही वह प्राप्त होता है। आज तो

सब अपने-अपने घरका सम्यक्त्व मान बैठे हैं।"

इस तरह अनेक प्रकारसे आप सम्यक्त्वका माहात्म्य लोगोंके चित्त-पर बैठानेका यत्न करते। प्रायः देखा जाता है कि साधुओंके व्याख्यानमें वृद्धजन ही आते हैं, परन्तु आपके व्याख्यानमें शिक्षितजन—वकील, डाक्टर वगैरह भी आते थे। जिस गाँवमें आप पधारते, उस ग्राममें घर-घर धार्मिक वायुमण्डल छा जाता। तथा जैनधर्मके प्रति अनन्य श्रद्धा, दृढ़ता और अनुभवके बलपर निकलनेवाले आपके वचन नास्तिकोंको भी विचारमें डाल देते और कितनोंको ही आस्तिक बना देते।

पहले तो आप स्थानकवासी सम्प्रदायमें होनेसे व्याख्यानोंमें मुख्य-तया श्वेताम्बर शास्त्र पढ़ते थे, किन्तु अन्तिम वर्षोंमें समयसार आदि ग्रन्थोंको भी सभामें पढ़ा करते थे। यह क्रम सं० १९९१ तक चलता रहा, किन्तु अन्तरंगमें वास्तविक निर्ग्रन्थ मार्ग ही सत्य मालूम होनेसे सं० १९९१ के चैत्र सुदी १३ मंगलवारको भगवान् महावीरके जन्म-दिवसके अवसर पर आपने धर्म-परिवर्तन कर लिया और सत्यके लिए काठियावाड़के सोनगढ़ नामक छोटेसे गाँवमें जाकर बैठ गये।

जो स्थानकवासी सम्प्रदाय कानजी मुनिके नामसे गौरवान्वित होता था, उसमें इस परिवर्तनसे हलचल होना स्वाभाविक ही था, किन्तु वह हलचल क्रमसे शान्त हो गई। जिन लोगोंका उनमें विश्वास था, वे ऐसा विचार कर कि 'महाराजने जो किया वह समझकर ही किया होगा' तटस्थ बन गये और मुमुक्षु तथा विचारक वर्ग तो पहलेसे भी अधिक उनका भक्त बन गया।

परिवर्तनके बाद आपका मुख्य निवास सोनगढ़में ही है। आपकी उपस्थितिसे सोनगढ़ एक तीर्थधाम-सा बन गया है। विभिन्न स्थानोंसे अनेक भाई-बहन आपके उपदेशका लाभ लेने सोनगढ़ आते रहते हैं। उनके निवास तथा भोजनके लिए वहाँ एक जैन अतिथिगृह है। उसमें सब भाई समयसे एक साथ भोजन करते हैं। अनेक मुमुक्षु भाई-बहनोंने तो वहाँ अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया है।

सोनगढ़का जिन-मन्दिर तथा सीमन्धर स्वामीके समवसरणकी रचना दर्शनीय है। कुन्दकुन्द स्वामीके विषयमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि उन्होंने विदेहक्षेत्रमें जाकर सीमन्धर स्वामीके मुखसे दिव्यध्वनिका श्रवण किया था। दर्शनसारमें लिखा है–

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥'

अर्थात्–'यदि सीमन्धर स्वामीसे प्राप्त दिव्य ज्ञानसे श्री पद्मनन्दि स्वामी, (कुन्दकुन्द) ने बोध न पाया होता तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ?'

कानजी स्वामीकी उक्त उल्लेखपर दृढ़ आस्था है। अतः उनकी भावनाके अनुसार सोनगढ़में सीमन्धर स्वामीके समवसरणकी रचना रचकर उसमें कुन्दकुन्द स्वामीको भगवान्का उपदेश श्रवण करते हुए दिखलाया है। यह रचना दर्शनीय है।

सोनगढ़का स्वाध्याय-मन्दिर भी दर्शनीय है। यह एक विशाल भवन है, जिसमें कई हज़ार भाई-बहन एक साथ बैठकर महाराजका उपदेश श्रवण कर सकते हैं। धर्मोपदेशका समय निश्चित है, सुबह ८ से ९ तक और सन्ध्याको ३ से ४ तक। सब श्रोता ठीक समय पर आकर बैठ जाते हैं और ठीक समयसे उपदेश प्रारम्भ हो जाता है और ठीक समयपर बन्द होता है। समय-पालनकी विशेषता पर बराबर ध्यान दिया जाता है। सन्ध्याको उपदेशके पश्चात् सब भाई-बहन जिन-मन्दिरमें जाते हैं और वहाँ आधा घंटा सामूहिक भक्ति की जाती है।

कानजी महाराजकी समयसार और कुन्दकुन्दके प्रति अतिशय भक्ति है। वे समयसारको उत्तमोत्तम ग्रन्थ गिनते हैं। उनका कहना है कि 'समयसारकी प्रत्येक गाथा मोक्ष देनेवाली है। भगवान् कुन्दकुन्दका हमारे ऊपर बहुत भारी उपकार है। हम उनके दासानुदास हैं। भगवान् कुन्दकुन्द महाविदेहमें विद्यमान तीर्थंकर सीमन्धर स्वामीके पास गये थे। कल्पना करना मत, इनकार करना मत, यह बात इसी प्रकार है,

मानो तो भी इसी प्रकार है, न मानो तो भी इसी प्रकार है।'

समयसारकी जो स्तुति वहाँ पढ़ी जाती है, वह भक्तिरससे ओत-प्रोत है। यद्यपि वह गुजरातीमें है, किन्तु गुजराती न जाननेवाले पाठक भी उसका आशय सरलतासे समझ सकते हैं—स्तुति इस प्रकार है—

सीमन्धर मुख[1]थी फूलडां झरे,
एनी[2] कुन्दकुन्द गूंथी माळ रे,
जिनजी नी वाणी भली रे।
वाणी भली मन लागे रली,
जेमां समयसार सिरताज रे,
जिनजी नी वाणी भली रे···सीमन्धर० ॥१॥
गूंथ्या पाहुड ने गूंथ्यूं पंचास्ति,
गूंथ्युं प्रवचनसार रे,
जिनजी नी वाणी भली रे।
गूंथ्यूं नियमसार, गूंथ्यूं रयणसार,
गूंथ्यूं समयनो सार रे,
जिनजी नी वाणी भली रे···सीमन्धर० ॥२॥
स्याद्वाद केरी[3] सुवासे भरे लो,
जिनजीनो ॐकार नाद रे,
जिनजी नी वाणी भली रे।
वंदु जिनेश्वर वंदु हुं कुन्दकुन्द,
वंदु ए ॐकार नाद रे,
जिनजी नी वाणी भली रे···सीमन्धर० ॥३॥
हैडे[4] हजो मारा भावे हजो,
मारा ध्याने हजो जिनवाण रे,
जिनजी नी वाणी भली रे।

---

१ मुखसे। २ इसकी। ३ की। ४ जिनवाणी हमारे हृदयमें होवे, जिनवाणी हमारे भावोंमें होवे, जिनवाणी हमारे ध्यानमें होवे।

जिनेश्वर देवनो वाणीसना वायरा[1],
वाजे मने दिन रात रे,
जिनजी नी वाणी भली रे'''सीमन्धर० ॥४॥

इसमें सन्देह नहीं कि कानजीका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावक है और वक्तृत्वशैली अनुपम है। उनके प्रभावसे सोनगढ़के जैनेतर अधिवासी भी अध्यात्म-चर्चाके प्रेमी बन गये हैं। अपने सोनगड़के प्रवास-कालमें हमें इसका अनुभव हुआ। एक दिन एक व्यक्ति विद्वानोंके वासस्थान पर आकर अध्यात्मकी चर्चा करने लगा। पूछनेपर उसने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं मुसलमान हूँ, पुलिसमें कान्सटेबुल हूँ और प्रतिदिन महाराजका उपदेश सुनने जाता हूँ।

दूसरे दिन एक विद्वान्को ज्वर आ गया। उन्हें देखनेके लिए डाक्टर आया। एक घंटे तक खूब अध्यात्म चर्चा रही।

किंवदन्ती है कि मण्डन मिश्र एक बहुत बड़े विद्वान् थे। जब शंकराचार्य शास्त्रार्थके लिए उनके ग्राममें पहुँचे तो उन्होंने ग्रामके बाहर कुआँपर पानी भरनेवाली एक स्त्रीसे मण्डनमिश्रका घर मालूम करना चाहा। उस पानी भरनेवालीने उत्तर दिया—

"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारेऽपि नीडान्तःसन्निरुद्धा अवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥"

'जिसके द्वारपर पीजरोंमें बन्द मैनाएँ 'प्रमाण स्वतः होता है अथवा परतः होता है' इस प्रकारकी चर्चा करती हों, उसे ही मण्डनमिश्र का घर समझना।' सोनगढ़के विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिए। जहाँके वायुमण्डलमें अध्यात्म प्रवाहित हो वही कानजीका निवास स्थान सोनगढ़ है।

—काशी १ अक्टूबर, १९५१

---

[1] वायु।

जन्म—	वृन्दावन
	आषाढ़ शुक्ल ३ वि० सं० १९४६
विवाह—	११ वर्षकी अवस्था में
वैधव्य—	१२ वर्ष की अबोधावस्था में
वर्तमान आयु—	६२ वर्ष वि० सं० २००८

बापूका आशीर्वाद

पण्डिता चन्दाबाई द्वारा स्थापित "वनिता-विश्राम" देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ, और मकानकी शान्ति देखकर आनन्द हुआ।

मोहनदास कर्मचन्द गान्धी

शत-शत प्रणाम

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

पति मर गया, पत्नीकी उम्र १६ वर्ष है। माँ-बाप विलख रहे हैं, भाई रो रहे हैं, बहनें बेहाल हैं, शहरभरमें हाहाकार है, पर जिसका सब कुछ लुट गया, वह स्नान करके शृंगार कर रही है, आँखोंमें अंजन, माँगमें सिन्दूर और गुलाबी चुनरिया, चेहरेपर रूप बरस पड़ा है, अंग-अंग में स्फुरणा है और जिह्वामें मिश्री, जिनसे कभी सीधे मुँह नहीं बोली, आज उनसे भी प्यार।

शहर भरके लोग एकत्र, युवककी अर्थी उठी, अर्थीके आगे, नारियल उछालती, पर्देके उस बीहड़ अंधकारमें भी खुले मुँह गीत गाती, ढोलके मद भरे घोष पर थिरकर्ती, उसीकी ताल पर अपनी नई चूड़ियाँ खनखनाती, वह १६ वर्षकी सुकुमारी नारी श्मशानकी ओर जाती, भारत के चिर अतीतमें हमें दिखाई देती है।

उसका पति मर गया, पर वह विधवा नहीं; यह हमारी संस्कृतिका महा वरदान है। पतिके साथ रही है, पतिके साथ रहेगी—चिताके ज्वालामय वाहन पर आरूढ़ हो, किसी अक्षयलोककी ओर जैसे देहधरे ही वह उड़ी जा रही है, जहाँ रूप है, कुरूप नहीं, मंगल है अमंगल नहीं, मिलन है, वियोग नहीं। यह भारतके स्वर्णयुगकी महामहिमामयी सती है, उसे शत-शत प्रणाम !

* * *

पति मर गया है, पत्नीकी उम्र १६ वर्ष है, उसके जीवनमें अब आह्लाद नही, आशा नहीं, दुनियाके लिए वह एक अशकुन है, सासके निकट डायन, माँके लिए बदनसीब, वह मानव है, भगवान्के निवासका पवित्र मन्दिर, पर मानवका कोई अधिकार उसे प्राप्त नहीं। समाज

और धर्मशास्त्र दोनोंने उसके पथमें ऊँचे-ऊँचे 'बोर्ड' खड़े किये हैं, जिनपर लिखा है, संयम, ब्रह्मचर्य, त्याग, सतीत्व और वन्दनीय, पर व्यवहारमें प्रायः जेठ, देवर, श्वशुर और जाने किस-किसकी पशुताका शिकार। रेलवे डिपार्टमेण्टके 'सफरी' विभागके कर्मचारियोंकी तरह जब आवश्यकता हो, पिताके घर और जब जरूरत हो श्वशुरके द्वार जा 'कर्तव्य-पालन' के लिए बाध्य, ऐसा कर्तव्य पालन, जिसमें रस नहीं, अधिकार नही, ममता नही, क़ैदीकी मशक्क़तकी तरह अनिवार्य, पर महत्त्वहीन और मानहीन ! यह हमारे राष्ट्रके मध्ययुगकी विधवा है, समाजका अंग होकर भी, सामाजिक जीवनके स्पन्दनसे शून्य। साँस चलता है, केवल इसीलिए जीवित; अन्यथा जीवनके सब उपकरणोंसे दूर, जिसने सब कुछ देकर भी कुछ नहीं पाया, बलिदानके बकरेकी तरह वन्दनीय। जिसने ठोकरें खाकर भी सेवा की और रोम-रोममें अपमानकी सुइयोंसे बिधकर भी विद्रोह नहीं किया। हमारे सांस्कृतिक पतनकी प्रतिबिम्ब और सामाजिक ह्रासकी प्रतीक इस वैधव्यमूर्तिको भी प्रणाम !

* * *

पति मर गया है, पत्नी १६ वर्षकी है। हँसनेको उत्सुक-सी कली पर विपदाका जब पहाड़ टूटा, माँके विलापका धुवाँ जब आकाशमें भर चला, परिवार और पास-पड़ौस जब कलेजेकी कसकमें कराह उठे, तब पिताने धीमे, पर दृढ़ स्वरमें कहा--रोओ मत, उसकी चूड़ियाँ मत उतारो, में अपनी बेटीका पुनर्विवाह करूँगा तो जैसे क्षण भरको बहती नदी ठहर गई। साथियोंने हिम्मत तोडी, पंचोंने पंचायतके प्रपंच रचे, सुसरालवालोंने क़ानूनी शिकंजोंकी खूँटियाँ ऐंठकर देखी, पर सुधारक पिता दृढ़ रहा। उसने युगकी पुकार सुनी और एक योग्य वरके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया, धूमधामसे, उत्साहसे, गम्भीरतासे। कन्याका मन आरम्भमें हिरहिराया, फिर अनुकूल हुआ और फिर उसका मन अपने नये घरमें रम गया। पतिके प्रति अनुरक्त, परिवारके प्रति सहृदय और अपनी सन्तानमें लीन वह जीवनकी नई नाव खे चली।

यह हमारे युगकी नई करवट, परम्पराकी नई परिणति, नारीकी असहायताका नया अवलम्ब, समाजके निर्माणकी नव सूचनाका एक प्रतीक है, जिसे आरम्भमें वर्षों पतिका प्यार तो मिला, पर समाजका मान नहीं, जिसे परिवार मिला, जिसने परिवारका निर्माण किया, पर जिसे बरसों पारिवारिकता न मिली, जिसे बरसों नई आबादीके मधुर कोलाहलमें भी विगत वीरानेकी शून्यताका भार ढोना पड़ा, पर जो धीरे-धीरे युगका अवलम्ब लिये स्थिर होती गई और जो आज भी कुलीनताके निकट व्यंगकी तो नहीं, हाँ इंगितकी पात्र है। नवचेतनाके इस साधना-स्रोतको भी प्रणाम !

* * *

पति मर गया है, पत्नी १६ वर्षकी है। आशाओंके सब प्रदीप एक ही झोंकेमें बुझ गये। कहीं कोई नहीं, कहीं कुछ नहीं, बस शून्य—सब शून्य। स्थिरता जीवनमें सम्भव नहीं, पैर हिलनेकी भी शक्तिसे हीन। सहसा हृदयमें एक आलोक, आलोकमें जीवनकी स्फुरणा और स्फुरणामें चिन्तन !

पति ! नारीके जीवनमें पतिका क्या स्थान है ? पति ? क्या विवाह द्वारा प्राप्त एक साथी ? और विवाह ? आजकी भाषामें एक ऐग्रीमेण्ट ? तो पति मर गया और वह ऐग्रीमेण्ट भंग ! अब नारी स्वतन्त्र, चाहे जिधर जाय, चाहे जो करे ? है न यही ? हाँ; तो फिर हमारी संस्कृतिमें, इन शास्त्रोंमें, विवाहके ये गीत क्यों ? इस हाँके साथ जैसे भीतरका, आत्माका सब रस सूख चला।

फिर चिन्तन, गम्भीर चिन्तन, अन्तरमें भाव-धाराकी सृष्टि। जीवनमें साथी तो अनेक हैं, पतिका अर्थ है प्रतीक—व्रतका प्रतीक, लक्ष्य का प्रतीक। पतिव्रतका अर्थ है पतिका व्रत ! पतिकी पूजा ? दुनिया कहती है हाँ, धर्म कहता है नहीं, पतिका व्रत, पतिकी पूजा ? यह अर्थका अनर्थ है। मानव, मानवकी पूजा करे, मानव ही मानवताका व्रत

हो यह ईश्वरके प्रति द्रोह है। फिर ! पतिव्रत—पतिके द्वारा व्रत, पतिके द्वारा पूजा। पूजा लक्ष्यकी, व्रत साध्यकी प्राप्तिका।

तब यह लक्ष्य क्या है ? साध्य क्या है। व्यक्तिकी समष्टिके प्रति एकता, अणुकी विराटमें लीनता, भेद-उपभेदोंकी दीवारें लाँघकर, अज्ञान गिरिके उस पार हँसते-खेलते प्रभु-परमात्मामें जीवकी परिणति।

ओह, तब पति है साधन, पति है पथ, पति है अवलम्ब, न साध्य ही न लक्ष्य ही ! पर साधन नहीं, तो साध्य कहाँ, पथके बिना प्रिय-प्राप्ति कैसी और वह हो गया भंग ?

भगवान्‌की कृपासे फिर ज्ञानका आलोक। भंग कैसा ! लहर जब सरितामें लीन होती है, तब क्या वह नाश है ? बीज जब मिट्टीमें मिल वृक्षमें बदलता है, तब क्या वह नाश है ? ऊँहूँ: यह नाश नही है, यह परिणति है। पति है लहर, सरिता है समाज, पति है बीज, वृक्ष है समाज। पति नही है ! इस नहीका अर्थ है प्रतीककी परिणति।

नारी लक्ष्यकी ओर गतिशील, कल भी थी, आज भी है; यही उसका व्रत है। कल इस व्रतका प्रतीक था पति। आज है समाज। गतिके लिए तल्लीनता अनिवार्य है। कल तल्लीनताका आधार था पति, आज है समाज। कल नारी पतिके प्रेममें लीन थी, आज समाजके प्रेममें लीन है। यह लीनता स्वयं अपनेमें कोई पूर्ण तत्त्व नही, पूर्णताका प्रशस्त पथ है। नारीका लक्ष्य अविचल है, जो कल था, वही आज है, पर पथ परि-वर्तित हो गया, प्रतीक बदला, साधन बदले, इँगलेंडका यात्री अदनपर अपना जलपोत त्याग हवाई जहाज़ पर उड़ चला। उसे इँगलैंड ही जाना था, और इँगलैंड ही जाना है—यात्राके साधनोंका परिवर्तन यात्राके लक्ष्य का परिवर्तन नहीं।

ज्ञानके आलोकको इस किरणमालामें स्नानकर नारी जैसे जाग उठी, जी उठी। निराशा आशाके रूपमें बदल गई, वेदना प्रेममें अन्तर्हित, स्तब्धता स्फुरणामें, सामने स्पष्ट लक्ष्य, पैरोंमें गति, मनमें उमंग, जीवनमें उत्साह। मस्तिष्क सद्भावनाओंसे पूर्ण, हृदय प्रेमसे। कहीं किसीका

कष्ट देखा और पैर चले, कहीं किसीका कष्ट देखा और भुजाएँ उठीं, कहीं किसीका कष्ट देखा और मस्तिष्क चिन्तित—विश्वभरके जीवनमें ओत-प्रोत, पत्नी अब वह किसीकी नहीं, माता सारे विश्वकी, सबके लिए विश्वसनीय, सबके लिए वन्दनीय।

यह नारीके नारीत्वका चरम विकास है, उसके सतीत्वकी परम गति है, उसकी गतिकी अन्तिम सीमा है, जहाँ वह अपना लक्ष्य पाती है, यही उसके जीवनका गंगा-सागर है, जहाँ वह भगवान्-सागरमें लीन हो, परम सुखका लाभ लेती है। निर्माणमयी, निर्वाणमयी नारीकी इस नित नूतन मूर्तिको लाख-लाख प्रणाम।

★ ★ ★

भारतीय संस्कृतिके सबल साधक गान्धीजीने नारीकी इसी शक्तिको, वैधव्यके इसी दिव्य रूपको 'हिन्दूधर्म' का श्रृंगार कहा है। श्रृंगारकी इसी दीप्तिसे प्रोज्ज्वल आज एक नारी हमारे मध्यमें है, ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई!

★ ★ ★

चन्दाबाई—एक वैष्णव परिवारमें जन्मीं, राधाकृष्णकी रसमयी भक्तिधाराके वातावरणमें पली। माकी लोरियोमें उन्हें श्रद्धाका उपहार मिला, पिताके प्यारमे उन्होंने कर्मठताका दान पाया और ११ वर्षकी उम्रमें एक सम्पन्न जैन-परिवारमें उनका विवाह हुआ।

विवाह हुआ; उनके निकट इसका अर्थ है, विवाह-संस्कार हुआ और १२ वर्षकी उम्रमें उनका सब कुछ छिन गया, वे ठीक-ठीक जान भी न पाईं और वैधव्यकी ज्वालामें उनका सर्वस्व भस्म हो गया।

१२ वर्षकी एक सुकुमार बालिका, जो दुनियाको देखती है, पर समझ नहीं पाती; जो समझती है, अपने व्याकरणसे, अपने कोशसे, अपने ही लक्षणसे। इतना विशाल विश्व और अकेले यात्रा यहाँ भाग्यका अस्तित्व है, योग्य अभिभावक मिले, पथ बना। वैष्णवकी श्रद्धाका सम्बल

लिए वे चलीं, जैनत्वकी साधनाने उन्हें प्रगति दी। श्रद्धा और साधना दोनों दूर तक साथ-साथ चलीं। श्रद्धा समर्पणमयी है, साधना ग्रहणशील, श्रद्धा साधनामें लीन हो गई।

श्रद्धामयी साधना मूक भी है, मुखरित भी। मुखरित साधना, जिसमें अन्तर और बाह्य मिलकर चलते हैं—बुद्ध, महावीर और गान्धीकी साधना, जिसमें आत्मचिन्तन भी है, जगकल्याण भी। यही पथ चन्दाबाईजीने चुना। विगत वर्षोंमें उन्होंने जो आत्मसाधनाकी अन्तरमें तप तपा, वह उनकी आकृतिमें, जीवनके अणु-अणुमें व्याप्त है। प्रत्यक्ष, जिसके अनुसन्धानमें श्रम अभीष्ट नही, और इन्ही वर्षोंमें उन्होने लोक-कल्याणकी जो साधना की, उसका मूर्तरूप आराका 'जैनबाला-विश्राम' है देशकी एक प्रमुख सेवा-संस्था। आत्मसाधनामें संन्यासी, लोकव्यवहारमें सासारिक, विश्व और विश्वात्माका समन्वय ही इस महिमामयी नारीकी जीवन-साधना है। जीवनमें धार्मिक, व्यवहारमें देशसेवक; सिद्धान्तोंमें अतीतकी मूलमें, प्रगतिमें नवयुगकी छायामें, जिसकी एक मुट्ठीमें भूत, दूसरीमें भविष्य और वर्तमान जिसके जीवनोच्छ्वासमें व्याप्त, यही पण्डिता चन्दाबाई है। युगका सन्देश वहन करती साधनामयी इस नारीको भी शत-शत प्रणाम !

—अनेकान्त, नवम्बर १९४३

प्रथम दर्शन

श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य्य

पहली मई सन् १९३९ को पत्र मिला—"आप इण्टरव्यूके लिए चले आइये, मार्गव्यय मिल जायगा।" पत्रने मेरे मनमें गुदगुदी पैदा करदी, मेरे हृदयकुञ्जमें मदिर भाव विहंगोंका कूजन होने लगा। वीणाके तारोंमें सोया हुआ संगीत मुखरित हो उठा। मनने कहा—सफलता निकट है, आजीविका मिल जायेगी; पर हृदयने वेदनाके एक सजल छोरको पकड़कर झकझोरते हुए कहा—यह अधर छलकती मुस्कान प्रकृतिका नवल उल्लासमात्र है। आरामें धर्मशास्त्रज्ञा पण्डिता चन्दाबाईजीके समक्ष जाना है, बड़े-बड़े पण्डित उनके पाण्डित्यके समक्ष मूक हो जाते हैं, तुम नये रँगरूट, अनुभवशून्य, मात्र किताबी कीड़े टिक सकोगे ? हृदय-के इस कथनकी कल्पनाने अवहेलना की। वह सुख-दुख, हास-विषाद, संकल्प-विकल्पके साथ आँख-मिचौनी खेलने लगी। कर्मयोगका विश्वासी इस अनन्त विश्वमें साधनाशील होकर ही जीवनके सत्यको प्राप्त करता है। सहसा अन्धकारमय क्षितिज पर एक निर्मल ज्योतिकी प्रभा अवतरित हुई और अन्तस्से ध्वनि निकली कि चलकर हितैषी गुरुवर्य्य पण्डित कैलाशचन्द्रजीसे सलाह क्यों न ली जाय ?

वेदनासे भाराच्छन्न मन लिये गुरुवर्य्यके समक्ष पहुँचा और काँपते हुए पत्र उनके हाथमें दे दिया। एक ही दृष्टिमें पत्रके अक्षरोंको आत्म-सात् करते हुए वह बोले—"तुम काम करना चाहते हो, आरा अच्छी जगह है, चले जाओ। ब्र० पं० चन्दाबाईजीके सम्पर्कसे तुम्हारा विकास होगा, सोना बन जाओगे।"

मैंने धीरेसे कहा—"पण्डितजी ! डर लगता है। इण्टरव्यूमें क्या कहूँगा।"

गुरुदेवने प्रेमभरे शब्दोंमें कहा–"डरनेकी बात नहीं, सँभलकर उत्तर देना।"

वार्षिक परीक्षा समाप्त होनेपर ५ मईके प्रातःकाल कल्पनाके कमनीय पंखों पर उडता हुआ, उल्लासकी वीणा पर भव्य भावनाओंकी कोमल अँगुलियाँ फेरता, अनेक अरमानोंको हृदयमें समेटे, खिन्न मन मैना सुन्दर भवन (नयी धर्मशाला) आरामें आ पहुँचा। दरबानने एक कोठरी ठहरनेको दे दी, सामान एक किनारे रख नित्यकर्मसे निवृत्त हुआ; और स्नान, देवदर्शनके पश्चात् कर्मचारियोंसे मालूम किया कि पं० चन्दाबाईजीके दर्शन कहाँ होंगे ?

धर्मशालाके मैनेजर काशीनाथजीने कहा––"कलसे वे कोठी (श्री बाबू निर्मलकुमारजीके भवन) मे आई हुई है। आप अभी ७ बजे उनसे कोठीमें ही मिल आइये, दो बजे वह आश्रम चली जायेंगी।" मैंने नम्रता-पूर्वक कहा––"कृपया मुझे कोठीका रास्ता बतला दें, यदि अपने यहाँके आदमीको मेरे साथ कर दें तो मै अपनेको धन्य समझूँ।"

उन्होंने मेरे साथ सहानुभूति प्रकट की और धर्मशालाके सेवक चतुर्गुणको मेरे साथ कोठी तक कर दिया। वहाँ जाकर मैंने दरबानसे पूछा––"श्री प० चन्दाबाईजीसे मुलाक़ात कहाँ होगी ?" उसने कहा कि "आप छोटी बहूजीसे मिलना चाहते है ? इस समय तो वह मन्दिरमें सामायिक कर रही है।" मैंने कहा––"नही जी, मुझे प० चन्दाबाईजीसे मिलना है, जो बालाविश्रामकी संचालिका है।" कठिनाई यह थी कि दरबान भोजपुरीमें बोलता था और मैं बोलता था हिन्दीमें। दोनों ही परस्पर एक दूसरेकी बातोंको ठीक तरहसे समझनेमें असमर्थ थे। बड़ी देरतक वह छोटी बहूजी, छोटी बहूजी कहता रहा और मै पं० चन्दाबाईजीको पूछता रहा। इसी बीच ऊपरसे कोई रसोइया आया और वह हम दोनोंकी बातोंको सुनकर बोला––"हाँ, हाँ, वही धनुपुरा वाली बहूजी ! अभी-अभी सामायिक करके आई है। आप क्या चाहते है ? मैं ऊपर पूछकर आता हूँ, अपना नाम बतला दीजिये।"

मैंने एक चिटपर अपना नाम लिखकर और उनका इण्टरव्यूके लिए प्राप्त पत्र उस रसोइयेको दे दिया। थोड़ी देरमें उस व्यक्तिने आकर कहा--"आपको ऊपर बहूजी बुला रही हैं।"

मैंने उस आदमीसे कहा--"भई! मैं नया आदमी हूँ, यहाँके नियमों-से बिल्कुल अपरिचित हूँ, ऊपर तक मेरे साथ चलनेका कष्ट करें।" सच कहता हूँ उस समय मेरे मनमें उससे कहीं अधिक घबड़ाहट थी; जैसी विषय तैयार न होनेपर कभी-कभी परीक्षाभवनमें घबड़ाहट हो जाती थी। कलेजा धक्-धक् कर रहा था, नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प उत्पन्न हो रहे थे। मैं अपने भाग्यका निपटारा कराने जा रहा था।

ऊपर पहुँचकर कमरेके बरामदेसे मैंने झाँका डरते हुए, सकुचाते हुए, भय खाते हुए। मन कह रहा था कि कहीं मुझसे कुछ अशिष्टता न हो जाय और बना-बनाया सारा खेल न बिगड़ जाय। मैं प्रतीक्षा कर रहा था कि एक मधुर आवाज आई, आप भीतर चले आइये। फिर क्या था अमल धवल खद्दरकी साड़ी पहने दिव्य तेजस्विनी, सादगीसे ओत-प्रोत, मधुरभाषिणी, तपस्विनी, स्नेहशीला माँके दर्शन हुए। उस समय हृदयमें नाना प्रकारकी तरंगें उठ रही थी। मैंने श्रद्धा और भक्तिसे प्रणाम करते हुए मनमें कहा--"यही पंडिता चंदाबाईजी हैं, तब तो डरने-की कोई बात नहीं। मैं जिनसे डर रहा था, उनमें अपूर्व स्नेह और ममता है, वाणीमें तो मिश्री घोल दी गई है।" न मालूम क्यों मेरे हृदयने बरबस ही उनके गुणोंकी श्रेष्ठता स्वीकार कर ली और उनकी चरण-रज सिर-पर धारण करनेको लालायित हो उठा।

स्नेहामृत उँडेलकर कुर्सी पर बैठालते हुए उन्होंने पूछा--"रास्तेमें कष्ट तो नहीं हुआ? अपना सामान आपने कहाँ रक्खा है? आप रहने-वाले कहाँके है?" मैंने संक्षेपमें उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर दिया। पश्चात् उन्होंने पुनः कहा--"आपने कहाँ तक अध्ययन किया है? धर्मशास्त्रमें कौन-कौन ग्रंथ पढ़े हैं? संस्कृत-साहित्य और व्याकरणका अध्ययन कहाँ तक किया है? न्यायतीर्थकी परीक्षा किस वर्ष दी?" मैंने पूज्य पंडित

कैलाशचन्द्रजी द्वारा प्रदत्त परिचयपत्रको देते हुए उपर्युक्त प्रश्नोंका संक्षेपमें जवाब दिया। अब मुझमें साहस आने लगा था और भय उत्तरोत्तर घटता जा रहा था।

अनन्तर माँश्रीने हँसते हुए प्रथम गुच्छक, जिसका वह स्वाध्याय कर रही थी उठा लिया और मुझसे देवागम-स्तोत्रकी बाहरवीं कारिका— **"अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्ववादिनाम्"** का अर्थ पूछा। मैं अष्ट-सहस्रीकी परीक्षा देकर आया था। मुझे अपने तद्विषयक पांडित्यका पूरा भरोसा था; अतः प्रसन्न होकर कारिकाका अर्थ 'शती' और 'सहस्री' टीकाओंके आधारपर उद्धरणसहित बताया। माँश्रीने हँसते हुए बीचमें रोककर कहा कि कारिकाके उत्तरार्द्ध 'बोधवाक्यं' का अर्थ फिरसे कहिये। मैंने रटी हुई पक्तिके आधार पर कहा—**"बोधस्य स्वार्थसाधनदूषणरूपस्य वाक्यस्य च परार्थसाधनदूषणात्मनो संभवात्तन्न प्रमाणम्"** अर्थात् स्वार्थानुमान और परार्थानुमानकी प्रमाणता सिद्ध न हो सकेगी।

माँश्रीने बीचमें रोकते हुए कहा—"बोध" शब्दका अर्थ अनुमान और "वाक्य" शब्दका अर्थ आगम लिया जाय तो क्या हानि है? वसुनंदी वृत्तिके आधार पर उन्होंने अपने अर्थकी पुष्टिके लिए प्रमाण भी उपस्थित किये। मैं उनकी तर्कणाशक्तिको देख आश्चर्यमें डूब गया। पश्चात् 'आत्मानुशासन' और 'नाटकसमयसारकलश' के कई श्लोकोंका अर्थ पूछा। मैं अर्थ कहता जाता और माँश्री बीच-बीचमें शंकाएँ करती जाती थी। बृहत्स्वंयभूस्तोत्रमें मुनि सुव्रतनाथकी स्तुतिमें आये—**"शशिरुचि-शुचिशुक्ललोहितं"** श्लोकका अर्थ ग़लत कर रहा था तो माँश्रीने मीठे शब्दोंमें मेरी ग़लती बतलाई और उस श्लोकके दो-तीन अर्थ भी प्रकारान्तरसे किये।

गोम्मटसार जीवकाण्डको लेकर उन्होंने **"अवरुवरि इगिपदेसे जुदे असंखेज्जभाग वड्ढीए"** आदि अवगाहनाके वृद्धिक्रमवाली गाथाओंकी व्याख्या करनेका मुझे आदेश दिया। गणित विषयमें विशेष रुचि होनेके कारण मैंने गोम्मटसारमें आई हुई संदृष्टियोंको अपने कल्पित उदाहरणो द्वारा हृदयंगम कर लिया था, पर फिर भी न मालूम क्यों मैं इस समय अधिक

नरवस होता जा रहा था। धीरे-धीरे मेरी आवाज भी भर्राती जा रही थी। गलेमें भी खुसखुसाहट होने लगी थी। यद्यपि मैं संदृष्टिसहित अर्थ कह रहा था, पर मुझे ऐसा लग रहा था कि मुझसे विषय स्पष्ट नहीं हो रहा है। चार-पाँच गाथाओंकी व्याख्याके पश्चात्–माँश्रीने प्रश्न किया कि–"अवगाहनामें चार ही वृद्धियाँ क्यों होती हैं, अनन्तभाग और अनन्त-गुण वृद्धि क्यों नहीं होतीं ?" मै इस शंकाका समाधान नहीं कर सका और घबड़ाकर बगलें झाँकने लगा। उन्होंने मधुर स्वरमें कहा—"**असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्**" सूत्र याद है। आत्मा जब असंख्यात प्रदेशी है तो उसमें अनन्तभाग या अनन्तगुणवृद्धि कैसे होगी ? मै चुप रह गया और अपनी पराजय स्वीकार कर ली।

इण्टरव्यू समाप्त हुआ। वह बोलीं—"पंडितजी ! हमारा विचार बालकोंकी नैतिक शिक्षाके लिए एक रात्रिपाठशाला खोलनेका है। धन-के बिना मनुष्य उठ सकता है, विद्याके बिना भी बड़ा बन सकता है, पर चरित्रबलके बिना सर्वथा हीन और पंगु है। आचरणहीन ज्ञान पाखण्ड है। नैतिक व्यक्ति ही अपने प्रति सच्चा ईमानदार हो सकता है। आज-की स्कूल और कॉलेजकी शिक्षामें नैतिकताका अभाव है। बच्चे अपरि-पक्व घड़ेके समान हैं, इनके ऊपर आरंभसे ही अच्छे संस्कारोंका पड़ना आवश्यक है। अतएव हाईस्कूलोंमें पढ़नेवाले अपने बच्चोंको धार्मिक शिक्षा देनेके लिए एक रात्रिपाठशाला खोलनी है। आपको उस पाठ-शालाका शिक्षक बनना होगा। आप सुविधानुसार प्रातः और सायंकाल बच्चोंको धार्मिक शिक्षा दें, शहरमें यों तो ५०-६० बच्चे पढ़नेके लिए मिल जायेंगे, पर जब तक २०-२२ लड़के भी आते रहेंगे, पाठशाला चलती जायगी। इस पाठशालाका कुल व्यय हम अपने पाससे देंगी।

आप इस बातका खयाल रखें कि श्लोक या पद्य रटानेकी अपेक्षा उन्हें जीवन क्या है और उसे कैसे व्यतीत करना चाहिए–सिखलावें। शिक्षाको कल्याणकारी बनानेके लिए शिक्षकको पूर्ण दायित्वका निर्वाह करना होता है। उसे अहंकार छोड़कर एक ही मार्गके यात्रीके रूपमें

शिक्षार्थीके साथ जीवमके स्वाध्याय और सदाचरणमें भाग लेना होता है। बच्चोंको डाँटने-डपटनेकी अपेक्षा स्नेहसे समझाना और सन्तानवत् वात्सल्यभाव रखना ज्यादा हितकर होता है। शिक्षा देना एक साधना है, यह तब सफल होती है, जब विद्यार्थियोंको मनुष्य बना दिया जाता है। बच्चे स्थूल विविधतासे विशेष परिचित नही होते, वे केवल जीवन-को पहचानते हे। जहाँ उन्हें जीवनसे स्नेह सद्भावकी किरणें फूटती जान पड़ती हें, वहाँ वे व्यक्त विषम रेखाओकी उपेक्षा कर डालते हे, किन्तु जहाँ दण्ड, घृणा आदिके घुएँसे जीवन आच्छादित रहता है, वहाँ वे हितकी बातें भी नही ग्रहण कर पाते।

इस समय हमारा समाज ऐसा हो रहा है कि स्वार्थके सिवा और हमें कुछ भी दिखलाई नही पड़ता। आज शिक्षा जैसी पवित्र वस्तुमें भी व्यापार चल गया है, व्यापारिक दृष्टिकोणसे मोल-तोल किया जाता है, जिससे जीवनका मर्म समझनेवाले शिक्षक नही मिल पाते।" इतना कहते-कहते उन्होने पुकारा–"सुबोध (श्री बा० सुबोधकुमारजी), इधर आओ। देखो, बनारससे बुलाये गये पंडितजी आ गये हे।"

मेंने देखा—अधबाँही क़मीज़ पहने, लंबा इकहरा शरीर, उजली बड़ी-बड़ी आँखें, रोबीला चेहरा, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातोके अध्ययन-में उत्सुक, जीवनसंग्राममे उतरनेकी तैयारीमे संलग्न, उत्साही, मुस्कुराता हुआ, मेरी ही उम्रका एक युवक बगलके कमरेसे निकलकर आया। पारस्परिक अभिवादनके अनन्तर माँश्रीने मेरा परिचय उनसे कराया और मुझसे कहा–"पंडितजी, रात्रिपाठशालाका मंत्री इन्हीको बनाना है। यह बहुत उत्साही विचारक और परिश्रमी हे। अब ज़मीदारीका काम-काज भी यह देखने लगे हे। आप दोनोंको मिलकर पाठशाला चलाना हे। मुझसे तो अब विशेष काम-धाम हो नही सकता है। हाँ, समय-समय पर आप लोगोंको सलाह दे दिया करूँगी।" थोड़ी देर पश्चात् अन्य सामा-जिक चर्चाओंके अनन्तर में प्रणाम कर चलनेका उपक्रम करने लगा तो माँश्रीने स्नेह-सिक्त स्वरमें कहा–"आप भोजन कहाँ करेंगे ?"

मैंने सहमते उत्तर दिया—"कहीं कर लूँगा।"

उन्होंने कहा—"कहीं क्या, भोजन यहीं कर लीजियेगा। यहाँ कुछ विलम्बसे लगभग १२ बजे भोजन तैयार होता है। भोजन तैयार होने-पर मैं आपको बुलाने आदमी भेज दूँगी; आप चले आइयेगा। सन्ध्या-समय ५॥ बजे भोजन बनता है। मैं दोपहरको आश्रम चली जाऊँगी, आपकी व्यवस्था शामको हो जायगी।" मैंने शिष्टता दिखलाते हुए कहा—"माँ जी ! आप कष्ट मत कीजिये, मैं अपने भोजनका प्रबन्ध कर लूँगा।"

स्नेह-रोषसे उद्दीप्त उनका मुखमंडल धूप-छाँहकी तरह मालूम पड़ता था। मै अनुभव कर रहा था कि मुझसे ग़लती हो गई है। बाह्य-शिष्टाचारके नाते मैं अपनी ग़लतीके लिए क्षमा-याचना करना चाहता था पर ऐसा करनेकी हिम्मत न हुई। माँश्रीने अपराधी बच्चेको आँखें दिखलाते हुए कहा—"आप लड़कपन क्या करते हैं ? अब आप विद्यार्थी नहीं हैं, पंडित हो गये हैं। आज तो यहाँ भोजन कर लीजिये, कलसे आप जैसा उचित समझें करें।" उन्होंने स्नेहकी हँसी हँसते हुए मेरी झेंपको दूर कर दिया !

मैं माँश्रीके स्नेह-भारसे दबा जा रहा था, अतः मैंने मौन रहकर आदेश स्वीकार किया। मेरा मौन भंग हुआ, पर वाणी न निकली। मेरी कल्पना स्वच्छन्द रूपसे बढ़ चली। इतना महान् व्यक्तित्व और मुझ जैसे नये आदमीके लिए इतनी चिन्ता ?

मै पूरे दो घण्टेके बाद कोठीसे बाहर हुआ और धर्मशालामें आकर क्लान्त और खिन्न-सा जीवनकी विभिन्न पहेलियोंको सुलझानेकी उधेड़-बुनमें लग गया। मेरी यह विचारधारा तब रुकी, जब कोठीके दरबानने आकर कहा—"पंडितजी, चलिये, भोजन तैयार है।"

लगभग १२॥ बजे चिलचिलाती जेठकी दुपहरियामें भोजन करके लौटा और कमरेमें पड़ी हुई चौकी पर पड़कर आशा, उल्लास और भावना-विभोर हो छतकी ओर एकटक देखने लगा।

भयंकर गर्मी थी। लू तेज़ीसे चल रही थी। सड़क कुम्हारका आवाँ बनी हुई थी। घरसे इस समय बाहर निकलना किसी भाग्यके मारेका ही काम था। दोपहरी थके यात्रीके समान ठहर-ठहरकर बढ़ रही थी। ठीक दो बजेके लगभग एक आदमीके सिर पर एक बड़ी-सी टोकरीमें आटा, दाल, चावल, मिर्च, मसाला, घी, चीनी और आवश्यक रसोईके बर्तन रखाये हुए कन्या पाठशालाकी अध्यापिका श्री मथुराबाईजी मेरे कमरे तक आईं। लूसे बचनेके लिए मैंने अपना कमरा बन्द कर लिया था तथा पसीनेमें शराबोर तंद्रामें पड़ा करवटें बदल रहा था। किवाड़ो की खड़खड़ाहट सुनकर मैंने दरवाजा खोला और सारा सामान देखकर दंग रह गया। मैंने पूछा—"यह कहाँसे आया है?"

अध्यापिकाजीने कहा—"छोटी बहूजी (श्री० ब्र० प० चन्दाबाईजी) ने आपके लिए भेजा है। मैं उत्तर देनेकी तैयारीमें था कि मोटरका हॉर्न सुनाई पड़ा और धर्मशालाके भीतरी फाटक पर मोटर आकर रुक गई। मोटरमेंसे माँश्री उतरी और हँसते हुए मुझसे आकर कहा—"पंडितजी, आप कोठीमें भोजन करनेमें संकोच करते थे। आप यहाँके लिए नये हैं, अतः शुद्ध खाद्य सामग्री एकत्र करनेमें आपको पर्याप्त कष्ट होता; इसलिए हमने विचारा कि कम-से-कम एक महीनेका सारा सामान आपके पास पहुँचा दिया जाय। आटा चार-पाँच दिनके बाद समाप्त हो जायगा; एक महीने तक यह बाईजी आपको आटा दे जाया करेंगी। आप हमें आवश्यकतासे ज्यादा संकोची मालूम पड़ते हैं। आप भले ही पंडित हैं, हम तो आपको अपने बच्चेके समान समझती हैं।" इसी बीच उन्होंने धर्मशाला के व्यवस्थापक काशीनाथजीको पुकारा और उनसे कहा—"पंडितजीके लिए एक रसोईघर खोल दीजिये और इस सारे सामानको ठीक तरहसे रसोईघरमें लगवा दीजिये। देखो! पंडितजीको किसी भी प्रकारका कष्ट न हो; इन्हें जिस चीज़की आवश्यकता हो, कोठीसे लाकर दे देना या हमको खबर देना।"

सामानकी व्यवस्था कर माँश्री वहाँ बैठ गईं और जिस कमरेमें

रात्रिपाठशाला खोली जा रही थी, वह मुझे दिखलाया। मुझसे कहा कि "पाठशालाकी स्थापनाके लिए कोई शुभ दिन देख लीजिये। जल्दी नहीं है, दो चार दिन आपको यहाँ खाली रहना भी पड़े तो आप भवन (श्रीजैन सिद्धान्त भवन) में चले जाया करिये; वहाँ पुस्तकें और समाचारपत्र पढ़नेमें आपका मन लग जायगा। बालाविश्राम तो यहाँसे लगभग दो मीलकी दूरीपर है, वहाँका ग्रीष्मावकाश भी होनेवाला है। आप वहाँ भी चलकर बाहुबली स्वामीके दर्शन कर आइये।"

मैंने पंचांग देखकर ११ मईका दिन पाठशालाकी स्थापनाके लिए शुभ बतलाया। माँश्रीने स्वीकार कर लिया। इस समय आपसे अनेक सामाजिक और धार्मिक चर्चाएँ हुईं, जो आज बारह वर्ष पश्चात् स्मृति-के कोषमें धूमिल हो चुकी हैं। एक घटना याद है, जो आज भी अतीतके दिन प्रतिदिन गाढे होनेवाले धुंधलेपनमें एक रेखा खींचकर सजीवता प्रदान कर देती है और मैं कह उठता हूँ कि माँश्रीमें दया, करुणा, सहानु-भूति, क्षमा, ममता, स्नेह आदि गुणोंके सिवा जो सबसे बड़ी चीज है, वह है माँका हृदय, जिसके कारण वह समस्त बालाविश्रामके परिवारकी सचमुच धर्मशीला माँ हैं। आज भी उनमें छात्राओं और शिक्षकोंके लिए अपार वात्सल्य वर्त्तमान है।

घटना यह है कि जब वह मोटरमें बैठकर बालाविश्रामको जाने लगी तो मथुराबाईजीको अलग बुलाकर कुछ रुपये दिये और उनसे कहा—"पंडितजी अभी बनारस विद्यालयसे आ रहे हैं, संभवतः खर्चके लिए उनके पास रुपये न हों। संकोचवश वह माँग नहीं सकते हैं और देने पर लेंगे भी नहीं। आदमी-की पहिचान तुरंत हो जाती है। अतः तुम चुपचाप २५ रुपये दे दो और कह देना कि पाठशालाके लिए सामान मँगानेको जमा कर लें। हिसाब-किताब इन रुपयोंका पीछे हो जायगा।" मथुराबाईजीने मुझे २५ रुपये दिये और कहा कि ये रुपये पाठशालाके हैं, आप जमा कर लें। रजिस्टर, पेंसिल, दावात, क़लम आदि आवश्यक सामान मँगा लीजिये।

मैंने कहा—"इस सामानके लिए अधिकसे अधिक पाँच रुपये पर्याप्त

हैं। पच्चीस रुपयोंका क्या होगा ? मै इतने रुपये नहीं लूँगा।" माँश्री अभी बरामदेमें ही थीं, उन्होंने जब मेरी दलील सुनी तो हँसती हुई आईं और कहने लगीं—"ये रुपये आपको दिये थोड़े ही जा रहे हैं, जिससे आप लेनेमें आनाकानी करते हैं। पाठशालाके लिए सामान खरीदनेको रख लें। आवश्यकतानुसार सामान खरीदते जाइये, पीछे हिसाब दे दीजियेगा।" माँश्री इतना कहकर मोटरमें बैठ गईं; मैं पाँच-सात मिनट तक उनकी दूरदर्शिता और मातृवात्सल्यकी मन ही मन प्रशंसा करता रहा।

वस्तुतः माँश्रीका जीवन जैन संस्कृतिका प्रतीक है। आपने राज-भोगसे मुँह मोड़कर महाभिनिष्क्रमण किया है, वैभवकी उपेक्षा कर त्याग की शूलशय्याको अपनाया है। अहिंसा और सत्यकी साधनामें निरंतर संलग्न हैं। एक सहृदय शासिका और संचालिका होनेके साथ तपस्विनी माँ, ज्ञान और साधनामें संलग्न, यशकी आकांक्षासे रहित, परोपकारमें रत एवं मूक सेवक हैं। माँश्री सचमुचमें लोहाको सोना बना देती हैं। आज भी स्मरण कर लेता हूँ कि सोना बन जाओगे क्या यह कभी सत्य होगा ?

—आरा, ६ जुलाई १६५१

माँ श्री

श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य्य

संवत् १९९८ की आषाढ़ सुदी द्वितीयाका दिन था। प्रातःकाल घड़ीने टन्-टन् कर ८ बजाये। ग्रीष्मावकाश समाप्त कर कल ही वापस आया था, अतः यात्राकी थकान दूर करनेके लिए कुछ अधिक विलम्ब तक सोता रहा। आकाश भी स्वच्छ नहीं था; लगभग रातके १२ बजेसे ही रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही थी; बीच-बीचमें दामिनी कड़कड़ा कर दूरके खेतोंमें टूटती दिखलायी पड़ रही थी। वृक्षोंकी डालियाँ चूँ-चड़ड़ कर टूटनेके उपक्रममें रत थी। आश्रमकी स्तब्ध बाटिकासे झाँय, झाँय, साँय-साँयकी तुमुल ध्वनि उद्दाम घोष करती हुई सुनाई पड़ रही थी। सहसा मेरे कमरेमें एक बड़ी कक्षाकी छात्रा प्यारीबाईने प्रवेश किया और प्रणाम करते हुए कहा—"पंडितजी! कल हम माँजीकी जन्मगाँठ मनाने जा रही हैं। कृपया भाषण देनेके लिए माँजीके सम्बन्धमें कुछ बतला दीजिये तथा कलका कार्यक्रम भी बना दीजिये।"

मैंने कुछ अस्त-व्यस्त काग़ज़-पत्र अलमारीसे निकाले और उनकी शृंखला जोड़ते हुए कहा—

"नारी जाति जिन दिनों अज्ञान, कुरीतियों और सामाजिक अत्याचारोंसे अभिभूत थी, बालिकाएँ माता-पिताके सिरका बोझ थी, घरमें कन्याका जन्म साढ़ेसाती शर्नाश्चरसे अधिक भयावना था; उन्ही दिनों विक्रम संवत् १९४६ में आषाढ़ शुक्ला तृतीयाके दिन वृन्दावनके एक सम्पन्न अग्रवाल वैष्णव परिवारमें माँश्री—पं० चन्दाबाईका जन्म हुआ। उनके पिताका नाम बा० नारायणदासजी और माताका नाम श्रीमती राधिकादेवी था। श्री बा० नारायणदासजीने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी; आप देशभक्त, समाजसेवक और कर्मठ व्यक्ति थे। कई वर्षों

तक आप यू० पी० धारासभाके सदस्य भी रहे। श्रीमती राधिकादेवी भी पतिके समान दयालु, परोपकारी और सेवाकार्यमें रत थीं। माँश्री बचपनसे ही होनहार, कुशाग्रबुद्धि और निडर थी। माता-पिताने अपने अरमान पूरे करनेके लिए अपनी इस कन्याका विवाह मात्र ११ वर्षकी आयुमें आराके सुप्रसिद्ध रईस गोयल गोत्रीय, जैनधर्मावलम्बी श्री पं० प्रभुदासजीके पौत्र और श्री बा० चन्द्रकुमारजीके पुत्र बा० धर्मकुमारजीके साथ कर दिया था। बा० धर्मकुमारजी संस्कृत और अंग्रेजीके विद्वान् थे। एफ० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर बी० ए० में अध्ययन करना आरम्भ किया था। विवाहके समय आपकी आयु १८ वर्षकी थी।

जैन-समाजके प्रसिद्ध साहित्यसेवी, धर्मनिष्ठ, परोपकारी बाबू देवकुमारजी बा० धर्मकुमारजीके अग्रज थे। दोनों भाइयोंमें अपूर्व वात्सल्य था। बा० देवकुमारजी प्रतिभासम्पन्न अपने अनुजको सुयोग्य विद्वान् बनाना चाहते थे, पर दुर्दैवने असमयमें ही उनके इच्छा-कुसुमोंको कुचल दिया। विवाहके एक वर्ष बाद ही बा० धर्मकुमारजीका स्वर्गवास हो गया और माँश्री पं० चन्दाबाईजीको मात्र बारह वर्षकी अवस्थामें सौभाग्य-सुखसे वंचित होना पड़ा।

दूरदर्शी श्री बा० देवकुमारजीके मनको अपनी बन्धु-वधूके मानसिक विकासकी चिन्ताने भारी कर दिया। उन्होंने विचार किया कि विवेक या ज्ञानके बिना नर हो या नारी दोनोंमेंसे किसी एकका भी उद्धार होनेका नहीं। मानवके उत्कर्षके लिए ज्ञान और सद्‌गुणोंकी वृद्धिकी आवश्यकता है। अतएव बा० देवकुमारजीकी प्रेरणा और प्रोत्साहनसे माँश्री पंडिता चन्दाबाईने पुनः विद्यारम्भ किया। आपने धर्मशास्त्र, न्याय, साहित्य और व्याकरणकी शिक्षा अनेक कठिनाइयोंमें प्राप्त की। उन दिनों पर्दा प्रथा अपनी चरम सीमा पर थी, युवतियोंका अध्ययन समाजमें सर्वथा हेय माना जाता था, अच्छे शिक्षकोंकी भी कमी थी; फिर भी आपकी ज्ञान-साधनामें कोई कमी नहीं आई और थोड़े ही समयमें आपने काशीकी पंडिता परीक्षा उत्तीर्ण कर ली।

जैनशास्त्रोंके अध्ययन, आलोडन और मन्थन करनेके कारण आपकी जैनधर्ममें अडिग श्रद्धा उत्पन्न हो गई। अतः अपने साथ आपने अपनी दोनों बहिन---श्रीमती केशरदेवी और श्रीमती ब्रजबालादेवीको भी जैनधर्ममें दीक्षित कर लिया।

सन् १९०७ में कन्याशिक्षाके प्रचार और प्रसारके लिए आपने अपने नगर आरामें ही श्री बा० देवकुमारजीको कन्या पाठशालाकी स्थापना करनेकी प्रेरणा की और श्री शान्तिनाथ मन्दिरके कमरोंमें दो अध्यापिकाएँ नियुक्त कर धूमधामसे कन्यापाठशालाकी स्थापना कराई। यह छोटा-सा विद्यामन्दिर तबसे लेकर अब तक आपके ही तत्त्वावधानमें बा० देवकुमारजी द्वारा स्थापित ट्रस्टसे निर्विघ्न चल रहा है। वर्तमानमें भी लगभग ५०-६० बालिकाएँ इसमें आरम्भिक शिक्षा ग्रहण करती है।

माँश्री बाबू देवकुमारजीके साथ १९०८ में दक्षिण भारतके जैन-तीर्थोंकी यात्राके लिए गईं। आपने श्रवणबेल्गोल, धर्मस्थल, मूडबिद्री, कार्कल आदि स्थानोंकी भक्तिभावपूर्वक वन्दना की। इस यात्रामें वर्णी नेमिसागरजी भी साथमें थे। माँश्री और बाबू देवकुमारजीके प्रत्येक स्थानपर हिन्दीमें भाषण होते थे और वर्णीजी आप लोगोंके भाषणोंका दक्षिणीमें अनुवाद करते थे। मूडबिद्रीमें पाठशालाकी स्थापना आप लोगोंकी प्रेरणासे ही हुई थी। इसी यात्रामें माँश्रीका परिचय श्री ललिता-बाईजी, श्री मगनबाईजी, श्री कंकूबाईजी आदिसे हुआ था।

दानवीर बाबू देवकुमारजीकी असामयिक मृत्युके उपरान्त भी माँश्रीकी ज्ञानपिपासा ज्योंकी त्यों बनी रही और आप ज्ञानकणोंके अर्जन में सतत प्रयत्नशील रहीं।

दासत्वकी शृंखलामें जकड़ी, घूंघटमें छुपी, अज्ञान और कुरीतियों से प्रताड़ित नारीकी दशापर आप निरन्तर विचार करती रहती थीं। आपका एकमात्र विश्वास है कि समस्त सामाजिक रोगोंकी रामबाण औषधि शिक्षा है। यदि नारीका अज्ञान दूर हो जाय तो वह निश्चय ही स्वास्थ्यलाभ कर सकती है, स्वतन्त्र आजीविका प्राप्त कर धर्मसाधन

करती हुई प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है। क्योंकि खोये हुए आत्मगौरव की प्राप्तिका साधन शिक्षा ही है।

जिन विधवा बहनोकी आज समाजमे नगण्य स्थिति है जिनके साथ पशु-जैसा व्यवहार किया जाता है, उनकी स्थिति भी शिक्षाके द्वारा ही सुधर सकती है। शिक्षा प्राप्त कर वे जीवित मानवोकी पक्तिमे स्थान पा सकती है। अतएव एक ऐसा विद्यामन्दिर स्थापित करना चाहिए जिसमे विधवा बहनोके साथ कुमारी कन्याएँ और समाजकी अभिशप्त सधवाएँ भी सच्चा विवेक प्राप्त कर सके। आपकी इस विचारधाराके स्निग्ध सीकर आपके कुटुम्बियो और हितैषियोपर भी पडे पर कुछ निर्णय न हो सका।

सन् १६२१ मे आप अपने परिवारके साथ श्रीसम्मेदशिखरजीकी यात्राके लिए गई। समग्र पहाडकी वदना करनेके उपरान्त श्रीपार्श्व-प्रभुकी टौक पर आकर माँश्रीने सब लोगोसे नियम लेनेको कहा। आदेशानुसार श्री बा० निर्मलकुमारजी श्री बा० चक्रेश्वरकुमारजीने भगवान्के समक्ष नियम लिये तथा बाबू निर्मलकुमारजीने कहा—"बहूजी (चाचीजी), आप भी यह नियम ले लीजिये कि एक महीनेमे महिलाश्रमकी स्थापना अवश्य कर दी जायगी। नियम ग्रहण कर आप लौट आई और इसी वर्ष नगरमे दो मीलकी दूरीपर धनुपुरा गावके ही निकट अपने ही बगीचेम अपने परिवारवालोके सहयोगसे श्री जैनबाला-विश्रामकी स्थापना की। आपकी प्रेरणासे आपकी ननद श्रीमती नेमिसुन्दर बीबीने लगभग बीस हजार रुपये लगाकर विद्यालयभवन और उसीके ऊपर लगभग पाँच हजार रुपये लगाकर चैत्यालयका निर्माण कराया।

माँश्रीने तो इस सस्थाम अपना तन, मन, धन सब कुछ लगा दिया है। चाँदीके टुकडोम आपके त्यागका मूल्याकन नही किया जा सकता। यह सस्था जैनसमाजकी नारी-सस्थाओमे अद्वितीय है। इसमे न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न और शास्त्री तककी शिक्षा दी जाती है। छात्राएँ प्राइवेट मैट्रिककी परीक्षा भी देती है, मिडिल तक नियमत शिक्षा दी जाती है।

संस्थाका अन्तरंग और बहिरंग सारा प्रबन्ध माँश्रीके ऊपर ही है।

धार्मिक भावना भी माँश्रीमें बड़ी प्रबल है। आपने राजगृहमें अपनी ओरसे द्वितीय रत्नगिरि पहाड़ पर जमीन खरीदकर दिव्य जिनालयका निर्माण कराकर धूमधामसे प्रतिष्ठा कराई तथा बालाविश्रामके रम्य उद्यानमें सन् १९३६ में अपने निजी द्रव्यसे भव्य एवं चित्ताकर्षक मानस्तम्भका निर्माण कराया है। श्रवणबेल्गोलस्थ गोम्मटस्वामीकी मूर्त्तिकी प्रतिलिपि कराकर विश्रामकी वाटिकामें ही सन् १९३७ में कृत्रिम पर्वतके ऊपर १३ फुट ऊँची बाहुबली स्वामीकी मनोज्ञ मूर्त्ति स्थापित की है।

यद्यपि माँश्रीका आचार-विचार सातवीं प्रतिमाका है, पर आपका त्याग और तप आर्यिकासे कम नहीं है। असत्य भाषण आपने अपने जीवनमें कभी नही किया है, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोके पालनमें आप अत्यन्त जागरूक है। आपकी कषाय मन्द है, प्रत्येक बातका उत्तर हँसकर देना आपका स्वभाव है। सादगी और सरलता आपके जीवनकी प्रमुख विशेषताएँ है। आपके परिग्रहकी सीमाका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि आप अपना सामान रखनेके लिए बक्स नहीं रखती, एक थैलेमे ही ओढ़ने, बिछाने और पहननेके कपड़े रखती हैं।

विदुषी होनेके साथ माँश्री सुलेखिका और सफल सम्पादिका भी हैं। सन् १९२१ से जैन महिलादर्श नामक पत्रका सम्पादन करती आ रही हैं। उपदेशरत्नमाला, सौभाग्यरत्नमाला, निबन्धरत्नमाला, आदर्श कहानियाँ, आदर्श निबन्ध और निबन्धदर्पण आदि कई महिलोपयोगी पुस्तकें भी लिखी हैं।

भाषण देनेमें भी माँश्री सिद्धहस्त हैं। आपकी वाणी अत्यन्त मधुर और हृदयस्पर्शी है। अ० भा० दि० जैन महिला परिषद्के १०वें और २०वें अधिवेशनके अध्यक्षपदसे आपने बड़े मार्मिक भाषण दिये हैं। आपका अधिक भीड़में पहला भाषण १७ वर्षकी अवस्थामें पानीपत पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठामें हुआ था।

माँश्री युगसंस्थापिका हैं। आपका हृदय-मुकुर इतना विशाल, स्थिर और निर्मल है कि समाज और व्यक्तिके मानसका सही प्रतिबिम्ब पड़े बिना नही रहता। यशलालसा और सम्मानकी आकांक्षासे आप दूर है। माताका स्नेह, वीरांगनाओंका गौरव, कुलललनाओंकी सहिष्णुता, आर्यिकाओंका तप-त्याग एवं गृहलक्ष्मीकी उदारता आदि गुण आपमें वर्तमान है।

इस बीसवी सदीमें सरस्वतीकी सबसे लाड़ली, जीवन-विकासकी मीटर, और जीवनकी अमर कलाकार माँश्रीकी जन्मगाँठ मनानेका आयोजन करनेका विचार आपका स्तुत्य है।"

छात्रा अपने निवासस्थानपर चली गई और मैं कई-एक क्षणों तक माँश्रीके गुणोका विचार करता रहा।

* * *

८ फरवरी १९४२ को आप अचानक बीमार पड़ गई। आपका स्वास्थ्य पाँच-छः दिनमे ही इतना खराब हो गया कि उठने-बैठनेकी शक्ति भी न रही। इस असमर्थ अवस्थामें भी त्रिकाल सामायिक, पूजन, भक्ति आदि दैनिक धार्मिक कृत्योंको आप बराबर करती रही। जब आप बिल्कुल अशक्त हो गई तो बालाविश्राम-परिवारके साथ अन्य कुटुम्बियोंको भी चिन्ता हुई। सभीने आपसे इञ्जेक्शन लेनेकी प्रार्थना की। धर्माध्यापक होनेके नाते मुझसे कहा गया कि आप कहिये कि धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे इञ्जेक्शन लेनेमें कोई हर्ज नहीं है, आपका फ़तवा मान्य होगा। माँश्रीको आपकी बातका विश्वास है। मैंने हितैषियोकी प्रेरणा सेसहमते हुए माँजीसे कहा—"आप इञ्जेक्शन ले लीजिये, यह तो खानेकी दवा नहीं है। आजकल कई त्यागी महानुभाव इञ्जेक्शन लेते भी हैं।" माँश्रीने क्षीण स्वरमें कहा—"पंडितजी ! अन्य लोग मोहवश इञ्जेक्शन लेनेकी बात कहें तो कोई आश्चर्य नही, पर आपके इन शब्दोंको सुनकर हमें महान् आश्चर्य हो रहा है। आपसे तो हमें यह आशा है कि समय पड़ने पर हमारे धार्मिक कृत्योंमें सहायक होंगे। इस अनित्य शरीरके

साथ इतना मोह क्यों ? यह तो अनादिकालसे प्राप्त होता आ रहा है।" मैं आपकी दृढ़ता और सहनशक्तिको देखकर चकित रह गया।

* * *

सन् १६४२ की क्रान्तिके दिन थे। देशमें एक आज़ादीकी लहर आई हुई थी। नवयुवक, विशेषतः विद्यार्थीवर्ग संलग्न था। गोरी सेनाने सर्वत्र अपना आतंक फैला रखा था। जैन-बालाविश्राम धर्मकुञ्ज से उठकर शहरमें 'नाजघर' नामक भवनमें चला गया था। छात्रावास और शिक्षणका कार्य उक्त भवनमें ही सम्पन्न होने लगा था। उस समय लगभग ७० छात्राएँ छात्रावासमें निवास करती थी। कुछ दिनोंके उपरान्त लाइनकी मरम्मत हो जाने पर जब ट्रेनें चलने लगी तो माँश्रीने मुझे बुलाकर कहा—"अभी गोरी सेनाका आतंक ज्योंका त्यों है। धर्मकुञ्जमें संस्था-को ले जाने लायक समय नही है। इतनी छात्राओंको अधिक दिन तक शहरमें रखना हमारे लिए कठिन है। अतः अब हमारा विचार सभी छात्राओंको सुरक्षित रूपसे घर भेजकर कुछ समयके लिए संस्था बन्द कर देनेका है।" मैंने कहा—"माँजी ! आप जैसा उचित समझें, करें।"

आपने कहा—"इस जन-जागृतिके युगमें संस्थाधिकारियोंको सबकी सलाहसे ही चलना उचित है। आप लोग सब आश्रम-परिवारके है, अतः हमारा विचार है कि कल सभी शिक्षक-शिक्षिकाओंको बुलाकर इस विषय-पर विचार-विमर्श कर लिया जाय। जो निर्णय हो उसे समस्त आश्रम परिवार—छात्राओं और शिक्षकमण्डलके समक्ष पुनः विचारके लिए प्रस्तुत किया जाय। इसके पश्चात् ही कोई क़दम बढ़ाना उचित होगा। आपको हमने इस विषयमें सलाह लेनेके लिए बुलाया है।"

मैं विचारने लगा कि माँश्री कितनी दूरदर्शितासे कार्य करती हैं। शिक्षकोंका इनकी दृष्टिमें कितना ऊँचा स्थान है ? आश्रम-परिवारकी प्रधान होकर भी सबकी बातोंपर ध्यान देती हैं।

अगले दिन अन्तरंग-समितिकी बैठक की गई। सभी शिक्षक-शिक्षिकाओंने अपने-अपने विचार पक्ष-विपक्षमें प्रकट किये तथा बहुमतसे

हुए निर्णयको पुन समस्त आश्रम-परिवारके सम्क्ष विचारके लिए रखा गया। माँश्रीनें देशकी परिस्थितिका सुन्दर खाका खीचते हुए सस्था-सचालनकी कठिनाइयोपर प्रकाश डाला। सभीने आपकी दलीलोसे प्रभावित होकर कुछ समयके लिए सस्था बन्द कर देनेके प्रस्तावको स्वीकार कर लिया। अगले दिनसे छात्राओको विश्वस्त योग्य व्यक्तियोके साथ भेजना आरम्भ किया। ट्रेनमे स्थान न मिलनेके कारण आपने आसनसोल और कलकत्तेसे स्थान सुरक्षित कराये। उस सकटापन्न स्थितिमे छात्राओ-को भेजना एक दक्ष व्यक्तिका ही कार्य था। इस समय आपकी प्रबन्ध-पटुता, कर्त्तव्यशीलता और कार्यक्षमता देखने योग्य थी।

* * *

सन् १९४३ मे दक्षिण भारतकी निवासिनी लक्ष्मुमती छात्रा बीमार पडी। टाइफाइडने भयकर रूप धारण कर लिया था। सन्निपातके कारण छात्रा अर्धविक्षिप्त-सी हो रही थी। यो तो बीमारीके आरम्भसे ही माँश्रीने उसकी परिचर्याका प्रबन्ध कर दिया था, तथा स्वय भी डाक्टर-के साथ दिनमे तीन-चार बार आकर देख जाया करती थी, पर जब उसकी बीमारी अधिक बढ गई और जीवन खतरेमे पड गया तब तो आपने स्वय खाना-पीना छोडकर परिचर्या करना आरम्भ किया। डाक्टरके परामर्शानुसार बर्फकी थैली सिरपर रखना, सिरमे तैलकी मालिश करना हाथ-पैर दबाना आदि कार्योको स्वय करती थी। यद्यपि अन्य लोग आपको ऐसा करने देना नही चाहते थे पर आपने स्वय परिचर्या करना नही छोडा। आपने ओजस्वी वाणीमे कहा—"मुझे विश्वास है कि मैं अपनी सेवा द्वारा इसे बचा लूँगी।"

तीन दिनोतक लगातार आप सब कुछ छोडकर दिनरात उस रोगिणीकी सेवामे सलग्न रही। रातको न सोनेके कारण आपका स्वास्थ्य भी खराब होने लगा था, आँखे सूज गई थी, फिर भी आपने सेवा करना नही छोडा। आपकी लगभग एक सप्ताहकी कठोर साधनाने उस लडकी के प्राण बचा लिये और वह न्यायतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण कर अपने देश गई।

इस प्रकार आप आश्रमवासिनी छात्राओंकी सेवा उनकी माँसे भी बढ़कर करती हैं। आश्रम-परिवारके किसी भी व्यक्तिका तनिक भी कष्ट आपकी चिन्ताका विषय बन जाता है और उसके कष्टको दूर किये बिना आपको शान्ति नहीं मिलती।

* * *

बालाविश्रामान्तर्गत बालाहितकारिणी सभाके साधारण अधिवेशनोंमें मुझे आपके भाषण सुननेका अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ है। मुझे जहाँ तक स्मरण है कि सन् १६४३ की २२ जनवरीको आपने भाषणमें कहा कि "भगवान् महावीरने नारीजातिके उद्धारका भार पुरुषों पर ही नही छोड़ा है, किन्तु गृहस्थ तथा त्यागी स्त्री-समाजके लिए श्राविका तथा आर्यिका ऐसे दो संघ स्थापित किये। स्त्रियाँ जब तक अपने पैरोंपर खड़ी न होंगी, उनका उद्धार होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। आजके नारी वर्गने अपनी सारी समस्याएँ पुरुषों पर छोड़ दी हैं, इसी कारण नारी-समाजका अधःपतन होता जा रहा है। नारियाँ आज स्वयं ही पुरुषोंकी दासी और भोगलिप्सापूर्तिका साधन बन गई हैं। पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे कुछ नारियाँ स्वतन्त्र होनेका दावा करने लगी हैं, पर उनका यह दावा बिलकुल झूठा है। जब नारी पुरुषकी अर्धांगिनी है, तब वह पुरुषके समान अपने अधिकारोंकी स्वयं भोक्ता है। क्या अधिकार कभी किसीको माँगने पर मिला है?

भारतीय नारीको वीरता और त्यागको फिरसे अपनाना होगा। किसीके अत्याचारोंको सहना भी उतना ही गुनाह है, जितना अत्याचार करना। अहिंसा बहुत बड़ा अस्त्र है, पर इसका उपयोग समझ-बूझकर करना होगा। जो नारियाँ बिना किसी प्रकारकी चूँ-चपट किये किसी आततायीको आत्मसमर्पण कर देती हैं, वे वस्तुतः कायर हैं। जब तक शरीरमें प्राण हैं, विरोधीका मुक़ाबला डटकर करना चाहिए। यदि आत्मिक शक्तिका पर्याप्त विकास हो जाय, जीवनमें अहिंसा उतर जाय, तो हमारा विश्वास है कि कोई भी आततायी कुदृष्टि डाल ही नहीं सकता

है। अतएव प्रत्येक बहिनको वीर बनना चाहिए। विपत्तिके आने-पर कभी भी धैर्यका त्याग नही करना और प्रबल शक्तिके साथ संकटका सामना करना जीवन-विकासके लिए आवश्यक है। सच बात यह है कि मैं नारियोकी वीरताकी उपासक हूँ, जिसको अपनाकर वे किसी भी प्रकार आततायीको स्वय दण्ड दे सकती हैं। अथवा अपने आत्मबल द्वारा उसकी कलुषित भावनाओको बदल सकती हैं। प्रलोभन और स्वार्थोको पराजित कर त्याग तपश्चर्या, बलिदान और सयमको अपनाय बिना नारीका उद्धार होनेका नही है।"

आप सदा कहा करती हैं कि धर्मका मार्ग सुखकर ही नही, श्रेयस्कर भी है। वह सुखकी ओर नही, कल्याणकी ओर जाता है। यह कल्याण किसी एक व्यक्ति या वर्गका नही, समस्त मानव-समाजका है।

* * *

सन् १९४७ की १८ जूनको मैं श्री बाबू निर्मलकुमारजी द्वारा निर्मित उनके चन्द्रलोक भवनमें गृह-चैत्यालयकी शुद्धि और वेदी-प्रतिष्ठा-के लिए गया। माँश्री भी वहाँ पहलेसे पहुँची हुई थी। प्रतिष्ठाका कार्य ६-७ दिनोमें विधिवत् सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर मुझे माँश्रीके अति निकट सम्पर्कमें रहनेका अवसर मिला। यागमण्डल विधानमें माँश्री माथम अत्यन्त मधुर ध्वनिसे श्लोक पढती थी एव उपस्थित व्यक्तियो को उनका अर्थ तथा विधानके रहस्यको भी समझाती जाती थी। पहाड-का पानी मेरी प्रकृतिके प्रतिकूल पडनेके कारण वहाँ मेरा स्वास्थ्य कुछ बिगड गया। इस अवसरपर माँश्रीके स्नेहका मुझे साक्षात्कार हुआ। आप मेरी उतनी चिन्ता रखती थी, जितनी एक परिवारके व्यक्ति की। साधा-रण व्यक्तियोकी चिन्ता और पीडाको भी अपनी चिन्ता और पीडा बना लेना और उनके लिए परेशानी उठाना माँश्रीकी नैसर्गिक विशेषता है। मैंने देखा कि आप अकेली ही दस आदमियोका काम कर लेती हैं। दिन-मे सोनेवालोसे आपको चिढ है। कर्त्तव्यपालन करनेकी दृढता और अथक परिश्रम आपके जीवनके प्रधान गुण हैं। बुद्धिकी प्रखरता निकट

सम्बन्ध वालोंको चकित ही नहीं करती, किन्तु श्रद्धा उत्पन्न कर देती हैं। आपके व्यवहारसे लोग मुग्ध हो जाते हैं।

२८ या २९ जूनको हम लोग——मैं, माँश्री चन्दाबाईजी, मातेश्वरी बा० निर्मलकुमारजी और कई एक नौकर चाकरोंके साथ कालिम्पोंगसे आराको रवाना हुए। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो घरमें अपने व्यक्तित्वको छुपा सकता है पर बाहर——यात्रामें किसीका व्यक्तित्व छिप नहीं सकता। कुलियोंको पैसे देना, भिखारियोंको दान देना तथा अपने परिचारकोंके साथ व्यवहार आदिसे उसका यथार्थ व्यक्तित्व पकड़ा जा सकता है। मोटर द्वारा जब हम लोग सिलीगुड़ी पहुँचे उस समय लगभग संध्याके ५ बजे थे। धीमी-धीमी वर्षा हो रही थी, यद्यपि भोजन कालिम्पोंगसे करके ही चले थे, पर वहाँ आते ही भूख बड़े जोरसे लगी। सभ्यताके आवरणके कारण मैं तो कुछ कह नहीं सकता था। साथके व्यक्तियोंमें भी एक-दो जैन थे पर वे भी मौन। गाड़ी छूटनेमें अभी दो घंटेकी देरी थी। माँश्रीको मैंने चार टिकट सेकिण्ड क्लास और शेष व्यक्तियोंके लिए सरवेण्ट टिकट लाकर दिये। माँश्रीने टिकट लेकर कहा—"आप तो दो बार भोजन करते हैं, ब्यालू कर लीजिये।" इतना कहकर भजनलाल रसोइयेसे कहा—"स्टेशनके उस पारसे जाकर दो रुपयेके आम ले आओ। अन्य अच्छे फल मिलें तो और भी खरीद लाना।" साथमें नास्तेका कुछ सामान भी था। आपने आम स्वयं बनाये और हम लोगोंको खिलाये तथा अपने हाथसे भोजन कराया। जितने भी सरवेण्ट साथमें थे, सबको एक-एक रुपया भोजनके लिए दे दिया गया। हम लोग अगले दिन ८ बजे पारवतीपुर आये। यहाँसे गाड़ी ११ बजे मिलती थी, अतः माँश्री स्टेशनपर ही जल्दी-जल्दी स्नान कर वहाँके किसी सेठके चैत्यालयमें दर्शन-पूजन करने चली गईं। हम लोग स्नानादिसे निवृत्त होकर गाड़ीकी प्रतीक्षा करने लगे। ठीक १०॥ बजे आप लौटीं, गाड़ी भी ठीक समय पर आई और सारा सामान गाड़ीमें लादा जाने लगा। इस समय मैंने एक अजीब दृश्य देखा, चैत्यालयके स्वामी——सेठजीने अपनी मोटर स्टेशन तक भेज दी थी। जब

ड्राइवर जाने लगा माजी उसको ५) इनाम देने लगी। सेठजीने उसे इनाम लेनेको मना कर दिया था अतः वह सेठजीके कारण रुपये लेनेसे इंकार करता था और माँजी जबरदस्ती देना चाहती थी। लगभग १० मिनट वह मना करता रहा पर अन्तमें माँजीने समझा-बुझाकर उसे रुपये दे ही दिये। कुलियोंको पैसे देनेके लिए भजनलाल झिक झिक कर रहा था तो आपने कहा— अरे इतना अधिक सामान है इन लोगोंको दो-दो चार चार आने और ज्यादे दे दो। इसी प्रकार जितने भी भिखमंगे आये सब एक शब्द सुने बिना चार-आठ आना पाते ही गये।

★ ★ ★

जैनधर्मके उज्ज्वल प्रकाशको निखिल विश्वमें फैलानेके लिए आप सदा आतुर हैं। सन् १९४८ में सर्चलाइटमें एक समाचार छपा था कि जार्ज बर्नार्ड शा 'जैनमतका उत्थान' नामक पुस्तक लिख रहे हैं। इसमें जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अहिंसाका महात्मा गान्धीकी अहिंसाके साथ तुलनात्मक विवेचन करेंगे। इस कार्यके लिए डा० शाने महात्मा गान्धीके पुत्र देवदास गान्धीको बुलाया है। इस समाचारने आपके हृदयमें अपूर्व उत्साह उत्पन्न कर दिया। उसी दिन आपने जैनसमाजके प्रमुख धनिक और सरस्वतीपुत्री सर सेठ हुकुमचन्दजी, साहू शान्तिप्रसादजी, सेठ भागचन्दजी, बाबू छोटेलालजी, प्रो० खुशालचन्दजी एम० ए० एन० उपाध्याय, डा० हीरालालजी आदिके पास पत्र लिखे। आपने मुझसे कहा— यदि समाचार सत्य है तो जैनसमाजसे आर्थिक सहायता न मिलनेपर भी हम अपनी ओरसे किसी उद्भट धर्मशास्त्रज्ञ अंग्रेजी भाषाके ज्ञाता जैन विद्वानको डा० शाके पास भेजेंगे। डा० शाकी ख्याति साहित्यिक जगतमें अद्वितीय है। उनकी लेखनीका सम्मान विश्वके कोने कोनेमें है। जैनधर्मके सम्बन्धमें उनकी लेखनीसे प्रसूत रचना अमर होगी, विश्वमें वह आदर और सम्मानकी दृष्टिसे देखी जायगी। बड़े-बड़े अन्वेषक विद्वान उसे प्रामाणिक समझेंगे। अतः जैन विद्वानके साथ उनका सम्पर्क रहना अत्यावश्यक है। इस विद्वानके सहवाससे जैन-अहिंसा और जैन

दर्शनके तत्त्वोंके सम्बन्धमें उन्हें जानकारी हो जायगी; इससे वह जैनधर्म-के सम्बन्धमें यथार्थ लिख सकेंगे।''

उदारताके साथ माँश्रीमें मितव्ययिता भी पूर्ण रूपसे विद्यमान है। आप एक-एक पैसेका उचित व्यय पसन्द करती हैं। आपको अनियमितता बिल्कुल पसन्द नहीं। आत्मशोधक होनेके कारण आपमें यत्किञ्चित् सूक्ष्मता भी है। दूसरोंसे अधिक मिलना-जुलना और अनावश्यक बातें करना आपको पसन्द नहीं। अखण्ड आत्मविश्वास होनेके कारण अपने सत्यपक्षकी पुष्टिके लिए डट जाना, जिसे दूसरे लोग भले ही हठ कहें, आपका एक विशेष गुण है। आत्मविज्ञापनसे दूर रहकर कर्त्तव्य करना, निन्दा-स्तुतिका खयाल न करना, सेवा और परोपकारमें निरन्तर रत रहना, सहानुभूति और सहृदयताके साथ किसी भी बातका विचार करना आपके गुण हैं।

आरा
२० जुलाई १९५१

सतीतेज

एक बार मै भाई निर्मलकुमारजीके साथ मसूरी ठहरा हुआ था। वहाँ बाईजी भी थी। मुझे वहाँ ज्वर हो गया। कलकत्तेके प्रसिद्ध कविराज हारान बाबू मुझे देखने आये। पूजन करनेके लिए जाते हुए बाईजीको उन्होंने देखा तो मुझसे बोले—"इनको देखते ही मेरे मनमें आ रहा है कि मैं इनकी पद-रज लूँ।" जब मैंने उनका परिचय दिया तो इतने प्रभावित हुए कि वे चरण-स्पर्श करनेके लिए एक घण्टेतक प्रतीक्षा करते रहे।

एक दफ़ा बाईजी पेटके टयूमरकी आशंकाकी निवृत्तिके लिए कलकत्तेके विशेषज्ञोंसे परामर्श करने कलकत्ते आई हुई थी। यहाँ स्त्रीरोग-चिकित्साके विशेषज्ञ और प्रख्यात डाक्टरको दिखाया तो वह अंग्रेज़ डाक्टर जिसे बाईजीका किंचित् भी परिचय नही था, अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहने लगे कि "ऐसा मालूम पड़ता है कि बाईजी बड़ी सती, साध्वी और एक महान् आत्मा हैं।"

कलकत्ता
१ जुलाई १९४३

—छोटेलाल जैन

बुआ
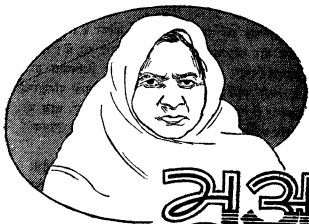
पीहर-सासरेकी शोभा

भूआकी उम्र इस समय लगभग ९२ वर्षकी है। फिर भी जिन-दर्शन और स्वाध्याय उसी मनोयोगसे चल रहे हैं। उनके शुद्ध आचार-विचार, आहार-पानमें तनिक भी शिथिलता नही आई है। वही धर्ममें दृढ श्रद्धा, वही तीर्थोंकी वन्दनाके परिणाम, वही ज्ञानकी पिपासा जो बचपनसे देखता आ रहा हूँ, आज भी है। शरीर जर्जर होता जा रहा है, पर आत्मामें वही रत्नत्रयकी ज्योति जगमगा रही है।

जुलाईमे दिल्ली गया तो इस तीर्थकी वन्दनाको भी पहुँचा। मेरी अभिलाषा हुई कि भूआको अपने पास रखकर, उनकी सेवा-सुश्रूषा करके जन्म सार्थक कर लूं। सहमते हुए विचार व्यक्त किया तो बोली—"बेटे, मेरे पीहर और सासरेकी शोभा इसीमें है कि मैं जिस घरमें डोलेसे उतरी, उसी घरसे मेरी डोली उठे।" और न जाने कितनी देरतक मेरे सरपर हाथ फेरती रही।

डालमियानगर —गोयलीय

१ अक्टूबर १९५१

हमारे कुलकी गौरव

गोयलीय

ये मेरे पिताजीकी भूआ हैं, मेरी भी भूआ हैं, और मेरे बच्चे भी इन्हें भूआजी कहते है, और काश ये जीती रही तो हमारी और भी पीढ़ी इन्हें भूआजी ही कहेगी; परन्तु ईमानकी बात तो यह है कि ५-६ वर्ष पहले तक तो इन्हें भूआ कहनेको जी चाहता था, मगर अब तो शादीसे बढ़कर परदादी-जैसी दीख पड़ने लगी है। उनके उस अतीत गौरव-वैभवका जब वर्तमानसे मिलान करता हूँ तो रुलाई आ जाती है। ६ वर्ष पूर्व ८० वर्षकी होने पर भी, यह कभी ध्यान न आया कि इन्हें इतनी शीघ्रता से बुढ़ापा घेर लेगा। स्वस्थ शरीर, दिव्य और गौरवपूर्ण मुख, स्वच्छ और धवल वस्त्र पहिने हुए, उनके रोम-रोमसे ब्रह्मचर्यकी आभा टपकती थी। प्रत्येक कार्यमें स्फूर्ति, स्वर मधुर, नेत्रोंमें स्नेह, स्वभाव गंभीर, धार्मिक श्रद्धासे ओतप्रोत, श्रावकोचित कर्तव्योंमें लीन भूआजीको उनसे आयुमें बड़े भी ताईजी कहकर सम्बोधित करते और उनके चरणोंको देखते रहते।

उनके पुत्र उन्हें ताईजी कहते थे, इसलिए आरम्भमें तो वे ताई इसी कारण कहलाई, फिर भीष्म पितामह जैसे सबके पितामह हो गये हैं, उसी तरह छोटे-बड़े सब उन्हें ताईजी कहने लगे। मेरे कुटुम्बी, रिश्तेदार और मित्रवर्ग मेरे नाते इन्हें भूआजी कहते हैं।

भूआजी पुरानी वज़अ-क़तअकी बड़ी पाबन्द हैं। देहलीकी हर रीति रस्मोरिवाजसे परिचित हैं। सदरबाज़ारकी जैन-महिलाओंमें

इनकी सम्मति बड़ा मूल्य रखती है। ५० वर्षसे भी अधिक हुए इन्होंने शास्त्रसभा स्थापित की थी, जो बराबर चालू है, और बहुत बड़ी संख्यामें प्रातःकाल शास्त्र-प्रवचनमें स्त्रियाँ सम्मिलित होती हैं। पहले स्वयं शास्त्र-प्रवचन करती थीं, अब अशक्त हो जानेसे यह भार इन्हींकी शिष्याओं-की पुत्री, पौत्रियोंने सम्भाल लिया है।

५-६ वर्ष पहिले जब स्वस्थ थीं, इनके पास बड़ी-बूढ़ियाँ घरेलू कार्योंके लिए परामर्श लेने आती; बहुएँ सिलाई और कढ़ाईका काम सीखने आती, कन्याएँ पढ़ने आती और बड़े-बूढ़े पुरुष भी रीति-रिवाज की गुत्थियाँ सुलझाने इनके पास आते।

३-४ मील पैदल चलकर मन्दिरोंके दर्शन कर आतीं, परन्तु इन ५-६ वर्षोंमें ऐसा परिवर्तन हुआ है कि बमुश्किल पहिचानमें आती है।

१५ जनवरीको दिल्ली गया तो मन्दिरसे भी पहले इनकी वन्दनाको पहुँचा। देखकर लक़वा-सा मार गया। सरके बाल मुड़ा डाले हैं, सारे शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गई है, नेत्रोंसे कतई नहीं दीखता है, मुँहके दाँत दगा दे गये है। भूआजी मेरी बलायें लेती रही, पुचकारती रही, पीठ-पर, सरपर हाथ फेरती रही और मैं पत्थर बना बैठा रहा। भूआके यह दुर्दिन देखनेको भी हमें जीना पड़ेगा। यह किसे ख़याल था। जब नही बैठा गया, चुपचाप चला आया। न भूआके घर कुछ खाया न पिया।

४-५ रोज़ तक फिर मैं उनके पास नही गया, जानेको जी ही नहीं चाहता था। तब वे स्वयं ही लाठी टेकती डाक्टर कैलाशचन्द्रका सहारा लिये दो फर्लांग पैदल चलकर मुझे देखने आई। दामनमें ४-५ पैबन्द लगे हुए, चादरके नामपर एक चीथड़ा-सा मैला ओढ़ना उनके शरीर-पर था। जिनके लिबास और रहन-सहनको उदाहरणमें पेश किया जाता था, वही आज इस रूपमें, और वह भी घरके भीतर नहीं, सबके सामने! मनको बड़ी धिक्कारी-सी आई। जिसने हमेशा देनेकी कोशिश की, हक़ होते हुए भी लेनेमें संकोच ही किया, उस भूआको मैं वस्त्र भी नहीं जुटा सका। इस देवीको भी इस ब्लैक मार्केटिंगके ज़मानेमें नहीं बख्शा

गया ! मैं स्नान करके धवल वस्त्रोंमें बगला बना बैठा था, ४-५ साथी गपशप लड़ा रहे थे। तभी भूआजी आ गईं। बड़ी आत्मग्लानि हुई। सोचा इस समय न आती तो अच्छा था, ये भी अपने मनमें क्या कहते होंगे ?

भूआ मुझसे प्यारकी बातें कर रही थीं और मैं खोया हुआ-सा बैठा था !

थोड़ी देर बाद बोलीं—"बेटे ! अब जीवनमें कोई साध नहीं रह गई है। समाधिमरणपूर्वक यह चोला छूट जाय, केवल यही अभिलाषा शेष रही है। मोह-ममता सब दूर हो गई है। समरम्भ-समारम्भ नाम-मात्रको रह गया है। वस्त्रोंकी भी प्रतिज्ञा है। जो शरीर पर हैं, ये भी भार मालूम होते हैं। तू मेरी चिन्ता करके दुःखी न हुआ कर। तेरी कीर्ति बढ़े, फले-फूले; मेरे भाईका घर, दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करे, मेरी यह दुआ है। मै तुझे देख लेती हूँ तो सब कुछ पा लेती हूँ !"

सुना तो दंग रह गया। अपरिग्रह और सन्तोषका कैसा जीता-जागता उदाहरण है। लोगोंकी खरीदते-खरीदते भूख नहीं मिटती। ये इन चिथड़ोंको भी भारस्वरूप पहने हुए हैं।

ये हमारे कुलकी गौरव भूआ बैरिस्टर चम्पतरायजीकी सगी बहन है। बात लिखनेकी नही; न हम कभी यह स्वप्नमें सोच ही सकते हैं कि ये मेरे बाबाकी सगी बहन नही, बा० चम्पतरायजीकी सगी बहन है। मेरे बाबाकी बहन मर गई तो इन भूआजीके साथ मेरे बाबाजीके बहनोई लाला ईश्वरीप्रसादजीकी दूसरी शादी हुई।

बाबाजीकी सगी बहनको मैंने तो क्या मेरे पिताजीने भी नहीं देखा था। दादीजी और माताजीके कोई लड़की नहीं हुई। न मेरी पत्नीने अभी तक कोई पुत्री प्रसव[1] की है, अतः हमारे वंशकी यही लाड़ली लड़की रही हैं। श्री चम्पतरायजी अधिकतर विलायत रहे। अतः फूफाजीको

१—यह संस्मरण लिखनेके ३ वर्ष बाद २९ दिसम्बर १९४९ को लक्ष्मीरत्नकी प्राप्ति हो गई है। जिसका प्यारका नाम 'लाडो' रखा गया है।

नवीन ससुरालसे कोई वास्ता नहीं रहा। उन्हें पहली ससुराल अधिक प्रिय रही, हमारा घर लड़कियोंका नदीदा रहा, अतः दोनों ओरसे प्रेम उमड़ता ही गया।

मेरे पिताजीने इन्हीके पास रहकर बचपनमें शऊर सीखा। मुझे भी आदमियत इन्हींसे मिली। मेरी माँको डोलेमेंसे इन्हीने उतारा, मेरी दुल्हनको भी यही कारमेंसे उतारकर लाईं; और मेरा बड़ा लड़का श्रीकान्त जन्मा तो उसे भी मैंने इन्हीकी गोदमें सबसे पहले देखा। ऐसी हैं हमारे वंशकी अधिष्ठात्री देवी ये हमारी भूआ!

पिताजी हुए, तो इन्हें मुँहमाँगा मिला; मैं हुआ तो बड़े चावसे मेरे कपड़े लाईं। उस वक्तकी लैस लगी हुई पीले मखमलकी टोपी आज भी बड़े यत्नसे मने सम्भालकर रक्खी हुई है। बाबा मरे तो कह मरे– "बेटा, जीजीके यहाँ भात ऐसा देना कि दिल्ली वाले भी दंग रह जायें। चम्पतरायसे हल्का रहा तो मेरी आत्माको परलोकमें भी कल न पड़ेगी।" पिताजी भी क्यों कसर रखने लगे थे, और भूआजीने भी हम ग़रीबों-देहातियोका भात इस चावसे पहना कि ३५-४० वर्ष पुरानी बात होने-पर भी उसका जिक्र माँ अक्सर हमको सुनाती रहती हैं, और हम भी पुरानी टेकको निभाते चले आ रहे हैं।

भूआजीके अपार स्नेह और लाड-चावके आगे हमारा परिवार यह कभी सोच ही नही सका कि ये दूसरी भूआ हैं। राखी-बन्धन, विजया-दशमी और भैयादूजको पहले हमारे यहाँ टीका करने आती; बादमें बा० चम्पतरायजीके यहाँ जाती।

मेरे पिताजी ४१ वर्ष पूर्व मरे तो सधवा होते हुए भी इन्होंने जेवर पहनना यह कहकर छोड़ दिया कि "जब मुझसे छोटी मेरी भतीज बहूके जेवर उतर गये तो अब मैं पहनती क्या अच्छी लगूंगी!"

हम लोगोंको जब कभी यह हमारे कुलकी रीत बतातीं, तो सदैव–'मेरे मायकेमें यो होता था, मेरा भाई यों कहकर मरा था और मेरा रामसरन (लेखकके पिता) इस स्वभावका था" वग़ैरह सब सगी बहन-बेटीकी तरह

ममता ज़ाहिर करतीं, उनकी यादमें आँखें भी भीग जातीं। कभी उनके मुँहसे पहला पीहर या दूसरे भाई-भतीजेका आभास तक नहीं मिला। माँने यह भेद बताया तो मुझे बहुत दिनों तक विश्वास ही नहीं हुआ कि ये मेरी सगी भूआ नही हैं।

भूआ दिल्लीके पुराने और प्रतिष्ठित धनिक घरमें ब्याही आईं। सास-ससुरकी लाड़ली बनकर रहीं। हाथो छाँह की गई। दोनों पीहरों में भी मौज थी। जहाँ भी जाती आँखें बिछ जाती। उनका अपना निजी व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली और प्रतिष्ठित रहा। मगर सच बात तो यह है कि सीता, द्रौपदीके समान ये भी संसारमें दुख भोगने ही आईं। इस तपस्विनीको सुखकी भेंट देनेमें मानो विधाता भी सटपटा गया।

संतान हुई नहीं, युवावस्थामें सुहाग लुट गया। दत्तक पुत्र लिया तो वह भी नि.संतान भरी जवानीमें चल बसा। सारी जायदाद चौपट हो गई। नक़द और ज़ेवर धीरे-धीरे छीजते गये। पारिवारिक क्लेश, मानसिक वेदना जीवन भर पल्ला पकड़े रहे। तीर्थ-भ्रमण, धर्मध्यान, संयम, तप, त्याग द्वारा जो आत्मसुख मिला सो सुख मिला।

सन् १९२० की बात है। उस छोटी-सी आयुमें आजीविकाकी तलाश में मैं घरसे निकला। एक पाठशालामें नौकरीकी बातचीत पक्की हो गई। मार्गमें दिल्ली पड़ी तो भूआजीके दर्शन किये बग़ैर आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता था। इस छोटी-सी आयुमें आजीविकाकी तलाश और वह भी धार्मिक नौकरी, सुनकर रो पड़ीं। बोलीं—"नहीं बेटे! ऐसी बात फिर कभी ज़ुबानपर मत लाना, मेरे भाई-भतीजे स्वर्गमें बैठे क्या कहेंगे कि 'मीरो' (भूआका नाम) के होते हुए हमारे बच्चेको नौकरी करनी पड़ी। नहीं, मैं ऐसा हरगिज नही होने दूँगी।"

कपड़ेकी कोठीमें काम सीखनेको भेजा गया। मगर उस भाग्य के आगे भूआजीकी क्या पेश पड़ती; जिसमें ग़ुलामीकी एक अमिट लकीर खींच दी गई थी और तारीफ़ यह कि इस ग़ुलामीकी रिक्शाका भार ढोते हुए देखकर भी बहुतसे बन्धु मेरे भाग्यपर ईर्ष्या करते हैं!

सन् १९२० की ही बात है, दिल्लीमें रहते हुए बमुश्किल मुझे एक माह हुआ होगा। यह मुझे खाना खिलाकर चारपाईपर लेट गईं और मुझे समाधिमरण सुनानेका आदेश दिया। मैं कुछ घबराया हुआ-सा सुनाता रहा। समाधिमरण सुनकर बोली–'५ रु० का दूध कुत्तोंको पिला आओ।' यह हुक्म भी मैंने बिना चूँ चाँके बजा दिया। फिर बोली–'सुबह मन्दिरजीमें पूजा करने अवश्य जाना'। अब मेरे धैर्यका बाँध टूट गया। मैंने समझा मृत्यु-समय नजदीक है, इसलिए यह सब कुछ हो रहा है। मुझे बताना नही चाहती है। मैंने पाँव दबाने चाहे तो मना कर दिया। सरकी तरफ बढा तो भी रोक दिया। मुझसे न रहा गया, मैं रो पडा, तो बोली–'बेटे रोते है, यह तो आनन्द और खुशीका अवसर है।' यह सुना तो पाँवके नीचेसे जमीन खिसकती दिखाई दी, सर घूमने लगा, बडी कठिनाईसे अपनेको सम्हाल कर पूछा—"आज भूआजी, आपको हुआ क्या है। मेरी तो जान-सी निकली जा रही है।"

भूआ बोली—"छि, इसमे घबरानेकी बात क्या है, आज मेरा तेला व्रत है। कल पारना करूँगी।"

सुनकर अवाक् रह गया। तीन रोजसे निर्जल उपवासी थी। बदस्तूर मेरा सब काम करती रही और मुझे इसका आभास भी नही होने दिया। सदैव हर एकके दुख-दर्दमे शामिल रही, अपने और परायेके आडे वक्तमें काम आईं। पीहर और सासरेकी प्रतिष्ठा और गौरवको धरोहरकी तरह सम्हाल कर रक्खे रही और अपने दिव्य चारित्रसे दोनो तीनो कुलोको अभिमान योग्य बनाया, ऐसी भूआ क्या फिर किसी जन्ममें मिल सकेंगी?

—वीर, नवम्बर १९४६.

जन्म— आगरा, वि० सं० १९२३

स्वर्गवास— सन् १९१७ ई०

मेरी तीर्थ-यात्रा

— गोयलीय —

आर्यसमाजमें जो स्थान श्रद्धानन्द, रायज़ादा हंसराज और मुस्लिम क़ौममें सरसैयद अहमदका है, वही स्थान जैनसमाजमें पं० गोपालदासजी बरैयाको प्राप्त है । जिस समय जैनसमाज अपने धर्मसे अनभिज्ञ मिथ्यान्धकारमें फँसा हुआ था, उसके चारों ओर शिक्षा-प्रसारका उज्ज्वल प्रकाश फैल रहा था, और उसकी चकाचौधसे चुन्धियाकर इधर-उधर ठोकरें खा रहा था, तभी उसके हाथमें धर्मज्ञानका दीपक देकर बरैयाजीने उसे यथार्थ मार्ग देखनेका अवसर दिया । आज जो जैनसमाजमें सर्टीफिकेटशुदा विद्वद्वर्ग नज़र आ रहा है, उसमें अधिकांश उनके शिष्यों और परशिष्योंका ही समूह है ।

बरैयाजीका आविर्भाव होनेसे पूर्व भारतमें धर्मशिक्षाप्रसार और सम्प्रदाय-संरक्षणकी होड़-सी लगी हुई थी । आर्यसमाज समूचे भारतमें ही नहीं, अरब-ईरानमें भी वैदिकधर्मका झण्डा फहरानेका मनसूबा डंके की चोट ज़ाहिर कर रहा था, उसके गुरुकुल, महाविद्यालय, हाईस्कूल और कॉलेज पनवाड़ीकी दूकानकी तरह तीव्रगतिसे खुलते जा रहे थे । मुसलमानोंके भी देवबन्दमें धार्मिक और अलीगढ़में राज्यशिक्षा-प्रणाली के केन्द्र खुल चुके थे । ईसाइयोंकी तो होड़ ही क्या, हर शहरमें मिशन-शिक्षा-केन्द्रोंका जाल-सा बिछ गया था । लाखोंकी संख्यामें धार्मिक ट्रेक्ट वितरित ही नहीं हो रहे थे, अपितु बपितसमा दिया जा रहा था । केवल अभागा जैनसमाज खिसियाना-सा अकर्मण्य बना अलग-अलग खड़ा था ।

शायद अकलंक और समन्तभद्रकी आत्मा जैनसमाजकी इस दयनीय स्थितिसे द्रवीभूत हो गई और उन्हींने अपना अलौकिक ज्ञान और शास्त्रार्थ

की प्रतिभा देकर फिर एकबार जैनधर्मकी दुन्दुभि बजानेको इस कृशकाय सलौने व्यक्तिको उत्साहित किया।

बरैयाजीने जो अभूतपूर्व कार्य किया, भले ही हम काहिल शिष्यों द्वारा वह लिखा नहीं गया है; परन्तु उनके महत्त्वपूर्ण कार्यके साक्षी आज आचार्य, तीर्थ, शास्त्री और पण्डित रूपमें समाजमें सर्वत्र देखनेको मिलते हैं।

मेरे होश सम्हालने, कार्यक्षेत्रमें आनेसे पूर्व ही बरैयाजी स्वर्गस्थ हो गये, न मैं उनके दर्शनोंका ही पुण्य प्राप्त कर सका, न उनके सम्बन्धमें ही विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सका। उनके दर्शन न हुए तो न सही, उनकी कार्यस्थली मोरेनाकी रज ही किसी तरह मस्तकपर लगाऊँ, उनके समवयस्क और सहयोगियोंसे उनके संस्मरण सुनकर कानोंको तृप्त करूँ, ऐसी प्रबल इच्छा बनी रहती थी कि दिसम्बर १६४० में परिषद्‌के कार्यकर्ताओंके साथ मोरेना जानेका अवसर भी प्राप्त हो गया। बरैयाजीके साझीदार ला० अयोध्याप्रसाद[1] तथा बा० नेमिचन्द वकील आदि १०-१२ बन्धुओंसे रातभर बरैयाजीके सम्बन्धमें कुरेद-कुरेद कर बातें जाननेका प्रयत्न किया, किन्तु एक-दो घटनाके सिवा कुछ नहीं मालूम हो सका। आज उन्हीं स्मृतिकी धुन्धली रेखाओंको कागज़पर खींचनेका प्रयास कर रहा हूँ।

× × ×

सामाजिक क्षेत्रमे आनेसे पूर्व किसी समय बरैयाजी एक रायबहादुर सेठके[2] यहाँ २० रु० मासिकपर कार्य करते थे। एकबार सेठ साहब आपको भी तीर्थयात्रामें अपने साथ ले गये। शास्त्रप्रवचनके साथ-साथ गुमास्तेकी उपयोगिताका भी विचार करके, इन्हें साथ लिया गया था। बरैयाजी शास्त्र-प्रवचनमे तो पटु थे, किन्तु गुमास्तगीरीकी कलामें कोरे थे। सफ़रमें रेल्वे-टिकिटोंकी कतरब्योंत, लगेज, भाड़ा दिये बिना पार करना, चुंगीवालोंको चकमा देना, स्टेशन बाबुओंको झाँसा देना, कुलियों-

१—सम्भवतः यही नाम था, यदि भूलसे दूसरा नाम लिखा गया हो तो वे बन्धु क्षमा करेंगे। २—नाम मैंने जान बूझकर नहीं लिखा है।

ताँगेवालोंको बातोंमें राज़ी करना, थर्डको भी विस्तर बिछाकर सेकिण्ड बना लेना, धर्मशालाके चपरासियोंसे भी भरपूर सुविधा लेना और इनाम की जगह अँगूठा दिखा देनेमें जो जितना प्रवीण होता है, वही प्रवासमें रखनेके लिए उपयुक्त समझा जाता है। बरैयाजी इस शिक्षामे कोरे थे। इन्हें शिक्षित और चतुर समझकर टिकिट लानेका कार्य दिया गया। ये टिकिटोंमें कुछ कतरव्योंत तो क्या करते, उल्टा लगेज़ तुलवाकर उसका भी भाड़ा दे आये।

सेठ और रायबहादुर होकर उनका सामान तुल जाये, इससे अधिक और सेठ साहबका क्या अपमान होता? धनियोके यहाँ चापलूस और चुगलखोरोंकी क्या कमी? उन्होंने बरैयाजीके बुड़बक होनेका ऐसा सजीव वर्णन किया कि बेचारे शिकारपुरी न होते हुए भी, सेठ साहबकी नज़रोंमें शिकारपुरी होकर रह गये। जहाँ सत्यका प्रवेश नही, यथार्थ बात सुननेका चलन नहीं। धोखा छल-फरेब मायाचार ही जहाँ उन्नति के साधन हों, बिलफ़ और चकमा खाना ही जहाँ अभीष्ट हो, वहाँ बरैयाजी कितने दिन निभते? किनाराकशी ही स्वाभिमानकी रक्षाके लिए उन्होंने आवश्यक समझी।

× × ×

यह मूर्खता करके बरैयाजी पछताये नही, यह अचौर्यव्रत उनके पञ्चाणुव्रतोंमेंसे तीसरा आवश्यक व्रत था। एकबार वे सपरिवार बम्बई से आगरे आये। घर आकर कई रोज़ बाद मार्ग-व्यय आदि लिखा तो मालूम हुआ नौकरने उनके तीन वर्षके बालकका टिकट ही नहीं लिया। मालूम होनेपर बड़ी आत्म-ग्लानि हुई और आपने तत्काल स्टेशन-मास्टर के पास पहुँचकर क्षमा-याचना करते हुए टिकटका मूल्य उनकी मेज़पर रख दिया। स्टेशनमास्टरने समझाया कि ढाई वर्षसे अधिककी आयु पर टिकट लेनेका नियम है तो, पर कौन इस नियमका पालन करता है? हम तो ४-५ वर्षके बालकको नज़रन्दाज़ कर देते हैं। अपने आप टिकट का पैसा देने कोई हमारे पास आया हो, हमें ऐसा मूर्ख कभी नहीं मिला।

आप बड़े भोले मालूम होते हैं, यह दाम आप उठा लीजिये, सब यूँ ही चलता है।" परन्तु बरैयाजी चालाक और धूर्त दुनियाके लिए सचमुच मूर्ख थे, वे दाम छोड़कर चले आये और बुद्धिपर ज़ोर देनेपर भी अपनी इस मूर्खताका रहस्य न समझ पाये और जीवनभर ऐसी मूर्खता करते रहे।

× × ×

ला० अयोध्याप्रसादजीके साझेमें मोरेनामें बरैयाजीकी आढ़तकी दूकान थी। लाला साहबका एक व्यक्तिसे लेन-देनका झगड़ा चल रहा था। आखिर वह व्यक्ति तंग आकर बोला—"आपके साझी बरैयाजी जो निर्णय देंगे, मुझे मंजूर होगा।" लालाजीने सुना तो बाँछें खिल गईं। मनकी मुराद छप्पर फाड़कर आई, परन्तु निर्णय अपने विपक्षमें सुना तो उसी तरह निस्तब्ध रह गये; जिस तरह ऋद्धिधारी मुनिके हाथोंमें गरमागरम खीर परोसकर रत्नोंकी वारिश देखनेको बुढिया आतुरता-पूर्वक आकाशकी ओर देखने लगी थी और वर्षा न होनेपर लुटी-सी खड़ी रह गई थी।

लाला साहबको बरैयाजीका यह व्यवहार पसन्द न आया। "अपने होकर भी निर्णय शत्रु-पक्षमें दिया, ऐसी-तैसी इस न्यायप्रियताकी। डायन भी अपना घर बख्श देती है, इनसे इतना भी न हुआ। हमें मालूम होता कि पण्डितजीके मनमें यह कालौस है तो हम क्यों इन्हें पंच स्वीकार करते? इससे तो अदालत ही ठीक थी, सौ फ़ी सदी मुक़दमा जीतनेका वकीलने विश्वास दिलाया था। वाह साहब, अच्छी इन्होंने आपसदारी निभाई। माना कि हमारी ज्यादती थी, फिर भी क्या हुआ, आपसदारीके नाते भी तो हमारी टेक रखनी थी। जब पण्डितजीने हमारा रत्तीभर लिहाज़ नही किया तो अब इनसे क्या साझेमें निभाव होगा? भई, ऐसे तोते-चश्मसे तो जुदा ही भले।"

इसी तरहके विचारोंसे प्रेरित होकर लाला साहबने पण्डितजीसे साझा बाँट लिया, बोलचाल बन्द कर दी। बरैयाजीसे किसीने इस आशा-रहित निर्णयके सम्बन्धमें जिक्र किया तो बोले—"भाई, इष्टमित्रोंकी

खातिर मैं अपने धर्मको तो नही बेचूंगा। जब मुझमे न्यायीकी स्थापना दोनो पक्षोने कर दी तो फिर मैं अन्यायीका रूप क्यो धारण करता ? मेरा धर्म मुझे न छोडे, चाहे सारा ससार मुझे छोड दे तो भी मुझे चिन्ता नही।"

लालाजीने मुझे स्वय उक्त घटना सुनाई थी। फर्माते थे कि—"थोडे दिन तो मुझे पण्डितजीके इस व्यवहारपर रोष-सा रहा, पर धीरे-धीरे मेरा मन मुझे ही धिक्कारने लगा और फिर उनकी इस न्यायप्रियता, सत्यवादिता, निष्पक्षता और नैतिकताके आगे मेरा सर झुक गया, श्रद्धा भक्तिसे हृदय भर गया और मैंने भूल स्वीकार करके उनसे क्षमा माँग ली। पडितजी तो मुझसे रुष्ट थे ही नही मुझे ही मान हो गया था अत उन्होने मेरी कौली भर ली और फिर जीवनके अन्त तक हमारा स्नेह-सम्बन्ध बना रहा ?"

मुझे जिस तरह और जिस भाषामे उक्त सस्मरण सुनाये गये थे न वे अब पूरी तरह स्मरण ही रहे हैं न उस तरहकी भाषा ही व्यक्त कर सकता हूँ, फिर भी आज जो बैठे-बिठाये याद आई तो लिखने बैठ गया।

—अनेकान्त, मार्च १९४८ ई०

उनकी सीख

महात्मा भगवानदीन

हमने पं० गोपालदासजी बरैया-जैसा दूसरा आदमी समाजमें आज तक नही देखा, पर यह बात तो हर आदमीके लिए कही जा सकती है। नीमके पेड़के लाखों पत्तोंमें कोई दो पत्ते एकसे नही होते, पर सब हरे और नुकीले तो होते हे। समाजके हर आदमीसे यह आशा की जाती है कि वह कम-से-कम अपने समाजके मेम्बरोंको सताये नही, उनसे झूठा व्यवहार न करे, उनके साथ ऐसे काम न करे, जिनकी गिनती चोरीमें होती है। समाजमें रहकर अपनी लँगोटी और अपने आँखके बाँकपनपर पूरी निगाह रखे और अपनी ममताकी हद बाँधकर रहे। इन पाँच बातोंमें, जिन्हें अणुव्रत यानी छोटे व्रत नामसे पुकारा है, वे पूरे-पूरे पक्के थे, और पाँचों अणुव्रतोंको ठीक-ठीक निभानेवाला समाजमें हमारे देखनेमें कोई दूसरा आदमी नही मिला। वह पूरे गृहस्थ थे, दुकानदारी भी करते थे, और पंडित और विद्वान् होनेके नाते जगह-जगह व्याख्यान देने भी जाते थे और इस नाते आने-जानेका किराया और खर्च भी लेते थे, पर दुकानदारी और इन सब बातोंमें जितनी सचाई वह बरतते थे, और किसी दूसरेको बरतते हुए नही देखा है। अगर उन्हें कोई ५० रु० पेशगी भेज दे और घर पहुँचते-पहुँचते उनके पास १० रु० बचे तो वह १० रु० वापिस कर देते थे और दो पैसे बच रहें तो दो पैसे भी वापिस कर देते थे। वह हर तरहसे हिसाबके मामलेमें पैसे-पैसेका ठीक-ठीक हिसाब रखते थे। पाँचों व्रतोंमेंसे हर व्रतका पूरा-पूरा ध्यान रखते थे और इन व्रतोंके प्रति सचाई ही उनमें एक ऐसा जादू बनी हुई थी, जिससे सभी उनकी तरफ़ खिंचते थे।

धर्मके मामलेमें आम तौरसे लोग अणुव्रतोंमेंसे किसी व्रतकी परवाह नहीं करते और सचाईके अणुव्रतकी तो बिल्कुल ही परवाह नहीं करते।

एक पण्डितजी ही थे जो धर्म और व्यवहारमें कही भी सचाईको हाथसे नही खोते थे । तभी तो वह उन पण्डितोंकी नजरमें गिर गये जो धर्मके ज्ञाता थे, पर उसपर अमल करनेके अभ्यासी नही थे ।

पण्डितजी अणुव्रती थे, पर साथ-ही-साथ परीक्षा-प्रधानतामें पूरा विश्वास रखते थे, और जैसे-जैसे वह परीक्षा-प्रधानताको समझते जाते थे; वैसे-वैसे उसपर अमल करते जाते थे । दूसरों शब्दोंमें वह धीरे-धीरे परीक्षा-प्रधानी बनते जा रहे थे कि मौत उन्हें उठाकर ले गई । कोई मनचला यह सवाल उठा सकता है कि क्या वह शुरू-शुरूमें परीक्षाप्रधानी नहीं थे ? हम उसे जवाब देंगे–हाँ, वह नहीं थे । वह शुरू-शुरूमें अन्ध-श्रद्धानी थे, कोरे कट्टर दिगम्बरी थे । उनकी कट्टरता दिनोंदिन कम होती जा रही थी और अगर वह जीते रहते तो वह कट्टरता खत्म हो जाती और फिर वह दिगम्बरी न रहकर जैन बन जाते और अगर कुछ और उमर पाते तो सर्वधर्म-समभावी होकर इस दुनियासे कूच करते ।

हम ऊपरके पैरेमें बहुत बड़ी बात कह गये हैं, पर वह छोटे मुंह बड़ी बात नही है । हमने पण्डितजीको बहुत पाससे देखा है । पण्डितजी हमको बहुत प्यार करते थे और जब भी हम उनसे मिले, उन्होने पूरी एक रात हमसे बिल्कुल जी खोलकर बातें की और हमारी बातें खुले दिलसे सुनी । हमसे जब वह बात करते थे तो एकदम अभिन्न हो जाते थे । हम ये सब कहकर भी यह नही कहना चाहते कि उन्होंने हमसे कबूला कि वह कट्टर दिगम्बरी थे । इस तरह बेतुकी बात हम क्यों पूछने लगें और वह हमसे क्यो कहने लगें ? हम तो ऊपरकी बात सिर्फ़ इसलिए लिख रहे हैं कि हमने उन्हें पाससे देखा है और उनका खुला हुआ दिल देखा है । बस उस नाते और सिर्फ़ उस नाते हम यह कहना चाहते है कि हम जो कुछ ऊपर कह आये है, वो वह है कि जो हमने नतीजा निकाला है ।

हमने यह नतीजा कैसे निकाला, यह बतानेसे पहले हम यह कह देना चाहते है कि जो आदमी परीक्षाप्रधानी बनने जा रहा है, वह किसी धर्म या पन्थका कितना ही कट्टर अनुयायी क्यों न हो, उस आदमीसे लाख

दरजे अच्छा है, जो अन्धश्रद्धानी होते हुए सर्वधर्म-समभावी होनेका दावा करता है। वह तो सर्वधर्म-समभावका नाटक खेलता है, या ढोंग रचता है। पण्डितजीने कभी किसी चीज़का नाटक नही खेला, वे जब जो कुछ थे, सच्चे जीसे थे और सचाई ही तो पूज्य है, वही तो धर्म है, वही तो अँधेरे से उजालेकी तरफ़ लेजानेवाली चीज़ है और वह पण्डितजीमें थी। इस सचाईके बलपर ही वह झट ताड़ जाते थे कि मै अबतक कौन-सा नाटक खेलता रहा हूँ; और कौन-सा ढोंग रचता रहा हूँ। अपनी परीक्षामें जैसे ही उन्होंने नाटकको नाटक और ढोंगको ढोंग समझा कि उसे छोड़ा। जैसे ही उन्होंने परीक्षासे यह जाना कि सोमदेवकृत 'त्रिवर्णाचार' आर्ष ग्रन्थ नही है, वैसे ही उन्होने उसको अलग किया और उसके आधारपर जो पूजाकी क्रियाएँ करते थे, उन्हें धता बताई। धता बताई शब्द ज़रा भी हम बढ़कर नही कह रहे है, उन्होने इससे ज्यादा कड़ा शब्द इस्तेमाल किया था।

धर्मके मामलेमें उनकी कही हुई खरी-खरी बातें आज बच्चे-बच्चे की ज़बानपर है, उन्हें हम दुहराना नही चाहते। हम तो यहाँ सिर्फ़ इतना ही कहेंगे कि पण्डित गोपालदासजी बरैया सचाईके साथ विचारस्वाधीनता का दरवाज़ा खोल गये और आज जो स्वामी सत्यभक्तके रूपमें पण्डित दरबारीलालजी स्वाधीन विचारोंका चमत्कार दिखा रहे है, वह उसी द्वारसे होकर आये है, जिसका दरवाज़ा पण्डितजी हिम्मत करके खोल गये थे।

पण्डितजीने सम्यक्त्व, देवता, कल्पवृक्ष, केवलज्ञान, मुक्ति इनके बारेमें ऐसी-ऐसी बातें कही, जिनसे एक मर्तबा समाजमें खलबली मची, पर वैसा तो होना ही था, कुछ दिनों पण्डितजीकी हँसी उड़ाई गई, फिर जोरका विरोध किया गया, फिर सहन किया गया और फिर मान लिया गया।

पण्डितजीने क्या-क्या काम किये, इनको गिनाकर हम क्या करें, ये काम मुरेना महाविद्यालयका है। हम तो सिर्फ़ वो ही बातें लिखना

चाहते हैं, जिनका हमारे दिलपर असर है। पण्डितजीको जो संगिनी मिली थीं, वह उन्हीके योग्य थी, उनकी संगिनी उनके अणुव्रतोंकी परीक्षा-की कसौटी थीं, पर पण्डितजी उस कसौटीपर हमेशा सौटंच सोना ही साबित हुए। उनकी संगिनीके स्वभावके बारेमें हमने सुना ही सुना है, पर वह सुना ऐसा नहीं है कि जिसपर विश्वास न किया जाय। हमारा देखा हुआ कुछ भी नही है, कोई ये न समझे कि हम ऐसी बात कहकर पूर्वापर-विरोध कर रहे हैं। चूंकि अभी तो हम कह आये है कि हमने पण्डितजीको पाससे देखा है और जब पाससे देखा है तो क्या संगिनीको नहीं देखा था, हाँ, देखा था पर हमने कभी उनको ऐसे रूपमें नहीं देखा, जैसा सुन रक्खा था, और इसके लिए तो हम एक घटना लिखे ही देते है।

इटावामें 'तत्त्व-प्रकाशिनीसभा'का जलसा था। पण्डितजी अपनी संगिनी समेत वहाँ आये हुए थे। उनकी संगिनी उस वक़्त प्रेमीजीके लड़के को जो उस वक़्त वर्ष या डेढ़ वर्षका होगा, गोदमें खिला रही थीं। वह लड़का उनकी गोदमें बुरी तरह रो रहा था, हम उस वक़्त तक उनको पण्डितजीकी संगिनीकी हैसियतसे नहीं जानते थे। इसलिए हमने उनकी गोदसे उस लड़केको छीन लिया; और सचमुच छीन लिया, ले लिया नही। छीन लिया हम यों कह रहे है कि हमने उस बच्चेको लेते वक़्त कहा तो कुछ नही, पर लेनेके तरीक़ेसे ये बताया कि हम यह कह रहे हैं कि तुम्हें बच्चा खिलाना नही आता और होनहारकी बात कि वह बच्चा हमारी गोदमें आकर चुप हो गया। यह सब कुछ प्रेमीजी खड़े-खड़े देख रहे थे। वे थोड़ी देरमें चुपके-से हमारे पास आकर बोले कि "आप बड़े भाग्यशाली हैं।" मैंने "पूछा--क्यों?" बोले--"आपने पण्डितानीजीसे बच्चा छीन लिया और आपको एक शब्द भी सुननेको नही मिला। हम तो उस वक़्त न जाने क्या-क्या अंदाज़ा लगा रहे थे।"

उस दिनके बाद हम जब भी पण्डितजीसे मिले, हमने तो उनको इसी स्वभावमें पाया। यही वजह है कि हम उनके स्वभावके बारेमें जो कुछ कह रहे हैं वह सब सुनी-सुनाई बात है।

कुछ भी सही, हाँ तो उनकी संगिनी उनके अणुव्रतकी कसौटी थीं और उन्होंने जीवनभर उनका साथ ऐसा निभाया कि जो एक अणुव्रती ही निभा सकता था।

पण्डितजीने जीते जी दूसरी प्रतिमासे आगे बढ़नेकी कोशिश नहीं की, लेकिन एकसे ज्यादा ब्रह्मचारियोंको हमने उनके पाँव छूते देखा, वह सचमुच इस योग्य थे।

आज जो तत्त्व-चर्चा घर-घरमें फैली हुई है और ऐसी बन गई है, मानो वह माँके पेटसे ही साथ आती हो, ये सब पण्डितजीकी मेहनतका ही फल है। वे गहरी-से-गहरी चर्चाको इतनी आसान बना देते थे कि एक बार तो तत्त्वोंका बिल्कुल अजानकार भी ठीक-ठीक समझ जाता था। यह दूसरी बात है कि अपनी अजानकारीके कारण वह उसे ज्यादा देरके लिए याद न रख सके। इसलिए उन्होंने 'जैन-सिद्धान्त-प्रवेशिका' नामकी एक किताब लिख डाली थी, उसे आप जैन-सिद्धान्तका जेबीकोश यानी पाकेट डिक्सनरी कह सकते हैं।

पंडितजीकी जीवनीसे जो कुछ सीख ली जा सकती है, उसका निचोड़ हम यह समझें हैं—

१. सच्चे या अणुव्रती बनना ह तो निर्भीक बनो।
२. निर्भीक बनना है तो किसीकी नौकरी मत करो, अपना कोई रोज़गार करो।
३. रोज़गार करते हुए अगर धर्म या धर्मचर्चाके वक्ता बनना चाहते हो तो अणुव्रतका ठीक-ठीक पालन करो, तभी दुकान चल सकेगी।
४. अणुव्रतोंको अगर ठीक-ठीक पालन करना है तो अपनी हद बाँधो।
५. अपनी हद बाँधनी है तो किसी कर्त्तव्यसे बँधो।
६. कर्त्तव्यको ही अधिकार मानो।
७. अधिकारी बनो, अधिकारके लिए मत रोओ।

—ज्ञानोदय, जुलाई १९५१

परिचय

श्री नाथूराम प्रेमी

पण्डितजीका जन्म विक्रम संवत् १९२३ के चैत्रमें आगरेमें हुआ था। आपके पिताका नाम लक्ष्मणदासजी था। आपकी जाति 'बरैया' और गोत्र 'एछिया' था। आपके बाल्यकालके विषयमें हम विशेष कुछ नही जानते। इतना ही मालूम है कि आपके पिताकी मृत्यु छुटपनमें हो गई थी। अपनी माताकी कृपासे ही आप मिडिल तक हिन्दी और छठी-सातवीं तक अंग्रेज़ी पढ़ सके थे। धर्मकी ओर आपकी ज़रा भी रुचि न थी। अंग्रेज़ीके पढ़े-लिखे लड़के प्राय· जिस मार्गके पथिक होते हैं, आप भी उसी पथके पथिक थे। खेलना-कूदना, मजा-मौज, तम्बाकू-सिगरेट पीना, शेर और चौबोला गाना आदि आपके दैनिक कृत्य थे। १९ वर्ष की अवस्थामें आपने अजमेरमें रेलवेके दफ़्तरमें पन्द्रह रुपये महीनेकी नौकरी कर ली। उस समय आपको जैनधर्मसे इतना भी प्रेम न था कि कम-से-कम जिन-दर्शन तो प्रतिदिन कर लिया करे। अजमेरमें पण्डित मोहनलालजी नामके एक जैन विद्वान् थे। एक बार उनसे आपका जैन-मदिरमें परिचय हुआ। उनकी संगतिसे आपका चित्त जैनधर्मकी ओर आर्कषित हुआ और आप जैन-ग्रंथोका स्वाध्याय करने लगे। दो वर्षके बाद आपने रेलवेकी नौकरी छोड़ दी और रायबहादुर सेठ मूलचन्द्रजी नेमीचन्द्रजीके यहाँ इमारत बनवानेके कामपर २० रु० मासिककी नौकरी कर ली। आपकी ईमानदारी और होशियारीसे सेठजी प्रसन्न रहे। अजमेरमें आप ६-७ वर्ष तक रहे। इस बीच आपका अध्ययन बराबर होता रहा। संस्कृतका ज्ञान भी आपको वहीपर हुआ। वहाँ-की जैन-पाठशालामें आपने लघुकौमुदी और जैनेन्द्रव्याकरणका कुछ अंश और न्यायदीपिका ये तीनों ग्रंथ पढ़े थे। गोम्मटसारका अध्ययन भी

आपने उसी समय शुरू कर दिया था। अजमेरके सुप्रसिद्ध पण्डित मथुरादासजी और 'जैनप्रभाकर' के वास्तविक सम्पादक बाबू बैजनाथजीसे आपका बहुत मेल-जोल रहता था।

संवत् ४८ में सेठ मूलचन्द्रजी, जैनबिद्री मूडबिद्रीकी यात्राको निकले और आपको साथ लेते गये। लौटते समय आप बम्बई आये और यहाँ आपकी तबियत ऐसी लग गई कि फिर आपने यहींपर रहनेका निश्चय कर लिया। हिसाब-किताबके काममें आप बहुत तेज थे, इस कारण यहाँ आपको एस० जे० टेलरी नामकी यूरोपियन कम्पनीमें ४५ रु० मासिक की नौकरी मिल गई। आपके कामसे कम्पनीके मालिक बहुत खुश रहते थे। उन्होंने थोड़े ही समयमें आपका वेतन ६० रु० मासिक कर दिया उसी समय आपकी माताजीका स्वर्गवास हो गया और आप बिना छुट्टी लिये ही आगरे चल दिये। फल यह हुआ कि आपको नौकरीसे हाथ धोना पड़ा। इसके बाद आप फिर बम्बई आये और सेठ जुहारमल मूलचन्द्रजी की दूकानपर मुनीम हो गये। कुछ समय पीछे एस० जी० टेलारीने आपको फिर रख लिया। अबकी बार आपने कई वर्ष तक यह काम किया। सं० ५१ में दिल्लीवाले लाला श्यामलालजी जौहरीके साथ आप जवाहरातकी कमीशन एजेंटीका काम करने लगे। इस कामको आपने कोई छः महीने तक किया, पर इसमें अपने अचौर्य और सत्यव्रतका पालन न होते देखकर आप इससे अलग हो गये और 'गोपालदास लक्ष्मणदास' के नामसे गल्लेका काम करने लगे। यथेष्ट लाभ न होनेसे पाँच छः महीनेके बाद यह काम उठा दिया। संवत् ५२ में पंडित धन्नालालजी काशलीवालके साझेमें आपने रुई, अलसी, चाँदी आदिकी दलालीका काम करना शुरू किया और तीन-चार वर्ष तक जारी रक्खा। संवत् ५६ में इसी कामको आप स्वतंत्र होकर करने लगे और दो वर्ष तक करते रहे।

बम्बईमें सेठ नाथारंगजी गाँधीके फर्मके मालिक सेठ रामचन्द्र नाथाजीसे आपका अच्छा परिचय हो गया था। सेठजी बड़े ही सज्जन और धर्मात्मा हैं। सं० ५८ में आपके ही साझेमें पंडितजीने मोरेनामें

आढ़तकी दूकान खोल ली और बम्बईका रहना छोड़ दिया। यह काम आपने कोई चार वर्ष तक किया। गाँधी नाथारंगजीको जब मोरेनामें लाभ नहीं दिखाई दिया, तब उन्होंने सं० ६२ में शोलापुर बुला लिया और वहाँ आप लगभग दो वर्ष तक काम करते रहे। इसके बाद आप फिर मोरेना चले गये और वहाँ आपने सेठ हरिभाई देवकरण और सेठ रावजी नानचन्द्रकी सहायतासे 'गोपालदास माणिकचन्द्र' के नामसे स्वतंत्र आढ़तकी दूकान खोली। इस कामको करते हुए आपने 'माधव जीनिंग फैक्टरी लिमिटेड' की स्थापना की। इस काममें आपने बहुत परिश्रम किया। पर कई कारणोंसे आपको कोई दो वर्षके बाद इससे सबंध छोड़ना पड़ा। इसके बाद आपने फिर गाँधी नाथारंगजीके साथ काम किया। सं० ७०-७१ में रायबहादुर सेठ कल्याणमलजीके और उनके बाद अभी दो वर्षसे आप रायबहादुर सेठ कस्तूरचन्द्रजीके साझेमें काम करते थे।

जिस समय पण्डितजी अजमेरमे थे उस समय उनकी शादी हो चुकी थी। सं० ४५ मे आपको प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ, जो थोडे ही दिन जिया। सं० ४७ में कौशल्याबाई और ४६ में चि० माणिकचन्द्रका जन्म हुआ। इसके बाद आपके कोई सन्तान पैदा नही हुई। पिछली दोनों सन्तानें जीवित हैं। भाई माणिकचन्द्रका विवाह हो चुका है और उनके तीन-चार वर्ष-का एक पुत्र भी है।

पण्डितजीके सार्वजनिक जीवनका प्रारम्भ बम्बईसे होता है। यहाँ आपके और पण्डित धन्नालालजीके उद्योगसे मार्गशीर्ष सुदी १४ संवत् १९४९ को दिगम्बर जैन सभाकी स्थापना हुई। पण्डित धन्नालालजी आपके अनन्य मित्रोंमेंसे थे। लोग आप दोनोको "दो शरीर एक प्राण" कहा करते थे। पण्डित धन्नालालजी आपके प्रत्येक काममें प्रधान सहायक थे। इसी वर्षके माघमें श्रीमन्त सेठ मोहनलालजीकी ओरसे खुरई (सागर) की सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठा हुई। इतना बड़ा जनसमूह शायद ही किसी मेलेमें इकट्ठा हुआ होगा। दिगम्बर जैन-समाजके प्रायः सभी धनी-मानी और

पण्डित जन उपस्थित हुए थे। इस अवसरको बहुत ही उपयुक्त समझकर बम्बई-सभाने आपको और पण्डित धन्नालालजीको सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाजकी एक महासभा स्थापित करनेके लिए खुरई भेजा। इसके लिए वहाँ यथेष्ट प्रयत्न किया गया। परन्तु यह जानकर कि जम्बूस्वामी मथुरा-के मेलेमें महासभाकी स्थापनाका निश्चय हो चुका है, इन्हें लौट आना पड़ा। इसके बाद सं० ५० के जम्बूस्वामीके मेलेमें भी बम्बई-सभाने इन्हें भेजा और उनके उद्योगसे वहाँपर महासभाका कार्य शुरू हुआ। महासभाके महाविद्यालयके प्रारम्भका काम आपके ही द्वारा होता रहा है। सं० ५३ के लगभग भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परीक्षालय स्थापित हुआ और उसका काम आपने बड़ी ही कुशलतासे सम्पादन किया। इसके बाद आपने दिगम्बर जैन सभा बम्बईकी ओरसे जनवरी सन् १६०० में (सं० ५६ के लगभग) "जैनमित्र" निकालना शुरू किया। पण्डितजीकी कीर्तिका मुख्य स्तम्भ 'जैनमित्र' है। यह पहले ६ वर्ष तक मासिक रूपमें और फिर संवत् ६२की कार्तिक सुदीसे २-३ वर्ष तक पाक्षिक रूपमे पण्डित-जीके सम्पादकत्वमें निकलता रहा। सं० १६६५ के १८ वें अंक तक जैन-मित्रकी सम्पादकीमें पण्डितजीका नाम रहा। इसकी दशा उस समयके तमाम पत्रोंसे अच्छी थी; इस कारण इसका प्रायः प्रत्येक आन्दोलन सफल होता था। सं० ५८ के आसोजमें बम्बई प्रान्तिक सभाकी स्थापना हुई और इसका पहला अधिवेशन माघ सुदी ८ को आकलूजकी प्रतिष्ठापर हुआ। इसके मंत्रीका काम पण्डितजी करते थे और आगे बराबर आठ दस वर्ष तक करते रहे। प्रान्तिक सभाके द्वारा संस्कृत विद्यालय बम्बई, परीक्षालय, तीर्थक्षेत्र, उपदेशभंडार आदिके जो-जो काम होते रहे हैं, वे पाठकोंसे छिपे नहीं हैं।

बम्बईकी दिगम्बर जैन पाठशाला सं० ५० में स्थापित हुई थी। यह पाठशाला अब भी चल रही है। पंडित जीवराम लल्लूराम शास्त्री-के पास आपने परीक्षामुख, चन्द्रप्रभकाव्य और कातंत्र व्याकरण इसी पाठ-शालामें पढ़ा था।

कुण्डलपुरके महासभाके जलसेमें यह सम्मति हुई कि महाविद्यालय सहारनपुरसे उठाकर मोरेनामें पंडितजीके पास भेज दिया जाय, परन्तु पण्डितजीका वैमनस्य मुंशी चम्पतरायजीके साथ इतना बढ़ा हुआ था कि उन्होंने उनके अण्डरमें रहकर इस कामको स्वीकार न किया। इसी समय उन्हें एक स्वतंत्र जैन पाठशाला खोलकर काम करनेकी इच्छा हुई। आपके पास पं० वंशीधरजी कुण्डलपुरके मेलेके पहिले ही पढ़ते थे। अब दो-तीन विद्यार्थी और भी जैन सिद्धान्तका अध्ययन करनेके लिए जाकर रहने लगे। इन्हें छात्रवृत्तियाँ बाहरसे मिलती थी। पण्डितजी केवल इन्हें पढ़ा देते थे। इसके बाद कुछ विद्यार्थी और भी आ गये और एक व्याकरणका अध्यापक रखनेकी आवश्यकता हुई, जिसके लिए सबसे पहले सेठ सूरचन्द्र शिवरामजीने ३० रु० मासिक सहायता देना स्वीकार किया। धीरे-धीरे छात्रोंकी संख्या इतनी हो गई कि पंडितजीको उनके लिए नियमित पाठशाला और छात्रालयकी स्थापना करनी पड़ी। यही पाठशाला आज 'जैनसिद्धान्त विद्यालय' के नामसे प्रसिद्ध है और इसके द्वारा जैनधर्मके बड़े-बड़े ग्रंथोंके पढनेवाले अनेक पंडित तैयार हो गये है। पाठशालाके साथमें एक छात्राश्रम भी है। छात्राश्रम और पाठशालाके लिए एक अच्छी इमारत लगभग दस हजार रुपयोंकी लागतकी बन गई है। पाठशाला और छात्राश्रमका वार्षिक खर्च इस समय कोई दस हजार रुपया है, यह सब रुपया पण्डितजी चन्देसे वसूल करते थे।

ग्वालियर स्टेटकी ओरसे पण्डितजीको मोरेनामें आनरेरी मजिस्ट्रेट का पद प्राप्त था। वहाँके चेम्बर आफ़ कामर्स और पचायती बोर्डके भी आप मेम्बर थे। बम्बई प्रान्तिक सभाने आपको 'स्याद्वादवारिधि', इटावेकी जैनतत्त्वप्रकाशिनी सभाने आपको 'वादिगजकेसरी' और कलकत्ते-के गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेजके पण्डितोंने 'न्यायवाचस्पति' पदवी प्रदान की थी। सन् १९१२ में दक्षिण महाराष्ट्र-जैन-सभाने आपको अपने वार्षिक अधिवेशनका सभापति बनाया था और आपका बहुत बड़ा सम्मान किया था।

पण्डितजीकी पठित विद्या बहुत ही थोडी थी। जिस सस्कृतके वे पण्डित कहला गये, उसका उन्होने कोई एक भी व्याकरण अच्छी तरह नही पढा था। गुरुमुखसे तो उन्होने बहुत ही थोडा नाममात्रको पढा था। तब वे इतने बडे विद्वान् कैसे हो गय ? उसका उत्तर यह है कि उन्होने स्वावलम्बन-शीलता और निरन्तरके अध्यवसायसे पाण्डित्य प्राप्त किया था। पण्डितजी जीवनभर विद्यार्थी रहे। उन्होने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया वह अपने ही अध्ययनके बलपर, और इस कारण उसका मूल्य रटे हुए या घोखे हुए ज्ञानसे बहुत अधिक था। उन्हे लगातार दस वर्ष तक बीसो विद्यार्थियोको पढाना पडा और उनकी शकाओका समाधान करना पडा। विद्यार्थी प्रौढ थे कई न्यायाचार्य और तर्कतीर्थोने भी आपके पास पढा है। इस कारण प्रत्यक शकापर आपको घटो परिश्रम करना पडता था। जैनधर्मके प्राय सभी बडे-बडे उपलब्ध ग्रथोको उन्हे आवश्यकताओंके कारण पढना पडा। इसीका यह फल हुआ कि उनका पाण्डित्य असामान्य हो गया। वे न्याय और धर्मशास्त्रके बेजोड विद्वान् हो गये और इस बातको न केवल जैनोने, किन्तु कलकत्तेके बडे-बड महामहोपाध्यायो और तर्कवाचस्पतियोने भी माना। विक्रमकी इस बीसवी शताब्दीके आप सबसे बडे दिगम्बर जैन पण्डित थे आपकी प्रतिभा और स्मरणशक्ति विलक्षण थी।

पण्डितजीकी व्याख्यान देनेकी शक्ति भी बहुत अच्छी थी। यह भी आपको अभ्यासके बलपर प्राप्त हुई थी। आपके व्याख्यानोमे यद्यपि मनोरजकता नही रहती थी और जैन सिद्धान्तके सिवाय अन्य विषयोपर आप बहुत ही कम बोलते थे, फिर भी आप लगातार दो-दो, तीन-तीन घटे तक व्याख्यान दे सकते थे। आपके व्याख्यान विद्वानोके ही कामके हुआ करते थे। वाद या शास्त्रार्थ करनेकी शक्ति आपमे बडी विलक्षण थी। जब जैन-तत्त्व-प्रकाशिनी सभा इटावेके दौरे शुरू हुए और उसने पडितजीको अपना अगुआ बनाया, तब पण्डितजीकी इस शक्तिका खूब ही विकास हुआ। आर्यसमाजके कई बडे-बडे शास्त्रार्थोमे आपकी वास्त-

विक विजय हुई और उस विजयको प्रतिपक्षियोने स्वीकार किया । बडे-से-बडा विद्वान् आपके आगे बहुत समय तक न टिक सकता था , आपको अपनी इस शक्तिका अभिमान था । कभी-कभी आप कहा करते थे कि मै अमुक-अमुक महामहोपाध्यायोको भी बहुत जल्दी पराजित कर सकता हूँ, परन्तु क्या करूँ उनके सामने घटो तक धाराप्रवाह सस्कृत बोलने की शक्ति मुझमे नही है । पण्डितजी सस्कृतमे बातचीत कर सकते थे और अपने छात्रोके साथ तो वे घटो बोला करते थे, परन्तु फिर भी व्याकरण इतना पक्का नही था कि वे इसकी सहायतासे शुद्ध सस्कृतके प्रयोग औरोके सामने निर्भय होकर करते रहे ।

पण्डितोको लिखनेका अभ्यास नही रहता है, पर पडितजी इस विषयमे अपवाद थे । उनमे अच्छी लेखनशक्ति थी । यद्यपि अन्यान्य कार्योंमे फँसे रहनेके कारण उनकी इस शक्तिका विकास नही हुआ, और इस ओर उन्होने प्रयत्न भी बहुत कम किया, फिर भी हम उन्हे जैन-समाज के अच्छे लेखक कह सकते है । उनके बनाये हुए तीन ग्रथ है--जैनसिद्धान्त-दर्पण, सुशीला उपन्यास और जैनसिद्धान्त-प्रवेशिका । जैनसिद्धान्त-दर्पणका केवल एक ही भाग है । यदि इसके आगेके भी भाग लिखे गये होते, तो जैन-साहित्यमे यह एक बडे कामकी चीज होती । यह पहला भाग भी बहुत अच्छा है । प्रवेशिका जैनधर्मके विद्यार्थियोके लिए एक छोटेसे पारिभाषिक कोशका काम देती है । इसका बहुत प्रचार है । सुशीला उपन्यास उस समय लिखा गया था, जब हिन्दीमे अच्छे उपन्यासो का एक तरहसे अभाव ही था और आश्चर्यजनक घटनाओके बिना उपन्यास ही न समझा जाता था । उस समयकी दृष्टिसे इसकी रचना अच्छे उपन्यासोमे की जा सकती है । इसके भीतर जैनधर्मके कुछ गभीर विषय डाल दिये गये है, जो एक उपन्यासमे नही चाहिए थे, फिर भी वे बडे महत्त्व के है । इन तीन पुस्तकोके सिवाय पडितजीने सार्वधर्म जैन-जागरफी आदि कई छोटे-छोटे ट्रैक्ट भी लिखे थे ।

पण्डितजीका चरित्र बडा ही उज्ज्वल था । इस विषयमे वे पडित-

मंडलीमें अद्वितीय थे। उन्होंने अपने चरित्रसे दिखला दिया था कि संसार में व्यापार भी सत्य और अचौर्यव्रतको दृढ़ रखकर किया जा सकता है। यद्यपि इन दो व्रतोंके कारण उन्हें बार-बार असफलताएँ हुईं, फिर भी उन्होंने इन व्रतोंको मरणपर्यन्त अखंड रखा। कड़ी परीक्षाओंमें भी आप इन व्रतोसे नही डिगे। एक बार मंडीमें आग लगी और उसमें आपका तथा दूसरे व्यापारियोंका माल जल गया। मालका बीमा बिका हुआ था। दूसरे लोगोने बीमा-कम्पनियोसे इस समय खूब रुपये वसूल किये, जितना माल था उससे भी अधिकका बतला दिया। आपसे भी कहा गया। आप भी उस समय अच्छी कमाई कर सकते थे, पर आपने एक कौड़ी भी अधिक न ली। रेलवे और पोस्ट आफिसका यदि एक पैसा भी आपके यहाँ भूलसे अधिक आ जाता था तो उसे वापस किये बिना आपको चैन नही पड़ता था। रिश्वत देनेका आपको त्याग था। इसके कारण आपको कभी-कभी बड़ा कष्ट उठाना पड़ता था, पर आप उसे चुपचाप सह लेते थे।

पण्डितजीको कोई भी व्यसन नही था। खाने-पीनेकी शुद्धतापर आपको अत्यधिक ख्याल था। खाने-पीनेकी अनेक वस्तुएँ आपने छोड़ रखी थी। इस विषयमे आपका व्यवहार बिलकुल पुराने ढंगका था। आपका रहन-सहन बहुत ही सादा था। कपड़े आप इतने मामूली पहनते थे कि अपरिचित लोग आपको कठिनाईसे पहचान सकते थे।

धर्मकार्योंके द्वारा आपने अपने जीवनमें कभी एक पैसा भी नहीं लिया। यहाँ तक कि इसके कारण आप अपने प्रेमियोको दुखी तक कर दिया करते थे, पर भेंट या बिदाई तो क्या, एक दुपट्टा या कपड़ेका टुकड़ा भी ग्रहण नही करते थे। हाँ, जो कोई बुलाता था, उससे आने-जानेका किराया ले लिया करते थे।

पण्डितजीमें ग़ज़बका उत्साह और ग़ज़बकी काम करनेकी लगन थी। पिछले दिनोमें उनका शरीर बहुत ही शिथिल हो गया था, पर उनके उत्साहमें ज़रा भी अन्तर नहीं पड़ा था। वे धुनके पक्के थे। जो

काम उन्ह जच जाता था उसे व करके छोडते थ। उन्ह अपनी शक्तियो पर विश्वास था। इस कारण व कठिन-से-कठिन कामम हाथ डाल देते थ। मोरनामें पाठशालाकी इमारत उनके इसी गुणके कारण बनी थी। लोग नही चाहते थ कि मोरना जसे अयोग्य स्थानम इमारत जैसा स्थायी काम हो पर उन्ह विश्वास था कि पाठशालाका ध्रुव फड एक लाख रुपयो का हो जायगा और तब मोरनाम भी पाठशालाका काम मजेसे चलता रहेगा। कहते ह कि पण्डितजी अन्तिम समय तक यह कहते रहे ह कि यदि एक बार अच्छा हो जाऊ तो एक लाख रुपया पूरा कर डालू और फिर सुखसे परलोककी यात्रा करू।

पण्डितजी जिस बातको सत्य मानते थ उसके कहनम उन्ह जरा भी सकोच या भय नही होता था। खतौलीके दस्सा और बीसा अग्रवालो के बीचम जो पूजाके अधिकारके सम्बन्धम मामला चला था उसम आपन निर्भीक होकर साक्षी दी थी कि दस्सोको पूजा करनका अधिकार है। जन जनताका विश्वास इससे बिलकुल उलटा है परन्तु आपन इसकी जरा भी परवाह नही की। इस विषयको लकर कुछ धर्मात्माओ और सेठो न बडा ऊधम मचाया पण्डितजीको हर तरहसे बदनाम करनकी कोशिश की परन्तु अन्तम जनतान पण्डितजीके सत्यको समझ लिया और वह शान्त हो गई। इसके बाद मासभोजी भी सम्यग्दष्टि हो सकता है या नही इस विषयम भी पडितजीन एक अप्रिय सत्य कहा था और उसपर भी बडी उछल-कूद मची थी। इस विषयम व जैन समाजके वत्तमान पण्डितोसे बहुत ऊचे थ। हमन प्रतिष्ठाए करानवाल एक प्रतिष्ठित पण्डितजीको छापके विरोधी धनियोके सामन छापकी घोर निन्दा करते और छापवालोके सामन उसीकी भूरि भूरि प्रशसा करते देखा है। एसे लोग वही बात कहते ह जो लोगोको अच्छी लगती है। पर पण्डितजी बड निर्भीक थ। चापलूसी और खुशामदसे उन्ह बडी चिढ थी। व बड-बड लखपतियो और करोडपतियोको उनके मुहपर खरी खरी सुना दिया करते थ। अनक धनियोके शत्रु व अपन इसी स्वभावके कारण बन गय थ।

जैनग्रंथोंपर पण्डितजीकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी, बल्कि सत्यके अनुरोधसे कहना पड़ेगा कि जरूरतसे ज्यादा थी। एक बार आपने जोशमें आकर यहाँ तक कह डाला था कि यदि कोई पुरुष जैनभूगोलको असत्य सिद्ध कर देगा, तो मैं उसी दिन जैनधर्मका परित्याग कर दूंगा। इससे पाठक जान सकेंगे कि उनकी श्रद्धा कितनी ऊँची चढ़ी हुई थी। इस श्रद्धाके अतिरेकके कारण ही जैन पाठशालाओंके कोर्सके द्वारपर 'दिगम्बरजैन-धर्मसे अविरुद्ध' की मजबूत अर्गला लगाई गई थी। पंडितजी नहीं चाहते थे कि किसी भी जैन पाठशालामे कोई ऐसी पुस्तक पढ़ाई जाय जो जैन-धर्मके विरुद्ध हो। उन्होंने अपने विद्यालयमें भूगोल, इतिहास आदि विषयोको कभी जारी नही होने दिया। अजैनोंके संस्कृत ग्रथ भी, यहाँ तक कि व्याकरण, काव्य, नाटक आदि भी पढ़ाना पसन्द न था। काशीकी पाठशालाके विद्यार्थी गवर्नमेंटकी संस्कृत परीक्षाके ग्रंथ पढ़ा करते थे। इसपर पण्डितजीने जैनमित्रमें 'काशीका कटुक फल' शीर्षक बड़ा ही कड़ा लेख लिखा था। सिद्धान्तविद्यालयके किसी भी विद्यार्थीने विद्यालयमें रहते हुए कोई भी सरकारी परीक्षा नही दी।

आज-कलके पण्डितोंको हम जीते-जागते या सजीव शास्त्र समझते हैं। उन्हे शास्त्र याद भर रहता है, विचार करना वे नहीं जानते। जड़-शास्त्रोंसे जो उपकार होता है, वही उपकार इनसे होता है; इससे अधिक नही। पर पण्डितजी इस विषयमें अपवाद थे। वे अच्छे विचारक थे। वे अपनी विचारशक्तिके बलपर पदार्थका स्वरूप इस ढंगसे बतलाते थे कि उसमें एक नूतनता मालूम होती थी। उन्होंने जैन-सिद्धान्तकी ऐसी अनेक गाँठें सुलझाई थी, जो इस समयके किसी भी विद्वान्से नही खोली जा सकती थी। वे गोम्मटसारके प्रसिद्ध टीकाकार पं० टोडरमलजी-की भी कई सूक्ष्म भूलें बतलानेमें समर्थ हुए थे। जैनभूगोलके विषयमें उन्होंने जितना विचार किया था और इस विषयको सच्चा समझानेके लिए जो-जो कल्पनाएँ की थीं, वे बड़ी ही कुतूहलवर्धक थीं। एक बार उन्होंने उत्तर-दक्षिण ध्रुवोंकी छः महीनेके रात-दिनको भी जैनभूगोल

के अनुसार सत्य सिद्ध करनेका यत्न किया था। वर्तमानके यूरोप आदि देशोंको उन्होंने भरतक्षेत्रमें ही सिद्ध किया था और शास्त्रोक्त लम्बाई-चौड़ाईसे वर्तमानका मेल न खानेका कारण पृथिवीका वृद्धि-ह्रास या घटना-बढ़ना 'भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ' आदि सूत्रके आधारसे बतलाया था। यदि पण्डितजीके विचारोका क्षेत्र केवल अपने ग्रंथोंकी ही परिधिके भीतर क़ैद न होता, सारे ही जैनग्रंथोंको प्राचीनों और अर्वाचीनोंको वे केवली भगवान् की ही दिव्य-ध्वनिके सदृश न समझते होते, तो वे इस समय-के एक अपूर्व विचारक होते, उनकी प्रतिभा जैनधर्मपर एक अपूर्व ही प्रकाश डालती और उनके द्वारा जैनसमाजका आशातीत कल्याण होता।

पण्डितजीकी प्रतिष्ठा और सफलताका सबसे बड़ा कारण उनकी निःस्वार्थसेवाका या परोपकारशीलताका भाव था। एक इसी गुणसे वे इस समयके सबसे बड़े जैनपण्डित कहला गये। जैनसमाजके लिए उन्होंने अपने जीवनमें जो कुछ किया उसका बदला कभी नहीं चाहा। जैनधर्मकी उन्नति हो, जैनसिद्धान्तके जाननेवालोंकी संख्या बढ़े, केवल इसी भावनासे उन्होंने निरन्तर परिश्रम किया। अपने विद्यालयका प्रबंध-सम्बन्धी तमाम काम करनेके सिवाय अध्यापनकार्य भी उन्हें करना पड़ता था। हमने देखा है कि शायद ही कोई दिन ऐसा जाता होगा जिस दिन पंडितजीको अपने कम-से-कम चार घंटे विद्यालयके लिए न देने पड़ते हों। जिन दिनों पण्डितजीका व्यापार-सम्बन्धी काम बढ़ जाता था और उन्हें समय नहीं मिलता था, उस समय बड़ी भारी थकावट हो जाने पर भी वे कभी-कभी १०-११ बजे रातको विद्यालयमें आते थे। गत कई वर्षोंसे पण्डितजीका शरीर बहुत शिथिल हो गया था। फिर भी धर्मके कामके लिए वे बड़े-बड़े लम्बे सफ़र करनेसे भी नहीं चूकते थे। अभी भिंडके मेलेके लिए जब आप गये, तब आपका स्वास्थ्य बहुत ही चिंतनीय था और वहाँ जानेसे ही, इसमें सन्देह नहीं कि आपकी घटिका और जल्दी आ गई।

पण्डितजीकी निःस्वार्थ वृत्ति और दयानतदारीपर लोगोंको दृढ़

विश्वास था। यही कराण है जो बिना किसी स्थिर आमदनीके वे विद्यालयके लिए लगभग दस हज़ार रुपया सालकी सहायता प्राप्त कर लेते थे।

पण्डितजीको जहाँ तक हम जानते हैं कि कुटुम्ब सम्बन्धी सुख कभी प्राप्त नहीं हुआ। इस विषयमें हम उन्हें ग्रीसके प्रसिद्ध विद्वान् सुकरात के समकक्ष समझते हैं। पण्डितानीजीका स्वभाव बहुत ही कर्कश, क्रूर, कठोर, ज़िद्दी और अर्धविक्षिप्त है। जहाँ पण्डितजीको लोग देवता समझते थे, वहाँ पण्डितानीजी उन्हें कौड़ी कामका आदमी नहीं समझती थी। वे उन्हें बहुत तंग करती थी और इस बातका ज़रा भी ख़याल न रखती थीं कि मेरे बर्तावसे पण्डितजीकी कितनी अप्रतिष्ठा होती होगी। कभी-कभी पण्डितानीजीका धावा विद्यालयपर भी होता था और उस समय छात्रों तककी शामत आ जाती थी। अभी पण्डितजी जब आगरेमें बहुत ही सख्त बीमार थे, तब पण्डितानीजीकी विक्षिप्तता इतनी बढ़ गई थी कि छात्रोंको उनके आक्रमणसे पण्डितजीका जीव बचाना भी कठिन हो गया था। वे बड़ी मुश्किलसे पिंड छुड़ाकर उन्हें अपने घरसे बेलनगज ले गये थे। सारा समाज आज जिनके लिए रो रहा है, उनके लिए पण्डितानीजीकी आँखसे शायद एक आँसू भी न पड़ा होगा। इस अप्रिय कथाके उल्लेख करनेका कारण यह है कि पण्डितजी इस निरन्तरकी यातनाको, कलहको, उपद्रवको बड़ी ही धीरतासे बिना उद्वेगके भोगते थे और अपने कर्त्तव्यमें ज़रा भी शिथिलता नहीं आने देते थे और यह पण्डितजीका अनन्यसाधारण गुण था। सुकरातकी स्त्री खिसियानी हुई बैठी थी, सुकरात कई दिनके बाद घर आये। खाने-पीनेकी वस्तुओंका इन्तज़ाम किये बिना ही वे घरसे चले गये थे और कहीं लोकोपकारी व्याख्यानादि देनेमें लगकर घरकी चिंता भूल गये थे। पहले तो श्रीमतीने बहुत-सा गर्जन-तर्जन किया, पर जब उसका कोई भी फल नहीं हुआ तब उसका वेग निःसीम हो गया और उसने बर्फ़-जैसे पानीका एक घड़ा उस शीतकालमें सुकरातके ऊपर औंधा दिया। सुकरातने हँसकर कह दिया कि गर्जनके बाद वर्षण तो स्वाभाविक ही है। पण्डितजीके यहाँ इस प्रकारकी घटनाएँ—यद्यपि

वे लिखनेमें इतनी मनोरंजक नहीं हैं––अक्सर हुआ करती थी और पण्डितजी उन्हें सुकरातके ही समान चुपचाप सहन किया करते थे।

विद्यालयसे पण्डितजीको बहुत मोह हो गया था। उसे तो वे अपना सर्वस्व समझते थे। पंडितजी बड़े ही स्वाभिमानी थे। किसीसे एक पैसेकी भी याचना करना उनके स्वभावके विरुद्ध था। शुरू-शुरूमें जब मैं सिद्धान्तविद्यालयका मंत्री था, पण्डितजी विद्यालयके लिए सभाओंमें सहायता माँगनेके सख्त विरोधी थे, पर पीछे पडितजीका यह सख्त अभिमान विद्यालयके वात्सल्यकी धारामें गल गया और उसके लिए 'भिक्षां देहि' कहनेमें भी उन्हें संकोच नहीं होने लगा।

पण्डितजी बहुत सीधे और भोले थे। उनके भोलेपनसे धूर्त लोग अक्सर लाभ उठाया करते थे। एकाग्रताका उन्हें बहुत ही ज्यादा अभ्यास था। चाहे जैसे कोलाहल और अशान्तिके स्थानमें वे घंटों तक विचारोंमें लीन रह सकते थे। स्मरणशक्ति भी उनकी बडी विलक्षण थी। बरसोंकी बातें वे अक्षरशः याद रख सकते थे। विदेशी रीति-रिवाजोसे उन्हें अरुचि थी। जबतक कोई बहुत ज़रूरी काम न पड़ता था, तब तक वे अंग्रेज़ीका उपयोग नही करते थे। हिन्दीसे उन्हे बहुत ही ज्यादा प्रेम था। अन्य पण्डितोंके समान वे इसे तुच्छ दृष्टिसे नही देखते थे। उनके विद्यालयकी लायब्रेरीमें हिन्दीकी अच्छी-अच्छी पुस्तकोका सग्रह है। पण्डितजी बड़े देशभक्त थे। 'स्वदेशी' आन्दोलनके समय आपने 'जैन मित्र' के द्वारा जैनसमाजमें अच्छी जागृति उत्पन्न की थी।

मनुष्यके स्वभाव और चरित्रका अध्ययन करना बहुत कठिन है और जब तक यह न किया जाय, तब तक किसी पुरुषका चरित्र नही लिखा जा सकता। पण्डितजीके सहवासमें थोड़े समय (छः-सात महीने) रहकर हमने उनके विषयमें जो कुछ जाना था उसीको यहाँ सिलसिलेसे लिख दिया है।

—जैन-हितैषी, अप्रैल १९१७

आजन्म नहीं भूल सकता

क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी

मैं श्रीमान् बरैयाजीसे न्यायदीपिका पढ़ा करता था[१]। . . .चौरासी मथुरामें दि० जैन महाविद्यालयकी स्थापना श्रीमान् राजा लक्ष्मण-दासजीके करकमलों द्वारा हो चुकी थी। उसके मत्री श्रीमान् बरैयाजी थे। आपका ध्येय इतना उच्चतम था कि चूँकि जैनियोंमें प्राचीन विद्या व धार्मिक ज्ञानकी महती त्रुटि हो गई है, अतः उसे पुनरुज्जीवित करना चाहिए। आपका निरन्तर यही ध्येय रहा कि जैनधर्ममें सर्वविषयके शास्त्र हैं, अतः पठनक्रममें जैनधर्मके ही शास्त्र रक्खे जावें। आपका यहाँ तक सदाग्रह था कि व्याकरण भी पठनक्रममें जैनाचार्यकृत ही होना चाहिए। . . . . . . आपकी तर्कशैली इतनी उत्तम थी कि अन्तरंग कमेटीमें आपका ही पक्ष प्रधान रहता था। . . .आप धर्मशास्त्रके अपूर्व विद्वान् थे। केवल धर्म-शास्त्रके ही नही, द्रव्यानुयोगके भी अपूर्व विद्वान् थे। पंचाध्यायीके पठन-पाठनका प्रचार आप ही के प्रयत्नका फल है। इस ग्रन्थके मूल अन्वे-षक श्रीमान् पण्डित बलदेवदासजी हैं। उन्होंने अजमेरके शास्त्रभण्डार में इसे देखा और श्री बरैयाजीको अध्ययन कराया। अनन्तर उसका प्रचार बरैयाजीने अपने शिष्योंमें किया।

.१.आप परीक्षाप्रधानी भी प्रथम श्रेणीके थे। एक बारका जिक्र है—मैंने मथुरासे एक पत्र श्रीमान् पण्डितजीको इस आशयका लिखा कि "बाईजीका स्वास्थ्य अत्यन्त खराब है, अतः उन्होंने मुझे १५ दिनके लिए सिमरा बुलाया है।" आपने उत्तर दिया—"बाईजीका पत्र हमारे पास भेज दो।" मैंने बाईजीके हस्ताक्षर-जैसा पत्र लिखकर अपने पतेसे डाकखानेमें डाल दिया। दूसरे दिन वह पत्र मुझे मिल गया। मैंने वह

१—मेरी जीवनगाथा पृ० ६६।

पत्र लिफ़ाफ़ेमें बन्द करके उनके पास भेज दिया। जवाब मिला—"तुम शीघ्र ही चले जाओ, परन्तु जब देशसे वापिस आओ तो हमसे आगरा मिलते हुए चौरासी जाना।"

मैं १५ रोज़ देश रहकर आगरा पहुँचा। पण्डितजीने मुसकराते हुए बाईजीका स्वास्थ्य पूछा। मेरे बतलानेपर उन्होंने निम्न श्लोक याद करनेको कहा—

उपाध्याये नटे धूर्ते कुट्टिन्यां च तथैव च।
माया तत्र न कर्तव्या माया तैरेव निर्मिता॥

श्लोक सुनते ही मैंने नम्र प्रार्थना करते हुए कहा—"महाराज, मैंने बड़ी ग़लती की है जो आपको मिथ्या पत्र देकर असभ्यताका व्यवहार किया।" गुरुजीने कहा—"जाओ, हम तुमसे खुश हैं, यदि इसी प्रकारकी प्रकृति (अपराध स्वीकृत कर लेनेके स्वभाव) को अपनाओगे तो आजन्म आनन्दसे रहोगे। हम तुम्हारे व्यवहारसे सन्तुष्ट हैं और तुम्हारा अपराध क्षमा करते हैं। तुम्हें जो कष्ट हो हमसे कहो, हम निवारण करेंगे। जितने छात्र हैं, हम उन्हे पुत्रसे भी अधिक समझते हैं। यदि जैनधर्मका विकास होगा तो इन्हीं छात्रोंके द्वारा होगा। इन्हीके द्वारा धर्मशास्त्र तथा सदाचारकी परिपाटी चलेगी। मैं तुम्हे दो रुपया मासिक अपनी ओरसे दुग्ध-पानके लिए देता हूँ।......

आप केवल विद्वान् ही नही, सदाचारी भी अद्वितीय थे। आपका आगरेमें मकान था। म्यूनिसिपल जमादारने शौच-गृहके बनानेमें बहुत बाधा दी। यदि आप दस रु० की घूस दे देते तो मुकदमा न चलता, परन्तु पण्डितजीको घूस देनेका त्याग था। मुक़दमा चला, बहुत परेशानी उठानी पड़ी। सैकड़ों रुपयोंका व्यय हुआ। अन्तमें आप विजयी हुए।

आपमें सहनशीलता भी पूर्ण थी। आपकी गृहिणीका स्वभाव कुछ उग्र था, परन्तु आपने उसके ऊपर कभी भी रोष नहीं किया।...... आपने मेरा जो उपकार किया है उसे मैं आजन्म नही भूल सकता[१]।"

१—मेरी जीवनगाथा पृ० ७१—७५।

पण्डित
उमरावसिंह
न्यायतीर्थ

उनका वरदान

गोयलीय

"यह कौन लड़का है ?"

"जी, मैं हूँ।"

यह पत्र (जैनहितैषी मासिक पत्र) उठाकर कहाँ ले जा रहा है ?"

"जी, यह अकलक शारदा सदन (विद्यार्थियोंकी लायब्रेरी) में आता है और मैं उसका मंत्री हूँ, इसलिए इसे लिए जा रहा हूँ।"

"चुप रहो, असत्य बोलते हुए भी लज्जा नही आती। अभी-अभी पढनेके लिए मैं इसे बक्समेंसे निकालकर रखने भी न पाया कि हजरत उचकाकर चलते बने !"

"मैंने समझा कि आजकी डाकसे यह पत्र पुस्तकालयके नाम आया है और आपने भूलसे खोल लिया है। इसी खयालसे लेकर चल दिया था। क्योंकि पुस्तकालयकी डाक सब यही आती है और वह सब डाक मैं स्वयं यहाँ आकर ले जाता हूँ।"

"जी, यह तो मैंने सुना था कि इस विद्यालयके लड़के चोर और शैतान हैं, मगर झूठे और मुँहज़ोर भी हैं यह मालूम नही था।"

"आपका है तो यह लीजिये, मगर......मैं......!"

आगे बात मुँहसे न निकली, गला रुक गया और मैं खिसयाना-सा चुपचाप अपने रूममें चला आया।

जी हाँ, रूममें ? क्योंकि उन दिनों हम लोग कमरेको रूम, पेशाब को लघुशंका, चूनको आटा और नौनको लवण कहा करते थे। यह सन् १९१८ की उन दिनोंकी बात है, जब मैं चौरासी (मथुरा) में महासभाके महाविद्यालयमें पढ़ता कम और खाता-खेलता अधिक था। उन दिनों महासभा और महाविद्यालयके महामंत्री स्वर्गीय सेठ जम्बूप्रसादजी सहारनपुरवाले थे।

हाँ, तो यह झड़प पं० उमरावसिंहजी न्यायतीर्थसे हुई जो स्याद्वाद विद्यालय काशीसे त्यागपत्र देकर यहाँ प्रधानाध्यापक होकर उसी रोज़ आये थे और विद्यालयके दफ़्तरमें ही ठहरे हुए थे। विद्यार्थियों और पुस्तकालय आदिकी डाक सभी दफ़्तरमें रखी रहती थी और यहींसे सब अपनी-अपनी डाक ले जाते थे। मैं हस्बमामूल रोज़ानाकी तरह गया और पण्डितजी वाला अखबार पुस्तकालयका समझकर उठाकर चल दिया। इसी तनिक-सी बातपर पण्डितजी बिगड़ गये।

रूममें आकर मुँह लपेटकर चारपाईपर पड़ गया। सोचा, शकुन तो अच्छा नहीं हुआ। गुरुदेवसे परिचय भी हुआ तो किस बुरी सायत में। मेरे सम्बन्धमें न जाने कैसी धारणा उनके मनमें बैठ जायेगी? और इन लक्खनों गुरु-शिष्यकी क्या ख़ाक पटरी बैठेगी? यह तो अच्छे खासे शक्की और बिगड़ैल मालूम होते हैं। तब जो इतनी प्रशंसा सुनी थी, वह क्या ढोलमें पोल ही रही। दो-तीन आनेके अखबारपर जब यह हाल है तो आगे तो भगवान् ही ख़ैर करें। तब क्या इन्हें भी औरोंकी तरह बोरिया-बिस्तर बाँधकर जाना पड़ेगा! आसार तो कुछ ऐसे ही नज़र आते हैं। जब मेरे ही साथ इनका ऐसा बरताव है—जो इनकी नियुक्तिकी बात सुनकर फूला नहीं समाया था और आनेकी बाट बड़ी उत्सुकतासे जोह रहा था और विद्यालयकी कुव्यवस्थाके दूर होनेके अनेक कल्पित चित्र अपने मस्तिष्कमें बना चुका था—तब उन लड़कोंके साथ पटरी कैसे बैठेगी जो इनकी नियुक्तिसे प्रसन्न नहीं हैं।

क्लासमें पढाने आते तो किसी न किसी पाठपर चोरी, झूठ, माया-चारी, आदिको लेकर व्याख्यान झाड़ने लगते और वह सब मुझको लक्ष्य करके। मैं मन ही मनमें आकुल हो उटता, शर्मसे गड़-सा जाता, मगर उन्हें दया नहीं आती। शुक्र इतना ही था कि सहपाठियोंको यह आभास न हो सका कि गुरुजीका लक्ष्य इस ग़रीबकी ओर है। वे इसे गुरुजीकी एक आदत-सी समझने लगे। यह सब मुझे लक्ष्य करके नित नया उपदेश दिया जाता है, इसका आभास होना भी असंभव था। क्योंकि ज्ञानकी

न्यूनता मुझमें रही हो, पर श्रद्धा और चारित्र तो आयुके हिसाबसे उन दिनों आवश्यकता-से-अधिक ही प्रतीत होते थे।

दिनमें तीन बार सामायिक, अष्टमी चतुर्दशीको एकाशना, २०-२५ पृष्ठ स्वाध्याय, प्रायः दैनिक पूजन, मौन भोजन करना, लेशमात्र भी झूठा न छोड़ना एक आदत-सी बन गई थी। चोरी आदिकी कुटेव कभी थी ही नही। सहपाठियोसे भी बहुत स्नेहपूर्ण और मधुर सम्बन्ध थे। क्लासमें सर्वश्रेष्ठ नही तो घटियल भी नही था। ऐसी स्थितिमें गुरुजी का लक्ष्य मेरी ही ओर है, यह कोई कैसे ताड सकता था। पर, मेरी स्थिति बड़ी दयनीय थी। हर वक्त भय लगा रहता था कि सहपाठियोंको जिस दिन पता चला कि सब घृणा करने लगेंगे। विद्यालयमें यों कब तक रहना हो सकेगा। घरवाले भी क्या कहेंगे!

धीरे-धीरे गुरुजी मुझसे अपना व्यक्तिगत कार्य कराने लगे। कभी अपने कमरेमेंसे पुस्तक मँगवाते, कभी सन्दूकसे कपड़ा निकलवाते और रुपये उनके इधर-उधर पड़े रहते। जान-जानकर ऐसा कार्य बताते कि रुपये मेरी आँखोसे निकल जाएँ। मै कुछ भी इस तथ्यको न समझता और अत्यन्त श्रद्धा भावसे उनके आदेशका पालन करता। पूरी लगनसे मै उनकी सेवाके लिए तत्पर रहता। शनैः-शनैः उनका विश्वास और स्नेह इतना पा लिया कि वे मुझे पुत्रवत् प्यार करने लगे।

वे मेरठ जिलेके रहनेवाले थे। पं० गोपालदासजी बरैयाके सुयोग्य और स्नेहपात्र शिष्य थे। उनका अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिभावसे बखान किया करते थे। उनकी सौम्य मुखाकृतिपर धवल वस्त्र खूब खिलते थे। चूड़ीदार पायजामेपर अचकन और गोलेदार गुलाबी पगड़ी देखते ही बनती थी। सरल और सादे स्वभावके थे। संयम, सन्तोष और सौजन्य की मूर्ति थे। उन्हें किसी दलसे सरोकार न था। जैनधर्मके प्रति श्रद्धा उनके रोम-रोममें थी। प्रवचन करते-करते विदेह-से होने लगते थे और जब सम्हलते तो गीले-गीलेसे मालूम होते थे। एक बार सामायिकमें ऐसे लीन हुए कि कई फर्लांग सुनाई देनेवाली विद्यार्थियोंकी प्रातःकालीन

प्रार्थना तकका आभास न हुआ। व्यक्तित्व उनका आकर्षक और प्रभाव-शाली था। दिनमें केवल एक बार भोजन करते थे और संध्याको अक्सर गन्ना चूसकर रह जाते थे। उन्हींसे मालूम हुआ कि पहले वे काफ़ी खाते थे, पर पूज्य बाबा भागीरथदास वर्णीके उपदेशसे प्रभावित होकर संयमी जीवन रख सकनेमें समर्थ हो सके थे। उनकी पहली शादी करनेमें किसी तरह घरवाले कामयाब हो गये थे। विवाहके थोड़े ही दिन बाद पत्नी मरी तो फिर विवाहको राज़ी न हुए। घरवालोंने एक दफ़ा घेर भी लिया मगर वे ऐन मौक़ेपर भाग निकले। बड़े दयालु स्वभावके थे; तनिक-सी ठेससे दुःखित हो उठते थे।

मेरी नन्दसाल (कोसी), चौरासीसे केवल २४ मील दूर थी। मामाजीका अपना रईसी इक्का था। उसीपर १५-२० रोज़में कभी मामा-मामी, कभी माँ और नानी मुझे देखने आया करते थे और नाश्ता वग़ैरह दे जाते थे। गुरुजी तब नये-नये आये थे। इन्होंने कभी उन्हें देखा न था। तभी एक रोज़ माँ और नानी इक्केपर आई। लेकिन इक्केको उसी रोज़ फिर २४ मील वापिस जाना था। इसलिए नानी-माँ बाहर सड़कपर ही इक्का वापिस करके सरपर ही गठरी-उठरी रखे मेरे रूमकी तरफ उतावलीसे बढ़ी जा रही थीं कि गुरुजीने देख लिया। दर्याफ़्त करनेपर मालूम हुआ कि अजुध्याकी माँ और नानी हैं तो मुझे बुलाया और बक्समेंसे रुपये निकाल लेनेको कहा! पहले तो मैं कुछ समझ न सका; फिर समझनेपर मैंने वास्तविक बात बताई तो भरे हुए गलेसे बोले—"बेटे! मैं भी कैसा मूर्ख हूँ; उनको नंगे पाँव सामान लिये इस तरह जाते देख मेरा जी भर आया कि बेचारी कितनी ग़रीब हैं कि किराये-को भी पास पैसा नहीं। तुम भी अपने मनमें क्या सोचते होगे!"

गुरुजीके इस सद्व्यवहारका मेरे जीवनमें काफ़ी प्रभाव पड़ा।

सन् १९१९ के लगभग विद्यार्थियोंकी ओरसे हस्तलिखित अर्द्ध-साप्ताहिक 'ज्ञानवर्द्धक' पत्र निकाला गया। इसे भाई सुन्दरलालजी (जो आजकल दमोहमें अपना औषधालय चलाते हैं) सुन्दर अक्षरोंमें लिखते

थे, मैं और मथुरादासजी (बी० ए०, न्यायतीर्थ) सम्पादन करते थे। इस पत्रमें विद्यालयकी अव्यवस्था तथा सामाजिक, राजनैतिक टिप्पणियाँ भी रहती थीं। इसी पत्रमें विद्यालयके तत्कालीन अधिष्ठाताकी निरंकुशता, विद्यार्थियोंके सत्याग्रह तथा पं० अर्जुनलालजी सेठीपर लगाई गई पाबन्दियोंपर तीव्र टीकाएँ की गई थी।

'ज्ञानवर्द्धक' को गुरुजी भी अवश्य देखते थे। एक रोज़ बुलाया और बोले :—"बेटा ! तू अपनी ज़िदसे बाज़ नहीं आयगा।" मैं कुछ भी न समझ सका, सकपकाकर चुपचाप खड़ा रहा। वे ही बोले—

"हम ज्ञानवर्द्धकके लेखों और सभा आदिकी कार्यवाहीसे अत्यन्त प्रसन्न हैं। हम नही चाहते थे कि अपनी प्रसन्नता तुझपर प्रकट करें, परन्तु तैंने उसे प्रकट करा ही लिया ! तू इनाम लिए बग़ैर नही मानेगा। अच्छा बोल क्या इनाम लेना चाहता है ?"

मैंने चट झुककर उनके चरण छुए तो गद्‌गद कण्ठसे बोले—"तू अब विद्यालयमें अपना जीवन नष्ट मत कर ! जा तुझे लिखने और बोलनेका वरदान दिया !"

मैंने यह आशीर्वाद सुना तो फिर झुककर पग-धूल ली और सब कुछ पाकर अपने कमरेमें जा बैठा। इस निधि-प्राप्तिकी बात कंजूसकी तरह अब तक छिपाये रहा हूँ।

मैं स्वयं अपने अहंकार और प्रमादके कारण गुरुजीके वरदानका मूल्य नहीं समझ पाया। यदि प्रयत्न करता रहता तो गुरुजीका वरदान मेरे लिए कल्पवृक्ष सिद्ध हुआ होता। फिर भी आजतक जो कुछ समाज-सेवा, भाषण या लेखोंसे कर पाया हूँ, यह सब गुरुजीकी देन है, इसके लिए मेरा रोम-रोम उनका ऋणी है।

उसी वर्ष (अप्रैल १६१६ में) अनायास विद्यालय छोड़नेका अवसर भी आ गया। रौलट एक्टके विरोध-स्वरूप महात्मा गांधीके आदेशसे समस्त भारतमें आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। हम लोगोंनें भी व्रत रखा। विद्यालय न जाकर सभाका आयोजन किया। उसमें प्रमुख विद्यार्थियोंके

गरमागरम भाषण हुए और शामको मथुराकी बृहत् सभामें सम्मिलित हुए। इन सभी कार्योंमें समस्त छात्र सम्मिलित हुए। विद्यार्थियोंका यह संगठन, अधिकारीवर्गको रुचिकर नहीं हुआ। इधर हम लोग विद्यालयकी अव्यवस्थासे काफ़ी परेशान रहते थे। ५-६ माहसे केवल अरहर की दालसे दोनों वक्त रूखी रोटियाँ खाते-खाते मतली-सी आने लगी थी। उस वक्तके अधिष्ठाताकी निरंकुशता, और अकर्मण्यताका यह हाल था कि विद्यार्थी तो विद्यार्थी अध्यापकवर्ग तक परेशान थे। उधर गुरुजी, विद्यालय छोड़कर ब्रह्मचारी हो गये थे।

अब विद्यालयमें अध्ययनका कोई आकर्षण नहीं रह गया था। अतः हम लोग गर्मियोंकी छुट्टियोंमें वहाँसे मुक्त हुए तो फिर जानेका नाम नहीं लिया और वह विद्यालय फिर चौरासीसे गुरुजी जयपुर पहुँचा आये।

गुरुजी दीक्षा लेकर काशीसे अहिंसा-प्रचार करने लगे। इधर मैं सन् २० में दिल्ली चला आया। तभी आप दिल्ली किसी कार्यवश पधारे और मुझे "अहिंसा" पत्रमें कार्य करनेके लिए काफ़ी उत्साहित किया, परन्तु भूआजीने स्वीकृति नही दी और अनेक अनुनय-विनय करके उन्होने मुझे दिल्ली ही रहनेकी गुरुजीसे स्वीकृति ले ली।

उन्होंने अल्प समयमें ही अहिंसा सभा और पत्र द्वारा काफ़ी कार्य किया। यदि उनका असमयमे ही स्वर्गवास न हुआ होता तो वे भी समाज के लिए ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी सरीखे कर्मवीर सिद्ध हुए होते।

—वीर, १ मार्च १९४७

मेरे गुरु

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

१९१५ ई० की भाद्रपद मासकी कृष्णा चतुर्थीको मैंने अपने भाई के साथ स्याद्वाद विद्यालयके सुन्दर सुविस्तृत भवनमें पदार्पण किया। उस समय पं० उमरावसिहजी धर्माध्यापक और सुपरिण्टेण्डेण्ट थे। जाते ही उनसे भेंट हुई। उन्होने मुझे सिरसे पैर तक देखा और मेरा म्लान मुख देखकर हँस पड़े। वे––जैसा कि मुझे आगे चलकर मालूम हुआ––फूलसे भी कोमल और पत्थरसे भी कड़े थे। उनकी कर्तव्य-निष्ठा अद्‌भुत थी। एक बार जिस कार्यको करनेका संकल्प कर लेते थे, उसे करके ही छोड़ते थे। उनकी एकान्त कर्तव्यनिष्ठाने ही उनके जीवनमें कई बार दुःखद प्रसंग उपस्थित किये––जैसा कि मैं आगे लिखूंगा।

सामाजिक संस्थाओके संचालनके लिए अधिकारियोंकी नही––निस्स्वार्थ सेवकोंकी आवश्यकता है। शिक्षासंस्थाओंके जीवन-स्वरूप छात्रोंके लिए शासककी नहीं, कर्तव्यनिष्ठ पितृतुल्य गुरुकी आवश्यकता है। पं० उमरावसिहजीमें दोनों गुण मौजूद थे, वे निस्स्वार्थ सेवक भी थे और कर्तव्यनिष्ठ गुरु भी। उन्होंने अपने जीवनके थोड़े-से कार्यकालमें जो कुछ किया, वह जैन-संस्थाओके इतिहासमें सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

संस्थाओके लिए लक्ष्मीपुत्रोंकी जेवसे रुपया निकलवा लेना कितनी टेढ़ी खीर है ? इसका उत्तर भुक्तभोगी ही दे सकते हैं; किन्तु स्याद्वाद-विद्यालयमें जो धनिक जैन पधारते थे, उनमेंसे बिरले ही अपनी भरी पाकेट लेकर लौटते थे। जिस दिन मैं विद्यालयमें प्रविष्ट हुआ, उसी दिन छपराके सेठ केदारमल दलूमलने एक हजार रुपया ध्रौव्यकोष में दान दिया था। यह सब पं० उमरावसिहकी कर्त्तव्य-निष्ठाका सुफल था। विद्यालयमें प्रविष्ट हुए, मुझे तीन दिन बीत चुके थे। ये तीन दिन मुझे तीन वर्षसे भी अधिक लम्बे मालूम पड़े। घरकी अविकल स्मृतिने

मुझे विकल कर रक्खा था। भूख और प्यास हवा हो गई थी। मेरे भाई अभी ठहरे हुए थे। वे जब-जब घर जानेका नाम लेते थे, मेरी आँखों के आगे विस्तृत अन्धकार छा जाता था, जिसमें अपने उद्धारका मुझे कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ता था। आखिर दूसरा उपाय न देखकर, मुझे उनसे अपने साथ घर लौटा ले जानेका अनुरोध करना पड़ा, किन्तु वे किसी तरह मेरे प्रस्तावसे सहमत न हो सके। अन्तमें, मेरे शोकाश्रुपूर्ण म्लान मुखने मेरे सहोदरके स्नेही हृदयपर विजय पाई। वे मुझे घर ले चलनेके लिए सहमत हो गये। घर पहुँचनेकी कल्पनासे मेरे सुस्त शरीरमें उत्साह की बिजली-सी दौड़ गई। हृदय आनन्दसे नाच उठा, मानो–जन्मके अन्धेको दो आँखें मिल गई। अब हम दोनों भाई विद्यालयके अधिकारियों तथा विद्यार्थियोंकी आँखोंसे बचकर वहाँसे निकल भागनेका उपाय सोचने लगे। अन्तमें बहुत देर दिमाग़ लड़ानेके बाद, सन्ध्याको विद्यालयकी प्रार्थना के बाद भाग चलनेका प्रोग्राम तय किया गया। कारण, प्रार्थनाके समय छात्रोंकी हाज़िरी ली जाती थी और उस समय पं० उमरावसिहजी स्वयं उपस्थित रहते थे। अतः हम लोगोंको आशा थी कि प्रार्थनामें उपस्थित रहनेसे अधिकारी हमारी ओरसे निश्चिन्त हो जायेंगे और फिर रातभर कोई खबर न लेगा।

सन्ध्या आई, प्रार्थनाके बाद मेरे भाई अपना 'बोरिया' 'बँधना' उठाकर विद्यालयसे रवाना हुए। आँख बचाकर, उछलते हुए हृदयसे उनके पीछे-पीछे मै भी 'एक, दो, तीन' हो गया। अभी हम विद्यालयके फाटकसे कुछ ही पग जाने पाये थे कि, मार्गमें एक 'यमदूत' से भेंट हो गई। स्यात् मेरी भावभंगीसे उसे मुझपर कुछ शक हुआ और उसने तुरन्त पूछा—"कहाँ जा रहे हो ?" मैं कुछ सकपकाया, किन्तु मामला बिगड़ते देखकर फ़ौरन उत्तर दिया—"भाईको पहुँचाने जा रहे है।" काम बन गया। हम लोग आगे बढ़े और तेज़-सा इक्का किराये करके स्टेशनपर पहुँच ही तो गये। वहाँ कुलियोंसे पूछनेपर मालूम हुआ कि, रातमें कोई भी गाड़ी पश्चिमकी ओर नहीं जाती। बना-बनाया खेल बिगड़ता देखकर

मैं फिर अधीर हो उठा, किन्तु सन्तोषके सिवा उस अधीरताका दूसरा इलाज भी तो नहीं था। लाचार होकर, मुसाफ़िरखानेमें एक ओरको बिस्तर बिछाकर मैं अपने भाईके साथ लेट गया। भाई तो लेटते ही कुम्भकर्णसे बाज़ी जीतनेकी तैयारी करने लगे और चिन्ताओंके आघात प्रतिघातसे क्लान्तहृदय मैं भी करुणामयी निद्रादेवीका आह्वान करने लगा। वे आई अवश्य, किन्तु कुछ अनमनी-सी होकर। अचानक किसीके पुकारनेका शब्द सुनकर मेरी तन्द्रा भंग हो गई। भाई भी जाग गये। मैंने धड़कते हुए हृदयसे आँख खोलकर देखा तो मुँहसे एक हलकी-सी बेबसीकी चीख निकल गई। पं० उमरावसिहजीके दो 'यमदूत' मुझे सशरीर पकड़नेके लिए मुँह बाये खड़े थे। उन्होंने आगा देखा न पीछा, झटसे मुझे पकड़ ही तो लिया और इक्केमें सवार कराके विद्यालय ले चले। दूर ही से अश्रुपूर्ण नेत्रोसे मेरे प्रिय भाईने मुझे बिदा किया। लगभग १५ दिन तक मेरा चित्त विक्षिप्त रहा। इस बीचमें जब कभी मैं अधिक उद्विग्न हो जाता था तो पण्डितजी अपने पास बैठाकर 'मर्यादा' और 'सरस्वती' की फाइलोंके चित्रोंसे मेरा अनुरंजन करते थे।

यदि पं० उमरावसिह उस समय मेरी ओरसे उदासीन हो जाते और मुझे मेरे भाईके साथ भाग जानेका अवसर दे देते तो आज मेरे प्रारंभिक जीवनकी यह घटना मेरे ही अन्तस्तलके स्मृति-मन्दिरमें विलीन हो जाती शिक्षासंस्थाओंके कर्ता-हर्ताओमेंसे कितने माईके लाल पं० उमरावसिहकी तरह अपने कर्तव्यका पालन करते हैं ?

× × ×

आर्यसमाजके विख्यात गुरुकुल कांगड़ीके वार्षिक समारोहपर प्रतिवर्ष 'सर्वधर्मसम्मेलन' की आयोजना की जाती है। उस वर्ष जैनधर्मकी ओरसे निबन्ध पढ़नेके लिए पं० उमरावसिंहजी उसमें सम्मिलित हुए थे। जिन्हें आर्यसमाजकी शिक्षा-संस्थाओंको—खासकर गुरुकुल कांगड़ीको—देखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है, वे बतला सकते हैं कि उनकी कार्यप्रणाली कितनी आकर्षक और उपयोगी होती है? उनके

विद्यार्थियोंका शारीरिक, मानसिक और नैतिक बल स्पर्द्धाके योग्य होता है। पं० उमरावसिहजीने वह सब देखा, उनके हृदयपर वहाँकी शिक्षा-प्रणालीका बहुत कुछ असर पड़ा और वे बहुतसे मनसूबे बाँधकर वहाँसे बनारस लौटे। विद्यालयको साप्ताहिक सभाओंमें अक्सर उनके भाषण होते थे, उनमें उनकी आन्तरिक भावनाओंका स्पष्ट निर्देश पाया जाता था, विद्यार्थियोंके प्रति उनका जितना अनुराग था, विद्यार्थियोंका भी उनके प्रति उससे कम अनुराग नही था। सन् १९१६ के मध्यमें जब प्रबन्धकारिणी समितिके अधिकारी और पण्डितजीके बीचमें लम्बा झगड़ा हुआ था, तब विद्यार्थियोंने उनका खूब साथ दिया था, किन्तु इस घटना के कुछ ही समय बाद समयने पलटा खाया और विद्यार्थीमंडल उनसे इतना नाराज़ हो गया कि उस व्यवहारसे दुखी होकर उन्हें काशी छोड़नी पड़ी।

पं० उमरावसिह विद्यार्थियोंके सच्चे हितैषी थे, इसमें तो कोई शक नहीं। आजकलके अभिभावकोंमें जिस बातकी कमी पाई जाती है, वह उनमें कूट-कूटकर भरी थी। विद्यार्थियोंके आचरणपर उनकी कड़ी निगाह रहती थी। रात्रिमें वे स्वयं छात्राश्रमका चक्कर लगाते थे। इतना ही नही, इस कार्यके लिए गुप्त रूपसे उन्होंने कुछ विद्यार्थी भी नियुक्त कर रखे थे—जो समय-समयपर उन्हें ऐसी सूचनाएँ देते थे। उनकी इस सतर्क दृष्टि और कार्यप्रणालीने विद्यार्थियोमें असन्तोषका भाव उत्पन्न कर दिया था। नीतिकारोंका मत है कि 'सोलहवें वर्षमें पदार्पण करते ही पुत्रके साथ मित्रका-सा व्यवहार करना चाहिए।' पं० उमरावसिंहजी ने इस नीतिकी सर्वथा उपेक्षा की—छोटे और बड़ेके भेदको भुलाकर उन्होंने सबके साथ एक-सा ही व्यवहार रक्खा। उनकी रीति उस डाक्टरके समान थी जो रोगीकी नाड़ी देखे बिना ही उसपर औषधिका प्रयोग करता जाता है।

अष्टमी या पड़वाका दिन था। विद्यालयकी छुट्टी थी। उस रोज़ पं० उमरावसिंहजीकी ओरसे एक सूचना इस आशयकी प्रकाशित हुई कि आज दोपहरको सभा होगी; कोई विद्यार्थी शहर न जाय।

न मालूम क्यों ? इस सूचनाने आगमें घीका काम किया ! जगह-जगह विद्यार्थियोकी गोष्ठी होने लगी। कुछ विद्यार्थी सूचनाकी उपेक्षा करके बाज़ार भी चले गये। नियत समयपर सभा हुई। विद्यार्थियोंने अपने व्याख्यानोंके द्वारा पण्डितजीपर खूब ही वाग्बाण चलाये। अन्तमें दुखी मन और खिन्न वदनसे पण्डितजीने भी कुछ कहा। सभा भंग हुई, पण्डितजीने विद्यालय छोड़नेका पक्का इरादा कर लिया। छात्रोंने सुना तो 'सन्न' रह गये। उन्हें इस दुष्परिणामकी आशा न थी। छात्रोंकी ओरसे कुछ प्रतिनिधि अनुनय-विनय करनेके लिए पण्डितजीके पास गये, किन्तु सब व्यर्थ। उन्होंने कहा—"जिनकी सेवाके लिए मै यहाँ रहता हूँ उन्हे जब मेरी सेवा ही स्वीकार नही तो मेरा रहना निष्फल है।"

पं० उमरावसिहजी अपने तथा अपने छोटे भाईके खर्चके लिए विद्यालयसे केवल २५ रु० मासिक लेते थे। उक्त घटनाने उनके इस अवैतनिक समाजसेवाके भावको भी गहरा धक्का पहुँचाया। उन्होंने संकल्प किया कि अब मै पूरा वेतन लेकर ही समाजसेवाका कार्य करूँगा। मेरी समझके अनुसार यह पण्डितजीका नैतिक पतन था। विपत्तियाँ ही मनुष्यताकी कसौटी है। विपत्तिमें भी जो अपने विचारोंपर दृढ रहता है, वही सच्चा मनुष्य है। अस्तु, उन्होंने स्याद्वाद विद्यालयसे अपना पुराना नाता तोड़ दिया और ७० रु० मासिकपर भारतवर्षीय दि० जैन महाविद्यालयके प्रधानाध्यापक होकर चौरासी–मथुरा चले गये। उन्हें मथुरामें कार्य करते हुए अभी कुछ मास ही बीते थे कि उनके सप्तम प्रतिमा धारण करनेके समाचार मैने पत्रोंमें पढ़े। लोगोंने देखा कि, पं० उमरावसिह अपने योग्य वेष 'सप्तमप्रतिमा' और सार्थक नाम 'ज्ञानानन्द' को धारण करके दूने उत्साहसे कार्यक्षेत्रमें उतरे है।

सप्तमप्रतिमा उनका योग्य वेष कैसे थी ? इस प्रश्नके समाधानके लिए उनके प्रारम्भिक जीवनकी एक घटनाका उल्लेख करना आवश्यक है, जो पाठ पढ़ाते समय उन्होंने एक बार स्वयं बतलाई थी। १९ वर्षकी अवस्थामें उनकी सहधर्मिणीका शरीरान्त हो गया। घरवालोंने दूसरा

बिवाह करना चाहा तो छिपकर काशी या मोरेना विद्याध्ययनके लिए जा पहुँचे और शायद फिर घर नहीं गये । यह तो हुई उनकी स्त्री-विरक्तिकी बात, अब सादगीका भी हाल सुन लीजिये । उनके कोटके बटन खो गये थे या टूट गये थे । वे बाजारसे नये बटन खरीदकर लाये थे । बटन फ़ैशनेबुल तो न थे, पर थोड़े चमकदार अवश्य थे । किसीने अचानक टोक दिया "पण्डितजी, बटन तो बड़े बढ़िया लाये हो ।" पण्डितजीने उसी समय उन बटनोंका परित्याग कर दिया । अपने फैशनेबुल रंगढंगके कारण एक बार इन पंक्तियोके लेखकको भी उनका कोपभाजन बनना पड़ा था । मेरे स्नेही पिताजीने मुझे एक बढ़िया विलायती डोरियाका कुर्ता सिला दिया था । वह कम्बख्त कुर्ता एक दिन मैला हो गया और उसे धोबीका मेहमान बनना पड़ा । धोबी कुर्ता तो धोकर ले आया, किन्तु धुलाईमें झगड़ा करने लगा । बात पण्डितजीके कानों तक पहुँची या कम्बख्ती का मारा मै ही ले गया । कुर्तेको देखते ही भड़क उठे और बोले, "ऐसा बढिया कुर्ता क्यों सिलाकर लाया है ?" जान बचाना मुश्किल हो गया । ऐसे सादगी-पसन्द और स्त्री-विरक्तोंके लिए 'संयम सोपान' नहीं है तो क्या 'नार मई घर सम्पति नासी' वालोंके लिए है ?

ज्ञानानन्द ! सचमुच वे कार्यतः ज्ञानानन्द थे । रातदिन ज्ञानाभ्यास करते रहते थे । उनके रात्रिमें अध्ययन करनेसे मुझे बड़ी चिढ़ थी। बात यह थी कि उन दिनों मुझे खूब नीद आती थी और इसलिए जो खूब सोते थे तथा मुझे सोनेमें सहायता देते थे, वे मेरे अत्यन्त स्नेहभाजन थे, किन्तु जो न स्वयं सोते थे और न दूसरोको सोने देते थे, जैसे कि पं० उमरावसिह, वे मेरे आन्तरिक कोपके ही नही, बल्कि घृणाके भी पात्र थे । रात्रिमें जब कभी मेरी नीद खुल जाती और मैं उन्हें पढ़ते हुए देखता तो मुझे उनकी इस बेवक़ूफीपर हँसी आये बिना न रहती । मै सोचता–"यह कितने बेवक़ूफ़ हैं जो इतना पढ़लिखकर भी इस सुहावनी रातमें जो केवल सोनेके लिए ही बनाई गई है, पुस्तकोंमें सिर खपाते हैं। जब मै इतना पढ़ जाऊँगा तो सोनेके सिवाय दूसरे कामको हाथ भी न लगाऊँगा ।" मैं और भी सोचता–

"अमीर-उमराव तो लम्बी तानकर सोते है । यह कैसे उमराव हैं जो रातों जगते हैं ?" उनके 'उमरावसिंह' नामके प्रति मेरे शयन-प्रिय बालहृदयमें जो विद्रोह उत्पन्न हो गया था, वह तब शान्त हुआ, जब हमारे उदासीन पण्डितजीने अपने वेषके साथ ही साथ नाम भी बदल डाला और ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दके नामसे ख्यात हुए ।

उन दिनों भारतवर्षीय दि० जैन महासभाके आश्रित मथुरा महाविद्यालयकी आन्तरिक दशा बहुत शोचनीय थी । कई वर्ष योग्य अभिभावक निरीक्षकके अभावसे गृह-कलहने अपने पैर जमा लिये थे । अध्यापकोंको समयपर वेतन भी न मिलता था । उमरावसिंहजी जब ब्रह्मचारी हुए थे, उनका कई मासका वेतन विद्यालयपर अवशेष था । मथुराकी समाज और महासभाके अधिकारी दोनों ही उस ओरसे उदासीन हो गये थे । ब्र० ज्ञानानन्दजीने अपने अध्यापन-कालमें इस परिस्थितिको हृदयगम किया । उन्हें यह लगा कि अब इस स्थानमें यह विद्यालय न चल सकेगा, यदि इसका जलवायु बदल दिया जाय तो शायद यह मृत्युके मुखसे बच जाय । ब्रह्मचारी होते ही उन्होंने अपना ध्यान उस ओर दिया । ब्यावरके स्वर्गीय सेठ चम्पालालजी रानीवालोंने कुछ आश्वासन दिया । डूबते हुएको तिनकेका सहारा मिला, ब्रह्मचारीजी बाबा छोटेलालजी भरतपुरके सहयोगसे विद्यालयको चौरासी (मथुरा) से ब्यावर ले गये । मथुरावालोंने बहुतेरी 'हाय-तोबा' की, महासभाके अधिकारियोंका भी आसन डोल उठा, किन्तु कर्तव्यशील ब्रह्मचारीजीके सामने किसीकी भी न चली । ब्यावरमें रानीवालोंके वंशने विद्यालयको अपनी नशियांजीमें स्थान दिया और धीरे-धीरे घाटेका कुल भार अपने ऊपर ले लिया ।

मथुरा महाविद्यालयका सुप्रबन्ध करनेके बाद ब्रह्मचारीजीकी दृष्टि श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरकी ओर गई । उन दिनों ब्रह्मचर्याश्रम अपने शैशव-कालको समाप्त करके युवावस्थामें प्रवेश करनेकी तैयारी कर रहा था; किन्तु आश्रमके संस्थापक, संचालक, पोषक और रक्षक धीरे-धीरे एक-एक करके गृहकलह और मतभेदके शिकार बन चुके थे ।

समाजका लाखों रुपया आश्रमके पोषणमें खर्च हो चुका था। गुरुकुल कांगड़ीके जिस मनोहर आदर्शपर आश्रमकी स्थापना की गई थी, उसी उन्नत आदर्शपर मोहित होकर, उत्तर प्रान्तकी समाजने अपनी पूर्ण शक्तिसे आश्रमके पौदेको सींचा था। समाजमें आश्रमका शोर मचा, लोग अकलंक और निकलंकके समान ब्रह्मचारी युवकोंको देखनेके लिए तरस रहे थे, किन्तु—

"बहुत शोर सुनते थे पहलूमें दिलका,
जो चीरा तो एक क़तरये ख़ूं न निकला।"

समाजकी आशाओंपर पानी फिर गया, टकटकी बाँधकर देखने वालोंने अपनी आँखें फेर ली, धनिकोंने अपनी थैलीके मुँह बन्द कर दिये, आरम्भशूर संचालकोंने अपना-अपना रास्ता नापा। हस्तिनापुरके बीहड़ स्थानमें सूखा बग़ीचा रह गया। हरे-भरे पौदोंकी ख़ैर-ख़बर लेनेवाले बहुत मिल जाते हैं, सूखी हुई डालपर पक्षी भी बसेरा नहीं लेते, किन्तु जिनका काम ही है सूखोंको हरा करना—हरे-भरोंको सुखाना नहीं—वे पददलितोंकी खोजमें रहते हैं। ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दजी भी अपने स्वभावके अनुसार आश्रमको हरा-भरा करनेका उपाय सोचने लगे। मथुरा महाविद्यालयके लिए जिस औषधिकी व्यवस्था की गई थी, अनुभवी ब्रह्मचारीजीने आश्रमके लिए भी उसे ही उपयुक्त समझा और एक दिन समाजने समाचारपत्रोंमें आश्रमके स्थानपरिवर्तनके समाचार पढ़े। आश्रम हस्तिनापुरसे उठकर जयपुर चला गया था। आश्रम जयपुर चला गया, किन्तु ब्यावरके रानीवालोंकी तरह वहाँ उसे कोई अभिभावक मिल न सका। ब्रह्मचारीजी कुछ दिन तक अन्य सामाजिक कार्योंमें व्यग्र रहकर बीमार पड़ गये। आश्रमने ज्यों-त्यों करके कुछ वर्ष बिताये और ब्रह्मचारीजीका देहावसान होनेके बाद उसे जयपुर भी छोड़ना पड़ा। अब वह चौरासी (मथुरा) में अपना कालयापन कर रहा है।

मथुरा महाविद्यालय और आश्रमका पुनरुद्धार करनेके बाद ब्रह्मचारीजीकी दृष्टि अपने पुराने कार्यक्षेत्र बनारसकी ओर आकर्षित हुई और

सन् १९२० के चैत्रमासमें मैंने अपने साथियोंके साथ पण्डित उमराव-सिहजीको ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दजीके नवीन संस्करणके रूपमें पहली बार देखा। काशी संस्कृत विद्याका पुरातन केन्द्र है। हिन्दू-विश्वविद्यालयकी स्थापना हो जानेसे सर्वांगीण शिक्षाका केन्द्र बन गया है। न यहाँ विद्वानों की कमी है और न पुस्तकालयों की. ज्ञानार्जन और ज्ञानप्रचारके प्रेमियोंके लिए इससे उत्तम स्थान भारतवर्षमें नहीं है। जो ज्ञानानन्दी जीव एक बार उसके वातावरणका अनुभव कर लेता है, उसकी गुजर-बसर, फिर अन्यत्र नहीं हो पाती। समाजके प्रायः समस्त शिक्षालयोंके वातावरणका अनुभव करनेके बाद भी ब्रह्मचारीजी अपने पूर्वस्थान बनारसको न भूल सके और कई शिक्षासंस्थाओके संचालनका भार स्वीकार करने पर भी उन्होंने परित्यक्त बनारसको ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया।

उन दिनों मध्यप्रदेशके रतौना गाँवमें सरकार एक क़साईखाना खोलनेका विचार कर रही थी, वहाँ प्रतिदिन कई हजार पशुओंके क़त्ल करनेका प्रबन्ध होने जा रहा था। इस बूचडखानेको लेकर अखबारी दुनियामें खूब आन्दोलन हो रहा था। स्थान-स्थानपर सर-कारी मन्तव्यके विरोधमें सभा करके वाइसरायके पास तार भेजे जाते थे। रक्षाबन्धनके दिन स्याद्वादविद्यालयमे भी सभा हुई। बूचड-खानेके विरोधमें पूज्य पण्डित गणेशप्रसादजी वर्णीका मर्मस्पर्शी भाषण हुआ। ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दजीने बूचड़खाना स्थापित होनेके विरोधमें मीठे सेवनका त्याग किया और अहिसा धर्मका ससारमे प्रचार करनेके लिए एक अहिंसाप्रचारिणी परिषद् स्थापित करनेकी योजना सुझाई।

मैं पहले बता चुका हूँ कि ज्ञानानन्दजी किसी आवश्यक विचारको **'काल करै सो आज कर, आज करै सो अब'** सिद्धान्तके पक्के अनुयायी थे। अहिंसा-प्रचारकी प्रस्तावित योजनाको कार्यरूपमें परि-णत करनेके लिए उन्होंने कलकत्तेकी यात्रा की और दशलाक्षणी पर्व वहीं बिताया। कलकत्तेकी दानी समाजने उनका खूब सम्मान किया और ८००० रुपये के लगभग अहिंसा-प्रचारके लिए भेंट किये। कलकत्तेसे

लौटते ही ब्रह्मचारीजी अपने काममें जुट गये। अखिल भारतीय अहिंसा प्रचारिणी परिषद्की स्थापना की गई और काशी नागरीप्रचारिणी समिति के भवनमें डा० भगवानदासजीके सभापतित्वमें उसका प्रथम अधिवेशन खूब धूमधामसे मनाया गया। जनतामें परिषद्के मन्तव्योंका प्रचार करनेके लिए 'अहिंसा' नामकी साप्ताहिक पत्रिका प्रकाशित की गई। उपदेशक भी घुमाये गये, अजैन जनताने भी परिषद्के कार्यमें अच्छा हाथ बटाया। अनेक रजवाड़ोंने भी सहानुभूति प्रदर्शित की। बहुतसे अजैन रईस एक मुश्त सौ-सौ रुपये देकर परिषद्के आजीवन सदस्य बने।

प्रारम्भमें अहिंसाका प्रकाशन एक-दूसरे प्रेससे हुआ था। पीछे एक स्वतंत्र प्रेस खरीद लिया गया, जो अहिंसा प्रेसके नामसे ख्यात हुआ। प्रायः अधिकांश मनुष्य आत्मप्रशंसाको जितनी चाहसे सुनते हैं, खरी आलोचनाको उतनी ही घृणासे देखते हैं, किन्तु ब्र० ज्ञानानन्दजीमें यह बात न थी, वे अपनी आलोचनाको भी बहुत सहानुभूतिके साथ सुनते थे। एक बार कुछ ऐसी ही घटना घटी। ब्रह्मचारीजीने अहिंसा परिषद्के लिए कुछ लिफ़ाफ़े और लेटर पेपर छपाये थे, जो बढ़िया थे। हमारी विद्यार्थी-मण्डलीने ब्रह्मचारीजीके इस कार्यको समाजके रुपयेका दुरुपयोग बतलाया था। यह बात ब्रह्मचारीजीके कानों तक पहुँची। अवसर देखकर एक दिन रात्रिके समय हमारी मण्डलीके मुखिया लोगोंके सामने उन्होंने स्वयं आलोचनाकी चर्चा उठाई। उस समयका उनका प्रसन्न मुख आज भुलाने पर भी नहीं भूलता। बोले—"मुझे प्रसन्नता है कि तुम लोग मेरे कार्योंकी भी आलोचना करते हो। मैंने बढ़िया क़ाग़ज़ोंकी छपाई-में व्यय अपना शौक़ पूरा करनेके लिए नहीं किया, किन्तु ज़मानेकी रफ़्तार-को देखते हुए राजा-रईसोंके लिए किया है। हम लोग उनका उत्तर सुनकर कुछ सकुचा-से गये, किन्तु फिर कभी उस विषयपर आलोचना नहीं हुई।

जिन दिनों 'अहिंसा' का प्रकाशन आरम्भ हुआ, उन दिनों भारतके राजनीतिक आकाशमें गाँधीकी आँधीका ज़ोर बढ़ता जाता था। असहयोग आन्दोलनने भारतीयोंमें पारस्परिक सहयोगका भाव उत्पन्न करके विदेशी

शासन-प्रणालीको विचलित कर दिया था। अदालतों, कौसिलों, सरकारी स्कूलोंका बायकाट प्रतिदिन ज़ोर पकड़ता जाता था। मशीनगनोंकी वर्षाके मुक़ाबलेपर भारतके राष्ट्रपत्र वाग्बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। घमासान युद्ध मचा हुआ था, किन्तु दुश्मनको मारनेके लिए नही, स्वयं मरनेके लिए। रक्त लेनेके लिए नहीं, रक्त देनेके लिए। क्योकि अहिंसात्मक युद्ध मारना नही सिखाता है।

"जिसे मरना नहीं आया उसे जीना नहीं आता।"

इस परिस्थितिमें जन्म लेकर और राष्ट्रका तत्कालीन अस्त्र 'अहिंसा' का नाम धारण कर 'अहिंसा' राष्ट्रकी आवाज़में आवाज़ मिलानेसे कैसे पीछे रह सकता था, किन्तु उसकी आवाज़ राष्ट्रकी आवाज़की प्रतिध्वनि मात्र थी, उसने राष्ट्रिय पत्रोंकी बातको दोहराया बेशक, किन्तु कोई 'अपनी बात' न कही। इसका कारण जो कुछ भी रहा हो, परन्तु ब्र० ज्ञानानन्दजीके राष्ट्रप्रेमी होनेमें कोई सन्देह नही है। वे पक्के धर्मात्मा होनेपर भी जननी-जन्मभूमिकी व्यथाको भूले नही थे, राष्ट्रकी प्रत्येक प्रगतिपर उनकी कड़ी दृष्टि रहती थी और उसपर वे विचार भी करते थे।

उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि प्रेसके कार्यमें अपने कुछ शिष्यो-को दक्ष कर दिया जाय और एक विशाल 'छापेखाने'का आयोजन किया जाय। इसलिए वे प्रतिदिन किसी न किसी छात्रको अपने साथ प्रेसमें ले जाते थे। एक दिन मुझे भी ले गये और 'अहिंसा'के 'प्रूफ'–संशोधन-का कार्य मुझे सौंपकर विश्राम करने लगे। 'प्रूफ' में किसी राष्ट्रिय पत्र-की प्रतिध्वनि थी—यदि मै भूलता नही हूँ तो वह एक प्रहसन था, और शायद 'कर्मवीर' से नक़ल किया गया था। भारतके राजनैतिक मंचके सूत्रधार महात्मा गाँधी और अली बन्धु 'प्रहसन' के पात्र थे। 'प्रूफ' में उक्त प्रहसन अधूरा था और मै उसके आदि और अन्तसे अपरिचित था। प्रूफपर दृष्टि पड़ते ही मुझे 'मौलाना' गांधी दिखाई दिये। मैं चकराया। आगे बढ़ा तो 'महात्मा' शौक़तअलीपर नज़र पड़ी। अब

मैंने 'गांधी-अली' संवादपर दृष्टि डाली तो सब जगह एक-सी ही 'बेवक़ूफी देखी। संपूर्ण संवादमें गांधीके साथ 'मौलाना' और शौक़तअलीके साथ 'महात्मा' शब्दका प्रयोग देखकर मेरा 'टेम्परेचर' भड़क उठा और मुझे प्रेसके भूतोंकी बेअक़लीपर हँसी आ गई। आब देखा न ताब, क़लम कुठार उठाकर 'मौलाना' और 'महात्मा' दोनोंका शिरच्छेद कर डाला और नई रीतिसे गांधीके साथ महात्मा और शौक़तअलीके साथ 'मौलाना' शब्द जोड़ डाला। इस कार्यमें एक घंटेके लगभग लग गया। अब मैं प्रेसके भूतोंकी बेवक़ूफ़ी और अपनी बुद्धिमानीका सुसंवाद कहनेके लिए ब्रह्मचारीजीकी निद्रा भंग होनेकी प्रतीक्षा करने लगा। उनके उठते ही मैंने प्रूफ उनके सामने रक्खा। अभी मैं कुछ कहने भी न पाया था कि ब्रह्मचारीजीके श्रीमुखसे मैंने अपने लिए वे शब्द सुने, जो कुछ देर पहले अपने दिल ही दिलमें, मैं प्रेसके भूतोंको कह चुका था। ब्रह्मचारीजीकी इस 'नाशुक्री' पर मुझे बड़ा खेद हुआ, किन्तु जब मुझे मालूम हुआ कि 'प्रहसन' में हिन्दू-मुसलिम एकताका 'प्रहसन' किया गया है तो मेरे देवता कूँच कर गये, और मैं प्रेससे 'एक दो तीन' हो गया।

× × ×

'अहिंसा परिषद्' और शिक्षासंस्थाओंके संचालनमें ब्रह्मचारीजी इतने तल्लीन हुए कि शारीरिक स्वास्थ्यकी ओरसे एकदम उदासीन हो गये। कभी-कभी बुख़ार आ जानेपर भी दैनिक कार्य करना नहीं छोड़ा। जब रोग बढ़ गया तो चिकित्साके लिए बनारससे बाहर चले गये। ज्वर ने जीर्ण ज्वरका रूप धारण कर लिया, खांसी भी हो गई। यक्ष्माके लक्षण प्रकट होने लगे। फिर भी सामाजिक कार्योंमें भाग लेना न छोड़ा। फरवरी १९२३ में देहलीमें जो पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ था, ब्यावर विद्यालयके छात्रोंके साथ उसमें वे सम्मिलित हुए थे और सेठके कूँचेकी धर्मशालामें ठहरे थे। मैं अपने सहयोगियोंके साथ उनसे मिलने गया। उस समय उन्हें ज्वर चढ़ रहा था और खाँसी भी परेशान कर रही थी। हम लोगोंकी आहट पाते ही उठकर बैठ गये और उसी स्वाभाविक मुस्कान-

के साथ हम लोगोंसे मिले। किसे खबर थी कि यह 'अन्तिम दर्शन' है? अफ़सोस!!! उसी वर्ष ग्रीष्मावकाशके समय अपने घरपर एक मित्र के पत्रसे मुझे ज्ञात हुआ कि ब्र० ज्ञानानन्दजीका देहावसान हो गया। पढ़कर मैं स्तम्भित रह गया। रगोंमें बहनेवाला खून जमने-सा लगा, मस्तक गर्म हो गया। अन्तमें अपनेको समझाया और उनकी सत्‌शिक्षा, सद्व्यवहार और कर्तव्यशीलताका स्मरण करके, स्वर्गगत हितैषीको श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

मनुष्य जब तक जीवित रहता है, तब तक उसके अत्यन्त निकट रहनेवाले व्यक्ति भी उसका महत्त्व समझनेकी कोशिश नही करते। मेरी भी यही दशा हुई, मैंने भी ब्रह्मचारीजीकी सत्‌शिक्षाओंको सर्वदा उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा। आज जब वे नहीं हैं और पद-पदपर उनके ही सदुपदेशोंका अनुसरण करना पड़ता है, तब अपनी अज्ञानतापर अत्यन्त पश्चात्ताप होता है।

—जैनदर्शन, १९४३

पण्डित
पन्नालाल
वाकलीवाल

जैनसमाजके विद्यासागर

श्री धन्यकुमार जैन

"एक काग़ज़ दीजिये न, किताबोंपर चढ़ाऊँगा ?"

"एक काग़ज़की क़ीमत दो पैसे है,—पैसे देकर ले सकते हो।"

"यों ही एक दे दीजिये न, बहुत-से तो हैं ?"

"इनका मैं मालिक नहीं, मैं तो बिना पैसेका नौकर हूँ।"

"तो मालिक कौन है, उनसे कहके दिलवा दीजिये न ?"

"मालिक तो सारा जैन-समाज है,—हम-तुम सभी मालिक हैं; पर लेनेके लिए नहीं, देनेके लिए।"

सन् १९१४-१५ की बात है। मैं तब स्याद्वादमहाविद्यालय काशीमें शिक्षा पा रहा था। मैदागिनकी जैनधर्मशालाके फाटकके पास भारतीय जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्थाका कार्यालय था, जिसमें बैठे जैन-समाजके सुप्रसिद्ध शिक्षागुरु स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवाल पुस्तकें बाँध रहे थे। जिस समय उनसे मेरी उपर्युक्त बातचीत हुई थी, तब मैं नहीं जानता था कि मैं उन्हींसे बात कर रहा हूँ, जिनकी लिखी कई पुस्तकें मैं पढ़ चुका हूँ और 'मोक्षशास्त्र' आदि अब भी पढ़ रहा हूँ, जिनपर चढ़ानेके लिए काग़ज़ माँग रहा था। तब तो मुझे ऐसा लगा कि बुड्ढा बहुत कंजूस है और निर्दयी भी, कि जिसको मेरी विनीत प्रार्थना पर ज़रा भी दया नहीं आई। मुझमें तब इतनी समझ ही कहाँ थी कि उनके उन सीमित शब्दोंमें अवैतनिक सामाजिक कार्यकर्ताओंके उत्तरदायित्वका कितना ज़बरदस्त उपदेश है। बादमें तो लगभग दस-बारह वर्ष तक मुझे उनके निकट रहकर उक्त संस्थाकी सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त रहा; और खूब अच्छी तरह समझ गया कि अवैतनिक कार्यकर्ता का आदर्श क्या होना चाहिए।

एक मैं ही नहीं, और भी अनेक ऐसे लेखक हैं, जिनके उत्साहका मूल स्रोत 'गुरु' जी थे। उन्होंने अनेकोंको सामाजिक सेवाके लिए तैयार किया और जीवनकी अन्तिम घड़ी तक करते रहे।

गुरुजीके प्रारम्भिक जीवनके सम्बन्धमें भला मुझे क्या जानकारी हो सकती थी ? हाँ, जब वे पुराने क़िस्से कहनेमें दिलचस्पी लेते थे, तब कुछ-कुछ मालूम होता रहता था। एक ज़माना था, जब जैनग्रंथ छापने वालोंको लोग घृणाकी दृष्टिसे देखा करते थे। गुरुजीने उस समय जैन ग्रंथोंका प्रकाशन करना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी भावना थी कि जैन-समाजका बच्चा-बच्चा अपने धर्म-सिद्धान्तसे परिचित हो जाय। इसके लिए उन्होने बीसियों पाठ्य पुस्तकें लिखीं; और अन्त तक इस व्रतका वे लगन और उत्साहके साथ पालन करते रहे। मुझे उन्हीसे मालूम हुआ था कि कई पाठ्य पुस्तके उन्होंने दूसरोंके नामसे प्रकाशित करके उनका इस दिशामें उत्साह बढाया। 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय' उन्हीं की स्थापना है। जिसने अपने प्रारम्भिक जीवनमें अच्छे-से-अच्छा जैन साहित्यका प्रकाशन किया।

श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीकी प्रतिभा देखकर उन्होंने उन्हें जैनग्रंथ-कार्यालयका साझीदार बना लिया था, और उनके भरोसे उस कार्यको छोड़कर वे उच्चतर प्रकाशन संस्था और विद्यालयोंकी स्थापना आदि महत्त्वपूर्ण कार्योंमें जुट पड़े थे।

श्री प्रेमीजीने अपनी एक पुस्तक समर्पण करते हुए गुरुजीके लिए जो कुछ लिखा है, उससे हम उनकी महानताका अनुमान कर सकते हैं; वे लिखते हैं–"जिनके अनुग्रह और उत्साहदानसे मेरी लेखनकलाकी ओर प्रवृत्ति हुई और जिनका आश्रय मेरे लिए कल्पवृक्ष हुआ, उन गुरुवर पं० पन्नालालजी वाकलीवालके करकमलोंमें सादर समर्पित।"

सन् १९१८ तक जैनसमाजको उनकी कितनी सेवाएँ प्राप्त हुईं, इसका सिलसिलेवार वर्णन तो मैं नहीं कर सकता, पर इतना ज़रूर कह

सकता हूँ कि उनके जीवनका कोई भी क्षण जैनसमाजकी सेवाके सिवा उनके निजी कार्यमें नही लगा।

जब वे "जैनहितैषी" निकाला करते थे, तब निर्णयसागर प्रेससे उनका विशेष सम्बन्ध था। निर्णयसागर प्रेसके मालिकोंने उन्हींकी प्रेरणासे 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', 'अष्टसहस्री', 'यशस्तिलकचम्पू' आदि अनेक जैनग्रंथ प्रकाशित किये थे, जिनका कि उस समय जैनसमाज द्वारा प्रकाशन होना असंभव-सा था।

बंगालमें जिनवाणी-प्रचार—

बनारससे 'भारतीय जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था' को कलकत्ता ले गये थे कि बगाली विद्वानोंसे मिल-जुलकर उन्हें भगवान् महावीरकी वाणीकी महत्ता सुझायें।

मुझे वे पचासोंबार पचासों बंगाली विद्वान्, संपादक और लेखकोंके पास ले गये थे। उन्हें वे संस्कृत प्राकृतके जैन ग्रथ भेंट किया करते थे; और इस तरह जिनवाणीकी ओर उनका मनोयोग खीचा करते थे। बँगला मासिकपत्रोंमें सर्वश्री महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य, पं० हरिहर शास्त्री, बा० शरच्चन्द्र घोषाल, बा० हरिसत्य भट्टाचार्य्य, पं० चिन्ता-हरण चक्रवर्ती प्रमुख अनेक विद्वानोंको उन्होंने जैन-साहित्यकी ओर आक-षित किया था। वे वगीय साहित्य-परिषद्के सभासद् रहे और वहाँ उन्होंने अनेक बंगाली लेखकोंकी जैनसाहित्यकी ओर रुचि बढाई। अन्तमें यह सिलसिला इतना बढ़ता गया कि उनके आसपास बंगाली विद्वानोंका एक समूह-सा जम गया।

इसी समय उन्होंने 'वंगीय अहिसा परिषद्' की स्थापना की और उसकी तरफ़से 'जिनवाणी' नामक एक बँगला मासिकपत्रिका प्रकाशित की गई। अहिंसा-परिषद्का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो रहा था, जिसे स्व० रसिकमोहन विद्याभूषण आदि अनेक प्रभावशाली बंगाली विद्वान् लेखक और वक्ताओंका सहयोग प्राप्त था।

भारतीय जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्थाने जैनसिद्धान्तका महत्त्व-पूर्ण प्रकाशन किया; और आज भी, अगर स्व० गुरुजीके निर्देशानुसार ही उसका कार्य जारी रहता तो, और जैसी कि स्व० गुरुजीकी भावना थी, आज निस्संदेह वह 'गीता प्रेस गोरखपुर' और 'कल्याण' जैसी आदर्श संस्था हुई होती। पर जैनसमाजका इतना सौभाग्य कहाँ, जो उसे अपने धर्मकी वास्तविकता समझनेका सुन्दर साहित्य उपलब्ध हो?

मैंने अपनी आँखोंसे गुरुजीको कईबार इसलिए रोते हुए देखा है कि उक्त दोनों संस्थाएँ किसी योग्य, उत्साही और कर्मठ सेवकके हाथ सौंप दी जाएँ, भले ही वह न्यायतीर्थादि उपाधिधारी न हों, पर उसमें लगन और जीवन खपा देनेकी भावना होनी चाहिए।

आज, वंगीय अहिंसा परिषद् और बँगला 'जिनवाणी' का तो नामो-निशान तक मिट चुका है; और भारतीय जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था जिससे गुरुजीका 'गीता प्रेस' का स्वप्न मूर्तिमान हो सकता था, कलकत्ते के किसी एक मकानमें पड़ी अपनी अन्तिम साँसें ले रही है।

काशीके स्याद्वादमहाविद्यालयकी स्थापना करनेमें भी आपका हाथ था। 'जैन-हितैषी' पत्रके जन्मदाता भी आप ही थे। 'धर्मपरीक्षा' का अनुवाद, 'रत्नकरण्डश्रावकाचार', 'द्रव्यसंग्रह' और 'तत्त्वार्थसूत्र' की छात्रोपयोगी टीकाएँ, 'जैन-बाल-बोधक' (४ भाग) 'स्त्री शिक्षा' (२ भाग) आदि जैनधर्मकी पुस्तकोंके सिवा हिन्दीकी सर्वोपयोगी पुस्तकें भी आपने लिखी हैं।

यह तो सन् १९१६–१७ तककी बात है। उसके बाद तो उनके द्वारा बहुत-सी पुस्तकें लिखी गईं; और अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। सच बात तो यह है कि जैन-समाज, समाज-सेवक और साहित्य-सेवियोंका आदर करना जानती ही नहीं; अन्यथा जैन-समाजमें स्वर्गीय पं० पन्नालाल वाकलीवालका स्थान वही होता, जो बंगालमें स्व० ईश्वरचंद्र विद्या-सागरका है। भावी जैनसमाजको धर्मज्ञानकी सच्ची शिक्षासे शिक्षित

देखनेकी दीपशिखावत् चिर-प्रज्वलित महान् भावनासे उन्होंने जैन शिक्षालयोंके लिए पाठ्य-साहित्यका निर्माण-यज्ञ प्रारम्भ किया था।

वह यज्ञ उनकी खुदकी दृष्टिमें अपूर्ण रह गया, यही उनका अन्त समयका पछतावा था, और दूसरा कल्पवृक्ष—जिसका बीज उन्होंने भा० जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्थाके रूपमें बोया था, वह अपने यौवनकालमें ही क्षयरोगग्रस्त हो गया।

युक्ति-अयुक्ति और संभव-असंभवका विचार मैं नहीं करना चाहता; मैं तो चाहता हूँ कि आज जैन-समाजको कविवर पं० बनारसीदासजी, पंडितप्रवर टोडरमलजी, दीवान अमरचन्दजी और पं० पन्नालाल-वाकलीवाल जैसे महापुरुषोंकी आवश्यकता है; और उसकी पूर्ति हो जाय तो जैन-समाज जी जाय।

—दिगम्बर जैन,
दिसम्बर १९४३

पण्डित ऋषभदास

जन्म— चिलकाना, १८६३ ई०

स्वर्गवास— चिलकाना १८९२ ई०

गुदड़ीमें लाल

बाबू सूरजभानु वकील

सहारनपुरसे ६ मीलकी दूरीपर पं० ऋषभदासजी चिलकानेके रहनेवाले थे। इनके पिता पं० मंगलसैनजी जमीदार भी थे, बहुधाकर साहूकारी करते थे। पं० ऋषभदासजीका देहान्त उनकी २९ बरसकी उमरमें ही, शायद सन् १८९२ ई० में या इसके क़रीब हो गया। उन्होंने चिलकानेमें ही किसी मुसलमान मियाँजीसे किसी मक़तबमें या उर्दू स्कूलमें तीन-चार वर्ष पढ़कर सिर्फ़ कुछ थोड़ा-सा उर्दू लिखना-पढ़ना सीखा था, जैसा कि उस ज़मानेमें हमारी तरफ़ दस्तूर था। हिन्दी लिखना-पढ़ना उन्होंने अपने पितासे ही सीखा, और फिर उन्हीके साथ स्वाध्याय करने लगे। इस स्वाध्यायसे ही वह ऐसे अद्वितीय विद्वान् हो गये कि जिसकी कुछ भी प्रशंसा नही की जा सकती है। आप बड़े तीक्ष्ण-बुद्धि थे। न्याय और तर्कमें आपकी बुद्धि बहुत ही ज़्यादा दौडती थी।

चिलकानेसे १४ मीलके फ़ासलेपर कस्बा नकुड़ है, जहाँका मैं रहनेवाला हूँ। यहाँ पं० सन्तलालजी जैन, हिन्दी भाषा जाननेवाले जैन-धर्मके अच्छे विद्वान् रहते थे, वह भी बडे तीक्ष्णबुद्धि थे और न्याय तथा तर्कके शौक़ीन थे। परीक्षामुख और प्रमाण-परीक्षाको खूब समझे हुए थे।

पं० ऋषभदासजीके यह बहुत ही नज़दीकी रिश्तेदार थे। उन्ही की संगतिसे पं० ऋषभदासजीको न्याय और तर्कका शौक़ हुआ। एकमात्र इस शौक दिलाने या प्रवेश करानेके कारण ही पं० ऋषभदासजी अपनेको पं० सन्तलालजीका शिष्य कहा करते थे। पं० मंगलसैनजीने अपने दोनों बेटोंको अलग-अलग साहूकारीकी दूकान करा दी थी और स्वयं एक तीसरी दूकान साहूकारीकी करते थे।

सन् १८८६ ई० में क़स्बे रामपुर जिला सहारनपुरके उत्सवमें मैं भी गया और पं० ऋषभदासजी भी गये। मै उन दिनों सहारनपुरमें

अपने चाचा ला० बुलन्दराय वकीलके वकालतके इम्तिहानकी तैयारीके वास्ते रहता था। वे और उनके पिता रायसाहब मथुरादास इंजिनियर आर्यसमाजी थे। रामपुरके जैन उत्सवमें मेरे साथ बा० बुलन्दराय भी गये थे, वहाँ उन्होंने जैन पण्डितोंके साथ ईश्वरके कर्ता-अकर्ता होनेकी बहस उठाई। जब मैंने देखा कि जैन पण्डितोंके उत्तरसे उनकी पूरी तसल्ली नही होती है, तब स्वयं मुझे ही उनके सन्मुख होना पड़ा और बेधड़क तर्क-वितर्क करके उनको क़ायल कर दिया। इस समय तक मेरी और ऋषभदासजीकी कुछ जान-पहचान नही थी। क्योंकि इससे पहले मेरा रहना परदेशमें ही होता रहा था। यह हमारी बहस पं० ऋषभदासजीने बड़े गौरसे सुनी, जिससे उनके हृदयमें मुझसे मित्रता करनेकी गहरी चाह हो गई। सभा विसर्जन होनेपर जब सब अपने-अपने डेरेपर वापिस जा रहे थे, पं० ऋषभदासजी भी हमारे साथ हो लिये और बाबू बुलन्दराय-से इस विषयमें कुछ तर्क-वितर्क करना चाहा। अतः हम सब लोग रास्ते ही में एक जगह बैठ गये और ऋषभदासजीने नये-नये तर्क करके उनको बहुत ही ज्यादा क़ायल कर दिया, जिससे मेरे मनमें भी उनसे मित्रता करनेकी गहरी इच्छा हो गई। इस इच्छासे वे रात्रिको मेरे डेरेपर आये और हमारी उनकी घनिष्ठ मित्रता हो गई, जो अन्त तक रही। उनको अक्सर सहारनपुर आना पड़ता था। जब-जब वे आते थे, मुझसे ज़रूर मिलते थे और धार्मिक सिद्धान्तोंपर घण्टो बातचीत होती रहती थी।

मेरे पितामहके भाई रायसाहब मथुरादास इंजिनियरकी बहस ईश्वरके सृष्टिकर्ता विषयपर बहुत दिनोसे पं० सन्तलालजीसे लिखित रूपसे चल रही थी। रायसाहब आर्यसमाजके बड़े-बड़े विद्वान् पण्डितोंसे उत्तर लिखवाकर उनके पास भेजा करते थे। अन्तमें पं० सन्तलालजीने जो उत्तर दिया, वह बहुत ही गौरवका था, जिसका उत्तर लिखनेको राय-साहबने पं० भीमसैनजीके पास भेजा जो आर्यसमाजमें सबसे मुख्य विद्वान् थे और स्वामी दयानन्दके बाद उनके स्थानमें अधिष्ठाता माने जाते थे। भीमसैनजीने अपने आर्यसमाजी विद्वान्के उस उत्तरको, जिसका प्रतिउत्तर

पं० सन्तलालजीने दिया था, दूषित बताकर स्वयं नवीन उत्तर लिखकर भेजा, जिससे यह बहस बिल्कुल ही नवीन रूपमें बना दी गई। इस समय पं० सन्तलालजीका देहान्त हो चुका था। इस कारण रायसाहबने भीमसैनजीका लिखा हुआ यह नवीन उत्तर वा नवीन तर्क मेरे पास भेजकर जैन पण्डितोंसे इसका उत्तर लिखकर भेजनेको बहुत दबाया।

रायसाहबका यह ख़याल था कि पं० भीमसैनजी-जैसे महान् विद्वान्के इस नवीन तर्कका जवाब किसी भी जैन पण्डितसे नहीं दिया जावेगा। इस ही कारण उन्होंने बड़े गर्वके साथ मुझको लिखा था कि यदि तुम्हारे जैन पंडित इसका उत्तर न दे सकें तो तुम जैनधर्मपरसे अपना श्रद्धान त्यागकर आर्यसमाजी हो जाओ।

मैंने पं० भीमसैनजीकी इस बहसको सहारनपुरमें सब ही जैन विद्वानोंको दिखाया और इसका उत्तर लिखनेकी प्रार्थना की; परन्तु कोई भी इसका उत्तर लिखनेको तैयार नही हुआ। जब इस भारी लाचारी का जिक्र पं० ऋषभदासजीसे किया गया तो उन्होने कहा कि घबराओ मत इसका उत्तर मैं लिख दूंगा, और छः दिनोंके बाद उन्होंने उसका उत्तर लिखकर मेरे पास भेज दिया और वह मैंने रायसाहबके पास भेज दिया, जिसको पढ़कर रायसाहब और उनके आर्यसमाजी विद्वान् ऐसे क़ायल हुए कि फिर आगे इस बहसको चलानेकी उनकी हिम्मत नहीं हुई और बहस बन्द कर दी गई। इन ही दिनों पं० चुन्नीलाल और मुंशी मुकुन्दराय मुरादाबाद-निवासी दो महान् जैन परोपकारी विद्वान् सारे हिन्दुस्तान में जैन जातिकी उन्नति और उत्थानके वास्ते दौरा करते फिरते थे। जहाँ-जहाँ वे जाते थे, वहाँ-वहाँ जैन-सभा और जैन-पाठशाला स्थापित कराते थे। इस प्रकार उन्होंने सैकड़ों स्थानोंपर सभा और पाठशाला स्थापित करा दी थी। मथुरामें जैन-महासभा और अलीगढ़में जैनमहाविद्यालय भी उन्होंने ही स्थापित कराये थे। दो साल इस प्रकार दौरा करनेके बाद मुशी मुकुन्दरायको गठियाबाय हो गई, तो भी उन्होंने दौरा करना नहीं छोड़ा। फिर एक वर्षके बाद उनका देहान्त हो गया। वे महान् विद्वान्,

सभाचतुर और महान् उच्च कोटिके वक्ता और उपदेशक थे। उनके देहान्तके कारण यह दौरा बन्द हो गया और महासभा भी बन्द हो गई।

फिर इसके दो वर्षके बाद मैंने मथुरा जाकर यह महासभा स्थापित कराई थी और जैनगजट जारी किया था, जो अब चल रहे हैं। दौरा करते समय जब यह दोनों विद्वान् सहारनपुर आये थे, तब मैंने पं० ऋषभदासजी का लिखा हुआ पं० भीमसैनजीके महान् तर्कका उत्तर इन दोनों विद्वानोंको दिखाकर पूछा था कि यह उत्तर ठीक है या नहीं? जिसको देखकर उन्होंने कहा था कि यह उत्तर अत्यन्त ही उच्च कोटिका है और किसी महान् शिरोमणि जैन विद्वान्‌का लिखा हुआ है, तब मैंने ज़ाहिर किया कि यह ऋषभदासजीका लिखा हुआ है तो उन्होंने किसी तरह भी विश्वास नहीं किया और कहा कि हम उसको अच्छी तरह जानते हैं। यह उत्तर ऐसे नौजवानका नही हो सकता है, यह तो किसी महान् अनुभवी विद्वान् का ही लिखा हुआ है।

तब मैंने ऋषभदासजीको बुलवाकर इन विद्वानोंके सामने पेश किया, और कहा कि आप इनकी भली-भाँति परीक्षा कर लें, यह इन्हींका लिखा हुआ है। तिसपर मुंशी मुकुन्दरायजीने दो घण्टे तक तर्कमें उनकी कड़ी परीक्षा ली और अन्तमें आश्चर्यके साथ यह मानना ही पड़ा कि यह महान् उत्तर इन्हीका लिखा हुआ है।

इसके बाद मेरा उनका यही मशविरा हुआ कि इस विषयपर एक ऐसी महान् पुस्तक लिख दी जावे, जिसमें सब ही तर्क-वितर्कोंका उत्तर आ जावे और कोई भी बात ऐसी बची न रहे, जिसकी बाबत किसी विद्वान् से पूछनेकी ज़रूरत रहे। इस मशविरेके बाद ही उन्होंने 'मिथ्यात्वनाशक नाटक' लिखना शुरू किया और एक वर्षकी रात-दिनकी भारी मिहनतके बाद यह महान् अद्भुत भारी पुस्तक तैयार हो पाई। तैयारीके कुछ दिनों पीछे ही, उनकी दूकानमें रातको चोरी होकर यह पुस्तक भी चोरी चली गई।

पक्का सन्देह उनका यही था कि पुस्तकके ही चुरानेके वास्ते ईर्ष्या-वश किसीने यह चोरी कराई है, जिसपर उन्होंने धैर्य धर, फिर दोबारा

यह पुस्तक रचनी शुरू कर दी, और बहुत कुछ लिख भी ली, तब किसी प्रकार यह पहली लिखी पुस्तक भी उनको कहींसे मिल गई। यह पुस्तक उर्दू-अक्षरोंमें लिखी गई थी। उन दिनों मैं देवबन्दमें वकालत करता था और 'जैन हितोपदेशक' नामका एक मासिक पत्र उर्दूमें निकालता था। पं० ऋषभदासजीका 'मिथ्यात्वनाशक नाटक' नामका यह महान् ग्रन्थ मैने देवबन्द मँगा लिया और उसका प्रारम्भिक एक बड़ा भाग नमूने के तौरपर छपवाकर जैन हितोपदेशकके ग्राहकोंके पास भेजा, जिसके पढ़ते ही जैन-जातिमें इसकी भारी दुन्दुभि मच गई, चारो तरफसे इस सारी पुस्तकको प्रकाशित करनेकी ताक़ीद आने लगी, तब मैने इस सारे ग्रन्थको छपवानेका बन्दोबस्त किया, एक कापीनवीस बुलाकर अपने पास रखा और मसालेके काग़ज़पर मसालेकी स्याहीसे पत्थरके छापेपर छपनेवाली कापियाँ लिखवाना शुरू की। बड़े ग़ौरके साथ उनको शुद्ध करके मुजफ़्फ़रनगरमें उनको छपनेको भेजता रहा। इकट्ठा काग़ज़ ख़रीदकर छापेवालेको दे दिया। छापेवाला सिलसिलेवार इन कापियोंको नही छापता था, किन्तु बे-तरतीब जो कापी हाथ आई, वह ही छापता रहा। आधेसे ज्यादा छप जानेपर प्रेस बन्द हो गया, जो कापी छपनेसे रह गई थी, उसको देहली छपनेको भेजा, परन्तु अधिक पुरानी हो जानेके कारण वह न छप सकी, सब करा कराया ग़ारत गया, सारा धन लगा हुआ फिज़ूल गया, छपे हुए सब क़ाग़ज़ जलाने पड़ गये। कुछ दिनों पीछे मास्टर बिहारी-लालजी बुलन्दशहरने इसके पाँच प्रथम भाग छपवाये, जिसके बाद पुस्तक में न्यायके कठिन शब्द आ गये जो उर्दू अक्षरोंमें लिखे जानेके कारण कुछ ठीक नही पढ़े जाते थे, इस कारण मास्टर बिहारीलालजीने उनको शुद्ध कर हिन्दीमें लिखे जानेके लिए बाबू जुगलकिशोर मुख़्तार सरसावा ज़िला सहारनपुरके पास भेज दिया, परन्तु उनको फ़ुर्सत कहाँ ? इस कारण वर्षोंसे अब यह महान् ग्रन्थ उन्हीके पास है, पूर्ण नहीं छप सका है। इसका उद्धार होना बहुत ही ज़रूरी है।

—दिगम्बर जैन, सूरत, दिसम्बर १९४३

पण्डित महावीरप्रसाद

धर्मस्नेहसे ओत-प्रोत

—— गोयलीय ——

पण्डित महावीरप्रसादजीका भौतिक शरीर हमारी दृष्टिसे ओझल हो गया है, किन्तु उनकी आत्मा हमारे चारों ओर घूम रही है। जब उनके शवपर देहलीके जैन खड़े हुए रो रहे थे, तभी किसी देवीने रुँधे हुए गलेसे कहा—"भाई ! शास्त्र पढ़ते हुए देवोंकी बात सुनाते थे, तुम भी देवत्व प्राप्त करना आवागमनके चक्करमें न पड़ना।"

उस देवीकी बात सुनकर मुझे भी रुलाई आ गई। मैंने सोचा ये बहन कितनी भव्यात्मा किन्तु भोली है। अरे जो जैनसमाजके लिए अपने हृदयमें एक वेदना लेकर मरा है, वह क्या कहीं परलोकमें चैनसे रह सकेगा ? उसकी आत्माकी वह तड़प, वोह आग क्या इस नश्वर शरीर-

से निकलते ही मिट जायगी ? आत्माकी लगन तो आत्माके साथ रहती है, वह शरीरके साथ कैसे रह जायगी ?

दशलाक्षणीमें वे रुग्णशय्यासे न उठ सके, तो न नये मन्दिरमे शास्त्र-प्रवचनको बाहरसे विद्वान् ही आया, न कुछ उत्साह ही दीख पडा। उत्साह दीखता भी कहाँसे ? वह तो पण्डितजीकी चारपाई पकडे उनके जीवन की दुआएँ माँग रहा था !

पण्डित महावीरप्रसादजी देहलीके थे, देहलीमें ही जन्मे और देहली मे ही मरे। उनका प्यारका नाम नूरीमल था। अखिल भारतीय ख्याति-प्राप्त न थे, और न इस ख्यातिकी उन्हे चाह थी। वे जैनधर्मके खासे जानकार और पण्डित थे। पर सर्टिफिकेटशुदा और पेशेवर पण्डित न थे। आजीविकाका साधन व्यापार था। घरका मकान था, माँ और स्त्री मर चुकी थी, एक लडकी है उसकी शादी करके निश्चिन्त थे। निरा-कुलतापूर्वक जीवन व्यतीत करते थे।

देहलीमे रहते थे पर समूची जैनसमाजकी हलचलका ज्ञान रखते थे, और देहलीका तो ऐसा एक भी कार्य नही, जिसमे उनका सहयोग न हो। उनके प्रत्येक श्वासमे समाज-सेवाकी भाफ रहती थी।

लोग कहते हैं कि पण्डितजी क्या गये, देहली जैनसमाजका स्तम्भ गिरा गये। मैं कहता हूँ स्तम्भ तो फिर भी लगाया जा सकता है, पर जिसके प्राण निकल गये हो, वह क्या करे ? पण्डित महावीरप्रसादजी देहली जैनसमाजके प्राण थे।

देहलीमे परिषद्-अधिवेशन हुआ, आप प्राणपणसे जुट गये ! वीर-जयन्ती महोत्सव आता, रात-दिन एक कर देते। कही भाषण हो, आपको किसी कोनेमें बैठा देख लो, कोई उत्सव हो, पण्डितजी व्यस्त है। हरएकके आडे वक्तमें काम आते। सच्चे सुधारक और पक्के आचार-वान्। कोई पण्डित है या बाबू इससे उन्हें क्या, उनके स्नेह या आदरके लिए तो जैन होना ही काफी था।

मुझे याद नहीं कि पण्डितजीसे मेरा परिचय कब और कैसे हुआ ? वह परिचय क्या था ? गायका बछड़ेके प्रति स्नेह था। मुझे क्या, वे प्रत्येक सहधर्मीको देखकर हरे हो जाते थे। उनके हृदयमें जो एक धर्मके प्रति अनुराग और मोह था, वह बर्बस बाहर छलक पड़ता था।

मुझे याद है कि जब मुझे लिखनेकी बीमारी थी, कुछ कर गुज़रने की सनक थी ! तभी मैंने "राजपूतानेके जैन वीर" निबन्ध लिखा था। वह कैसे लिखा गया, काग़ज़ और कलम-दावातको पैसे कैसे जुटाये, इतनी पुरानी बात अब याद नहीं। याद है केवल एक बात, और वह यह कि वह हस्तलिखित प्रति उदयपुरके एक ऐतिहासिक बन्धुको दिखाना चाहता था, उनकी भी इच्छा थी। सुयोग भी सहसा मिल गया। एक मेरे परिचित सज्जन उदयपुर जा रहे थे, अत: उनको वह हस्तलिखित प्रति उदयपुर दिखानेको दे दी।

पण्डितजीको उसी रोज मालूम हुआ तो सन्न रह गये। बोले— "तुमने यह क्या किया ? यदि ले जानेवाला कापी खो दे, या न दे तो तुम क्या कर लोगे ? इतने श्रमसे तैयार की हुई पुस्तक तुमने पानीमें बहा दी ? उसे देते हुए तुम तनिक भी न झिझके।"

उसके हाथ कापी भेजते हुए मुझे कितना दुःख हुआ था, कितना संकोच था, यह मैं पण्डितजीको कैसे बताऊँ ? मुझे चुप देखकर बोले— "जाओ उनसे जैसे भी बने कापी वापिस ले आओ, खबरदार जो आइन्दा ऐसा बचपन किया तो ?"

फिर बोले—"तुम कापी वापिस न लाओ, न जाने वह क्या समझे ? मुमकिन है वह देनेसे मना कर दे। अतः तुम भी उनके साथ उदयपुर चले जाओ और रास्तेमें कुछ घटाने-बढानेके बहाने कापी लेकर अपने क़ब्ज़ेमें कर लेना। उस कापीपर तुम्हारा ही नहीं, हम सबका अधिकार है। अतः अपने सामने दिखाकर वापिस ले आना।"

न जाने क्या-क्या बातें समझाई, पर मैं कैसे कहूँ कि पण्डितजी

रेलवे उधार टिकिट देती नहीं है, और मुझे बग़ैर टिकिट बैठनेका अभ्यास नही है। मुझे बोलनेका मौक़ा न देकर स्वयं ही बोले—

"लो यह २५ रु०, अभी जाकर उदयपुर जानेकी तैयारी कर दो। यह रुपये जब चाहो सुभीतेसे दे देना, चिन्ताकी ज़रूरत नही।"

वे रुपये तो उन्होंने मुझे वैसे ही दिये थे, उधार नहीं। पर कहा इसलिए नहीं कि मैं कही बुरा न मान जाऊँ। दान देकर भिक्षुकके स्वाभिमानकी रक्षा भी हो जाये, यह कला हरएक थोड़े ही जान सकते है। जो जानते हैं, वे संसारमें बिरले ही होते हैं और उनमें एक थे पण्डित महावीरप्रसादजी !

पुस्तक भी छपी, उनके रुपये भी उतर गये, पर वह बात नहीं भूलती। भुलाई भी कैसे जाय ? यह बात भी क्या भूलनेकी है।

उन दिनो "अनेकान्त" बन्द था। वीर-शासन-जयन्तीपर १३ जुलाई १९३८ को सरसावा जाना था, पण्डितजीको मालूम हुआ तो बोले— "तुम्हारा जाना बेकार न निकले, जाओ तो कुछ कामकी बात करके आना। मुख्तार साहबके पास अनमोल हीरे भरे पड़े हैं, छीन सको तो छीन लो और समाजमें बखेर दो, इस जीवनका कोई भरोसा नही, उनसे जो कुछ लिया जा सके, जल्दीसे ले लो।"

बात सुनी और अनसुनी कर दी, मगर सरसावे गया तो ऐसा मालूम हुआ कि पण्डितजीका वह आदेश हमारे साथ-साथ आया है और वही आदेश अनेकान्तको फिर दुबारा देहली ले आया ! उन्हें अनेकान्तके पुनः प्रकाशनकी सूचना मिली तो गद्गद हो गये, क्या पुत्रके विवाहमें वह खुशी होती होगी ? पर हाय रे विधना ! अनेकान्तके पुनः प्रकाशनके उस अंकको वह न देख सके और उससे पहले ही स्वर्गस्थ हो गये।

पारसाल पोह बदी २ को रथोत्सव था। जल्दी तैयार हुआ, मनमें उमंग थी, उत्सवमें पण्डितजी मिलेंगे ! सहसा दिलमें किसी ने घूंसा मारा—पण्डितजी अब कहाँ और कैसे मिलेंगे ? वह हर जयन्ती और

हर उत्सवमें याद आते हैं, जब दीख नहीं पड़ते, तो एक अभाव-सा खटकता है। वीर-जयन्ती नजदीक है, आज उसी सिलसिलेमें उनकी याद हो आई और इसलिए दो शब्द लिखकर उनके प्रति यह श्रद्धाञ्जलि भेंट कर रहा हूँ।

—वीर, १३ अप्रैल १९४०

जन्म— पानीपत, १८९६ ई०

स्वर्गवास— २५ मार्च १९३३ ई०

क्या खूब आदमी थे

प० अरहदासजीका रोम-रोम धर्म-रसमें डूबा हुआ था। उनका जीवन सदाचरणसे ओत-प्रोत और खान-पान, अत्यन्त शुद्ध और सात्त्विक था। पूजा, स्वाध्याय, सामायिक आदिमें जिस प्रकार वे लीन रहते थे, उसी प्रकार समाजोन्नतिके कार्य्योंमें भी वे सदैव अग्रसर रहते थे। पानीपतके हिन्दू-मुसलमान सभी उन्हें अपना समझते थे, हर एकके आडे वक्तमें काम आते थे। महमॉनवाज, मिलनसार और बडे ही जिन्दादिल इन्सान थे।

—गोयलीय

सेवाभावी

श्री रूपचन्द्र गार्गीय

पंडित अरहदासजी पानीपतनिवासी, उत्तर भारतकी जैन-समाजके एक नर-रत्न थे। सदा हँसमुख, सरलस्वभावी, धार्मिक क्रियाओंमें सावधान रहते थे। आप शुद्ध खद्दरके वस्त्र पहनते थे, ऊन व चमडेकी वस्तुओंका प्रयोग नही करते थे। शास्त्र-स्वाध्याय मन लगा कर करते थे। ऊँचे सिद्धान्त-ग्रन्थोंका खूब अध्ययन करते थे। दार्शनिक चरचामे उनकी बड़ी रुचि थी। देवपूजा बड़े चावसे करते थे, पर्वके दिनों मे तो गाजेबाजेके साथ घटो पूजनमें संलग्न रहते थे। भजन गायन द्वारा भी भक्ति करनेका उन्हें बड़ा शौक था। रथोत्सवोके अवसरपर व्याख्यान देने व भजन गानेमे भी आप दक्ष थे। भगवान्के सामने नृत्य करनेमें अपना सौभाग्य समझते थे। इनका यह दृढ़ विचार था कि ३५ वर्षकी अवस्था हो जानेपर, घरबारके धन्धोंको छोड़कर एकान्तमें रहकर धर्म-साधन किया करेंगे, परन्तु उस अवसरके आनेपर आप अस्वस्थ हो गये और दो सालकी लम्बी बीमारीके बाद २५ मार्च १९३३ को स्वर्गवासी हो गये। अनुचित बातोका सामना करनेमें आप बड़े दिलेर थे और छोटे-बडे सभी बन्धुओंकी समान भावसे सेवा करनेमें तत्पर रहते थे। अनेक कष्ट सहन करके व खर्च करके भी सेवासे मुख नही मोड़ते थे, इसी कारणसे वे सबको प्रिय थे। शहरकी हिन्दू व जैन समाजकी किसी भी सभा-सोसा-इटीका कार्य रुकता देखकर, उसके चलानेका सारा भार अपने कन्धोंपर ले लेते थे। इसी कारण आप बरसों गऊशाला कमेटी व काग्रेस कमेटीके सभा-पति रहे। उनका देश-प्रेम भी ऊँचे दर्जेका था। आप सुधारक-विचारों-के थे, जाति व समाजको लगी बुराइयों व रूढ़ियोंसे उभारनेमें चिन्तित रहते थे। स्त्रियोंको धर्म-मार्गपर लगानेका कार्य भी आपने बड़ी लगन

से किया। दिगम्बर जैन-शास्त्रार्थ संघ अम्बालाकी स्थापना व कार्य-संचालनमें आपका प्रमुख हाथ था। ब्र० सीतलप्रसादजीके साथ आपका गहरा सम्बन्ध था, उनकी सुधारक योजनाओंको सफल बनानेमें आप प्रयत्नशील थे। यद्यपि ब्र० सीतलप्रसादजी मन्दिरोंमें सुधारक विषयों का छोड़कर धार्मिक विषयोंपर ही भाषण करते थे, फिर भी एकबार पानीपतके कुछ स्थितिपालक महानुभावोंने श्री ब्र० सीतलप्रसादजीका व्याख्यान दि० जैन-मन्दिरमें करानेका विरोध किया तो आपने उनका डटकर विरोध किया और भाषण करानेमे सफल हुए। इस प्रकार पं० अरहदासजीका जीवन एक अलौकिक और क्रान्तिकारी जीवन रहा है जो समाजके अन्य युवकोंके लिए आदर्श था।

—पानीपत, १० मई १९५१

जन्म— सरसावा, वि० स० १९३४

वर्तमान आयु— ७५ वर्ष वि० स० २००८

पथ-चिन्ह

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

जीवनका रिकार्ड—

मगसिर सुदि एकादशी, संवत् १९३४ !

वर्षके ३६५ दिनोंमें वह भी एक दिन था। उस दिन भी प्रभातके अनन्तर सन्ध्याका आगमन हुआ था और तब निशा रानीने अपना काला आँचल पसार सबको अपनी गोदमें ले लिया था। यह कोई खास बात न थी, पर हाँ, एक खास बात थी, जिसके कारण राष्ट्रभारतीके इस पत्रकार-को उसका उल्लेख यहाँ करना पड़ेगा। उस दिन सरसावा (सहारनपुर) में श्री चौधरी नत्थूमल जैन अग्रवाल और श्रीमती भोईदेवी जैन अग्र-वालके घरमें एक बालकने जन्म ग्रहण किया था।

बुद्धू और घसीटा, अल्लादिया और विल्सन, सबके जन्मोंका रिकार्ड म्यूनिसिपैलिटियाँ रखती हैं, पर कुछ ऐसे भी हैं, जिनके जन्मका रिकार्ड राष्ट्र और जातियोंके इतिहास प्यारसे अपनी गोदमें सुरक्षित रखते हैं। यह बालक भी ऐसा ही था—जुगलकिशोर ! उसीकी जीवन-प्रगतिके पथचिह्नोंका एक संक्षिप्त लेखा मुझे यहाँ देना है।

साहित्य-मन्दिरके द्वारपर—

"अरे तुम पहले पढ़ लो, फिर जुगलकिशोर जम गया, तो रह जाओगे !" यह मकतबके मुंशीजीका दैनिक ऐलान था।

५ वर्षकी उम्रमें उर्दू-फारसीकी शिक्षा आरम्भ। जहन अच्छा और परिश्रमी। पढ़नेका यह हाल कि २०-२० पत्रोंका रोज सबक़। शुरूमें पढ़ने बैठ जायें, तो मुंशीका सारा समय पी लें और दूसरे लड़कोंका सबक़ नदारद।

गुलिस्ताँ-बोस्ताँ पढ़ते-पढ़ते आपकी शादी हो गई और १३-१४ वर्षकी उम्रमें आप गृहस्थी हो गये।

उन्हीं दिनो सरसावामें हकीम उग्रसैनने एक पाठशाला खोली। आप उसमें हिन्दी पढ़ने लगे और संस्कृत भी। साथमें जैन-शास्त्र भी धार्मिक भावसे पढ़ते थे, पर पढ़नेका शौक़ देखिये कि इन सबके साथ आपने उस समयके पोस्टमास्टर श्री बालमुकुन्दसे अपने फालतू समयमें अंग्रेज़ीकी प्राइमर भी पढ़ ली।

मास्टर जगन्नाथजी बाहरसे बुलाये गये और अंग्रेज़ीका एक नया स्कूल खुला। अपने इस स्कूलकी ओर लड़कोंको आकर्षित करनेके लिए आपने एक कविता लिखी, जिसकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

नया इस्कूल यह जारी हुआ है, चलो, लड़को पढ़ो, अच्छा समा है।
जमाअत दसवीं[1]से है पाँचवीं तक, पढ़ाई सर-बसर क़ायम है अब तक॥

कविता लिखनेकी यह प्रवृत्ति आपमें कहाँसे आई? यह एक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है, क्योंकि उस समय एक तो सारे देशमें ही ऐसा साहित्यिक वातावरण न था, फिर सरसावा तो बहुत ही पिछड़ी हुई जगह थी। मुझे ऐसा लगता है कि आपमें जन्मजात जो प्रचार-प्रतिभा थी, उसने आपको प्रेरणा दी—'चलो लड़को, पढो, अच्छा समा है!' और आपकी आर-म्भिक उर्दू शिक्षा इस 'कविता' के शब्दसंगठनमें सहायक हुई—'पढाई सर-ब-सर क़ायम है अबतक'। उस दिन कौन जानता था यही बालक भविष्यमें 'मेरी भावना' का लेखक और 'वीरसेवामन्दिर' का संस्थापक होनेको है।

पहला मोर्चा—

पाँचवें क्लास तक इस स्कूलमें पढकर आप गवर्नमेण्ट हाईस्कूल सहारनपुरमें प्रविष्ट हुए और 'दूसरे' (आज-कलकी ९ वें) क्लास पास करने तक यहाँ पढ़ते रहे। इण्ट्रेंस आपने प्राइवेट पास किया, इसकी भी

१—उस समयके स्कूल दसवें क्लाससे आरम्भ होते थे और पहलेमें इन्ट्रेन्स होता था।

एक कहानी है। जैन-शास्त्रका आप प्रतिदिन पाठ करते थे और उसकी 'विनय' के भावसे आपने बोर्डिंगहाउसके अपने कमरेपर यह लिख रक्खा था कि None is allowed to enter with shoes किसीको जूता पहने अन्दर आनेकी इजाजत नही। एक मुसलमान विद्यार्थी एक दिन जबर्दस्ती भीतर जूता ले आया। इस पर उसे धक्का देकर आपने बाहर कर दिया। नये आये हुए हेडमास्टरने इस केसमें न्याय नहीं किया और प्रतिवादमें आपने स्कूल छोड़ दिया। इस हेडमास्टरसे आप इस बातसे भी असन्तुष्ट थे कि उसने एक बार दशलक्षण पर्वमें शास्त्र पढनेके लिए सरसावा जानेको छुट्टी नहीं दी थी। पर्वके दिनोमें आप ही वहाँ, अपनी छोटी उम्रसे ही, शास्त्र पढ़ा करते थे, इसलिए छुट्टी न मिलने पर भी आप गये और जुर्मानेका दण्ड स्वीकार किया।

आनुषंगिक संयोग देखिये कि इस रूपमें आपने अपने जीवनका जो सबसे पहला संघर्ष रचा, उसका सीधा संबध जैनसाहित्यके साथ था। उस दिन कौन कह सकता था कि इस 'किशोर'का सारा जीवन ही जैनसाहित्यके लिए संघर्ष करनको निर्मित हुआ है!

छापेके अक्षरोंमें-

सरसावाकी जैनपाठशालामे पढ़ते समय ी, आपकी लेखन-प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हो चली थी। आपके उस समयके अभ्यास-लेखादि तो अप्राप्य हैं, पर ८ मई १८६६ के 'जैन गजट' (देवबन्द) में आपका जो पहला लेख छपा था, वह प्राप्य है। यह जैनकालिजके समर्थनमें है और इसका आरम्भ इस प्रकार होता है—

"भाई साहबो, सब तरह विचार करने और दृष्टि फैलानेसे मेरी सम्मतिमें तो यही आता है कि सब अन्धकार केवल अविद्याका है और विद्यारूपी सूरजके प्रकाश होते सब भाग जायेगा, फिर न मालूम भाइयों ने और कौन-सा उपाय इसके दूर करनेका सोच रक्खा है, जिससे कि इतना समय बीत गया है और यह दूर नहीं हुआ और इसके कारण जो-जो नुक़सान हुए हैं, वह सबको विदित हैं।"

इस लेखपर जैनगज़टके सम्पादक श्री बाबू सूरजभानजीने जो शीर्षक लगाया था, वह उस कालकी हिन्दी-पत्रकार-कलाका एक मनोरंजक उदाहरण है—

"लाला जुगलकिशोर विद्यार्थी, सरसावा ज़िला सहारनपुरका लेख अवश्य पढ़िये।"

सम्पादकके पास लेख भेजते समय जो पत्र आपने लिखा था वह भी 'जैन गज़ट'के इसी अंकमें छपा है, उसका दर्शनीय 'ड्राफ़्ट' इस प्रकार है—

प्रार्थना

"श्रीमान् बाबू सूरजभान साहिब, जैसे कि लघु एक पुरुष व बड़े काम करनेकी प्रार्थना करे तो यह कैसे हो सकता है, परन्तु जैसे कि पानके मंगतसे तुच्छ पत्ता बादशाह तक पहुँच जाता है, इसी प्रकार मैं हकीम उग्रसैनकी आज्ञानुसार और आप लोगोंकी सहायतासे आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे इस उपरोक्त विषयको यदि आप अच्छा समझें, तो सुधार कर अपने अमूल्य पत्रमें स्थान देवें। यद्यपि यह लेख योग्यता नहीं रखता है, परन्तु यदि आप स्थान देंगे, तो मेरा मन भी प्रफुल्लित हो जावेगा और मैं आपको कोटिशः धन्यवाद दूँगा।

आप कृपापूर्वक प्रार्थनाको पहले लिखें, पश्चात् कुल लेख लिखें। यदि एक पत्रमें न आवेगा तो दोमें छाप देवें।

आपका आज्ञाकारी

जुगलकिशोर वि० दफे ३"

'वि० दफे ३' का अर्थ है—दर्जा ३ का विद्यार्थी, पर ३ छपाईकी भूल है, उस समय आप ५वें क्लासमें पढ़ते थे। सन् १९०० मे आपके घरमें बच्चा होनेवाला था, उस अवसरपर स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं, वे आपको पसन्द नही आये और आपने स्वयं एक गीत लिखकर दिया, जिसकी पहली पंक्ति इस प्रकार थी—

"गावो री बधाई सखि मंगलकारी"

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि आपकी भावनाओंका जागरण तीव्र-गतिसे हो रहा था और आप पढते समय ही उर्दूसे हिन्दीकी ओर ढल गये थे।

'जैनगजट' में आप अक्सर लेख लिखते रहे और आपकी काव्य-प्रवृत्ति भी प्रस्फुटित होती रही। संभवतः १६०० में ही शोलापुरसे 'अनित्य पंचाशत्' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। आपको वह बहुत पसन्द आया और आपने तभी उसका पद्यानुवाद कर डाला।

उसका एक नमूना अनुवाद सहित इस प्रकार है—

यद्येकत्र दिने न भुक्तिरथवा निद्रा न रात्रौ भवेत्
विद्रात्यम्बुजपत्रवद् दहनतोऽभ्याशस्थिताद्यद्ध्रुवम्।
अस्त्रव्याधिजलादितोऽपि सहसा यच्च क्षयं गच्छति,
भ्रातः कात्र शरीरके स्थिरमतिर्नाशेऽस्य को विस्मयः॥

× × ×

एक दिवस भोजन न मिले या नींद न निशिको आवै,
अग्निसमीपी अम्बुज दल सम यह शरीर मुरझावै,
शस्त्र-व्याधि-जल आदिकसे भी, क्षणभरमें क्षय हो है,
चेतन! क्या थिर बुद्धि देहमें विनशत अचरज को है?

उपदेशकके रूपमें—

इन्ट्रेंस पास करते ही आपके सामने जीविकाका प्रश्न आया। इधर-उधर नौकरीकी तलाश की, पर मन-माफिक कोई काम न मिला। अन्तमें आपने बम्बई प्रान्तिक सभाकी वैतनिक उपदेशकी सन् १८९९ के नवम्बरमें आरम्भ की जो १ मास १४ दिन ही चली। उपदेशकके दो रूप हैं। एकमें वह अपनेको उपस्थित जनसमूहके सामने नेताके रूपमें सन्देश देते हुए पाता है और दूसरेमें संस्थाके सभापति और महामन्त्रीके सामने एक नौकरके रूपमें निर्देश लेते हुए; और तब उसका मन उससे पूछता है कि ये लोग कुछ न करते हुए भी सम्माननीय हैं और मैं संस्थाके लिए रात-दिन काम करके भी सम्मान-हीन हूँ। केवल इसीलिए तो कि मैं अपने निर्वाहके लिए कुछ रुपये भी लेता हूँ और ये नहीं लेते। संभवतः

इसी प्रकारका कोई अनुभव पण्डितजीको हुआ या क्या, उन्होंने यह निश्चय किया कि रुपया लेकर उपदेशकीका काम न करेंगे और नौकरी छोड़ दी।

मुख़्तार हुए—

अपने निर्णयको उन्होंने इतनी कठोरतासे निबाहा कि पारिश्रमिक आदिके रूपमें रुपया लेकर कभी समाजका काम नहीं किया और काम करके भी अपने लिए समाजसे कभी रुपया नहीं लिया। स्वतन्त्र रोज़गार की दृष्टिसे सन् १९०२ में आपने मुख्तारीकी परीक्षा पास की और सहारनपुरमें प्रैक्टिस करते रहे। १९०५ में आप देवबन्द चले गये और वहीं प्रैक्टिस करते रहे। अपना यह स्वतन्त्र क़ानूनी व्यवसाय करते हुए भी आप बराबर समाजसेवाके कामोंमें भाग लेते रहे।

सम्पादकके रूपमें—

१ जुलाई १९०७ में आप महासभाके साप्ताहिक मुखपत्र 'जैन गज़ट' (देवबन्द) के सम्पादक बनाये गये। यह आपके सम्पादनका आरम्भ था। सम्पादन ग्रहण करते समय पत्रमें आपने किसी प्रकारकी अपनी नीतिघोषणा नहीं की, सिर्फ़ मंगलाचरणके रूपमें एक लेख लिखा। वास्तवमे तब आप लेखक थे और आपकी सम्पादन-कला अंकुरित ही हो रही थी। ३१ दिसम्बर १९०९ तक आप उसके सम्पादक रहे।

इस बीचके 'जैन गज़ट'का निरीक्षण करनेसे हम आपकी तात्कालिक सम्पादन-प्रवृत्तियोंको ३ भागोंमें बाँट सकते हैं। पहली भाषा-संशोधनात्मक, दूसरी सुधारभावनात्मक और तीसरी प्रमाणसंग्रहात्मक। आपने उस कालमें अपनी और दूसरे लेखकोंकी भाषाके संशोधनमें बहुत भारी परिश्रम किया। आप यह ध्यान बराबर रखते थे कि हरेक लेख, टिप्पणी या सूचना इस प्रकार दी जाये कि समाजमें सुधारकी भावना जागृत हो; और जो कुछ भी कहा जाये वह प्रमाण-परिपुष्ट हो। अपने अग्रलेखोंमें आपने सदैव तीनों प्रवृत्तियोंका समन्वय रखनेकी चेष्टा की है और यही कारण है कि आपके अग्रलेख प्रायः बहुत लम्बे रहे हैं। २०×२६ = ४ साइज़के पत्रमें ७-८ कालमके अग्रलेख आप प्रायः लिखते थे। १ अक्टूबर

१९०७ का अग्रलेख तो ११। कालममें समाप्त हुआ है। यह 'आवागमन' के सम्बन्धमें हैं।

१ सितम्बर १९०७ के अग्रलेखमें आपने पत्रोंमें प्रकाशित होनेवाले अश्लील विज्ञापनोंका विरोध किया है और फिर १ जनवरी १९०८ में भी इसी विषयपर लिखा है। सम्भवतः विज्ञापनोंके संशोधनपर देशभरमें सबसे पहले आवाज़ उठानेवाले सम्पादक आप ही हैं।

अनुसंधान-प्रवृत्तियाँ–

आपकी तीसरी प्रवृत्ति प्रमाण-संग्रहने ही वास्तवमें आपके अनुसंधाता रूपकी सृष्टि की है। १ सितम्बर १९०७ के अंकमें शाकटायनके व्याकरणपर आपका एक लेख है–– 'हर्षसमाचार'। इसमें इस व्याकरण-के छपनेपर हर्ष प्रकट किया गया है और जैनियोंसे उसके अध्ययनकी सिफ़ारिश की गई है। यह सबसे पहला लेख है, जिसकी लेखनशैली-में खोजपूर्णता तो नहीं, पर प्राचीन साहित्यके अनुसंधानके प्रति मुख्तार साहबकी बढ़ती अभिरुचिका निर्देश है। ८ सितम्बर १९०७ के अग्रलेख-में यह प्रवृत्ति और स्पष्ट हुई है जो सम्मेदशिखर तीर्थके सम्बन्धमें लिखा गया था।

सफल सम्पादक–

आपके सजीव सम्पादनको जनताने पसन्द किया और 'जैन गजट' की ग्राहकसंख्या ३०० से १५०० हो गई। श्री नाथूरामजी प्रेमीने इसके १० वर्ष बाद 'जैनहितैषी' का सम्पादन मुख्तार साहबको सौपते समय लिखा था–"वे कई वर्ष तक 'जैन गज़ट' का बड़ी योग्यताके साथ सम्पादन कर चुके हैं। उनके सम्पादकत्वमें 'जैन गज़ट' चमक उठा था।" प्रेमीजी जैसे विद्वान्के मनपर १० वर्ष बाद तक उनके इस सम्पादनकी छाप रही, यह पर्याप्त महत्त्व-सूचक है।

'जैन गज़ट' के सम्पादकत्वसे आपने क्यों त्यागपत्र दिया, ठीक मालूम नहीं। २४ दिसम्बरके अंकमें मोटे टाइपमें यह सूचना आपने दी है कि ३१ दिसम्बरके बाद हम काम नही करेंगे, यह बात हम अधिकारियोंको

बार-बार लिख चुके हैं। इस सूचनामें कुछ ऐसी ध्वनि है कि अधिकारियों-से आपका सम्भवतः कुछ मतभेद था।

भट्टारकोंके दुर्गपर–

'जैन गजट' के सम्पादनसे जो समय बचा, उसे आपने जैन साहित्य-के गम्भीर अध्ययनमें लगाया। आपके जीवनमें व्यावहारिक आदर्शकी प्रवृत्ति थी–आप समाजको जिस ढोंगहीन सात्त्विक रूपमें ढालनेका आन्दो-लन करते थे, उसमें अपना ढलना सबसे पहले आवश्यक समझते थे। जैन-धर्मकी दृष्टिमें आदर्श गृहस्थका क्या रूप है, इसका अध्ययन आपने इसी दृष्टिसे आरम्भ किया। आपका विचार था कि इसके अध्ययनके फलस्वरूप एक पुस्तक लिखेंगे। वह पुस्तक तो आज तक न लिखी गई, पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि आपका ध्यान इस बातपर गया कि जैन-शास्त्रोंमें भट्टारकोंने जैनधर्मके विरुद्ध बहुत-सा अण्ट-सण्ट इधर-उधरसे लाकर मिला दिया है जिससे जैनधर्मकी मूल-परम्पराका विकृत रूपमें हमें दर्शन मिलता है। इस प्रक्षिप्त अंशकी ओर पहले भी शायद विद्वानोंका ध्यान गया होगा, पर आपने वह मौलिक खोज आरम्भ की कि यह प्रक्षिप्त अंश कहाँसे लिया गया है? बादमें यही खोज 'ग्रन्थपरीक्षा' नामक पुस्तकके चार भागोंमें प्रकाशित हुई।

त्यागके पथपर–

यह गम्भीर अध्ययन आपके जीवनपर भी अपनी गंभीर छाप डालता-गया और अब वह मुख्तारगीरी आपको भार होने लगी। जीवनका बहु-मूल्य समय जीविकामें लगाकर फालतू समयमें अनुसंधान या समाजसेवा-का कार्य किया जाये, यह आपके लिए अब असह्य हो चला और आप बाबू सूरजभानजीसे बार-बार यह तक़ाज़ा करने लगे कि दोनों वकालत छोड़कर सारा समय अनुसंधान और समाज-सेवामें लगावें। जब-तब आप बाबूजीपर यह तक़ाज़ा करने लगे। एक दिन शामको घूमते समय बाबूजीने कहा– "अच्छा तुम रोज़ कहते हो, तो आज रातमें गम्भीरतासे सोच लो, कल अन्तिम निर्णय करेंगे। दूसरे दिन प्रातःकाल आप बाबूजीके घर पहुँचे

और अपना निर्णय उन्हें बताया। फलतः १२ फरवरी १९१४ को बाबू सूरजभानजीने अपनी वकालत और पं० जुगलकिशोरजीने अपनी मुख्तारी छोड़ दी। आप दोनों ही उस समय देवबन्दके प्रमुख 'लीगल प्रैक्टिशनर' थे, इसलिए आप लोगोके भीतर समाज-सेवाका जो अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था, उससे अपरिचित होनेके कारण लोगोंको इससे बहुत आश्चर्य हुआ।

साधनाका 'मैनीफेस्टो'–

यह अन्तर्द्वन्द्व मुख्तारगीरी छोड़नेके बाद लिखी उस कवितामें प्रकट हुआ, जो 'मेरी भावना' के नामसे प्रसिद्ध है। यह कविता पुस्तिका रूपमें अभीतक २० लाख छप चुकी है और इसका अग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, गुजराती, मराठी, कन्नड भाषाओमें अनुवाद हो चुका है। यूरोपकी राजनीतिक पार्टियोके चुनाव मैनीफेस्टोकी तरह यह मुख्तार साहबकी जीवन-साधनाका मैनीफेस्टो (घोषणापत्र) थी। अनेक प्रान्तोंके डिस्ट्रिक्ट और म्यू० के स्कूलोमें तथा कारखानोमे यह सामूहिक प्रार्थनाके रूपमें प्रचलित है और जैनसमाजमें तो प० जुगलकिशोर और मेरी भावना एक ही चीजके दो नाम समझे जाते हैं। हजारो परिवारोमे उसका नित्य पाठ होता है और जैन उत्सवोकी आरम्भिक प्रार्थनाके लिए तो वह पेटेण्ट ही हो गई है। उसके प्रचार, प्रकाशनका हिन्दीमे एक अपना ही रिकार्ड है। यह कविता सबसे पहले 'जैनहितैषी' अप्रैल-मई १९१६ के सयुक्तांकमें छपी थी।

नया बम–

१९१६ के लगभग ग्रन्थपरीक्षाके दो भाग प्रकाशित हुए। यह परम्परागत संस्कारोंपर कड़ा आघात था। अनेक विद्वान् इससे तिलमिला उठे और उन्होंने पण्डितजीको धर्मद्रोहीकी उपाधि दी। भोली जनता भी इस प्रवाहमें बह गई, पर आप चुपचाप अपने काममें लगे रहे और अपने गम्भीर अध्ययनके बलपर आपने एक नया बम पटक दिया—जैनाचार्यों तथा जैनतीर्थङ्करोंमें शासन-भेद! आपकी इस लेखमालासे कोहराम मच गया। यदि जैनाचार्योंमें परस्पर मतभेद मान लिया जाय, तो फिर

आपकी वह स्थापना प्रमाणित हो जाती थी कि वीरशासन (जैनधर्म) का प्राप्त रूप एकान्त मौलिक नहीं है। उसमें बहुत कुछ मिश्रण हुआ है और संशोधनकी आवश्यकता है। इसके विरुद्ध भी उछल-कूद तो बहुत हुई, पर पण्डितजीकी स्थापनाएँ अटल ही रहीं, कोई उनके विरुद्ध प्रमाण न ला सका।

अखण्ड आत्मविश्वास–

१६२० में आपकी कविताओंका संकलन 'वीरपुष्पांजलि' के नामसे छपा। तब आप समाजके घोर विरोधका मुकाबला कर रहे थे, पर अपनी स्थापनाओंकी अकाट्यता और विरोधियोंकी हारमें आपका कितना अभंग विश्वास था, यह आपकी निम्न ४ पंक्तियोंसे स्पष्ट है, जो 'वीर-पुष्पांजलि' के मुखपृष्ठपर छपी थी—

"सत्य समान कठोर, न्यायसम पक्ष-विहीन,
हूँगा मैं परिहास-रहित, कूटोक्ति क्षीण।
नहीं करूँगा क्षमा, इंचभर नहीं टलूँगा,
तो भी हूँगा मान्य ग्राह्य, श्रद्धेय बनूँगा।"

पहली तीन पंक्तियोंमें उन्होंने अपने स्वभावका फोटो दे दिया है और आखिरीमें अपने आत्मविश्वासका—अक्षरशः यथार्थ!

फिर सम्पादक–

अक्टूबर १६१६ में श्री नाथूराम 'प्रेमी' ने आग्रह करके उन्हें जैन-हितैषीका सम्पादक बनाया और अपने 'प्रारम्भिक वक्तव्य' में कहा—

"बाबू जुगलकिशोरजी जैनसमाजके सुपरिचित लेखक हैं, × × × 'जैनहितैषी' में भी पिछले कई वर्षोंसे आप बराबर लिखते रहे हैं। इस कारण हमारे पाठक आपकी योग्यतासे भली भाँति परिचित हैं। आप बड़े ही विचारशील लेखक हैं। आपकी क़लमसे कोई कच्ची बात नहीं निकलती। जो लिखते हैं वह सप्रमाण और सुनिश्चित। आपका अध्ययन और अध्यवसाय बहुत बढ़ा है। × × × 'जैन-हितैषी' का सौभाग्य है कि वह ऐसे सुयोग्य सम्पादकके हाथमें जा रहा है।"

पं० जुगलकिशोरजीने भी 'जैन-हितैषीका सम्पादन' शीर्षकसे इस अंकमें एक टिप्पणी लिखी, जिसमें आरम्भमें प्रेमीजीके आग्रहपर उन्हें कैसे यह सम्पादनभार ग्रहण करना पड़ा, यह बतानेके बाद अपनी नीतिके सम्बन्धमें लिखा है—"मैं कहाँ तक इस भारको उठा सकूंगा और कहाँ तक जैन-हितैषीकी चिरपालित कीर्तिको सुरक्षित रख सकूंगा, इस विषय-में मैं अभी एक शब्द भी कहनेके लिए तैयार नही हूँ और न कुछ कह ही सकता हूँ। यह सब मेरे स्वास्थ्य और विज्ञ पाठकोंकी सहायता, सहकारिता और उत्साहवृद्धि आदिपर अवलम्बित है, परन्तु बहुत नम्रताके साथ, इतना ज़रूर कहूँगा कि मैं अपनी शक्ति और योग्यतानुसार, अपने पाठकों की सेवा करने और जैन-हितैषीको उन्नत तथा सार्थक बनानेमें कोई बात उठा नहीं रक्खूंगा।"

'जैन-हितैषी'का सम्पादन आपने १६२१ तक दो वर्ष किया।

महान् कार्य–

१६२८में 'ग्रन्थपरीक्षा' का तीसरा भाग प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिकामें श्री नाथूराम प्रेमीने लिखा है—"मुख्तार साहबने इन लेखोंको, विशेषकर सोमसेन त्रिवर्णाचारकी परीक्षाको, कितने परिश्रमसे लिखा है और यह उनकी कितनी बड़ी तपस्याका फल है, यह बुद्धिमान् पाठक इसके कुछ ही पृष्ठ पढ़कर जान लेंगे। **मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षोंसे किसी भी जैन विद्वान्ने कोई इस प्रकारका समालोचक ग्रन्थ इतने परिश्रमसे लिखा होगा और यह बात तो बिना किसी हिचकिचाहट के कही जा सकती है कि इस प्रकारके परीक्षालेख जैनसाहित्यमें सबसे पहले हैं।'**

"× × × ग्रन्थपरीक्षाके लेखक महोदयने एक अलब्धपूर्व कसौटी प्राप्त की है, जिसकी पहलेके लेखकोंको कल्पना भी नहीं थी और वह यह कि उन्होंने हिन्दुओंके स्मृतिग्रन्थों और दूसरे कर्मकाण्डीय ग्रन्थोंके सैकड़ों श्लोकोंको सामने उपस्थित करके बतला दिया है कि उक्त ग्रन्थोंमें-से चुरा-चुराकर और उन्हें तोड़-मरोड़कर सोमसेन आदिने अपने-अपने

'भानमतीके कुनबे' तैयार किया है। जाँच करनेका यह ढंग बिल्कुल नया है और इसने जैनधर्मका तुलनात्मक पद्धतिसे अध्ययन करनेवालोंके लिए एक नया मार्ग खोल दिया है।

"ये परीक्षालेख इतनी सावधानीसे और इतने अकाट्य प्रमाणोंके आधारसे लिखे गये है कि अभी तक उन लोगोंकी ओरसे जो कि त्रिवर्णाचारादि भट्टारकी साहित्यके परम पुरस्कर्ता और प्रचारक हैं (१२ वर्षका समय मिलनेपर भी) इनकी एक पंक्तिका खण्डन नहीं कर सके है और न अब आशा ही है। × × × गरज़ यह कि यह लेखमाला प्रतिवादियोंके लिए लोहेके चने है।"

इन लोहेके चनोका निर्माण कितनी लगनसे हुआ है, उसका कुछ अनुमान इससे हो सकता है कि इन लेखोंके लिखनेमें आप इतने तल्लीन थे कि आपको उन्निद्र हो गया और १।। मास तक आपको नीद नहीं आई। एक दिन ही नीद न आये, तो दिमाग़ भिन्ना जाता है, पर आपके लिए यह निर्माण इतना रसपूर्ण था, आप उसमें इस क़दर डूबे हुए थे कि आपको ज़रा भी कमज़ोरी महसूस नही हुई और आप बराबर काममें जुटे रहे।

भारतमाताके चरणोंमें—

पण्डितजीके कार्यका क्षेत्र जैनसाहित्य, इतिहास और समाज रहा, इतना ही जानकर यह सोचना कि वे एक साम्प्रदायिक पुरुष हैं, सत्यका उतना ही बड़ा संहार है, जितना राष्ट्रनिर्माता श्रद्धानन्दको साम्प्रदायिक नेता मानना। साम्प्रदायिक विषयोंमें आप कभी नही पड़े और आपका दृष्टिकोण सदैव राष्ट्रिय रहा। १९२०से आप बराबर खादी पहनते है और गाँधीजीकी पहली गिरफ्तारीपर आपने यह व्रत लिया था कि जब तक वे न छूटें, आप बिना चर्खा चलाये, कभी भोजन न करेंगे।

अपनी कविताओंमें, सामाजिक समुत्थानकी बात कहते समय भी आपकी निगाह बराबर राष्ट्रपर ही रही है। 'मेरी भावना' के अन्तमें आपने कहा है—

बनकर सब 'युगवीर' हृदयसे, देशोन्नति रत रहा करें।
वस्तुस्वरूप विचार खुशीसे, सब दुख संकट सहा करें।

'धनिक-संबोधन' कवितामें आपने धनिकोंको देशाभिमुख रहने-की ही प्रेरणा दी है—

चक्करमें विलासप्रियताके, फँस, मत भूलो अपना देश !

× × ×

कला कारखाने खुलवाकर, मेटो सब भारतके क्लेश ।
करें देश-उत्थान सभी मिल, फिर स्वराज्य मिलना क्या दूर ?
पैदा हों 'युगवीर' देशमें, फिर क्यों दशा रहे दुख-पूर ?

समाज उनके लिए राष्ट्रका ही अंग है। 'समाज-संबोधन' करते हुए जब वे कहते हैं—

सर्वस्व यों खोकर हुआ, तू दीन-हीन अनाथ है !
कैसा पतन तेरा हुआ, तू रूढ़ियोंका दास है !!

तब उनके मनमें भारतराष्ट्रका ही ध्यान व्याप्त होता है। यह निश्चय है कि यदि वे खोजके इस कार्यमें न पड़े होते, तो उनकी यह ६७-वी वर्षगाँठ सम्भवतः देशकी किसी जेलमें ही मनाई जाती !

जीवनभरका कार्य—

उनकी जीवनव्यापी साहित्य-साधनाका मूल्याकन करनेके लिए विस्तृत स्थानकी आवश्यकता है, फिर भी सक्षेपमें यहाँ उसका उल्लेख आवश्यक है—

जैनसमाजमें पात्रकेसरी और विद्यानन्दको एक समझा जा रहा था। मुख्तार साहबने अपनी खोजके आधारपर दृढ रूपसे यह स्पष्ट कर दिया कि पात्रकेसरी विद्यानन्दसे ही नहीं, किन्तु अकलंकसे भी पहले हुए हैं।

इसी तरह पंचाध्यायी ग्रन्थके सम्बन्धमें किसीको यह ठीक मालूम नही था कि उसका कर्ता कौन है। नये उपलब्ध हुए पुष्ट प्रमाणोंके आधार पर, मुख्तार साहबने यह स्पष्ट करके बतलाया कि इस ग्रन्थके कर्ता वे ही कवि राजमल्ल हैं जो 'लाटीसंहिता' आदि ग्रंथोंके कर्ता है।

महान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रका इतिहास अँधेरेमें पड़ा था और उसकी खोजके आधार भी प्रायः अप्राप्य थे। मुख्तार साहबने आधारों-

की खोज करके दो वर्षके परिश्रमसे एक प्रामाणिक विस्तृत इतिहास तैयार किया जिसकी अनेक ऐतिहासिक विद्वानोंने मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है।

समन्तभद्रके समय-सम्बन्धमें जब डा० के० बी० पाठकने कुछ विरुद्ध लिखा तो आपने एक वर्ष तक बौद्ध-साहित्य आदिका खास तौरसे अध्ययन करके उसके उत्तरमें 'समन्तभद्रका समय और डा० के० बी० पाठक' नामका एक गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखा, जो हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनोंमें प्रकाशित हुआ है और विद्वानोंको बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ है।

सम्मान-समारोहमें दिये अपने भाषणमें पं० राजेन्द्रकुमारजीने कहा था कि--"मुख्तार साहब यह काम न करते तो दिगम्बर-परम्परा ही अस्तव्यस्त हो जाती। इस कार्यके कारण मैं उन्हें दिगम्बर परम्पराका संरक्षक मानता हूँ।"

जैनसाहित्यके कितने ही ग्रन्थ ऐसे है, जिनका दूसरे ग्रन्थोंमें उल्लेख तो है, पर वे मूल रूपमें अप्राप्य है। मुख्तार साहबने विशाल जैन-साहित्य में लिखे उल्लेखोके आधारपर ऐसे बहुतसे अप्राप्य ग्रन्थोंकी एक सूची तैयार की और उनकी खोजके लिए पुरस्कारोकी घोषणा की। उनमेंसे कुछ ग्रन्थ मिले है और शेषके लिए पुस्तक-भंडारोंकी खोज हो रही है।

अन्तर्जातीय विवाहके समर्थनमें आपने एक पुस्तक लिखी— 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण'। समाजमें हल्ला हुआ। एक विद्वान्ने उसका विरोध लिखा। बस फिर क्या था, ३ मास तक रात-दिन साहित्य और इतिहासका अध्ययन कर आपने 'विवाह क्षेत्रप्रकाश' नामकी पुस्तक लिखी, जिसका फिर कोई विरोध न कर सका।

दस्सा-पूजाके आन्दोलनमें आपने 'जिन पूजाधिकार मीमांसा' लिखी और कोर्टमें गवाही भी दी। इसपर आपको जातिच्युत घोषित किया गया, पर यह घोषणा कभी व्यवहारमें नही आई।

जैन-साहित्यके श्रेष्ठतम रत्न धवल और जयधवलका नाम ही लोगोंने सुना था। ये ग्रन्थ केवल मूडबिद्रीके ग्रन्थ-भंडारमें विराजमान थे। इनकी २-३ प्रतियाँ होकर जब इधर आईं तो इन ग्रन्थरत्नोंका पूरा

परिचय प्राप्त करनेके लिए मुख्तार साहब लालायित हो उठे, आपने आरा-जैन-सिद्धान्तभवनमें जाकर, ३।। महीने रात-दिन परिश्रम कर के १००० पृष्ठोंपर उनके नोट्स लिखे, जिनमें दोनों ग्रन्थोका सार संगृहीत है।

महावीर भगवान्के समय आदिके सम्बन्धमें जो मतभेद एवं उलझनें उपस्थित थी, उनका अत्यन्त गम्भीर अध्ययन करके आपने सर्वमान्य समन्वय किया और वीर-शासन-जयन्ती (भगवान् महावीरकी प्रथम धर्म-प्रवर्तन-तिथि) की खोज तो आपके जीवनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है। श्रावण बदि प्रतिपदाको अब देशके अनेक भागोमें वीर-शासन-जयन्तीका आयोजन होने लगा है।

'अनेकान्तका' आरम्भ—

२१ अप्रैल १९२९ में आपने देहलीमें समन्तभद्राश्रमकी स्थापना की और नवम्बरमें मासिक 'अनेकान्त' का प्रकाशन आरम्भ किया। 'अनेकान्त'के प्रथमांकमें ही पाँच पेजोंका सम्पादकीय है, जिसमें ३ पेज में समन्तभद्राश्रमका परिचय और दो पेजमें पत्रकी नीतिपर प्रकाश डाला गया है।

'जैन गज़ट' में आपने केवल मंगलाचरण किया था और जैनहितैषीमें सम्पादन स्वीकार करनेकी परिस्थिति बताकर 'शक्ति और योग्यता अनुसार' पत्रको सफल बनानेकी सूचना दी थी, पर अनेकान्तमें 'पत्रका अवतार, रीति-नीति और सम्पादन' तथा 'जैनी नीति' के नामसे दो टिप्पणियाँ लिखी है। पहली टिप्पणीमें वही सम्पादन ग्रहण करनेकी विवशताओका उल्लेख करके लिखा है—

(आश्रमकी व्यवस्थाका भार होनेके कारण)—"इस स्थितिमें यद्यपि पत्रका सम्पादन जैसा चाहिए वैसा नही हो सकेगा तो भी मै इतना विश्वास अवश्य दिलाता हूँ कि जहाँ तक मुझसे बन सकेगा मैं अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार पाठकोकी सेवा करने और इस पत्रको उन्नत तथा सार्थक बनानेमें कोई बात उठा नही रक्खूगा।"

असलमें जनरुचि नहीं, जनहित ही आपकी सम्पादननीति रही है।

आलोचनापद्धतिका मोटो—

'अनेकान्त' का आरम्भ ५ दोहोंसे होता है, जिनमें अन्तिम इस प्रकार है—

शोधन-मथन विरोधका, हुआ करे अविराम।
प्रेम पगे रलमिल सभी, करें कर्म निष्काम॥

वास्तवमें यह आपकी आलोचना-पद्धतिका 'मोटो' है। शोधन-मथनका काम निरन्तर हो, प्रेमके साथ हो, रलमिलकर हो, इसमें परस्पर वैर-विरोधकी तो कहीं गुँजायश ही नहीं है! इसी अंकमें आपने 'प्रार्थनाएँ' शीर्षकसे ४ बातें कही हैं। उनमें तीसरी इस प्रकार है—"यदि कोई लेख अथवा लेखका कोई अंश ठीक मालूम न हो, अथवा विरुद्ध दिखाई दे, तो महज़ उसकी वजहसे किसीको लेखक या सम्पादकसे द्वेषभाव न धारण करना चाहिए, किन्तु अनेकान्त नीति और उदारतासे काम लेना चाहिए और हो सके तो युक्तिपुरस्सर संयतभाषामें लेखकको उसकी भूल सुझानी चाहिए।" पण्डितजीकी इसी नीतिका यह फल है कि आरम्भमें उनका विरोध करनेवाले भी अन्तमें उनके मित्र बन जाते हैं।

एक वर्ष बाद, समन्तभद्राश्रमका स्थान सरसावा बदल दिया गया और उसीने इस प्रकार वीरसेवामन्दिरका रूप धारण किया और पण्डित-जीका जन्मक्षेत्र ही अब उनका साधनाक्षेत्र हो गया है।

यह पण्डितजीकी जीवनसामग्रीका बहुत अधूरा संकलन है। इसकी उपमा उस आइनेसे दी जा सकती है, जिसकी क़लई बहुत कुछ उड़ी हुई है, फिर भी सावधानीसे झाँकनेपर जिसमें कामचलाऊ सूरत दिखाई दे जाती है।

संक्षेपमें स्वस्थ हों तो अपनी गद्दीपर और बीमार हों तो अपनी शय्यापर पड़े-पड़े भी, एक ही धुन, एक ही लगन, एक ही विचार और एक ही कार्य-शोध-खोज एवं निर्माण, यह पं० जुगलकिशोर मुख़्तारका सम्पूर्ण परिचय है। उनके भीतर महान् जैनसाहित्यका आकुल दर्शन है

और बाहर उसे प्रकाशमें लानेकी आकुलता है। यह दर्शन ही उनका पथ है, यह आकुलता ही उनका सम्बल है। इसके सहारे उन्होंने अपने जीवनके पिछले ३६ वर्ष जैन-साहित्यके अँधेरे कोणोंकी खोजमें लगाये है और इसीकी धुनमें उन्होने अपनी चलती हुई मुख्तारगीरीका परित्याग-किया है। उनकी खोजपद्धतिमे भारतकी श्रद्धा है यूरोपकी विवेचना है और वास्तविक बात यह है कि उस खोजका वास्तविक मूल्य हम नही, हमारे बादकी पीढी ही ठीक-ठीक आँक सकेगी।

—अनेकान्त, सरसावा, जनवरी १९४४

यह तपस्वी

गोयलीय

अच्छा, तो ये हैं मुख़्तार साहब ! भई ख़ूब ऊँची दूकान और फीका पकवान ! पाँवमें चमरौधा जूता, तंग मोहरी का पायजामा, गर्दमें अटा पट्टूका कोट बीसों जगह किसारीसे खाया हुआ, सरपर काली गोल टोपी, जो शायद स्कूली लाइफ़में ख़रीदी गई थी, और कोट जो शायद आपके पिताजीने अपनी शादीमें बनवाया था, उसीको एहितियातसे पहने हुए थे ।

यह धजा देखी तो मुँहसे बेसाख़्ता उपर्युक्त वाक्य निकल पड़ा और मनमें सोचा—यह तो स्वयं पुरातत्त्व हैं । सम्भवतः १९२५ की बात है । भाई पन्नालालजी अग्रवालने बताया कि मुख़्तार साहब दिल्ली आये हुए हैं और राजवैद्य शीतलप्रसादजीके यहाँ ठहरे हुए है, वहींपर रात्रिको ८ से ९ तक विवाह क्षेत्र प्रकाशका प्रवचन करेंगे ।

मैं मुख़्तार साहबका नाम बचपनसे ही सुनता आया था, और सुधारक-प्रवृत्ति होनेके कारण उनके प्रति आदरके भाव रखता था । समस्त कार्य्य छोड़कर प्रवचनमें पहुँचा । देखकर तबियत बाग़-बाग़ हो गई, अच्छा तो ये हैं, मुख़्तार साहब, समाजको सर्वस्व अर्पण करनेवाले त्यागी, मूर्तिमान तपस्वी !

श्रद्धापूर्वक नतमस्तक होकर एक ओर बैठ गया । मैंने तभी सामाजिक क्षेत्रमें पाँव रखा था । पहिलेका परिचय कुछ भी नहीं था, फिर भी काफ़ी स्नेहपूर्वक मुझे बिठाया और कुशल-क्षेम पूछी ।

उसी रोज़ पं० जिनेश्वरदासजी[१] 'माइल' के परिचयमें आनका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

जैनियोंमें विवाह अत्यन्त संकुचित दायरेमें होते थे। थोड़ी-सी जनसंख्यावाले समाजमें सैकड़ों जातियाँ-उपजातियाँ उनमें भी कई-कई गोत्रोंके बन्धनोंके कारण विवाह-योग्य लड़के-लड़कियाँ बिनब्याहे रह जाते थे।

इसी समस्याका हल मुख़्तार साहबने एक छोटेसे ट्रैक्टमें किया था, किन्तु पोंगापन्थियों और रूढ़िवादियोंमें इतनी सहनशक्ति कहाँ कि वे इसपर विवेकपूर्वक विचार-विमर्श करते। तत्काल एक किरायेके पण्डितसे ऊट-पटाँग जवाब लिखवा दिया गया।

मुख़्तार साहब मुख़्तारी कर चुके थे। वादी-प्रतिवादियोंके घात-

१—'माईल' साहब उर्दूके बहुत अच्छे शायर और गद्य-लेखक थे। जैन-धर्मके अच्छे मर्मज्ञ थे। दिल्ली-शास्त्र-सभाके तो प्राण थे। आपने 'हुस्नेअव्वल' आदि कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उर्दूमें लिखी हैं, जो कुमार देवेन्द्रप्रसाद आरा और जैनमित्र-मण्डल देहली-द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं। आपने जैनधर्मके पारिभाषिक शब्दोंके फ़ारसी-अरबी पर्यायवाची शब्द इतने सही और मौज़ूँ निर्माण किये हैं और जैनधर्मपर इतनी सूक्ष्म दृष्टिसे विवेचन किया है कि दाद देनेको हमारे पास शब्द नहीं हैं। जैनकुलमें उत्पन्न होनेका हक़ अदा कर दिया है। वे थियेट्रिकल कम्पनियोंमें ड्रामानवीस थे। देहलीके मशहूर शायर थे। मेरी प्रबल अभिलाषा थी कि उनका परिचय शेर-ओ-सुख़नमें दूँ, किन्तु खेद है कि उनके ड्रामे और दीवान प्राप्त नहीं हो सके। १९३०-३१ में उनका निस्सन्तान देहान्त हो गया। मुझसे काफ़ी स्नेह रखते थे। लेकिन तब यह ख़याल ही कहाँ था कि वे इतना शीघ्र चले जायेंगे? यदि किन्हीं सज्जनके पास उनका प्रकाशित-अप्रकाशित क़लाम पड़ा हो तो उसे भिजवानेकी कृपा करें।

प्रतिघातोंसे खूब वाक़िफ़ थे। वे इस तरहकी चोटें सहनेके आदी और उनके काट करनेके अभ्यस्त थे।

उन्होंने जैनागमोंके अध्ययनमें एक गहरी डुबकी फिर लगाई, और वहाँसे खोजकर जो लायें उसकी चकाचौंधसे लोग हतप्रभ हो गये। मुख्तार साहबके पुरातत्त्व सम्बन्धी लेख कभी-कभी 'जैनहितैषी' में देखे थे, किन्तु उन दिनों पुरातत्त्व सम्बन्धी लेख समझनेका शऊर ही नहीं था। अतः मुख्तार साहबकी विद्वत्ताका नहीं, उनकी सुधारक-प्रियताके प्रति मेरा आदर भाव था। जैनधर्मके वे इतने गहरे पण्डित हैं, यह विवाहक्षेत्र-प्रकाशके प्रवचनसे ही पहली बार विदित हुआ।

अधिक परिचयमें आनेका सौभाग्य मुझे अगस्त १९२९ में हुआ। मुख्तार साहबने समन्तभद्राश्रमकी २-३ माह पूर्व स्थापना की थी, उन्हें करौलबागमें डा० गुप्ताकी कोठीके पास ला० मक्खनलाल जैन ठेकेदारने अपना एक बृहत् मकान एक वर्षके लिए निःशुल्क दे दिया था। मुख्तार साहबकी अनेक लोकोपयोगी योजनामें एक योजना अनेकान्त प्रकाशन की थी। लेकिन उसकी रूपरेखा और व्यवस्था कुछ ठीक-ठीक जम नही पा रही थी। मै उन दिनों (१२ फरवरी १९२८ से) नजीबाबाद रह रहा था। सन् २९ में देशमें इनकलाबी लहर फैली तो मैं भी उसमें कूद पड़नेको अगस्त १९२९ में दिल्ली चला आया। लेकिन दो रोज़में ही इष्ट-मित्रोंने प्रश्नोंकी बौछारोंसे नाकमें दम कर दिया। "क्यों चले आये, यहाँ क्या काम करनेका इरादा है?" हर-एककी ज़बानपर यही प्रश्न था। मैं क्या करूँगा, यह किसीको कैसे बताता? अतः शंकित दृष्टिसे बचनेके लिए समन्तभद्राश्रममें रहना उचित समझा और मुख्तार साहबने मुझे देखते ही आश्रमकी और अनेकान्तकी व्यवस्था मेरे निर्बल कन्धोंपर डाल दी।

मैं पूरे मनोयोगसे कार्यमें जुट गया और नवम्बर मासमें अनेकान्त प्रकाशित हो गया। ८-१० घण्टे सोने और आवश्यक नित्य कर्मके अतिरिक्त मैं हर वक़्त अनेकान्तमें जुटा रहता, परन्तु मै देखता कि मुझसे

अधिक मुख्तार साहब जमते हैं : मुझे अपनी युवकोचित अहम्मन्यता एवं महत्त्वाकांक्षाको चुनौती-सी मालूम होती।

मैं रातको विलम्बसे सोता और जल्दी-से-जल्दी उठनेका प्रयत्न करता। दिनमें सोने या इधर-उधर जानेका तो खयाल भी न आता, फिर भी मुख्तार साहबको आगे ही पाता। मुझसे पहले उठते और बादमें नहीं तो रातको मुझसे पहले भी नहीं सोते।

मेरी उन दिनों प्रथम ऐतिहासिक पुस्तक—"जैन-वीरोंका इतिहास" प्रेसमें थी। उसीके सम्बन्धमें एक रोज मैं बा० उमरावसिंहजी टाँक बी० ए० एल-एल० बी० से विचारविमर्श करने गया तो रात्रिको २ बजेके क़रीब आश्रम लौटा। मैं मनमें सोच रहा था कि आश्रमका दर्वाज़ा कौन खोलेगा और मुख्तार साहब न जाने अपने मनमें क्या सोचेंगे? लेकिन जाकर देखता हूँ तो आश्रमका दर्वाज़ा खुला हुआ है और मुख्तार साहब मस्तकपर हाथ धरे लिखनेका उपक्रम कर रहे हैं। उन्हें बैठे पाया तो मेरी जानमें जान आई और मैं भी चुपचाप लिखने बैठ गया।

बैठ तो गया, मगर लिखनेको जी नहीं चाह रहा था, ऐतिहासिक नोट्स लेने और ३-४ मील पैदल चलनेके कारण जिस्म निढाल हो रहा था। लेकिन मुख्तार साहबसे पहिले सोना तो बुढ़ापेसे जवानीको पिटवाना था? आखिर मुख्तार साहब ही बोले—"गोयलीय, न जाने आज क्यों सरमें दर्द हो रहा है? कुछ भी नहीं लिखा जा रहा है" मैंने इस अवसरको ग़नीमत जानकर अर्ज़ किया—"चलो सोएँ, सुबह ताज़ा दम होकर लिखियेगा।"

मुख्तार साहबको दो बजेका आभास भी नहीं था, वे तो दस बजेका खयाल करके ही सो गये। मैं इस सुख-स्वप्नमें कि आज तो ठाठसे देर तक सोयेंगे, निद्रादेवीकी गोदमें लेटा ही था कि नींद उचाट हो गई। सुनता हूँ तो अत्यन्त मधुर और आर्त स्वरमें जिनवाणी माताको टेर रहे हैं। घड़ी देखी तो चार बजे थे। मैंने मन ही मनमें इस जिनवाणीभक्त को प्रणाम किया और अपनेको धिक्कारता हुआ-सा बोला—"मूर्ख, जिन-

वाणीका वरदान तुझ अकर्मण्यको मिलेगा या इस वृद्ध तपस्वीको ? २५ वर्षका धींग होकर इस बुड्ढेसे भी गया-बीता निकला।'

अक्सर कई पत्र-सम्पादकोंको देखा है, वे ख्यातिप्राप्त लेखकोंके निबन्धोंको बग़ैर पढ़े ही प्रेसमें दे देते हैं, और नये लेखकोंके लेखोंको पढ़ने की जहमत गवारा किये बग़ैर ही रद्दीकी टोकरीके हवाले कर देते हैं। सम्पादकीय जिम्मेदारीका बहुत ही अहसास हुआ तो लेखोंमें दो-चार क़लम लगा देते हैं। लेकिन मैंने मुख्तार साहबका आलम ही और देखा है। कोई भी लेखक उनके संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्द्धनसे नहीं बच सकता। यहाँ तक कि एक माह पूर्व अपना लिखा हुआ लेख भी प्रेसमें दिये जानेसे पूर्व एक बार आद्योपान्त अवश्य पढ़ते थे और संशोधन परिवर्द्धन भी अवश्य करते थे। सर्वसाधारणकी तो बात ही क्या, ख्यातिप्राप्त लेखक श्री प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी, पं० बेचरदासजी, पं० नाथूरामजी प्रेमी जैसोंके लेख भी आद्योपान्त पढ़ते थे, उनका संशोधन करते थे और उनपर यथास्थान सम्पादकीय फ़ुटनोट भी लगाते थे और आवश्यक हुआ तो लेखके अन्तमें सम्पादकीय नोट भी देते थे। यहाँ तक कि उपन्यासकलाके विशेषज्ञ श्री जैनेन्द्रकी कहानी भी मुख्तार साहबकी क़लमसे अछूती नहीं रह सकती थी।

प्रत्येक लेखमें संशोधन, परिवर्द्धन तो करते ही थे, यदि उसमें उल्लिखित श्लोकों, सूत्रों या शिलालेखोंमें तनिक भी संशय होता तो उसका अपने यहाँकी मूल प्रतिसे अवश्य मिलान करते थे, और सचमुच उनका संशय प्रायः शत-प्रतिशत ठीक निकलता था और कहा करते—"बताओ, जब ऐसे लेखक इतनी असावधानी और प्रमाद करते हैं, तब किसके लेखों पर विश्वास किया जाय।"

मैंने एक-एक लेखपर उनको आठ-आठ, दस-दस रोज़ परिश्रम करते देखा है। एक बार एक ख्यातिप्राप्त जैन विद्वान् आश्रममें ४-५ रोज रहे। उनको लेख लिखनेके लिए पहले आवश्यक भूमिका बाँध दी, फिर रेफरेन्सके लिए जरूरी नोट्स लिखा दिये, उपयोगी सभी साहित्य

दे दिया। तब ४-५ रोजमें उन्होंने वह लेख तैयार किया। उनके चले जानेके बाद स्वयं मुख्तार साहबने उनके लेखके संशोधनमें ४-५ रोज लगाये। तब कहीं अनेकान्तमें छपा। प्रकाशित होते ही धूम मच गई, यहाँ तक कि उस विद्वान्‌का लेख हर-एक अंकमें प्रकाशित करनेका आदेश भी बीसों पाठकोंने दिया। और तारीफ़ यह कि उस विद्वान्‌की जैन-सिद्धान्तकी योग्यता तब भी और आज भी मुख्तार साहबसे बहुत ऊँची कूती जाती है। हालाँ कि वह विद्वान् अपनेको मुख्तार साहबके समक्ष एक तुच्छ विद्यार्थी समझता था।

मुख्तार साहब सम्पादकीय नैतिक जिम्मेदारीको न तो किसी क़ीमत-में बेचनेको तैयार किये जा सकते हैं, न किसी बड़े-से-बड़े नेता या इष्ट-मित्रके दबावमें आ सकते हैं। जो लेख उन्हें अनेकान्तकी रीति-नीति के अनुकूल नहीं जँचेगा, उसे वे क़तई नहीं छापेंगे, चाहे उसकी वजहसे कितने ही गहरे हितैषी या स्नेहीका कोप-भाजन बनना पड़े। मुझे स्मरण है कि उन्होंने ब० सीतलप्रसादजी और बैरिस्टर चम्पतरायजीके लेख भी बेझिझक रोक लिये थे, जिससे बैरिस्टर साहबको काफ़ी नागवार खातिर गुज़रा था, और उन्होंने अपनी यह अप्रसन्नता पत्रोंमें भी प्रकट कर दी थी।

ध्यान रहे उक्त दोनों महानुभाव मुख्तार साहबके अनन्य हितैषी-स्नेही बन्धुओंमेंसे थे, और मुख्तार साहब उन्हें स्थायी रूपसे आश्रममें रहनेको कई बार प्रेरणा कर चुके थे।

अनेकान्तका चार वर्षके प्रकाशनका भार मेरे ऊपर रहा है। इन चार वर्षोंमें मैंने कई लेख ऐसे भी देखे है, जिनकी प्रत्येक पंक्ति काटकर मुख्तार साहबने उन पंक्तियोंके ऊपर अपने क़लमसे नया लेख लेखकके नाम पर लिख दिया है। इस तरहके कटे-फटे लेख मिलनेपर मुझे कई बार तो मजबूरन मुख्तार साहबको यह लिखना पड़ा कि—"अच्छा होता आप कटी हुई पंक्तियोंपर न लिखकर दूसरे स्वच्छ काग़ज़पर लिखकर भेजते ताकि कम्पोज़िंग और प्रूफ़-संशोधनमें असुविधा न होती।" लेकिन

मुख़्तार साहबका भी क्या दोष ? लेख संशोधित करते समय उन्हें यह आभास ही कैसे हो सकता है कि समूचा लेख कटता जायगा, और नया बनता जायगा, और जब संशोधनमें इतना श्रम पड़ गया, तब उसकी प्रतिलिपि करके भेजनेको कहना तो सचमुच मुख़्तार साहबके प्रति ज़ुल्म है।

मुख़्तार साहब लेखोंके सम्पादनमें कितना श्रम करते हैं, बग़ैर पास रहे अनुमान लगाया ही नहीं जा सकता। लेखक कोई प्रमाण देना भूल गया है, या मुख़्तार साहबको उस सम्बन्धमें नई बात मालूम हुई है या लेखके किसी स्थलसे उनका भिन्न दृष्टिकोण है, तो उसका उल्लेख फ़ुटनोट-में अवश्य करते हैं। इस नीतिके कारण उनके कई अच्छे-अच्छे स्नेही लेखक रुष्ट भी हो गये हैं लेकिन वे अपनी नीतिपर सदा अडिग रहे हैं। कुछ नमूने देना अप्रासंगिक नहीं होंगे।

१. श्री बी० शान्तिराज शास्त्रीके 'महाकवि रन्न' लेखपर फ़ुट-नोटमें लिखा है—

यहाँ पर उन अजैन विद्वान् तथा उनके लेखादिका नाम भी दे दिया जाता तो और भी अच्छा रहता।

—अनेकान्त वर्ष १ किरण १

इसी तीन पृष्टके लेखके अन्तमें एक पृष्ठका सम्पादकीय नोट भी लगा हुआ है।

वर्ष एक, किरण दोमें श्री नाथूराम सिंघईका देवगढ़पर तीन पृष्ठ का लेख है, तो आपका भी उसपर तीन पृष्टका सम्पादकीय नोट मौजूद है।

इसी किरणमें श्री भोलानाथ दरख्शाँके सवा दो पृष्ठके लेखपर पौने तीन पृष्ठका सम्पादकीय नोट लगा हुआ है।

किरण ३-४ में श्री नाथूरामजी प्रेमीके "भगवती आराधना और उसकी टीकाएँ" लेखपर १२ सम्पादकीय फ़ुटनोट भी जड़े हुए हैं।

किरण चारमें प्रसिद्ध विद्वान् पं० सुखलालजीका गन्धहस्तीपर ३॥ पृष्ठका लेख है, जिसपर फुटनोटोंके अतिरिक्त आधे पृष्ठका सम्पाद-कीय नोट भी है।

इसी किरणमें खारवेलपर श्री कामताप्रसादजीका एक पृष्ठका लेख है तो सम्पादकीय नोट भी एक पृष्ठका मौजूद है।

किरण पाँचमें पं० सुखलालजीके "जैनोंकी प्रमाणमीमांसा पद्धति का विकासक्रम" लेखपर फुटनोट लगाते हुए मुख्तार साहबने लिखा है—**लेखक महोदयका यह निर्णय कुछ ठीक मालूम नहीं होता······?**

श्री छोटेलालजीका किरण ५ में खारवेल लेख ४ पृष्ठका है, उसपर ८ सम्पादकीय नोट देखे जा सकते हैं। इसी किरणमें कामताप्रसादजी के ५ पृष्ठके लेखपर ७ सम्पादकीय फुटनोट और डेढ़ पृष्ठका सम्पादकीय नोट है, जिसके अन्तमें लिखा है---

इस लेखककी विचारसरणी यद्यपि बहुत कुछ स्खलित जान पड़ती है, सत्यकी अपेक्षा साम्प्रदायिकताकी रक्षाकी ओर वह अधिक झुकी हुई है······आदि।

किरण ६-७ में प्रो० बनारसीदासका ३ पृष्ठका लेख है। जिसपर ६ सम्पादकीय फुटनोट लगे हुए हैं। एक नोटमें लिखा है—**इसके होनेसे जो नतीजा लेखक महाशय निकालना चाहते हैं, वह नहीं निकाला जा सकता।**

इन फुटनोटों और सम्पादकीय टिप्पणियोके कारण कुछ लेखक क्षुब्ध भी हुए, उसीका स्पष्टीकरण करते हुए किरण ६-७ में 'एक आक्षेप' शीर्षकसे मुख्तार साहबको ४ पृष्ठका लेख भी लिखना पड़ा। लिखते हैं—

"लेखोंका सम्पादन करते समय जिस लेखमें मुझे बात स्पष्ट-विरुद्ध, भ्रामक, त्रुटिपूर्ण, ग़लतफ़हमीको लिये हुए अथवा स्पष्टी-करणके योग्य प्रतिभासित होती है और मैं उसपर उसी समय प्रकाश डालना उचित समझता हूँ तो उसपर यथाशक्ति संयत भाषामें अपना (सम्पादकीय) नोट लगा देता हूँ। इससे पाठकोंको सत्यके निर्णयमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है, भ्रम तथा ग़लतियाँ फैलने नहीं पातीं, त्रुटियोंका कितना ही निरसन हो जाता है और साथ ही पाठकोंकी शक्ति तथा समयका बहुत-सा दुरुपयोग होनेसे बच जाता है। सत्यका ही एक

लक्ष्य रहनेसे इन नोटोंमें किसीकी कोई रू-रियायत अथवा अनुचित पक्षपक्षी नहीं की जाती, और इसलिए मुझे अपने श्रद्धेय मित्रों--पं० नाथूरामजी प्रेमी, पं० सुखलालजी-जैसे विद्वानोंके लेखोंपर भी नोट लगाने पड़े हैं, मुनि पुण्यविजय और मुनि कल्याणविजयजी-जैसे विचारकोंके लेख भी अछूते नहीं रहे हैं, परन्तु किसीने भी बुरा नहीं माना, बल्कि ऐतिहासिक विद्वानोंके योग्य और सत्यप्रेमियोंको शोभा देनेवाली प्रसन्नता ही प्रकट की है। और भी दूसरे विचारक तथा निष्पक्ष विद्वान् मेरी इस विचार-पद्धतिका अभिनन्दन कर रहे हैं।''''''इसी विचार-पद्धतिके अनुसार अनेकान्तकी चौथी और पाँचवीं किरणमें प्रकाशित ''''''''''''''''''के[1] दो लेखों पर भी कुछ नोट लगाये थे। पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन परसे बाबू साहब रुष्ट हो गये हैं और उन्होंने अपना रोष प्रतिवादात्मक लेख द्वारा 'दिगम्बर जैन' अंक ७ में प्रकट किया है। (आगे लेखकके आक्षेपोंका उत्तर है)।

किरण ११-१२ में बा० कामताप्रसादजीके ११ पृष्ठके लेखपर १६ सम्पादकीय फ़ुटनोट और ७ पृष्ठकी सम्पादकीय टिप्पणी है। और कामताप्रसादजीके उक्त लेखकी हिमायत करनेके कारण बैरिस्टर चम्पतरायजीकी ११ पृष्ठोंमें ख़बर ली है।

मुझे मालूम था कि इन नोटोंसे कटुता बढ़ती है और सहयोग कम होता जाता है। ७-८ वर्षके बाद अनेकान्तको पुनः निकालनेकी ज़िम्मेवारी जब मुझे सौंपी गई तो मैंने इस नीतिके बारेमें स्पष्टीकरण करते हुए प्रार्थना की कि जिन लेखोंके सम्बन्धमें आपको विरोध हो, उनपर विरोधात्मक टिप्पणी देनेके बजाय, उन्हें प्रकाशित न करना अधिक उपयुक्त होगा। अथवा टिप्पणीमें लेखककी बात काटनेके बजाय, केवल अपना मत दे देना पर्याप्त होगा। लेकिन मुख्तार साहबको मेरी सम्मति अनुकूल नहीं जँची।

---

१ नाम हमने देना उचित नहीं समझा। —गोयलीय

अनेकान्त वर्ष दो, किरण एकमें 'गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता' शीर्षक लेख श्री सूरजभान वकीलका प्रकाशित हुआ। इसके पक्ष-विपक्ष-में लेख भेजनेके लिए निमंत्रण देते हुए मुख्तार साहबने लिखा––

"विद्वानोंको इसपर अपना अभिमत प्रकट करना चाहिए, जिससे यह विषय भले प्रकार स्पष्ट होकर रोशनीमें आ जाय।"

इस निमंत्रणपर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने एक लेख भेजा। वह लेख अनेकान्तमें प्रकाशित करते हुए मुख्तार साहबने उसके विपक्षमें लगभग दो पृष्ठका नोट लगाते हुए लिखा––

"मुझे खेद है कि शास्त्रीजीने बा० सूरजभानजीके फलितार्थको यों ही कदर्थित करनेकी धुनमें दो-तीन उदाहरणों द्वारा अपने खण्डनकी भूमिका बाँधी है, उसमें सत्यसे काम न लेकर छलसे काम लिया है। ·········जान-बूझकर पाठकोंको भुलावे तथा भ्रममें डाला गया है······ वह उनको शोभा नहीं देता।" और फिर किरण चारमें विषयको स्पष्ट करनेके लिए १२ पृष्ठका लेख भी लिखा। परिणाम इसका यह हुआ कि शास्त्रीजीने भी अनेकान्तमें लेख भेजने बन्द कर दिये। इन्हीं टिप्पणियोंसे खीझकर पं० सुखलालजी और प्रो० जगदीशचन्दजीने भी असहयोग कर लिया।

इन फ़ुटनोटोंसे किसीने बुरा माना या भला, किन्तु मुख्तार साहब-को जो उचित और सत्य मालूम दिया, उसके स्पष्टीकरणसे वे कभी नहीं चूके। फ़ुटनोटों और टिप्पणियोंके अतिरिक्त लेखकोंका परिचय भी मुक्तहृदयसे लिखते थे।

अनेकान्तका सम्पादन करनेके अतिरिक्त उसके हर प्रूफ़को भी स्वयं देखना आवश्यक समझते थे और संस्कृतबहुल तथा अपने लेख तो हर हालतमें कई-कई बार देखते थे। यहाँ तक कि दूसरे-तीसरे वर्षका अनेकान्त दिल्लीसे प्रकाशित हुआ और आप सरसावे रहते थे। अनेकान्त प्रत्येक माहकी २८ ता० को डिस्पैच कर देनेकी मेरी प्रतिज्ञा थी, फिर भी २२-२४ ता० को भेजे गये अपने लेखका प्रूफ़ सरसावे ही मँगवाते थे।

और शुद्धिका इतना खयाल रखते थे कि कभी आप प्रेसमें पहुँच जाते थे तो प्रेसवालोंके हाथ-पाँव फूल जाते थे। क्योंकि छपते हुए फ़ार्ममें एक दो त्रुटियाँ निकाल देना, तथा कुछ न कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन करना मुख्तार साहबके लिए अदनी-सी बात है।

मितव्ययी आवश्यकतासे अधिक। उनको सौंप देनेके बाद एक पैसा भी समाजका व्यर्थ नष्ट नहीं हो सकता। समाजके पैसेसे आत्मविज्ञापन करना, वाहवाही लूटना तो दरकिनार, उन्होंने जो अपने पसीनेकी समस्त कमाई आश्रमके नाम कर दी है, उसमेंसे अपने शरीरको रखनेमें भी जो थोड़ा-सा लेते हैं, उसमें भी महान् कष्टका अनुभव करते हैं। उनका बस चले तो हवा-पानीपर निर्भर रहना अधिक पसन्द करें। आश्रमके ग्रन्थागार और सामान आदि की ही नहीं, रसोई-भण्डारकी ताली भी स्वयं अपने पास रखते हैं। एक तोला नमक भी व्यर्थमें कोई नष्ट नहीं कर सकता[1]। समाजकी धरोहर उनके पास अक्षुण्ण रहेगी। नौकर एक

१—एक घटना भाई कौशलप्रसादकी ज़बानी सुनिए—

"सम्मान-समारोह उत्सवसे पहले 'मुख़्तार साहब और उनका कार्य' निबन्धके नोट्स लेनेके लिए मैं और 'प्रभाकर'जी वीरसेवामन्दिर गये थे। वहाँ पर उनसे बातचीत करने और साहित्य देखनेके बाद हमें यह आवश्यकता महसूस हुई कि यहाँसे कुछ पत्रोंकी फाइलें और पुस्तकें सहारनपुर जानी चाहिएँ जिससे वहाँ ठीक अध्ययन हो सके। उन पत्रों-की फाइलोंमें 'जैन गज़ट' के पहिले वर्ष अर्थात् १८९५ सन् की एक फ़ाइल भी थी। मुख़्तार साहबने उसे देनेसे इन्कार कर दिया और हमारे बहुत अधिक आवश्यकता बताने तथा पं० दरबारीलालजी कोठियाके यह कहने पर भी कि 'क्या ये लोग फ़ाइल खा जाएँगे' उन्होंने यह कहा कि या तो यहीं देख लो और यदि सहारनपुर ही ले जाना आवश्यक है तो चलो मैं साथ चलता हूँ। परिणाम-स्वरूप अगले दिन स्वयं ही उसे साथ लेकर आये और शामको वापिस जाते समय उसे साथ ले गये।..."

रुपयेका घी भी लाये तो उसे तोले बग़ैर नही रहेंगे। कभी-कभी यह मितव्ययिता और सतर्कता अनुपयोगी होती हुई भी देखी गई है।

दिल्ली-स्थित आश्रमका भारी-सा बोर्ड गलीके बीचमें लगा हुआ था। आँधीसे उखड़नेपर पुनः लगवाईकी मज़दूरी लुहार तीन आने माँगता था, मुख्तार साहब दो आनेसे ज़्यादा देना नही चाहते थे। अतः एक माह साइनबोर्ड नहीं लग सका और आश्रममें नये आने-जानेवालोंको साइनबोर्डके बग़ैर काफ़ी भटकना पड़ा। आखिर जब कोई साइनबोर्ड दो आनेमें लगानेको प्रस्तुत नहीं हुआ तो आपने एक क्लर्कको वैद्य शीतल-प्रसादजीकी टमटम लाने भेजा। वैद्यजी यह कहकर कि—अभी तो हम मरीज़ोंको देखने जा रहे हैं, वापिसीपर १२ बजे टमटम भेज देंगे—चले गये। मुख्तार साहबने क्लर्ककी ज़बानी यह क़िस्सा सुना तो ६ फर्लांग पैदल और फिर एक आना ट्राममें देकर स्वयं उनके पास पहुँचे। अब वैद्यजीकी क्या ताक़त थी जो गाड़ी देनेसे मना करते, स्वयं किरायेके ताँगे-में गये, मगर मुख्तार साहबको टमटम दे दी। मुख्तार साहबने वह टम-टम गलीके बीचमें खड़ी की, उसकी छतपर चारपाई और चारपाईपर कुर्सी रखी गई। उसपर चढ़कर दो आदमियोने साइनबोर्ड पकड़ा और गलीके दोनों सिरोंपर खड़े होकर दो आदमियोंने राम-राम करके साइन-बोर्ड बाँधा। साइनबोर्ड लगवाकर खुशी-खुशी आश्रममें आये और सरल स्वभावसे बोले—

"देख लो गोयलीय, तुम कहते थे, तीन आनेसे कममें साइन बोर्ड नहीं लग सकता। यह बिना पैसेके लगा हुआ देख लो।"

मैंने कहा—"आपके नाम मैंने तीनों मुलाज़िमोंकी आजकी तन-ख्वाह लिख दी है; क्योंकि उन्होंने आज साइनबोर्ड लगानेके सिवा कोई दूसरा कार्य नहीं किया है, और वैद्यजीके ताँगेमें खर्च हुए पैसों और आपके श्रमकी कोई क़ीमत आँकी नहीं जा सकती।"

आप सरपर हाथ फेरते हुए भोलेपनसे बोले—"तुमने पहले इस

परिणामकी ओर संकेत क्यों नहीं किया, अतः नौकरोंकी आधी तनख्वाह तुम अपने नाम भी लिखो।"

सरलता और सादगीका यह हाल है कि हज़ार बार देखने और जाननेपर भी यह विश्वास नहीं होता कि यही मेरी भावनाके अमर कवि हैं। इन्हींकी लोहलेखनीसे त्रिवर्णाचार-जैसे पाखण्डी ग्रन्थोंकी आलोचनाएँ प्रसूत हुई है और इन्हींने सैकड़ों विलुप्त ग्रन्थोंको प्रकाशमें लानेकी कृपा की है।

मुख़्तार साहब भारतीमाताका मन्दिर अपनी अमूल्य कलाकृतियोंसे चिरकाल तक अलंकृत करते रहें, यही हमारी भावना है!

—डालमियानगर,
८ अक्टूबर १९५१

स्वयं सम्पादक पं० जुगलकिशोर द्वारा लिखे गये ख़ास लेख

१–श्री कुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन ? २–सेवाधर्म दिग्दर्शन, ३–भगवती-आराधनाकी दूसरी प्राचीन टीका-टिप्पणियाँ, ४–ऊँचगोत्रका व्यवहार कहाँ ?, ५–आर्य और म्लेच्छ, ६–सकाम धर्मसाधन, ७–अन्तरद्वीपज मनुष्य, ८–श्री पूज्यपाद और उनकी रचनाएँ, ९–हेमचन्द्राचार्य-जैनज्ञानमन्दिर, १०–योनिप्राभृत और जगत्सुन्दरी योगमाला, ११–स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द, १२–जगत्सुन्दरी-प्रयोगमालाकी पूर्णता, १३–तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति, १४–धवलादिश्रुतपरिचय, १५–'तत्त्वार्थ-भाष्य और अकलंक'पर सम्पादकीय विचारणा, १६–होलीका त्योहार, १७–प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र, १८–प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी समीक्षा, १९–(क) स्वपर बैरी कौन ? (ख) वीतरागकी पूजा क्यों ? (ग) पुण्य-पाप-व्यवस्था, २०–'सिद्ध प्राभृत' पर सम्पादकीय नोट, २१–भक्तियोग-रहस्य, २२–कवि राजमल्ल और राजा भारमल्ल, २३–वीरनिर्वाण संवत्की समालोचनापर विचार, २४–परिग्रहका प्रायश्चित्त, २५–श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यकी जाँच, २६–सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव ।

जन्म—	देवरी वि० स० १९३८
वर्तमान आयु—	६९ वष वि० स० २००८

मेरा सद्भाग्य

श्री जैनेन्द्रकुमार

प्रेमीजीका नाम बहुत छुटपनमें पुस्तकोपर देखा था। उसी आधारपर सन् '२९ में अपनी 'परख' उनके पास भेजनेका साहस कर बैठा। साहसको समझना मुश्किल है। मैं लेखक न था और इस कल्पनासे ही जी सहम जाता था कि किताब छप सकती है। किताबोपर छपे लेखकोके नाम अलौकिक लगते थे और प्रकाशकोके बारेमें तरह-तरहकी कथाएँ सुनी थी। तो भी प्रेमीजीके नामपर मनमें साहस बाँधकर मैंने लिखे कागज़ोका पुलिन्दा बम्बई भेज दिया।

जानता था कि कुछ न होगा। किताब तो छपेगी ही नही, उत्तर भी न आयेगा। एक नये प्रकाशकके पास यही कागज़ छ महीने पडे रहे थे। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' तो उन्हें पूछेगा ही क्यो ? पर चौथे रोज़ पाण्डुलिपिकी पहुँच आ गई। पत्र खुद प्रेमीजीके हाथका था। लिखा था कि जल्दी पुस्तक देखकर लिखूँगा। चार-पाँच रोज़ बीतते-न-बीतते दूसरा पत्र आ गया कि पुस्तकको छापनेको तैयार है और अमुक महीनेमें प्रेसमें दे सकेंगे। बात उतनी ही लिखी गई, जितनी की गई और समयका अक्षरश पालन हुआ।

इस अनुभवने मुझे बडा सहारा दिया। मै जगत्को अविश्वाससे देख रहा था। धारणा थी कि अपरिचितके लिए दुनिया एक बाज़ार है, जहाँ छल और सौदा है। अपने-अपने लाभकी सबको पडी है और एक-का ख्याल दूसरेको नही है। लेखक और प्रकाशकके बीचमें तो उस बाज़ार के सिवा कुछ है ही नही। लेकिन प्रेमीजीके प्रथम सम्पर्कने मुझ इस नास्तिकतासे उबार लिया। उनकी प्रामाणिकतासे मैंने अपने जीवनमें यह गम्भीर लाभ प्राप्त किया।

इसके बादसे तो मै उनका हो रहा। यह कभी नही सोचा कि अपनी किताब किसी औरको भी जा सकती है। अपना लिखा उन्हें सौंपकर खुद मै निश्चिन्त रहा। लिखी सामग्री कब छपती है, कैसे बिकती है और क्या लाभ लाती है, इधर मैन ध्यान ही नही दिया। कभी इसमें शका नही हुई कि उनके हाथो मेरा हित उससे अधिक सुरक्षित है कि जितना मै खुद रख सकता हूँ।

लोग है जो बाजारमें नही है और नीतिनिष्ठ है। लेकिन दुकान लेकर यह अत्यन्त दुर्लभ है कि सामनेकी अज्ञानताका लाभ लेनेसे चूका जाय। व्यवसायमें यह अन्याय नही है और कुशलता है। व्यवसाय किया ही द्रव्योपार्जनके लिए जाता है। कर्म-कौशलके तारतम्यसे ही उसमें लाभ-हानि होती है। हानिवाला अपनेको ही दोष दे सकता है और लाभ जो जितना कर लेता हे, वह उसकी चतुराई है। व्यवसायमें इस तरह मानो एक अटूट 'कर्मसिद्धान्त' व्याप्त है। जो जितनी ऊँची कमाई करता है, कर्मकी दृष्टिसे वह उतना ही पात्र हे। उसे अपने शुभ कर्मोका ही इस रूपमें फल-भोग मिलता है।

उसी बाजारमें दूसरेके हितका यथोचित मान करनेवाली प्रामाणिकता एक तरह अकुशलता भी है। पर देखते है कि प्रेमीजीने मानो उस अकुशलताको स्वेच्छासे स्वीकार किया है।

पहली पुस्तक 'परख' सन् '३० में छप गई। म तब जेलमें था। वहाँ प्रेमीजीकी ओरसे तरह-तरहकी पुस्तकें मुझे भेजी जाती रही। परोक्षके परिचयमेंसे ही इस भाँति उनका वात्सल्य और स्नेह प्रत्यक्ष होकर मुझे मिलने लगा। जेलके बाद कराँची कॉग्रेससे उसी स्नेहमें खिचा मै बम्बई जा पहुँचा। मेरे जेल रहते प्रेमीजी खुद मेरे घर हो आये थे। लेकिन मेरे लिए बम्बईमें उनका यह प्रथम दर्शन था। पर साक्षात्के पहले ही रोजसे उनके यहाँ तो मैने अपनेको घरमें पाया। क्षणको भी न अनुभव किया कि महमान हूँ या पराया हूँ।

वहाँ उनके काम करनेका ढग देखा। एक शब्दमें अथसे इति तक

वह प्रामाणिक हैं । मालिकसे अधिक वह श्रमिक है । पूरा-पूरा लाभ मालिक-को आता है। इसलिए अचरज नही कि मालिक भी श्रम पूरा-पूरा करे। लेकिन नही, प्रेमीजीकी बात और है। श्रम उनके स्वभावमें है। मालिको-की अक्सर नीति होती है काम लेना। बडे व्यवसायी और उद्योगपति इस करनेकी जगह काम लेनेकी नीतिसे बडे बनते हैं। वे श्रम करते नही, कराते हैं। और सबके श्रमके फायदेका अधिक भाग अपने लिए रखते हैं। व्यवस्थापक इस तरह अधिकाश श्रमिक नही होते, चतुर होते हैं। प्रेमीजी-की त्रुटि कहिए कि विशेषता कहिए, वे बडे व्यवसायी नही है और नही हो पाये। कारण, वे स्वय औरोसे अधिक श्रम करनेके आदी और अभ्यासी है।

पुस्तक उनके हाथो आकर सदोष नही रह सकती। भाषा देखेंगे, भाव देखेंगे, पक्चुएशन देखेंगे और छपते समय भी छपाई और गैटप आदि-का पूरा ध्यान रक्खेंगे। कही किसी ओर प्रमाद नही रह पायगा। अपनी पुस्तकके सम्बन्धमें इतनी सावधानी और सयत्नता रखनेवाला प्रकाशक दूसरा मेरे देखनेमें नही आया।

बस, उनके लिए घर और दुकान। दुकानसे शामको घर और घर-से सबेरे दुकान। इस स्वधर्मकी मर्यादासे कोई तृष्णा उन्हें बाहर नही ला सकी। यही सद्गृहस्थका आदर्श है। बेशक वह आदर्श आजकी परिस्थितिकी माँगमें कुछ ओछा पडता जा रहा है, लेकिन अपनी जगह उसमें स्थिर मूल्य है और प्रेमीजी उसपर अत्यन्त सयत और अडिग भावसे कायम रहे है। घर-गृहस्थीमें अपनेको बाँटकर रहना, शेषके प्रति सद्-भाव रखना और न्यायोपार्जित द्रव्यके उपभोगका ही अपनेको अधिकारी मानना, सद्गृहस्थकी यह मर्यादा है। प्रेमीजीका गुण-स्थान वही है और भावनासे यद्यपि वे ऊँचे पहुँचते रहे, व्यवहारमें ठीक वही रहे। उससे नीचे मेरे अनुमानमें कभी नही उतरे।

उनका आरम्भ जैन-जिज्ञासुके रूपसे हुआ, लेकिन साम्प्रदायिकता-ने उन्हें नही छुआ। जैनत्वसे आत्मिक और मानसिकके अलावा ऐहिक

लाभ लेनेकी उन्होंने नहीं सोची। धर्मसे ऐहिक लाभ उठानेकी भावना-से व्यक्ति साम्प्रदायिक बनता है। वह वृत्ति उनमें नहीं हुई, फलतः हर प्रकारका प्रकाश वह स्वीकार करते गये। उनकी जिज्ञासा बन्द नहीं हुई, इससे विकास मन्द नही हुआ। सहानुभूति फैलती गई और साहित्य-की पहचान उनकी सहज और सूक्ष्म होती चली गई।

उनकी यही आन्तरिक वृत्ति कारण थी कि बिना कहीं पढ़े अपने व्यवसायमें रहते-सहते विविध विषयोंका गम्भीर ज्ञान वह प्राप्त कर सके और निस्सन्देह एकसे अधिक विषयोंके ऊँची-से-ऊँची कोटिके विद्वानोंके समकक्ष गिने जाने लगे। वह ज्ञान उनमें संचित न रहा, उन्हें सिद्ध हो गया। उसे उन्हें स्मरण न रखना पड़ा, वह आप ही समुपस्थित रहा। इसीमें उनके स्वभावकी प्रामाणिकता आ मिली तो उनकी सम्मति विद्वानों-के लिए लगभग निर्णीत तथ्यका मूल्य रखने लगी। कारण, इनके कथन-में पक्ष न होता, न आवेश, न अतिरंजन, न अत्युक्ति।

एक बातका मुझपर गहरा प्रभाव पड़ा है। अपनेको साधारणसे भिन्न समझकर मैंने उन्हें कभी नही देखा। कभी उन्होने अपनेमें कोई विशि-ष्टता अनुभव नही की। इस सहज निरभिमानताको मै अत्यन्त दुर्लभ और महान् गुण मानता हूँ। मेरे मन तो यही ज्ञानीका लक्षण है। जो अपनेको महत्त्व नही देता, वही इस अवस्थामें होता है कि शेष सबको महत्त्व दे सके। इस दृष्टिसे प्रेमीजीको जब मैंने देखा है, विस्मित रह गया हूँ। उनकी इस खुली निरीह साधारणताके समक्ष मैंने सदा ही भीतरसे अपनेको नतमस्तक माना है और ऐसा मानकर एक कृतार्थता भी अनुभव की है। ऐसा अनुभव इस दुनियामें अधिक नहीं मिलता कि जहाँ सब अपने-अपनेको गिननेके आदी और बाक़ी दूसरोंको पार कर जानेके आकांक्षी है।

उनकी सहज धर्म-भीरुताके उदाहरण यत्र-तत्र अनेक मिलेंगे। एक सज्जनने हिसाबमें भूलसे एक हज़ारकी रक़म ज्यादा भेज दी। वह जमा हो गई और हिसाब साल-पर-साल आगे आता गया। तीन-चार

साल हो गये। दोनो तरफ खाता बेबाक समझा जाता था। एक अर्से बाद पाया गया कि कहीसे एक हजारकी रकम बढ़ती है। खोज-पडताल की गई। बहुत देखनेपर पता चला कि अमुकके हिसाबमें वह रकम ज्यादा आ गई है। तुरन्त उन सज्जनको लिखा गया कि वह कृपया अपना हिसाब देखें। साधारणत उन सज्जनने लिख दिया कि हिसाब तो साफ है और बेबाक है, लेकिन प्रेमीजीकी ओरसे उन्हें सुझाया गया कि तीन-चार वर्ष पहलेकी हिसाब-बही देखें, हमारे पास एक हजारकी रकम ज्यादा आ गई है। इस तरह अपनी ओरसे बढी रकमको पूरे प्रयत्नसे जाननेके बाद कि वह यथार्थमें किसकी है और मालूम होनेपर तत्काल उसे उन्हीको लौटाये बिना प्रेमीजीने चैन नही लिया। यह अप्रमत्त ईमानदारी साधना-से हाथ आती है। पर प्रेमीजीका वह स्वभाव हो गई है।

उनका जीवन अन्दरसे धार्मिक है। इसीसे ऊपरसे उतना धार्मिक नही भी दीखे। यह धर्म उनका श्वास है, स्वत्व नही। प्राप्त कर्तव्यमें दत्तचित्त होकर बाहरी तृष्णाओ और विपदाओसे अकुण्ठित रहे है। पत्नी गई, भर-उमरमें पुत्र गया। प्रेमीजी जैसे सवेदनशील व्यक्तिके लिए यह वियोग किसीसे कम दुस्सह नही था। इस बिछोहकी वेदनाके नीच उन्हें बीमारी भी भुगतनी पडी। लेकिन सदा ही अपने काममेंसे वह धैर्य प्राप्त करते रहे। प्राप्तमेंसे जीको हटाकर अप्राप्त अथवा विगतपर उन्होने अपनेको विशेष नही भरमाया। अन्ततक काममें जुटे रहे और भागनेकी चेष्टा नही की। मैंने उन्हें अभी इन्ही दिनो काममें व्यस्त देखा है कि मानो श्रम उनका धर्म हो और धर्म उनका श्रम।

ऐसे श्रमशील और सत्परिणामी पुरुषके सम्पर्कको अपने जीवनमें अनुपम सद्भाग्य गिनता हूँ।

—प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ

१९४६

मेरे दादा

स्व० हेमचन्द्र मोदी

बम्बईका 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' हिन्दीमें एक ऐसी प्रकाशन-संस्था रही है, जिसने लोगोंका बहुत-कुछ ध्यान आकर्षित किया है। इसके बारेमें ज्यादा जाननेके लिए लोग उत्सुक भी रहे है, पर इस विज्ञापनबाज़ीके ज़मानेमें न जाने क्यों इसके संचालक हमेशा आत्म-विज्ञापनकी ओर इस तरह उपेक्षा दिखलाते रहे है कि लोगों-की उत्सुकता खुराकके अभावमें अभिज्ञताके रूपमें नही पलट पाई। कोशिश करनेपर लोग इसके बारेमें इसके नामके अलावा इतना ही जान पाये है कि इसके मालिक श्री नाथूराम प्रेमी नामक कोई व्यक्ति-विशेष हैं। हाँ, कोई आठ-दस साल पहले व्यक्तिगत चिट्ठियोंमें सवाल-पर-सवाल पूछकर पूज्य प० बनारसीदासजी चतुर्वेदी कुछ जानकारी पा गये थे, जिसे उन्होंने 'विशाल भारत' में छाप दिया था। पर इसके द्वारा लोगोंकी उत्सुकता बढी थी, घटी नही थी।

मैं पिताजीको न जाने कबसे 'दादा' कहता आया हूँ और मेरी देखादेखी निकट परिचयमें आनेवाले हिन्दीके बहुतसे लेखक भी उन्हें 'दादा' कहने और पत्रोंमें लिखने लगे हैं। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'के साथ वे इस तरह संश्लिष्ट है कि जो लोग थोड़े भी परिचयमें आये हैं, वे दोनोंमें भेद नहीं कर पाते। इतना ही नहीं, मेरा कई सालका अनुभव है कि वे स्वयं भी अपने आपको चेष्टा करनेपर भी 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'-से अलग नहीं कर पाते। अपने कार्यसे इतना अधिक एकात्म्य दुनियामें बहुत कम लोग अनुभव करते हैं। यह एकात्म्य यहाँ तक रहा है कि कभी-

कभी मुझे यह भासने लगता है कि जिस पितृ-स्नेहका मैं हक़दार था, उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा इसने चुरा लिया है और मुझे याद है कि मेरी स्वर्गीया माँ भी अनेक बार इसमें अपनी सौतका दर्शन करती रही हैं; परन्तु मेरे निकट 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' कोई चीज़ नहीं है। मेरे निकट तो बस मेरे दादा है। मै यहाँ अपने दादाका ही परिचय दूंगा; क्योंकि मेरे लिए वे ही सब कुछ हैं। मेरे निकट 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' है तो केवल उनके एक प्रतीकके रूपमें। मुझे विश्वास है कि पाठक भी जड़ 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' की अपेक्षा चेतन 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' को ही जाननेके लिए ज़्यादा उत्सुक होंगे।

पर इसका मतलब यह नही है कि दादा मुझे चाहते नही है या मेरी माताके प्रति उनका व्यवहार उचित नही था। सच पूछो तो दादा मेरी माँको चाहते नहीं थे, उनकी भक्ति करते थे। जब वे किसी चीज़के लिए कहती थीं, तब वह माँग उन्हें इतनी तुच्छ प्रतीत होती थी कि उनके ख्याल-से उन-जैसी देवीको शोभा न देती थी। उन्होने इस बातका ख्याल नही किया कि एक देवीके शरीरमें भी मनुष्यका हृदय रह सकता है। उनकी मृत्युके आठ साल बाद आज भी जब वे उनका स्मरण करते हैं, तब उनका हृदय दुखसे भर उठता है। आप कहेंगे, "यह तुमने अच्छा झगड़ा लगाया। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'से तुम्हारी माँका क्या सम्बन्ध ?" पर मेरा विश्वास है कि दादाने जो भी कुछ किया, 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'को आप जैसा कुछ देखते हैं, उसमें अगर यह कहा जाय कि दादाकी अपेक्षा मेरी माँका अधिक हिस्सा है तो शायद कुछ ज़्यादा अतिशयोक्ति न होगी। पुरुष कितना ही त्याग-वृत्तिका हो, सेवा-परायण और कर्तव्यनिष्ठ हो, पर अगर स्त्री अपने पतिके व्रतको अपना व्रत नहीं बना लेती तो अवश्य ही उस पुरुषका पतन होता है। कार्लमार्क्स कितने ही सिद्धान्तवादी होते पर उनकी पत्नी लोभी, विलासेच्छु होती तो वे कभीके पूँजीवादियोंके मायाजालमें फँस जाते। बड़े-बड़े होनहार देशभक्तों, त्यागियों और महापुरुषोंका पतन उनकी पत्नीके अपातिव्रत्यके कारण ही हुआ है। अपने पतिके

व्रतको वे अपना व्रत न मान सकीं।

जब कभी हम लोग फ़ुर्सतके वक्त दादाके पास बैठते हैं, तब वे अपने जीवनकी स्मरणीय घटनाओं और बातोंको कहते हैं। उनको सुनने और उनपर विचार करनेपर हमें मालूम होता है कि उनके चरित्र और स्वभावके किन गुणोंने उन्हें आगे बढाया और उस कार्यके करनेके लिए प्रेरित किया और किन परिस्थितियोंने उसमें मदद पहुँचाई।

दादाकी बातोंमें सबसे पहली बात जो ऊपर तैर आती है वह अत्यन्त दरिद्रताकी है। दादाके पिता अर्थात् मेरे आजेका नाम था टूंडे मोदी। हम लोग देवरी जिला सागर (मध्यप्रान्त) के रहनेवाले परवार बनिये हैं। परवार लोग अपने मूलमें मेवाड़के रहनेवाले थे। पहले हथियार बाँधते थे, पर बादमें और बहुत-सी क्षत्रिय जातियोंकी तरह व्यापार करने लगे और वैश्य कहलाने लगे। पुराने शिलालेखोंमें इस जातिका नाम 'पौरपट' मिलता है और ये मेवाड़के पुर या पौर क़सबेके रहनेवाले है और सारे बुन्देलखंडमें बहुतायतसे फैले हुए हैं। मगर हमारे आजे टूंडे मोदी महाजनोंमें अपवाद-रूप थे। अपनी हार्दिक उदारताके सबब वे अपने आसामियोंसे कर्ज़ दिया हुआ रुपया कभी वसूल न कर सकते थे और किसीको कष्टमें देखते थे तो पास रुपया रखकर देनेसे इन्कार न कर सकते थे। इस कारण वे अत्यन्त दरिद्रताके शिकार हो गये। देखनेको हज़ारों रुपयेकी दस्तावेज़ें थीं, पर घरमें खानेको अन्नका दाना नहीं था। दादा सुनाते हैं कि बहुत दिनों तक घरका यह हाल था कि वे जब घोड़ेपर नमक, गुड़ वगैरह सामान लेकर देहातमें बेचने जाते थे और दिन भर मेहनत करके चार पैसे लाते थे, तब कहीं जाकर दूसरे दिनके भोजनका इन्तजाम होता था। वे क़र्ज़दार भी हो गये थे। एक बारकी बात है कि घरमें चूल्हेपर दाल-चावल पककर तैयार हुए थे और सब खानेको बैठने ही वाले थे कि साहूकार कुड़की लेकर आया। उसने वसूलीमें चूल्हेपरका पीतलका बर्तन भी माँग लिया। उससे कहा कि भाई, थोड़ी देर ठहर। हमें खाना खा लेने दे। फिर बर्तन ले जाना। पर उसने कुछ न सुना।

बर्तन वहीं राखमें उँडेल दिये। खाना सब नीचे राखमें मिल गया और वह बर्तन लेकर चलता बना। सारे कुटुम्बको उस दिन फ़ाक़ा करना पड़ा।

ऐसी ग़रीबीमें गाँवके मदरसेमें दादा पढ़े. ट्रेनिंगकी परीक्षा पास की और मास्टरीकी नौकरी कर ली। वे कई देहाती स्कूलोंमें मास्टर रहे। मास्टर होनेके पहले कुछ दिन उन्होंने डेढ़ रुपया महीनेकी मानीटरीकी नौकरी की। मास्टरीमें उन्हें छः रुपया महीना मिलता था। बादमें सात रुपया महीना मिलने लगा था। इसमेंसे वे अपना खर्च तीन रुपयेमें चलाते थे और चार रुपया महीना घर भेजते थे। इन दिनों जो कम-खर्चीकी आदत पड़ गई, वह दादासे अभीतक नही छूटती। एक तरफ तो उनमें इतनी उदारता है कि दूसरोंके लिए हज़ारों रुपये दे देते है, पर अपने खर्चके लिए वे एक पैसा भी मुश्किलसे निकाल पाते है। अन्य गुणो के साथ मिलकर इस आदतका असर 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के संचालनपर भी गहरा पड़ा है। किताबोंकी बिक्रीका जो भी कुछ पैसा आता रहा, वह कुछ व्यक्तिगत खर्च निकालकर नये प्रकाशनोंमें ही लगता गया। बम्बईके जीवनका बहुत बड़ा हिस्सा उन्होंने दस-बारह रुपये महीना किरायेके मकानोंमें ही निकाल दिया है, जब कि उनकी हालत ऐसी थी कि खुशीसे पचास रुपया महीना किराया खर्च कर सकते थे। इस आदत के कारण ही उन्हें कभी किसी अच्छे ग्रन्थको छपानेके लिए, जिसकी कि वे आवश्यकता समझते हों, रुपयोका टोटा नही पड़ा और न कभी आज तक क़र्ज़में किसीका पैसा लेकर धन्धेमें लगाया। कभी किसी प्रेसवालेका या काग़ज़वालेका एक पैसा भी उधार नही रक्खा। यही आदत उन्हें सभी क़िस्मके व्यसनोंसे और लोभसे भी बचाये रही। सट्टेबाज़ मारवाड़ियोंके बीच रहकर भी हमेशा वे सट्टेके प्रलोभनसे बचे रहे। उन्होने कभी किसी ऐसी पुस्तकको नही छापा, जिसका उद्देश्य केवल पैसा कमाना हो, और न लोभमें पड़कर कभी कोई ऐसा कार्य किया, जो नीतिकी दृष्टिसे गिरा हुआ हो। कभी ऐसा मौक़ा आता है तो वे कह देते हैं, "ज़रूरत

पड़नेपर फिर मैं एक बार छः रुपये महीनेमें गुजारा कर लूँगा, पर कमाई-के लिए यह पुस्तक न छापूंगा।"

यहाँ मुझे यह भी कहना चाहिए कि अल्पसन्तोषितासे एक बुराई भी पैदा हो गई है। वह यह कि अन्य पुस्तक-प्रकाशक अपनी पुस्तक बेचनेके लिए जितनी कोशिश कर पाते हैं और कभी-कभी जितनी ज्यादा बेच लेते है, उतनी हम नही कर पाते। बिक्रीकी दौड़में 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सदा पीछे ही रहा है, पर इनमें बहुतसे अतिप्रयत्नशील प्रकाशक चार दिन चमककर अस्त हो गये, पर 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' अपनी कछुए की चालसे चला ही जा रहा है।

क़रीब दो साल दादा मास्टरी करते रहे। इसी ज़मानेमें देवरीमें स्वर्गीय अमीरअली 'मीर' के संसर्गसे दादाको कविता करनेका शौक़ हुआ और उन्होंने 'प्रेमी' के उपनामसे बहुत-सी कविताएँ लिखीं, जो उस ज़मानेमें समस्यापूर्तिके 'रसिक मित्र', 'काव्य-सुधाकर' आदि पत्रोमें छपा करती थीं। पढ़नेका भी शौक़ हुआ और आसपास जो भी पुस्तकें हिन्दी की मिलती थी, सभी पढ़ी। कोई दो साल मास्टरीकी नौकरी करनेके बाद सरकारने उन्हें नागपुर कृषि-कालेजमें पढ़ने भेज दिया। उन दिनों उस कालेजमें हिन्दीमें पढ़ानेका प्रबन्ध किया गया था। पर नागपुरमें वे अधिक दिन स्वस्थ न रह सके। बीमार पड़ गये और घर लौट जाना पड़ा। अपने विद्यार्थी-जीवनकी सबसे अधिक स्मरणीय बात वे उस स्वावलम्बनकी शिक्षाको समझते हैं, जो उस समय उन्हें मिली। उस जमानेमें कालेजोंके साथ आजकलकी तरह बोर्डिंग नही थे। सब विद्यार्थियोंको अपने हाथसे ही रोटी बनानी पड़ती थी। दादाको रोटी बनानेमें आधा घंटा लगता था। दादा बोर्डिगोंकी प्रथाको बहुत बुरी प्रथा समझते है, जिससे उनमें विलासिता घर कर जाती हैं।

'मीर' साहबके संसर्गमें जो उन्हें काव्य-साहित्यका शौक़ हुआ सो हमेशा ही बना रहा। साथ ही ज्ञानकी पिपासा जाग्रत हो गई। खुद सुन्दर

कविता करने लगे, पर इससे अधिक अपने अन्य कवियोंकी कविताओंका उत्तम संशोधन करनेका बहुत अच्छा अभ्यास हो गया। आगे चलकर इस अभ्यासकी ऐसी वृद्धि हुई कि कई अच्छे कवि अपनी कविताका संशोधन करानेमें प्रसन्नताका अनुभव करते थे। दादाका कहना है कि उनको कविता प्रयत्नपूर्वक बनानी पड़ती है। वे स्वभावतः कवि नही है। इसलिए उन्होंने बादमें कविता लिखना बन्द कर दिया। वे 'प्रेमी' उपनामसे कविता करते थे और इसी नामसे वे प्रसिद्ध हो गये। पर कविताके संशोधन और दोष-दर्शनमें जितनी कुशलता उन्हें हासिल है, उतनी कुछ इने-गिने लोगोंको होगी। कहीं कोई शब्द बदलना हो, कही कोई काफिया ठीक न बैठता हो तो वे तुरन्त नया शब्द सुझा देते है और काफियेको ठीक कर देते हैं।

इसी समय एक अखबारमें विज्ञापन निकला कि 'बम्बई-प्रान्तिक-दिगम्बर-जैन-सभा' को एक क्लार्ककी जरूरत है। दादाने अपना आवेदन-पत्र इस जगहके लिए भेज दिया। उनका आवेदन मंजूर हुआ और बम्बई आनेके लिए सूचना आ गई। पर आप जानते है कि उनका आवेदन मंजूर होनेका मुख्य कारण क्या था? आवेदन-पत्र तो बहुतोंने भेजे थे, पर उनका आवेदन मंजूर होनेका मुख्य कारण उनकी हस्त-लिपिकी सुन्दरता थी। आजकल लोग हस्त-लेखको सुन्दर बनानेपर बहुत कम ध्यान देते है। दादाके मोती सरीखे जमे हुए अक्षर आज भी बहुतोंका मन-हरण कर लेते हैं। दादाके अक्षर सुन्दर न होते तो उनका बम्बई आना न होता और न 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का उनके हाथों जन्म ही होता। बचपनमें उन्होंने अपनी हस्तलिपिकी सुन्दरताके लिए काफ़ी प्रयत्न किया था और क़स्बेके सरकारी स्कूलके सारे तख्ते उन्हीके हाथके लिखे थे। अक्सर देखा जाता है कि जिन लड़कोंके अक्षर अच्छे होते है, वे पढ़नेमें पिछड़े होते हैं, पर दादा अपनी कक्षामें हमेशा पहले दो लड़कोंमें रहे।

बम्बईमें आकर उन्हें अपनी शक्तियोंके विकासका भरपूर अवसर मिला। यहाँ आते ही उन्होंने संस्कृत, बँगला, मराठी और गुजराती

सीखना शुरू कर दिया। छः-सात घंटे आफ़िसका काम करके बचतके समयमें वे इन भाषाओंका अभ्यास करते थे। दफ़्तरमें एकमेवाद्वितीय थे। चिट्ठी-पत्री लिखना, रोकड़ सम्हालना और 'जैनमित्र'नामक मासिक पत्रके सम्पादनसे लेकर पत्रोको लिफ़ाफ़ोंमें बन्द करना, टिकट चिपकाना, डाकखानेमें जाकर डाल आने तकका काम उनका था और मिलता था उनको इसके बदलेमें सिर्फ़ पच्चीस रुपया माहवार। जिस कामको उन्होंने अकेले किया, उसीके लिए बादमें कई आदमी रखने पड़े।

अपने नौकरीके जीवनकी सबसे स्मरणीय बात जो दादा सुनाते हैं, वह यह कि जब कभी जितनी भी तनख्वाह उन्हें मिली, हमेशा उससे उन्हें बेहद सन्तोष रहा। उन्होने हमेशा यही समझा कि मुझे अपनी लियाक़तसे बहुत ज्यादा मिल रहा है। कभी तनख्वाह बढ़ानेके लिए कोई कोशिश नही की और न कभी किसीसे इसकी शिकायत की, पर साथ ही अपनी योग्यता बढ़ानेकी सतत कोशिश करते रहे। एक सामाजिक नौकरी करते हुए भी कभी किसी सेठ-साहूकारकी खुशामद नही की और हमेशा अपने स्वाभिमानकी रक्षा करते रहे। स्वाभिमानपर चोट पहुँचते ही उन्होंने नौकरी छोड़ दी। जिन सेठ साहबकी देख-रेखमें दादा काम करते थे, उनके कुछ लोगोंने कान भरे कि दादा रोकड़के रुपयोमेंसे कुछ रुपये अपने व्यक्तिगत काममें लाते हैं। एक दिन सेठ साहब अचानक दफ़्तरमें आ धमके और बोले कि तिजोरी खोलकर बताओ कि कितने रुपये हैं। दादाने तिजोरी खोलकर रुपये-आने-पाईका पूरा-पूरा हिसाब तुरन्त दे दिया और फिर तिजोरीकी चाबी उन्हीको देकर बाहर चले गये और कह गये कि आपको मेरा विश्वास नहीं रहा। इसलिए अब मैं यह नौकरी न करूँगा। आप दूसरा आदमी रख लीजिए। बहुत आग्रह करनेपर भी दादाने नौकरी तो न की, पर 'जैनमित्र' की सम्पादकी-का काम करते रहे।

उस समय बम्बईके जैनियोंमें पं० पन्नालालजी बाकलीवाल नामक एक त्यागी व्यक्ति थे। उन्होंने आजन्म समाज-सेवाका, विशेष करके

जैन-साहित्यकी सेवाका, व्रत लिया था और आजन्म अविवाहित रहने-की प्रतिज्ञा की थी। वे लोगोंमें 'गुरुजी' के नामसे प्रसिद्ध थे और अपने ज़मानेमें जैन-समाजके इने-गिने विद्वानोंमें-से थे। वे बहुत वर्ष बंगालके दुर्गापुर (रगपुर) नामक स्थानमें अपने भाईकी दुकानपर रहे थे और दादाने उनसे बंगाली भाषा सीख ली थी। दादापर उनके चरित्रका, उनकी निःस्पृहताका और समाज-सेवाकी भावनाका भी बडा गहरा असर हुआ और उनसे उनका सम्बन्ध प्रगाढ होता गया। उन्होने जैनियोंमें शिक्षाके प्रसारके लिए और जैन-ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिए 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' नामक एक प्रकाशन-संस्थाकी स्थापना की थी। इससे 'जैन-हितैषी' नामका एक मासिक पत्र प्रकाशित होता था और बहुत-सी जैन पुस्तकें प्रकाशित हुई थी। दादाने भी धीरे-धीरे उनके इस काममें हाथ बटाना शुरू किया। दादाकी योग्यता और परिश्रमका गुरुजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा और थोड़े ही समय बाद वे सारा काम दादाको सौपकर चले गये। पहले दादाको अपने परिश्रमके बदलेमें किताबोंकी बिक्रीपर कुछ कमीशन मिलता था। कुछ दिनों बाद 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' में दादाका आधा हिस्सा कर दिया गया। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय'में किताबोंकी शक्लमें जो पूँजी थी, वह अधिकांश क़र्ज़की थी, जिसका ब्याज देना पड़ता था, पर जिनकी वह पूँजी थी, वे ऐसे व्यक्ति नहीं थे, जो एकाएक कभी आकर अपने रुपये तलब करने लगें। बादमें दादाने और छगनमलजीने यह सारा रुपया कमाकर चुकाया।

कुछ दिन बाद गुरुजीने अपनी जगहपर अपने भतीजे श्री छगनमलजी बाकलीवालको रख दिया। दादा और छगनमलजी दोनों मिलकर जैन-ग्रन्थोंके प्रकाशनमें जुट गये। दुकानका प्रबन्ध-सम्बन्धी सारा काम छगनमलजी सम्हालते थे और ग्रन्थोंका सम्पादन, संशोधन और 'जैन-हितैषी'के सम्पादनका काम दादा सम्हालते थे। इस समय क़रीब साठ-पैंसठ जैन-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित किये। 'जैन-हितैषी'ने समाजमें सबसे

ज़्यादा प्रतिष्ठा प्राप्त की। उसका सम्पादन इतना अच्छा होता था कि उस ज़मानेकी 'सरस्वती' से ही उसका मुक़ाबिला किया जा सकता था। कोई भी जातीय पत्र उसका मुक़ाबिला न कर सकता था। गुरुजीका सारा क़र्ज़ धीरे-धीरे अदा कर दिया गया और थोड़ा-सा ख़र्च किया जाकर जो बचने लगा सो प्रकाशनमें ही लगने लगा।

इस ज़मानेकी सबसे ज़्यादा स्मरणीय बात है स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्र पानाचन्द्रकी सहायता। दिगम्बर-जैन-समाजका जितना अधिक उपकार सेठ माणिकचन्द्रजी कर गये, उतना शायद ही किसी एक व्यक्तिने किया हो। यह उपकार उन्होंने कोई धर्मादा संस्थाओंको बहुत-सा रुपया देकर किया हो, सो बात नहीं। उन्होंने जितनी संस्थाएँ क़ायम कीं, उनका बहुत सुन्दर प्रबन्ध करके ही उन्होंने वह कार्य किया। जितना काम उन्होंने एक रुपयेके ख़र्चसे किया, उतना दूसरे धनवान् व्यक्ति सौ रुपया ख़र्च करके भी न कर पाये। इस सफलताका रहस्य, उनमें कार्यकर्ताओंके चुनावकी जो ज़बरदस्त शक्ति थी, उसमें निहित है। साथ ही और लोग जहाँ दानमें अपनी सारी सम्पत्तिका एक छोटा हिस्सा ही देते है, वहाँ वे अपनी लगभग सारी सम्पत्ति दानमें दे गये। बम्बईका हीराबाग, जिसमें कि शुरूसे आज तक 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' का दफ़्तर रहा है, उनके दिये दानकी एक ऐसी ही संस्था है।

जैन-ग्रन्थोके प्रकाशनमें वे इस रूपमें सहायता देते थे कि जो भी कोई उत्तम ग्रन्थ कहीसे प्रकाशित होता था, उसकी दो-तीन सौ प्रतियाँ एक साथ तीन-चौथाई क़ीमतमें खरीद लेते थे। प्रत्येक प्रकाशकके लिए यह बहुत काफ़ी सहायता थी, जिसमें छपाईका क़रीब सारा ख़र्च निकल आता था। दादाको भी इस तरह काफ़ी सहायता मिली। पुस्तक-प्रकाशनमें सहायताका यह ढंग इतना सुन्दर है कि दादाका कहना है कि अगर हिन्दीमें उत्तम पुस्तकोंके प्रकाशनको प्रोत्साहन देनेके लिए यह ढंग अख़्तियार किया जाय तो हिन्दी-साहित्यकी बहुत कुछ कमी बात-की-बातमें दूर हो सकती है। इसमें लेखक और प्रकाशक दोनोंको उत्साह

मिलता है। सिर्फ़ लेखकोंको पुरस्कार देनेकी अथवा प्रकाशनके लिए नई प्रकाशन-संस्थाएँ खोलनेकी जो रीति है, उसमें ख़र्चके अनुपातसे लाभ नहीं होता। हिन्दीमें अधिकारी लेखकोंका अभाव नहीं है, पर प्रकाशकों-का ज़रूर अभाव है। जबतक बिकनेकी आशा न हो तबतक प्रकाशक अच्छी पुस्तक निकालते सकुचाते हैं। पुस्तक अच्छी होगी तो लेखक ज़रूर पुरस्कार प्राप्त करेगा, पर प्रकाशकको उससे क्या लाभ होगा? यूरोप की तरह यहाँ तो पुरस्कारकी बात सुनकर उस लेखककी पुस्तक लेनेको तो दौड़ेंगे नहीं। ऐसी परिस्थितिमें या तो लेखकको स्वयं ही प्रकाशक बनकर पुस्तक छपानी पड़ती है और यह वह तभी करता है जब कि उसे पुरस्कार प्राप्त करनेका निश्चय होता है और या किसी प्रकाशकको किसी तरह राज़ी कर पाता है। पर प्रकाशक इस तरह राज़ी नहीं होते। वे हमेशा कुछ टेढे तरीक़ेसे लाभ उठानेकी बात सोचते हैं और प्रायः इस तरह कालेजोंके प्रोफ़ेसरोंकी और टेक्स्ट-बुक-कमेटीके मेम्बरों की ही किताबें छप जाती हैं। अन्य योग्य लेखक यों ही रह जाता है। नई सार्वजनिक प्रकाशन-संस्थाएँ खोलनेपर प्रकाशन तो पीछे शुरू होता है, पर आफ़िस आदिका ख़र्च पहले ही होने लगता है और जितना ख़र्च वास्तविक कार्यके पीछे होना चाहिए, उससे ज़्यादा ख़र्च ऊपरके आफ़िस आदिके ऊपर होता है और कहीं उसने पत्र निकाला और प्रेस किया तो समझिये कि वह बिना मौत ही मर गई। पुरानी प्रकाशन-संस्थाओंके होते हुए नई प्रकाशन संस्थाएँ पैदा करना दोनोंको भूखा मारनेके बराबर होता है और असंगठित रूपसे नये-नये प्रकाशक रोज़ होनेसे न उनकी पुस्तकोंकी बिक्रीका ठीक संगठन ही होता है और न पढ़नेवालोंको पुस्तकें मिल पाती हैं।

स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्रजीके प्रति दादाका जो कृतज्ञताका भाव था, उससे प्रेरित होकर उनके स्वर्गवासके बाद उन्होंने 'माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थ-माला' नामकी संस्था खड़ी की, जिसका कार्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओंके लुप्तप्राय प्राचीन जैन-ग्रन्थ सुसम्पादित रूपमें प्रकाशित करना है। इस समय तक इसमें सिर्फ़ बीस हज़ारका चन्दा

हुआ है और चालीस ग्रन्थ निकल चुके हैं। दादा इस मालाके प्रारम्भसे ही अवैतनिक मन्त्री रहे हैं और उसका कार्य इस बातका उदाहरण रूप रहा है कि किस प्रकार कम-से-कम रुपयेमें अधिक-से-अधिक और अच्छे-से-अच्छा काम किया जा सकता है; क्योंकि ग्रन्थोंकी क़ीमत लागत-मात्र रक्खी जानेके कारण और एकमुश्त सौ रुपया देनेवालोंको सारे ग्रन्थ मुफ़्त दिये जानेके कारण बिक्रीके रूपमें मूल रक़म वसूल करनेकी आशा ही नहीं की जा सकती। बहुतसे ग्रन्थोंका सम्पादन दादाने खुद ही किया है और बहुतोंका दूसरोंके साथ और शेष-का अच्छे आदमियोंको चुनकर करवाया है। पहले तो इस कार्यके योग्य विद्वानोंका ही अभाव था। बादमें जब विद्वान् मिलने लगे तब रुपयोंका अभाव हो गया। यहाँ इतना कहना ज़रूरी है कि अपने प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित करनेकी ओर दिगम्बर-जैन-समाजका बहुत ही दुर्लक्ष्य है। बड़ी मुश्किलसे उसके लिए रुपया मिलता है। प्राचीन जैन-इतिहासका अध्ययन और इन ग्रन्थोंके सम्पादनमें दिलचस्पीके कारण दादाको संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओंका इतना काफ़ी ज्ञान हो गया है कि इन भाषाओंके बड़े-बड़े विद्वान् उनकी धाक मानते हैं। ब्रज-भाषाका सुन्दर ज्ञान तो दादाको अपने कवि-जीवनसे ही है।

'जैन-हितैषी' का सम्पादन करते हुए और जैन-पुस्तकोंका प्रकाशन करते हुए दादा हमेशा बँगला, मराठी, गुजराती और हिन्दीकी बाहरी पुस्तकें बहुत-कुछ पढ़ा करते थे। इन सबके साहित्यको पढ़कर उन्हें यह बात बहुत खटकती थी कि हिन्दीमें अच्छे ग्रन्थोंका अभाव है और ये भाषाएँ बराबर आगे बढ़ रही हैं। उस समय उनके पढ़नेमें पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी द्वारा अनुवादित जॉन स्टुआर्ट मिलका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लिबर्टी' आया, जो 'स्वाधीनता' के नामसे स्वर्गीय पं० माधवराव सप्रेकी 'हिन्दी-ग्रन्थ-प्रकाशन-मंडली' से प्रकाशित हुआ था। उसे पढ़कर दादाकी इच्छा हुई कि इसकी सौ-दो सौ प्रतियाँ लेकर जैनियोंमें प्रचार करें, ताकि उनकी कट्टरता कम हो और वे विचार-स्वातन्त्र्यका महत्त्व समझें। पर तलाश

करनेपर मालूम हुआ कि वह ग्रन्थ अप्राप्य है। तब इसके लिए उन्होंने द्विवेदीजीको लिखा। उस समय तक दादाको गुमान भी नहीं था कि वे किसी दिन हिन्दीके भी प्रकाशक बनेंगे। उन्होंने तो अपने कार्यक्षेत्रको जैन-ग्रन्थोंके प्रकाशन और जैन-समाजकी सेवा तक ही सीमित रख छोड़ा था। द्विवेदीजीने बताया कि गवर्नमेण्ट देशी भाषाओंमें इस तरहका साहित्य छापना इष्टकर नहीं समझती। इसलिए इसके प्रकाशनमें जोखम है। पर दादा राजनैतिक साहित्य खूब पढ़ते थे और उन्हें बड़ा जोश था। उन्होंने उसे छापनेका बीड़ा उठा लिया। प्रेस-सम्बन्धी कठिनाइयाँ आईं, पर वे हल हो गईं और द्विवेदीजीके आशीर्वाद और उनकी 'स्वाधीनता'-के प्रकाशनसे ता० २४ सितम्बर १९१२ को 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-ग्रन्थ-माला' का जन्म हुआ।

'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सबसे पहली ग्रन्थमाला थी, जो हिन्दीमें प्रकाशित हुई। मराठी वग़ैरह भाषाओंमें उस समय कई ग्रन्थमालाएँ निकल रही थीं। उन्हींके अनुकरणमें इन्होंने भी स्थायी ग्राहककी फ़ीस आठ आना रक्खी, जो पोस्टेज बढ़ जानेके कारण बादमें एक रुपया कर दी गई। यह ग्रन्थ-माला हिन्दीमें सब तरहका साहित्य देनेके उद्देश्यसे निकाली गई थी। उस समय लोगोंमें यह भावना थी कि हिन्दीमें जो भी नवीन साहित्य छपे, सब ख़रीदा जाय, क्योंकि उस समय हिन्दीमें नवीन साहित्य था ही कितना! उस समय लोगोंमें साहित्यको अवलम्बन देनेका भाव भी था। इसलिए धीरे-धीरे मालाके डेढ़ दो हज़ार ग्राहक आसानीसे हो गये और हरेक पुस्तकका पहला संस्करण दो हज़ारका निकलने लगा। लगभग डेढ़ हज़ार तो पुस्तक निकलते ही चली जाती थीं, बाकी धीरे-धीरे बिकती रहती थीं। समालोचनाका उन दिनों यह असर था कि 'सरस्वती'-में एक अच्छी समालोचना निकलते ही पुस्तककी सौ-डेढ़-सौ प्रतियाँ तुरन्त ही बिक जाती थीं और विज्ञापनका भी तत्काल असर होता था। महायुद्धके ज़मानेमें बारह आने पौंडका काग़ज़ ख़रीदकर भी ग्रन्थमाला बराबर चालू रक्खी गई। पर इस ज़मानेका लाभ दादा बहुत समय तक

और पूरा न ले सके। कई सख्त और लम्बी बीमारियाँ उन्हें झेलनी पड़ीं। साथ ही उन्हें जैन-समाजकी और साहित्यकी सेवा करनेकी धुन ज्यादा थी। ज़्यादा वक्त ऐतिहासिक लेख लिखने और 'जैन-हितैषी' के सम्पादनमें खर्च होता था। जितना परिश्रम और खर्च उन्होंने 'जैन-हितैषी'के सम्पादनमें किया, उससे आधे परिश्रममें हिन्दीका अच्छे-से-अच्छा मासिक पत्र चलाया जा सकता था और सम्पादक और लेखकके तौरपर बड़ा यश कमाया जा सकता था। सिवाय इसके विज्ञापनका एक बहुत सुन्दर साधन भी बन सकता था।

पर इस सब समाजके लिए की गई मेहनतका परिणाम क्या हुआ है? दादा तब उग्र और स्वतन्त्र मिज़ाजके व्यक्ति थे। किसीसे भी दबना उनके स्वभावके ख़िलाफ़ था और ऐसी व्यंग और कटाक्ष भरी लेखनी थी कि जिसके ख़िलाफ़ लिखते थे उसकी शामत आ जाती थी। इसके सिवाय सेठ लोगोंके वे हमेशा ख़िलाफ़ लिखते थे। पहले 'जैन-हितैषी'-की ग्राहक-संख्या खूब बढ़ी। इतनी बढ़ी कि जैन-समाजमें किसी भी सामाजिक पत्रकी कभी उतनी नहीं हुई। दादाके विचार अत्यन्त सुधारक थे और छापेका प्रचार, विजातीय विवाह वग़ैरहके कई आन्दोलन उसमें शुरू किये, पर जब उन्होंने विधवा-विवाहके प्रचारका आन्दोलन उसमें शुरू किया तो उसका चारों ओरसे बहिष्कार प्रारम्भ हुआ। उसके विरुद्ध प्रचार करनेके लिए कई उपदेशक रक्खे गये। इन सामाजिक लेखोंके अलावा उसमें ऐतिहासिक लेख बहुत होते थे, जिनकी क़ीमत उस समय नहीं आँकी गई, पर उनके लिए आज उसके पुराने अंकोंके लिए सैकड़ों देशी और विलायती संस्थाएँ दस गुनी क़ीमत देनेको राज़ी हैं, लेकिन आज वे बिलकुल ही अप्राप्य हैं। विधवा-विवाहके प्रचारके लेख ही दादाने नहीं लिखे, बल्कि अनेक बिधवा-विवाहोंमें वे शामिल हुए और अपने भाईका भी विधवा-विवाह उन्होंने कराया। परिणाम यह हुआ कि उन्हें कई जगह जातिसे बहिष्कृत होना पड़ा तथा समाजमें उनका सम्मान बिलकुल ही कम हो गया, पर इससे वे जरा भी विचलित नहीं हुए।

आखिर समाजको ही उनसे हार माननी पड़ी। ,पर हाँ, बीमारी और घाटेके सबब उस समय पत्र बन्द कर देना पड़ा। सब मिलाकर वह पत्र ग्यारह वर्ष चला। उसका सारा खर्च और घाटा 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' खुद ही बर्दाश्त करता रहा। किसीसे एक पैसेकी सहायता नही ली।

स्थायी ग्राहक बननेका सिलसिला तभी तक रहा, जबतक कि डाक-व्ययकी दर कम रही। पहले एक-दो रुपये तककी वीपियोंको रजिस्टर करानेकी ज़रूरत नही होती थी और इसलिए जहाँ भी किसी एकाध रुपयेकी पुस्तकका भी विज्ञापन ग्राहक देखता था या समालोचना पढ़ता था कि तुरन्त कार्ड लिखकर आर्डर दे देता था और बहुत कम खर्चमें उसे घर बैठे पुस्तक मिल जाती थी। उस ज़मानेमें इतने आर्डर आते थे कि उनकी पूर्ति करना मुश्किल था और छगनमलजी अन्य प्रकाशकोंकी पुस्तकें बेचनेके लिए रखते नही थे। फिर भी सालमें क़रीब पाँच-छः हज़ार वीपियाँ जाती थी। यह बात 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के पुराने रजिस्टरों से बखूबी सिद्ध की जा सकती है कि जिस अनुपातमें डाक-व्ययकी दर बढती गई, ठीक उसी अनुपातमें जानेवाली वीपियोंकी संख्या घटती गई। दादाका ख़्याल है कि अगर हमें देशमें स्थायी साक्षरता और संस्कृतिका विस्तार करना है तो सबसे पहले पुस्तकोके लिए पोस्टेजकी दर कम करानेका आन्दोलन करना चाहिए। काग्रेसका ध्यान भी इस तरफ़ पूरी तरहसे नही खीचा गया है। चिट्ठियो और कार्डोंपर डाक-महसूलकी दर भले ही कम न हो, पर किताबोपर ज़रूर कम हो जानी चाहिए। अगर यह नही होगा तो कोई भी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता। चाहे समाजवाद हो, चाहे राष्ट्रवाद हो और चाहे गांधीवाद, जबतक उसका साहित्य सस्ते पोस्टेजके द्वारा घर-घर न पहुँच सकेगा तबतक किसीमें सफलता न होगी। किताबोंकी क़ीमत सस्ती रखकर कुछ दूरी तक साहित्यके प्रचारमें सहायता पहुँचाई जा सकती है, पर वह अधिक नहीं। एक रुपयेकी पुस्तक मँगानेपर अगर आठ-दस आने पोस्टेजमें ही लग जावें तो पुस्तकके सस्तेपन-

से उसकी पूर्ति कैसे की जा सकती है ? ऐसी परिस्थितिमें तो सभी यह सोचेंगे कि पुस्तक फिर कभी मँगा ली जायगी और फिर कभीका समय नही आता । हालम ही 'मॉडर्न-रिव्यू' म जब रामानन्द बाबूका पोस्टेज-के बारेमे अमेरिकाके प्रेसीडेण्ट रूजवेल्टकी डिक्रीपर नोट पढा तब मुझे इसका ख्याल हुआ कि अमेरिका-जैसे धनवान् देशमें किताबोंके लिए डाकखानेने पास्टेजका रेट फी पौण्ड तीन पैसा (२ सेंट) रख छोडा है तब हिन्दुस्तानका चार आने फी पौण्डसे ऊपरका रट कितना ज्यादा है । मेर ख्यालसे इसके लिए अगर एक बार सत्याग्रह-आन्दोलन भी छेडा जाय तो भी उचित ही है ।

पोस्टेजके रेट बढनपर धीरे-धीरे हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजके और उसके अनुकरणमें निकलनेवाली अन्य मालाओके ग्राहक टूट गय । बादको सबने बहुत कोशिश की, नियमोम बहुत-सी ढील डाली गई, पर कोई स्थायी लाभ नही हुआ । इस तरह पुस्तक-बिक्रीका पुराना सगठन नष्ट हो गया और नया पैदा भी नही होने पाया । साहित्यिक पुस्तकोकी बिक्रीके लिए बडे-बडे शहरोमे भी अबतक कोई उचित प्रबन्ध नही हो सका है और होना बडा मुश्किल है, क्योकि साहित्यिक पुस्तकोकी इतनी बिक्री अभी बहुत कम जगह है कि उससे किसी स्थानीय पुस्तक-विक्रेता का पेट भर सके । फिर कमीशनकी नियमितताने इसकी जो कुछ सम्भावना थी उसे भी नष्ट कर दिया है । स्कूली पुस्तकें बेचनेवाले विक्रेता सब जगह है, धार्मिक और बाजारू पुस्तकें बेचनेवाले भी है, पर वे साहित्यिक पुस्तके रखना पसन्द नही करते ।

खैर, पोस्टेजकी कमीके सबबसे 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' को अपनी उन्नतिमे जो सहारा मिला, उसे तो हम निमित्त कारण कह सकते हैं, भले ही वह निमित्त-कारण कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यो न हो ! उसकी उन्नतिके प्रमुख कारण दूसरे ही हैं । मेरी समझमे नीचे लिखे कारण उसमे मुख्य हैं—

(१) **ग्रन्थोंका चुनाव**—दादा अपने यहाँसे प्रकाशित होनेवाले

ग्रन्थोंका चुनाव बड़ी मेहनतसे करते हैं। प्रकाशनार्थ जितने ग्रन्थ हमारे यहाँ आते हैं, उनमेंसे सौ मेंसे पिचानवे तो वापिस लौटा दिये जाते हैं। फिर भी लोग बहुत ज्यादा अपनी पुस्तकें दादाके पास भेजते हैं। हिन्दीमें अन्य प्रकाशकोंके यहाँसे प्रकाशित हो जानेवाली अनेक पुस्तकें ऐसी होती हैं, जो हमारे यहाँसे वापिस कर दी गई होती हैं। चुनावके वक्त दादा तीन बातोंपर ध्यान देते हैं—

(अ) प्रथम श्रेणीकी पुस्तक हो, चाहे उसके बिकनेकी आशा हो, चाहे न हो।

(आ) पुस्तक मध्यम श्रेणीकी हो, मगर ज्यादा बिकनेकी आशा हो।

(इ) लेखक प्रतिभाशाली हो तो उसे उत्साह देनेके लिए।
अधम श्रेणीकी किताबको, चाहे उसके कितने ही बिकनेकी आशा हो, वे कभी नहीं प्रकाशित करते। अनुचित प्रलोभन देकर जो लोग अपनी पुस्तक प्रकाशित करवाना चाहते हैं, उनकी पुस्तक वे कभी नहीं छापते। एक दफेकी बात मुझे याद है कि एक महाशयने, जिनका हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके परीक्षा-विभागसे सम्बन्ध था, दादाको पत्र लिखा कि मैं अपना अमुक उपन्यास और कहानी-संग्रह आपको भेज रहा हूँ। इसे आप अपने यहाँसे प्रकाशित कर दीजिए। मैं भी आपके लिए काफ़ी कोशिश कर रहा हूँ। आपकी तीन पुस्तकें मैं मध्यमाके पाठ्यक्रममें लगा रहा हूँ। कहना न होगा कि दादाने उनका उपन्यास और कहानी-संग्रह बैरंग ही वापिस भेज दिया। सम्मेलनका पाठ्यक्रम छपते-छपते उसमेंसे भी पाठ्यक्रममें लगी पुस्तकोंके नाम ग़ायब हो गये। बादमें कभी भी दादा की कोई पुस्तक नहीं ली।

(२) **उत्तम संशोधन और सम्पादन**—हिन्दीके बहुतसे प्रसिद्ध लेखक अबतक भी शुद्ध भाषा नहीं लिखते। कुछ दिन हुए एक पुराने लेखकने हमारे यहाँ एक पोथी छपने भेजी थी, जिसमें हिन्दीकी प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकोंमें की व्याकरण और रचना-सम्बन्धी हज़ारों

ग़लतियाँ संगृहीत की गई थीं, पर उस पोथीको दादाने छापा नहीं। जो भी पुस्तकें 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'से प्रकाशित होती हैं, उनका संशोधन बड़े परिश्रमपूर्वक किया जाता है और अन्तिम प्रूफ़ लेखककी सम्मतिके लिए उसके पास भेज दिया जाता है। संशोधनमें इस बातका ध्यान रक्खा जाता है कि उससे लेखककी लेखन-शैलीमें फ़र्क़ न होने पावे। संशोधनमें दादाने स्वर्गीय पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदीके ढंगको बुरी तरह अपना लिया है। जान स्टुअर्ट मिलको द्विवेदीजीने जिस तरह संशोधित किया था, उसे दादाने अपने मानस-पटलपर रख छोड़ा है। अनुवाद-ग्रन्थोंके प्रकाशित करनेके पहले मूलसे अक्षर-अक्षर दादा अपने हाथ से मिलाते हैं या मुझसे मिलवाते हैं। हिन्दीके प्रसिद्ध अनुवादक भी ऐसी भद्दी ग़लतियाँ करते हैं कि क्या कहा जाय। एक ही अनुवादककी 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'-से निकली पुस्तकमें और अन्यत्रसे निकली पुस्तकमें बहुत बार बड़ा अन्तर दीख पड़ेगा। यह सब मेहनत करके भी सम्पादक या संशोधकके रूपमें अपना नाम देनेका दादाको शौक़ नहीं है।

(३) छपाई-सफ़ाई—किताबोंकी छपाई-सफ़ाई अच्छी हो, इस-पर दादाका बड़ा ध्यान रहता है। उनका कहना है कि बम्बईमें वे इसलिए पड़े रहे हैं कि यहाँ वे अपने मनकी छपाई-सफ़ाई करवा सकते हैं। एक दफ़े उन्होंने घरका प्रेस करनेका विचार किया था और विलायतको मशी-नरीका आर्डर भी दे दिया। पर उसी समय दो ऐसी घटनाएँ हो गईं, जिन्होंने उनके मनपर बड़ा असर किया और तुरन्त ही उन्होंने घाटा देकर प्रेसकी मशीनें बिकवा दीं। उस समय मराठीमें स्वर्गीय श्री काशीनाथ रघुनाथ मित्रका मासिक पत्र 'मनोरंजन' बड़ा लोकप्रिय था और क़रीब पाँच छः हज़ार खपता था। उसे वे पहले 'निर्णय-सागर' प्रेसमें और बादमें 'कर्नाटक-प्रेस' में छपवाते थे। प्रेसमें कामकी अधिकताके कारण कभी-कभी उनका पत्र लेट हो जाता था। कर्नाटक प्रेसके मालिक स्वर्गीय श्री गणपति राव कुलकर्णीने ख़ास उनके कामके लिए क़र्ज़ लेकर एक बहुत बड़ी क़ीमतकी मशीन मँगाई। इसी बीचमें मित्र महाशयको ख़ुद ही अपना

प्रेस करनेकी सूझी और उन्होंने प्रेस कर लिया। प्रेस कर लेनेके बाद बाहरके कामके लोभके कारण और प्रेसपर ध्यान बट जानेके कारण 'मनो-रंजन' जहाँ पहले एकाध महीना लेट निकलता था, वहाँ अब दो-दो महीने लेट निकलने लगा और कार्याधिक्य और चिन्ताके कारण उनकी मृत्यु हो गई। यहाँ कर्नाटक प्रेसकी वह मशीन बेकार पड़ी रही और क़र्ज़की चिन्ताके मारे गणपति रावकी मृत्यु हो गई। इन घटनाओने दादापर बड़ा प्रभाव डाला। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अपनी ज़िन्दगीमें मैं कभी प्रेस नहीं करूँगा। घरका प्रेस होनेपर उसमें चाहे छपाई अच्छी हो या बुरी, अपनी पुस्तकें छापनी ही पड़ती है। दूसरे उसपर ध्यान बट जाने-पर अपना संशोधन वग़ैरहका कार्य ढीला पड़ जाता है। तीसरे प्रेसको हमेशा काम देते रहनेकी चिन्ताके कारण अच्छी-बुरी सभी तरहकी पुस्तकें प्रकाशित करनी पड़ती है और इस तरह यशमे धब्बा लगता है। नियमित काम देनेपर जो रेट किसी भी प्रेससे पाये जा सकते हैं, वे हमेशा उससे कम होते हैं, जो रक़मका ब्याज बाद देनेपर घरू प्रेस करनेपर घरमे पड सकते हैं।

(४) **सद्व्यवहार**—दादाका व्यवहार अपने लेखकों, अपने सहयोगी प्रकाशकों और मित्रोंसे अच्छा रहा है। इस व्यवहारकी कुञ्जी रही है ग़म खाना। पर वे कभी किसीसे दबे नही है, न कभी किसीकी चापलूसी ही उन्होंने की है। प्रकाशकोंको उन्होंने अपना प्रतिस्पर्धी नहीं समझा। अनेक बार ऐसा हुआ है कि कोई नई पुस्तक प्रकाशनके लिए आई है और उसी वक़्त कोई प्रकाशक-मित्र उनके पास आये है। उन्होने कहा है कि यह पुस्तक तो प्रकाशनके लिए मुझे दे दीजिए और उसी वक़्त ख़ुशी-ख़ुशी दादाने वह पुस्तक उन्हें दे दी। कभी कोई पुस्तक ख़ुद न छपा सके तो दूसरे प्रकाशकोंसे प्रबन्ध कर दिया। इसी तरह सब शर्तें तै हो जानेपर लेखकका हक़ न रह जानेपर भी अगर कभी लेखकने कोई उचित माँग की है तो उन्होंने उसे तुरन्त पूरा किया है। किसी भी लेखककी कोई पुस्तक उन्होंने दबाकर नहीं रक्खी। पढ़कर उसे तुरन्त वापिस कर

दिया है। हमेशा उन्होने सबसे निर्लोभिता और उदारताका व्यवहार रक्खा है।

अन्तमें अब मै 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'की कुछ विशेषताओका दिग्दर्शन कराना उचित समझता हूँ।

'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'में हिन्दीके अधिकाश लेखकोकी पहली चीजें निकली हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द्रजीकी सबसे पहली रचनाएँ 'नव-निधि' और 'सप्तसरोज' करीब-करीब एक साथ या कुछ आगे-पीछे निकली थी। जैनेन्द्रजी, चतुरसेनजी शास्त्री, सुदर्शनजी वगैरहकी पहली रचनाएँ 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'से ही निकली। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'के नामकी इतनी प्रतिष्ठा है कि हमें अपनी पुस्तक बेचनेके लिए न आलोचकोकी खुशामद करनी पडती है और न विशेष विज्ञापन ही करना पडता है। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'का नाम ही उसके लिए उत्तम चीजका प्रत्यय होता है। लेखककी पहलेसे विशेष प्रसिद्धि हो, इसकी भी जरूरत नही होती। हमारे यहाँ आकर लेखक अपने आप प्रसिद्ध हो जाता है। आलोचनार्थ पुस्तकें भी हमारे यहाँसे बहुत कम भेजी जाती है। हिन्दीके बहुत-से बडे आदमी अपना हक समझते है कि आलोचनाके बहाने उन्हें मुफ्त मे किताब मिला करे। ऐसे लोगोसे दादाको बडी चिढ है। उन्हे वे शायद ही कभी किताब भेजते हैं। पत्रोके पास भी आलोचनाके लिए किताबें कम ही भेजी जाती हैं। पहले जब आलोचनाओका प्रभाव था और ईमानदार समालोचक थे, तब जरूर दादा उनकी बडी फिक्र करते थे और आलोचनाओकी कतरन रखते थे और सूचीपत्रमें उनका उपयोग भी करते थे। अब केवल खास-खास व्यक्तियोको, जिनपर दादाकी श्रद्धा है, आलोचनाके लिए किताबें भेजी जाती है। इसकी जरूरत नही समझी जाती कि वह आलोचना किसी पत्रमें छपे। उनका हस्तलिखित पत्र ही इसके लिए काफी होता है और जरूरत पडनेपर उसका विज्ञापनमें उपयोग कर लिया जाता है।

—प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ

स्मरणाध्याय

आचार्य पं० सुखलाल संघवी

मेरे स्मरणग्रन्थमें प्रेमीजीका स्मरण एक अध्याय है, जो अति विस्तृत तो नही है, पर मेरे जीवनकी दृष्टिसे महत्त्वका और सुखद अवश्य हैं। इस सारे अध्यायका नवनीत तीन बातोमें है, जो प्रेमीजीके इतने लम्बे परिचयमें मैने देखी है और जिनका प्रभाव मेरे मानसपर गहरा पडा है। वे ये है—

(१) अथक विद्याव्यासङ्ग।

(२) सरलता

(३) सर्वथा असाम्प्रदायिक और एकमात्र सत्यगवेषी दृष्टि।

प्रेमीजीका परिचय उनके 'जैनहितैषी' के लेखोके द्वारा शुरू हुआ। मै अपने मित्रो और विद्यार्थियोके साथ आगरेमें रहता था। तब साय-प्रात की प्रार्थनामें उनका निम्नलिखित पद्य रोज पढे जानेका क्रम था, जिसने हम सबको बहुत आकृष्ट किया था —

दयामय ऐसी मति हो जाय।
त्रिभुवनकी कल्याण-कामना, दिन-दिन बढ़ती जाय॥
औरोके सुखको सुख समझूँ, सुखका करूँ उपाय।
अपने दुख सब सहूँ किन्तु, परदुख नहि देखा जाय॥
अधम अज्ञ अस्पृश्य अधर्मी, दुखी और असहाय।
सबके अवगाहन हित मम उर, सुरसरि सम बन जाय॥
भूला भटका उलटी मतिका, जो है जन-समुदाय।
उसे सुझाऊँ सच्चा सत्पथ, निज सर्वस्व लगाय॥
सत्य धर्म हो सत्य कर्म हो, सत्य ध्येय बन जाय।
सत्यान्वेषणमें ही प्रेमी, जीवन यह लग जाय॥

प्रेमीजीके लेखोने मुझको इतना आकृष्ट किया था कि मैं जहाँ-कही रहता, 'जैन-हितैषी' मिलनेका आयोजन कर लेता और उसका प्रचार भी करता। मेरी ऐतिहासिक दृष्टिकी पुष्टिमें प्रेमीजीके लेखोका थोडा हिस्सा अवश्य है। प्रेमीजीके नामके साथ 'पण्डित' विशेषण छपा देखकर उस ज़मानेमें मुझे आश्चर्य होता था कि एक तो ये पण्डित है और दूसरे जैन-परम्पराके। फिर इनके लेखोमें इतनी तटस्थता और निर्भयता कहाँ से ? क्योकि तबतक जितने भी मेरे परिचित जैन-मित्र और पण्डित रहे, जिनकी सख्या कम न थी, उनमेंसे एक-आध अपवाद छोडकर किसीको भी मैंने वैसा असाम्प्रदायिक और निर्भय नही पाया था। इसलिए मेरी धारणा बन गई थी कि जैन पण्डित भी हो और निर्भय असाम्प्रदायिक हो, यह दु सम्भव है। प्रेमीजीके लेखोने मेरी धारणाका क्रमश गलत साबित किया। यही उनके प्रति आकर्षणका प्रथम कारण था।

१६१८ में मैं पूनामें था। रातको अचानक प्रेमीजी सकुटुम्ब मुनि श्री जिनविजयजीके वासस्थानपर आये। मैंने उक्त पद्यकी अन्तिम कडी बोलकर उनका स्वागत किया। उन्हें कहाँ मालूम था कि मेरे पद्यको कोई प्रार्थनामें भी पढता होगा। इस प्रसगने परिचयकी परोक्षताको प्रत्यक्ष रूपमें बदल दिया और यही सूत्रपात दृढ भूमि बनता गया। उनके लेखोसे उनकी बहुश्रुतता और असाम्प्रदायिकताकी छाप तो मनपर पडी ही थी, इस प्रत्यक्ष परिचयने मुझे उनकी अकृत्रिम सरलताकी ओर आकृष्ट किया। इसीसे मैं थोडे ही दिनो बाद जब बम्बई आया तो उनसे मिलने गया। वे चन्दावाडीमें एक कमरा लेकर रहते थे। विविध चर्चामें इतना डूबा कि आखिरको अपने डेरेपर जाकर जीमनेका समय न देखकर प्रेमीजीसे मैंने कहा कि मैं और मेरे मित्र रमणिकलाल मोदी यही जीमेंगे। उन्होने हमें उतनी ही सरलता और अकृत्रिमतासे जिमाया और परिचयसूत्र पक्का हुआ। फिर तो मेरे लिए बम्बईमें आनेका एक अर्थ यह भी हो गया कि प्रेमीजीसे अवश्य मिलना और नई जानकारी पाना।

बम्बईमें मेरे चिरपरिचित और निकट मित्र सेठ हरगोविन्ददास

रामजी रहते हैं। प्रेमीजीके भी वे गाढ़ सखा बन गये थे। यहाँ तक कि उन दोनोंका वासस्थान एक था या समीप-समीप। घाटकोपर, मुलुन्द जैसे उपनगरोंमें भी वे निकट रहते थे। अतएव मुझे प्रेमीजीकी परिचय-वृद्धिका बड़ा सुयोग मिला। मैं उनके घरका अंग-सा बन गया। उनकी पत्नी रमा बहन और उनका इकलौता प्राणप्रिय पुत्र हेमचन्द्र दोनोंके सम्पूर्ण विश्वासका भागी मैं बन गया। घाटकोपरकी टेकरियोंमें घूमने जाता तो प्रेमीजीका कुटुम्ब प्रायः साथ हो जाता। आहार सम्बन्धी मेरे प्रयोगोंका कुछ असर उनके कुटुम्बपर पड़ा तो तरुण हेमचन्द्रके नव प्रयोग-में कभी मैं भी सम्मिलित हुआ। लहसुन डालकर उबला दूध पीनेसे पेटपर अच्छा असर होता है। इस अनुभवसिद्ध आग्रहपूर्ण हेमचन्द्र-की उक्तिको मानकर मैंने भी उनके तैयार भेजे गये दुग्धपानको आज़-माया। कभी मैं घाटकोपरसे शान्ताक्रूज जुहू तट तक पैदल चलकर जाता तो अन्य मित्रोंके साथ हेमचन्द्र और चम्पा दोनों भी साथ चलते। दोनोंकी निर्दोषता और मुक्तहृदयता मुझे यह माननेको रोकती थी कि ये दोनों पति-पत्नी हैं। जब कभी प्रेमीजी शरीक हों तब तो हमारी गोष्ठी-में दो दल अवश्य हो जाते और मेरा झुकाव नियमसे प्रेमीजीके विरुद्ध हेमचन्द्रकी ओर रहता। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि विषयोंमें प्रेमीजीका (जो कभी स्कूल-कॉलेजमें नहीं गये) दृष्टिबिन्दु मैंने कभी गतानुगतिक नही देखा, जिसका कि विशेष विकास हेमचन्द्रने अपनेमें किया था। आगरा, अहमदाबाद, काशी आदि जहाँ कहीसे मैं बम्बई आता तो प्रेमीजीसे मिलना और पारस्परिक साहित्यिक एवं ऐतिहासिक चर्चाएँ खुल करके करना मानो मेरा एक स्वभाव ही हो गया था। आगरेसे प्रका-शित हुए मेरे हिन्दी ग्रन्थ तो उन्होंने देखे ही थे; पर अहमदाबादसे प्रकाशित जब मेरा 'सन्मतितर्क' का संस्करण प्रेमीजीने देखा तो वे मुझे न्यायकुमुद-चन्द्रका वैसा ही संस्करण निकालनेका आग्रह करने लगे और तदर्थ उसकी एक पुरानी लिखित प्रति भी मुझे भेज दी, जो बहुत वर्षों तक मेरे पास रही और जिसका उपयोग 'सन्मतितर्क'के संस्करणमें किया गया

है। सम्पादनमें सहकारी रूपसे पण्डितकी हमें आवश्यकता होती थी तो प्रेमीजी बार-बार मुझे कहते थे कि आप किसी होनहार दिगम्बर पण्डित-को रखिए, जो काम सीखकर आगे वैसा ही दिगम्बर-साहित्य प्रकाशित करे। यह सूचना प० दरबारीलाल 'सत्यभक्त', जो उस समय इन्दौरमें थे, उनके साथ पत्र-व्यवहारमें परिणत हुई। प्रेमीजी माणिकचन्द जैन-ग्रन्थमालाका योग्यतापूर्वक सम्पादन करते ही थे; पर उनकी इच्छा यह थी कि न्यायकुमुदचन्द्र आदि जैसे ग्रन्थ 'सन्मतितर्क' के ढंगपर सम्पादित हों। उनकी लगन प्रबल थी; पर समय-परिपाक न हुआ था। बीचमें वर्ष बीते, पर निकटता नहीं बीती। अतएव हम दोनों एक-दूसरे-की सम्प्रदाय विषयक धारणाको ठीक-ठीक समझ पाये थे और हम दोनों-के बीच कोई पन्थ-ग्रन्थि या सम्प्रदाय-ग्रन्थि फटकती न थी।

एक बार प्रेमीजीने कहा, "हमारी परम्परामें पण्डित बहुत हैं और उनमें कुछ अच्छे भी अवश्य हैं; पर मैं चाहता हूँ कि उनमेंसे किसीकी भी पन्थ-ग्रन्थि ढीली हो।" मैंने कहा कि यही बात मैं श्वेताम्बर साधुओंके बारेमें भी चाहता हूँ। श्रीयुत जुगलकिशोरजी मुख्तार एक पुराने लेखक और इतिहास-रसिक हैं। प्रेमीजीका उनसे खास परिचय था। प्रेमीजी-की इच्छा थी कि श्री मुख्तारजी कभी संशोधन और इतिहासके उदात्त वातावरणमें रहें। आन्तरिक इच्छा सूचित करके प्रेमीजीने श्रीयुत मुख्तार जीको अहमदाबाद भेजा। वे हमारे पास ठहरे और एक नया परिचय प्रारम्भ हुआ। गुजरात-विद्यापीठके और खासकर तदन्तर्गत पुरातत्त्व-मन्दिरके वातावरण और कार्यकर्ताओंका श्रीयुत मुख्तारजीके ऊपर अच्छा प्रभाव पड़ा, ऐसी मुझे उनके परिचयसे प्रतीति हुई थी, जो कभी मैंने प्रेमीजीसे प्रकट भी की थी। प्रेमीजी मुझसे कहते थे कि मुख्तार साहब-की ग्रन्थि-शिथिलताका जवाब समय ही देगा। पर प्रेमीजीके कारण मुझको श्रीयुत मुख्तारजीका ही नहीं, बल्कि दूसरे अनेक विद्वानों एवं सज्जनोंका सुभग परिचय हुआ है, जो अविस्मरणीय है। प्रेमीजीके घर या दूकानपर बैठना मानो अनेक हिन्दी, मराठी, गुजराती और विशिष्ट विद्वानोंका

परिचय साधना था। पं० दरबारीलालजी 'सत्यभक्त'की मेरी मैत्री इसी गोष्टीका अन्यतम फल है। मेरी मैत्री उन लोगोंसे कभी स्थायी नही बनी, जो साम्प्रदायिक और निविड़-ग्रन्थि हों।

१९३१ के वर्षाकालमें पर्यूषण व्याख्यानमालाके प्रसंगपर हमने प्रेमीजी और पं० दरबारीलालजी 'सत्यभक्त' को सकुटुम्ब अहमदाबाद बुलाया। उन्होने असाम्प्रदायिक और सामयिक विविध विषयोंपर विद्वानों-के व्याख्यान सुने, खुद भी व्याख्यान दिये। साथ ही उनकी इच्छा जाग्रत हुई कि ऐसा आयोजन बम्बईमें भी हो। बम्बईके युवकोंने अगले साल-से पर्यूषण व्याख्यानमालाका आयोजन भी किया। प्रेमीजीका सक्रिय सहयोग रहा। मेरे कहनेपर उन्होंने पुराने सुधारक वयोवृद्ध बाबू सूरज-भानुजी वकीलको बम्बईमें बुलाया, जिनके लेख मैं वर्षो पहले पढ़ चुका था और जिनसे मिलनेकी चिराभिलाषा भी थी। उक्त बाबूजी १९३२ में बम्बई पधारे और व्याख्यान भी दिया। मेरी यह अभिलाषा एकमात्र प्रेमीजीके ही कारण सफल हुई।

उधर हेमचन्द्रकी उम्र बढती जाती थी और प्रेमीजीकी चिन्ता भी बढ़ती जाती थी कि यह अनेक विषयोंका धुनी प्रयोगवीर जोगी कारोबार कैसे सँभालेगा। पर मेरा निश्चय विश्वास था कि हेमचन्द्र विरज विभूति है। प्रेमीजी है तो जन्मसे सी० पी० के और देहाती संकीर्ण संस्कारकी परम्पराके, पर उनकी सामाजिक मान्यताएँ धार्मिक मान्यताओकी तरह बन्धनमुक्त बन गई थी। अतएव उनके घरमें लाज-परदेका कोई बन्धन न था और आज भी नही है। हेमचन्द्रकी पत्नी, जो उस समय किशोरी और तरुणी थी, वह उतनी ही स्वतन्त्रतासे सबके साथ पेश आती, जितनी स्वतन्त्रतासे रमा बहन, हेमचन्द्र और प्रेमीजी खुद। प्रेमीजी पूरे सुधारक है। इसीसे उन्होंने अपने भाईकी पुनः शादी विधवासे कराई और रूढ़िवादियोंके ख़फ़ा होनेकी परवाह नही की। प्रेमीजीके साथ चम्पाका व्यवहार देखकर कोई भी अनजान आदमी नही कह सकता कि यह उनकी पुत्रवधू है। उसे आभास यही होगा कि वह उनकी इकलौती

और लाड़िली पुत्री है। जब कभी जाओ, प्रेमीजीके निकट मुक्त वातावरण पाओगे। रूढ़िचुस्त और सुधारक दोनों इस बातमें सहमत होंगे कि प्रेमीजी खुद अजातशत्रु है।

प्रेमीजी ग़रीबीकी हालत और मामूली नौकरीसे ऊँचे उठकर इतना व्यापक और ऊँचा स्थान पाये हुए है कि आज उनको सारा हिन्दी-संसार सम्मानकी दृष्टिसे देखता है। इसकी कुञ्जी उनकी सच्चाई, कार्यनिष्ठा और बहुश्रुततामें है। यद्यपि वे अपने इकलौते सत्यहृदय युवक पुत्रके वियोगसे दुःखित रहते है, पर मैंने देखा है कि उनका आश्वासन एकमात्र विविध विषयक वाचन और कार्यप्रवणता है। वे कैसे ही बीमार क्यो न हो, वैद्य, डॉक्टर, और मित्र कितनी ही मनाई क्यों न करें, पर उनके बिस्तरे और सिरहानेके इर्द-गिर्द वाचनकी कुछ-न-कुछ नई सामग्री मैंने अवश्य देखी है। प्रेमीजीके चाहनेवालोमें मामूली-से-मामूली आदमी भी रहता है और विशिष्ट-से-विशिष्ट विद्वान्का भी समावेश होता है। अभी-अभी मै हरकिसनदास हॉस्पिटलमें देखता था कि उनकी खटियाके इर्द-गिर्द उनके आरोग्यके इच्छुकोंका दल हर वक्त जमा है।

प्रेमीजी परिमितव्ययी और सादगीजीवी है, पर वे मेहमानों और स्नेहियोंके लिए उतने ही उदार है। इसीसे उनके यहाँ जानेमें किसीको संकोच नही होता।

उनकी उत्कट अभिलाषाएँ कम-से-कम तीन है। एक तो वे अन्य सात्त्विक विद्वानोकी तरह अपनी परम्पराके पण्डितोंका धरातल इतना ऊँचा देखना चाहते है कि जिससे पण्डितगण सार्वजनिक प्रतिष्ठा लाभ कर सकें। दूसरी कामना उनकी सदा यह रहती है कि जैन-भण्डारोंके—कम-से-कम दिगम्बर-भण्डारोंके—उद्धार और रक्षणका कार्य सर्वथा नवयुगानुसारी हो और पण्डितों एवं धनिकोंकी शक्तिका सुमेल इस कार्यको सिद्ध करे। उनकी तीसरी अदम्य आकांक्षा यह देखी है कि फिरकोंकी और खासकर जाति-पाँतिकी संकुचितता और चौकाबन्धी खत्म हो एवं स्त्रियोंकी खासकर विधवाओंकी स्थिति सुधरे। मैने देखा है कि

प्रेमीजीने अपनी ओरसे उक्त इच्छाओकी पूर्तिके लिए स्वय अथक प्रयत्न किया है और दूसरोको भी प्रेरित किया है। आज जो दिगम्बर परम्परामें नवयुगानुसारी कुछ प्रवृत्तियाँ देखी जाती है उनमें साक्षात् या परम्परासे प्रेमीजीका थोडा-बहुत असर अवश्य है। पुराने विचारके जो लोग प्रेमीजीके विचारसे सहमत नही, वे भी प्रेमीजीके सद्गुणोके प्रशसक अवश्य रहे है। यही उनकी जीवनगत असाधारण विशेषता है।

प्रेमीजीमें असाम्प्रदायिक सत्यगवेषी दृष्टि न होती तो वे अन्य बातोके होते हुए भी जैन-जैनेतर जगत्में ऐसा सम्मान्य स्थान कभी नही पाते। मैने तत्त्वार्थ और उमास्वातिके बारेमें ऐतिहासिक दृष्टिसे जो कुछ लिखा है, प्रेमीजीकी निर्भय गवेषक दृष्टिने उसका केवल समर्थन ही नही किया, बल्कि साम्प्रदायिक विरोधोकी परवाह बिना किये मेरी खोजको और भी आगे बढाया, जिसका फल सिंघी स्मृति अक भारतीय विद्यामें विस्तृत लेखरूपसे उन्होने अभी प्रकट किया है। आजकल प्रेमीजी मेरा ध्यान एक विशिष्ट कार्यकी ओर साग्रह खीच रहे है कि 'उपलब्ध जैन-आगमिक साहित्यका एतिहासिक दृष्टिसे मूल्याकन तथा भारतीय सस्कृति और वाङमयमें उसका स्थान इस विषयपर साधिकार लिखना आवश्यक है। वे मुझे बार-बार कहते हैं कि अल्पश्रुत और साम्प्रदायिक लोगोकी गलत धारणाओको सुधारना नितान्त आवश्यक है।

कोई भी ऐतिहासिक बहुश्रुत विद्वान् हो, प्रेमीजी उससे फायदा उठानेसे नही चूकते। आचार्य श्री जिनविजयजीके साथ उनका चिर परिचय है। मैं देखता आया हूँ कि वे उनके साथ विविध विषयोकी ऐतिहासिक चर्चा करनेका मौका कभी जाने नही देते।

अन्तमें मुझे इतना ही कहना है कि प्रेमीजीकी सतयुगीन वृत्तियोने साम्प्रदायिक कलियुगी वृत्तियोपर सरलतासे थोडी-बहुत विजय अवश्य पाई है।

— प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ

जन्म— नकुड वि० स० १९२५

स्वर्गवास— १६ सितम्बर १९४५ ई०

पूजनीय बाबूजी

श्री नाथूराम प्रेमी

जैन समाजकी वर्तमान पीढीमे बहुत ही कम लोग ऐसे हैं, जो इस महान् प्रचारक और लेखककी बहुमूल्य सेवाओसे अच्छी तरह परिचित हो। एक तो उन्होने कभी अपनी प्रसिद्धि चाही नही, दूसरे लोकरजनकी वृत्तिका उनमे सर्वथा अभाव रहा, और तीसरे उन्होने कभी न तो अपना कोई दल बनाया, न ऐसे अनुयायी ही तैयार किये जो उनकी कीर्तिध्वजाको फहराते फिरते।

जहाँ तक मै जानता हूँ, दिगम्बर जैन-समाजमे वे एक ही पुरुष है, जिन्होने लगातार पचास-पचपन वर्ष तक अपनी वाणी और लेखनीसे सर्वथा नि.स्वार्थ-भावसे समाजकी सेवा की है और जिनके उपकारोसे हम कभी उऋण नही हो सकते।

दिगम्बर जैन-समाजकी जागृतिका पिछला पचास वर्षका इतिहास बाबूजीकी जीवनीके साथ इस प्रकार सश्लिष्ट है, उसके प्रत्येक आन्दोलन, प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य और प्रत्येक उल्लेखयोग्य घटनाके साथ वे इस तरह ओतप्रोत है कि यदि केवल उन्हीकी विस्तृत जीवन-कथा लिख दी जाय, तो वही उक्त इतिहासकी आवश्यकताओको पूरा कर सकती है।

लगभग १२ वर्ष पहले मैने पूज्य बाबूजीको आग्रह करके बम्बईकी पर्युषण-व्याख्यानमालामे व्याख्यान देनेके लिए बुलाया था और उस समय उनके समीप बैठकर, उनकी जीवनी लिखनेकी आकाक्षासे लगभग ५० पेजके नोट्स ले लिये थे, परन्तु दुर्भाग्यसे मै अब तक अपनी उस इच्छाको पूरा न कर सका और अब तो मै बिल्कुल असमर्थ-सा हो गया हूँ।

इस लेखमें बाबूजीकी सम्पूर्ण जीवनी संक्षेपमें भी देनेकी गुंजाइश नहीं है; परन्तु उनके साहित्यक जीवनको स्पष्ट करनेके लिए और उनकी रचनाओंकी पृष्ठभूमिको समझनेके लिए उसकी थोड़ी-सी रूपरेखा दी जाती है।

यहाँ यह लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि बाबू सूरजभानुजी शुद्ध साहित्यिक नहीं हैं। वे समाज-सुधारक, धर्मप्रचारक और संशोधक पहले हैं और साहित्यिक उसके बाद। उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह मुख्यतया अपने उक्त उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए लिखा है और इसलिए एक तरहसे उनका आधेसे अधिक साहित्य 'प्रोपैगण्डा साहित्य' कहा जा सकता है, यद्यपि उसका मूल्य बहुत है और अब भी वह 'आउट आफ डेट' नहीं हुआ है—उसकी ज़रूरत बनी हुई है।

बाबूजीका जन्म नकुड़ ज़िला सहारनपुरमें वि० सं० १९२५ (ई० स० १८७०) में हुआ था। इस मार्गशीर्षमें वे पूरे ७५ वर्षके हो गये हैं। आपके पितामह लाला नागरमलजी तहसीलदार थे और पिता लाला खुशबख्तरायजी नहरके ज़िलेदार।

सात वर्षकी उम्रके बाद जब तक आप पढ़ते रहे, प्रायः अपने चाचा लाला अमृतरायजीके साथ ही रहे। चाचा पैमायश और नक़्शाकसीके मास्टर रहे, पहले होशियारपुरमें और फिर लाहौरमें। होशियारपुरमें आपने मिडिल पास किया और लाहौरमें सन् १८८५ में मैट्रिक। इसके बाद आप कालेजमें भरती हुए, परन्तु इसी समय पिताजीका देहान्त हो जानेसे आपको नकुड़ चले आना पड़ा।

नकुड़में घरपर ही रहकर सन् १८८७ में आपने लोअर सब-आर्डिनेट प्लीडर परीक्षाकी तैयारी की और उसमें आप पास भी हो गये। उन दिनों यह परीक्षा इलाहाबाद हाईकोर्टकी तरफ़से ली जाती थी।

प्लीडर हो जानेपर पहले एक साल तक तो आपने सहारनपुरमें वकालत की और उसके बाद आप देवबन्द चले गये, जहाँ सन् १९१४ तक वकालत करते रहे।

वकालतका पेशा आपको पसन्द न था, परन्तु परिस्थितियोंने कुछ ऐसा मजबूर किया कि आपको वही करना पड़ा। फिर भी मनमें खटक बनी रही। तीन-चार वर्षके बाद एक दिन तो आपको ऐसा उद्वेग हुआ कि छोड़ देनेका ही निश्चय कर डाला और अपने बाबासे पूछा, परन्तु उन्होंने इस कारण कोई जवाब नहीं दिया कि यह तार्किक आदमी है, मैं न छोड़नेकी दलीलें दूँगा तो इसे ज़िद चढ़ जायगी। बाबासे जवाब न पाने-पर आपने अपनी पत्नीसे सलाह ली। पत्नीने कहा, इसे छोड़ो तो नहीं; परन्तु यह निश्चय कर लो कि सच्चे मुक़दमे ही लिया करूँगा। आमदनी थोड़ी होगी तो मैं थोड़े ही में गुज़र कर लूँगी। पत्नीकी यह बात जँच गई और तब इसी निश्चयके अनुसार वकालत जारी रक्खी। थोड़े ही समयमें आपकी सचाईकी काफ़ी शोहरत हो गई और उसका हाकिमोंपर गहरा प्रभाव पड़ा।

आपका ब्याह सन् १८८२ में ११ वर्षकी उम्रमें ही हो गया था, परन्तु सन् १८८६ के लगभग पत्नीका देहान्त हो गया, और तब सन् १८६० में दूसरा ब्याह हुआ। इस पत्नीसे आपके इस समय दो पुत्र हैं—एक बाबू कुलवन्तरायजी इंजीनियर और दूसरे बाबू सुखवन्तरायजी।

आपका सारा खानदान उर्दू-फ़ारसी-दाँ था, धर्मसे किसीको कोई विशेष रुचि नही थी; साथ ही अरुचि भी नही थी। उन दिनों तिथि-त्योहारों पर ही लोग मन्दिर जाते थे और उर्दू लिपिमें णमोकार मंत्र, पद विनती आदि लिख-पढ़ लिया करते थे, पर स्त्रियाँ हर रोज मन्दिर जाती थीं।

सबसे पहिले होशियारपुरमें जब आपकी उम्र कोई बारह वर्षकी थी, आपने प्रसिद्ध श्वेताम्बर मुनि आत्मारामजीके व्याख्यान सुने, जो वहाँ चातुर्मासमें आकर रहे थे और उन्हीसे आपको जैनधर्मका कुछ परिचय प्राप्त हुआ।

लाहौरमें आपके चाचाका मकान जैन-मन्दिरके पास ही था। यह मन्दिर दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंका संयुक्त था। आप

प्रतिदिन दर्शन करने जाते थे और शास्त्र भी सुना करते थे, इससे वह परिचय और भी बढ़ा और आपकी जिज्ञासा बढ़ने लगी।

इन्हीं दिनों फर्रुखनगरसे चौधरी जियालालजीने 'जैन प्रकाश' नामका मासिक पत्र निकाला। वह इतना अच्छा मालूम हुआ कि आपने लाहौरमें घर-घर घूमकर उसके ग्राहक बनाये और प्रायः सभी दिगम्बरी घरोंमें वह आने लगा। जैन-समाजका हिन्दीका यह शायद सबसे पहला पत्र था। दक्षिणके जैन-समाजको जाग्रत करनेवाले स्व० सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजीका 'जैन-बोधक' भी शायद उस समय निकलने लगा था।

सन् १८८४-८५ के लगभग मुरादाबादके मुन्शी मुकुन्दरायजी और पं० चुन्नीलालजीने निश्चय किया कि जैन-समाजकी उन्नतिके लिए कुछ प्रयत्न किया जाय। मुशीजी संस्कृतके सिवा फ़ारसी-अरबीके भी पण्डित थे और पं० चुन्नीलालजी संस्कृतज्ञ। मुंशीजीकी ज़मींदारी थी और पं० चुन्नीलालजी आढ़तका काम करते थे।

जैन-समाजको जाग्रत करनेके लिए उन्होंने जगह-जगह भ्रमण करके जैन-सभाएँ तथा जैन-पाठशालाएँ स्थापित करना शुरू किया। लीथोमें एक मासिकपत्र भी निकाला जिसका नाम शायद "जैन पत्रिका" था। उसमें मुख्यतः उनके दौरोंका विवरण रहता था और वह सब जगह मुफ़्त भेजी जाती थी। मुंशी मुकुन्दराय बड़े सभा-चतुर थे। अपने भ्रमणमें उन्होंने दो बड़े कार्य किये--एक तो मथुरामें जैन महासभाकी स्थापना की, जिसका सभापति राजा लक्ष्मणदासजी सी० आई० ई० को बनाया और दूसरे अलीगढ़में पं० छेदालालजीकी अधीनतामें एक बड़ी पाठशाला क़ायम की, जिससे जैनधर्मके विद्वान् तैयार हो सकें।

उक्त दोनों विद्वानोंका बाबूजीपर बहुत प्रभाव पड़ा। बाबूजीने उन्हें अपना गुरु माना और उनके ही पदचिह्नोंपर चलनेका निश्चय कर लिया। इसके बाद बाबूजीने शास्त्रस्वाध्यायमें मन लगाकर धीरे-धीरे जैनधर्मकी जानकारी प्राप्त कर ली।

देवबन्दमें वकालत करते हुए सन् १८९२ या ९३ में बाबूजीने 'जैन हितोपदेशक' नामक मासिक पत्र (उर्दू) जारी किया। इस पत्रमें उपदेशक फ़ण्ड क़ायम करनेकी अपील की गई और वह क़ायम भी हो गया। उसके मन्त्री मुन्शी चम्पतरायजी (डिपुटी मजिस्ट्रेट) बनाये गये और चौधरी जियालालजी (ज्योतिषरत्न) ने सबसे पहले उक्त फ़ण्डकी ओरसे दौरा किया।

दिवालीकी छुट्टियोमें सरसावाके हकीम उग्रसेनजीके साथ बाबूजी ने भी इसकी तरफ़से एक लम्बा दौरा किया। इस दौरेमें मुरादाबाद पहुँचनेपर मालूम हुआ कि मथुरामें जो जैन महासभा स्थापित की गई थी, वह पं० प्यारेलालजीकी कृपासे सो चुकी है। शोलापुरके स्व० सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजीने महासभाके एक जल्सेमें आकर प्रस्ताव किया था कि जैन-ग्रन्थ छपने चाहिएँ। पं० प्यारेलालजीने सोचा कि यदि महासभा रही तो ऐसे-ऐसे न जाने और क्या बखेड़े खड़े होंगे, इसलिए इसे सुला देना ही बुद्धिमानी है।

यह सब जानकर बाबूजीने महासभाको फिरसे जगानेका निश्चय किया, जिसका पं० चुन्नीलालजीने अनुमोदन किया और इटावे जाकर आपने मुन्शी चम्पतरायजीकी भी अनुमति ले ली। आखिर मथुराके मेलेमें महासभा पुनरुज्जीवित की गई। बाबू चम्पतरायजी महामंत्री बनाये गये और सभाकी ओरसे एक साप्ताहिक पत्र निकालनेका निश्चय किया गया, जिसका नाम 'जैन गज़ट' पसन्द किया गया।

जैन गज़टके सबसे पहले सम्पादक बाबू सूरजभानुजी ही नियत किये गये। यह शायद सन् १८९५-९६ की बात है। यद्यपि लगभग डेढ़ वर्ष तक ही बाबूजी जैन गज़टके सम्पादक रह सके, परन्तु इतने समयमें ही वह बहुत लोकप्रिय हो गया और उसके लगभग ५०० ग्राहक बन गये। जैन गज़टके जीवनकी यह बात सबसे अधिक उल्लेखनीय रहेगी कि बाबूजी-ने पहले ही साल उसे दस दिनोके लिए 'दैनिक' कर दिया और ऐसा प्रबन्ध किया कि ग्राहकोंको दशलक्षण पर्वके दस दिनोंमें प्रतिदिन जैन गज़ट

स्वाध्याय करनेके लिए मिलता रहे।

जैन-ग्रन्थोंके छपनेका प्रारम्भ हो रहा था। मुंशी अमनसिंहजी, सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी आदिने दो-चार छोटे-मोटे ग्रन्थ छपा भी दिये थे, गतानुगतिक लोगोंमें बड़ी सनसनी फैली थी। छापेका विरोध उग्र-से-उग्रतर होता जा रहा था और चूँकि बाबूजी छपानेके पुरस्कर्ता थे, इसलिए मुंशी चंपतरायजीकी सम्मतिसे उन्होंने जैन गजटसे इस्तीफ़ा दे दिया, पर 'जैन हितोपदेशक'को बराबर जारी रक्खा।

सहारनपुरके लाला उग्रसेनजी रईस बाबूजीको बहुत चाहते थे। उन्होंने ही बाबूजीको अपने यहाँकी जैन-सभाका मन्त्री बनाया था, परन्तु जब महासभाके मेलेपर छापेका संगठित विरोध हुआ, तब बोले कि "सहारनपुर ज़िलेका ज़िम्मा तो मैं लेता हूँ कि वहाँ शास्त्र नहीं छपने पायेंगे। इसी तरह यदि दूसरे प्रतिष्ठित लोग भी अपने-अपने आसपासका ज़िम्मा ले लें तो यह काम रुक जायगा।" यह बात बाबूजीको बहुत बुरी लगी और उन्होंने ललकारकर कह दिया कि अब यह काम तो सबसे पहले सहारनपुर ज़िलेमें ही होगा। देखें कौन रोकता है?

इसके बाद ही नकुड़के रईस लाला निहालचन्दजीकी सम्मतिसे बाबूजीने जैनग्रन्थ छपाने और उनका प्रचार करनेके लिए एक संस्था स्थापित की और लगभग एक हज़ार रुपया एकत्र करके ग्रन्थ छपानेका काम शुरू कर दिया। सबसे पहले 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' (वचनिका) प्रकाशित किया गया। इस संस्थामें बाबू ज्ञानचन्दजी जैनी भी शामिल थे, जो कि नकुड़के ही रहनेवाले थे। आगे उन्होंने लाहौरसे मोक्षमार्ग-प्रकाश, आत्मानुशासन, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित किये।

रत्नकरण्डके छपनेपर बड़ा भारी तूफ़ान उठा, जगह-जगह विरोध किया गया, छपानेवाले ही नहीं, सहानुभूति रखनेवाले भी जातिसे खारिज किये गये। शास्त्रार्थ भी हुए, परन्तु 'मर्ज़ बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की!'

'जैन-हितोपदेशक' (उर्दू) लगभग दो वर्ष तक और चलकर बन्द हो गया। उसके बाद हिन्दीभाषियोंके लिए बाबूजीने 'ज्ञानप्रकाशक' नामका पत्र निकाला। इसमें तत्त्वार्थसूत्र (छोटी टीका), यति नयनसुखजीके पद आदि छोटे-छोटे ग्रन्थ और विविध विषयोंके लेख, समाचार आदि प्रकाशित होते थे। कुछ वर्षोंके बाद कलकत्तेमें जैन महासभाका जल्सा हुआ और उसमें बाबूजी शामिल हुए। उन दिनों जैन गज़टकी बड़ी दुर्दशा हो रही थी, उसके लिए योग्य सम्पादककी ज़रूरत थी। बाबूजी ने यह काम अपने सहयोगी पं० जुगलकिशोरजी मुख़्तारके सुपुर्द कराया और जैन गज़ट देवबन्दसे प्रकाशित होने लगा।

आगरेके 'आर्यमित्र'में उन दिनो जैनधर्मके विरुद्ध लेख निकल रहे थे, उनके प्रतिवाद स्वरूप बाबूजीने जैन गज़टमें 'आर्यमत-लीला' नामकी लेखमाला शुरू की, जो २८ अंकोंमें समाप्त हुई। आर्योंका तत्त्वज्ञान, आर्योंकी मुक्ति, ऋग्वेदके बनानेवाले ऋषि आदि लेख भी शायद उसी समय लिखे गये।

देवबन्दमें आकर जैन गज़ट ख़ूब चमका और उसके १५०० ग्राहक हो गये। पं० जुगलकिशोरजीने तीन वर्ष तक उसका सम्पादन किया और उसमें बाबूजीका पूरा सहयोग रहा।

इन्ही दिनों पं० अर्जुनलालजी सेठीने महाविद्यालय छोड़कर जयपुर-में जैन-शिक्षाप्रचारक समितिकी स्थापना की और मेरठमें भारत-जैन महामण्डलका जो जल्सा हुआ, उसमें निश्चय हुआ कि 'जैन-प्रकाशक' नामका पत्र निकाला जाय और उसका आधा ख़र्च समिति दे और आधा महामण्डल दे। बाबूजी उसके सम्पादक बनाये गये। इसकी तीन हज़ार कापियाँ छपाई जाती थी और जैनधर्मके तीनों सम्प्रदायोंमें भ्रातृभाव और मतसहिष्णुता बढ़ाना इसका उद्देश्य था। लगभग डेढ़ वर्ष चलकर यह भी बन्द हो गया।

१२ फ़रवरी सन् १९१४ को बाबूजीने अपनी चलती हुई वकालत छोड़ दी और समाजसेवाके लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया।

आपपर पारिवारिक खर्चका बोझा था और किफ़ायतसारीका आपको अभ्यास नहीं था, अतएव आप कुछ संग्रह न कर सके थे, फिर भी आपने परवा न की।

उस समय आपकी उम्र लगभग ४५ वर्षकी थी और आप काफ़ी कार्यक्षम थे, वकालत भी खूब चलती थी, पर समाजसेवाकी लगनने आपको मजबूर कर दिया, और तबसे अबतक आपने धनोपार्जनके लिए कोई काम नहीं किया। साथ ही समाजसे कभी एक पाई भी न ली। मुझे मालूम है कि बाबूजी अनेक बार आग्रहपूर्ण आमंत्रण पानेपर भी समाजके जल्सोंमें इस कारण नहीं पहुँच सके हैं कि गाँठसे सफ़र-खर्च करनेकी गुंजाइश नही रही और समाजसे खर्च लेना उचित नहीं समझा।

वकालत छोड़नेके बादकी जीवनीके नोट्स इस समय मेरे पास नहीं हैं। आगे आप अपना सारा समय जैनसमाजकी सेवामें ही देने लगे। उसके प्रत्येक आन्दोलन और प्रत्येक रचनात्मक कार्यमें आपका दृश्य या अदृश्य हाथ रहा और जब तक वृद्धावस्थाने आपको बिल्कुल लाचार न कर दिया तबतक आप कुछ न कुछ करते ही रहे।

आप हमेशा प्रगतिशील रहे। आपके विचार और आपकी क़लम सदा ही अपने समयसे आगे रही। इसीलिए आप कभी लोकप्रिय न हुए और अपनी सेवाओंके बदलेमें आपको वही पुरस्कार मिला जो सभी सुधारकोंको अबतक मिलता रहा है।

आप स्वार्थत्यागी तो हैं ही, साथ ही स्वमान और स्वकीर्तिके भी त्यागी है और यह स्वार्थत्यागसे भी कठिन कार्य है। यशोलिप्साको आपने कभी पासमें नहीं फटकने दिया। 'नेकी कर और कुएँमें डाल' के सूत्रपर ही आप सदा चलते रहे हैं।

पुस्तक-प्रकाशक होनेके कारण मैं अबतक पचासों लेखकोंके परिचयमें आया हूँ। लेखकोंका अपनी रचनाओंके प्रति बहुत मोह होता है। परन्तु उसका भी आपमें अभाव है। आपका सम्बन्ध उनसे तभी तक रहता है, जबतक कि वे पूरी नहीं हो जातीं।

जीवन-निर्वाह, जननी और शिशु, विधवा कर्तव्य और ब्याही बहू, आपकी ये चार पुस्तकें मैंने प्रकाशित की हैं। चारों ही उत्तम कोटि-की पुस्तकें हैं। पिछली दो पुस्तकें तो कई बार छप चुकी है, परन्तु आजतक आपने इनके विषयमें कभी कोई पूछताछ नही की। मानो आपका इनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

आपकी एक पुस्तक मेरे पास २० वर्षसे पड़ी है—तीर्थकर-चरित्र, बेहद परिश्रमसे लिखी गई है। विविध पुराणो और कथाग्रन्थोंमें तीर्थकरों के चरित्रोंमें जो अनेकता है, परस्पर अन्तर है, वह इसमें आलोचनात्मक दृष्टिसे संग्रह किया गया है। मै चाहता था कि इसमें श्वेताम्बर कथा-ग्रन्थोंकी विविधताको भी और शामिल कर दिया जाय और तब उसे प्रकाशित किया जाय, परन्तु यह कार्य मुझसे अब तक न हो सका।

किन्तु बाबूजीने आजतक कभी यह न पूछा कि मेरी उस रचनाका क्या किया? एक बार स्वयं ही मैंने लज्जावनत होकर उसका ज़िक्र किया तो कहा कि भाई, मै तो अपना कार्य कर चुका और करनेमें जो आनन्द है उसका उपभोग भी कर चुका, अब तुम जानो। अपनी रचनाके प्रति इतना निःस्पृह और अनासक्त भाव मैंने तो अपने जीवनमें किसी लेखकमें नहीं देखा।

'जैनहितैषी' में आपके मैंने बीसों लेख प्रकाशित किये हैं। उन्हें मैंने काटा-छाँटा है, सँवारा है और कभी-कभी बहुत विलम्ब भी किया है, परन्तु कभी एक शब्द भी नही लिखा कि यह तुमने क्या किया?

आपके अनेक लेखोंसे जैन-समाजमें तहलका मच गया है, उनका विरोध किया गया है और बड़े-बड़े प्रतिवाद निकले हैं, परन्तु आपने कभी उनका उत्तर नहीं दिया। आपका सदा ही यह सिद्धान्त रहा है कि अपनी बात कह देना और चुप हो जाना। उसका असर पड़े बिना नहीं रहता।

जिन दिनों आपकी पुराणोंकी आलोचनाएँ निकल रही थीं और उनका प्रतिवाद करनेके लिए प्रतिगामी दल ऊँचा-नीचा हो रहा था, स्व० बाबा भागीरथजीने एक प्रसिद्ध पण्डितसे कहा, "तुम लोग हो किस

मर्ज़की दवा, जो सूरजभानका मुक़ाबला करोगे ? मैं अभी देखकर आया हूँ, वह पुस्तकोंके ढेरपर बैठा हुआ, शामसे सुबह कर दिया करता है और उसकी क़लम विराम नहीं लेती। पर तुमसे सिवाय गाली-गलौज करनेके और कुछ नहीं बन पड़ता।"

आपकी भाषा बहुत ही सरल होती है। उसमें न तो सजावट रहती है और न दुरूहता। साधारण पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष उसे अनायास ही समझ लेते हैं। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, आपकी अधिकांश रचनाएँ प्रचार-दृष्टिसे लिखी गई हैं और प्रचार ऐसी ही भाषासे हुआ करता है।

साहित्यशास्त्रका शायद आपने कभी अध्ययन नहीं किया। उनके मिशनके लिए शायद इसकी ज़रूरत भी नहीं थी। इसीलिए आपने जो कथा-साहित्य लिखा है, उसका अधिकांश साहित्यकी कसौटीपर शायद ही मूल्यवान ठहरे, परन्तु वह बड़ा प्रभावशाली है और अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए काफ़ी समर्थ है।

आपकी एक दो सौ पेजकी पुस्तक 'मनमोहिनी नाटक' है जो सन् १९०६ में प्रकाशित हुई थी। वह वास्तवमें एक शिक्षाप्रद उपन्यास है परन्तु नाम है नाटक। उसमें पात्रोंके कथनोपकथन अधिक हैं, इसीलिए शायद आपने उसे नाटक संज्ञा दे दी ! मेरे पास उसकी जो प्रति है, उसकी पुश्तपर स्व० गुरुजी पं० पन्नालालजी बाकलीवालके हाथका लिखा हुआ रिमार्क है—"यह नाटक नही, किन्तु एक गार्हस्थ्य उपन्यास है। रोचक खूब है, शुरू किये पीछे उत्तरोत्तर पढ़ने ही को जी चाहता है।"

रामदुलारी, लज्जावतीका क़िस्सा, गृहदेवी, मंगलादेवी, सती सतवन्ती, तारादेवी, असली और नक़ली धर्मात्मा आदि ऐसे ही ढंगकी पुस्तकें है, जो तरह-तरहके बहमों-मिथ्याविश्वासोंसे मुक्ति दिलानेवाली हैं।

लेख तो आपने अगणित लिखे हैं, जो विविध जैन-पत्रोंमें समय-समयपर प्रकाशित होते रहे हैं। जैनहितैषी (भाग १३ और १४) में वर्ण और जाति विचार, ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति, आदिपुराणका अवलोकन, अलंकारोंसे देवी-देवताओंकी उत्पत्ति, वेश्याओंका सत्कार, मद्यपान आदि

लेख बड़े परिश्रमसे लिखे गये थे जो स्थायी साहित्यकी चीजें हैं। अभी दो-तीन वर्ष पहले अनेकान्तमें भी आपके कई मार्केके लेख निकले हैं।

द्रव्यसंग्रह, षट्पाहुड, परमात्मप्रकाश, पुरुषार्थसिद्धचुपाय और वसुनन्दि श्रावकाचारके हिन्दी अनुवाद भी आपके किये हुए है और उनमें द्रव्यसंग्रहकी टीका तो आपकी बहुत ही अच्छी है और अब भी उसका खासा प्रचार है।

आदिपुराण-समीक्षा, हरिवंशपुराण-समीक्षा और पद्मपुराण-समीक्षा ये तीन परीक्षा ग्रन्थ उस समय लिखे गये थे, जब लोग आचार्योंके कथा-ग्रन्थ लिखनेके अभिप्रायको अर्थात् कथाके छलसे बालवृद्धि जीवोंको हितोपदेश देनेके उद्देश्यको न समझते थे और प्रत्येक कथाको केवलीकी वाणी मानते थे। इसीलिए इनके प्रकाशित होनेपर कुछ लोग बुरी तरह बौखला उठे थे। उनमें बाबूजीने जो कुछ लिखा है, उससे मतभेद हो सकता है, परन्तु उनके सदुद्देश्यमें शंका करनेको कोई स्थान नही है। जैन-समाजमें किसी तरहके मिथ्या विश्वास बने रहें, इसे वे सहन नही कर सकते।

ज्ञान सूर्योदय (दो भाग), कर्त्ता खण्डन, कर्म फिलासफी, जैनधर्म-प्रवेशिका, श्राविका धर्म-दर्पण, भाग्य और पुरुषार्थ, युवकोंकी दुर्दशा, जैनियोंकी अवनतिके कारण आदि और भी अनेक पुस्तकें और निबन्ध आपके लिखे हुए है।

मेरा प्रस्ताव है कि बाबूजीके तमाम साहित्यको संग्रह किया जाय और उसका बारीकीसे अध्ययन करके वे सब चीजें जो 'आउट आफ़ डेट' नही हुई है, दो-तीन जिल्दोंमे प्रकाशित की जायँ। वे ७५ वर्षके हो चुके है। उनके जीतेजी ही यह काम हो जाय तो कितना अच्छा हो[१]।

—**दिगम्बर जैन**

दिसम्बर १९४३

१—**खेद है कि बाबूजीका १९४५ में स्वर्गवास हो गया।**

जैन-जागरणके दादा भाई

श्री कन्हैयालाल मिश्र, प्रभाकर

हमारे चिर अतीतमे, जीवनकी एक विषम उलझनमें फँसे, संस्कृतके कविने दुखी होकर कहा था—

"जानामि धर्मं, न च मे प्रवृत्तिः !
जानाम्यधर्मं, न च मे निवृत्तिः !"

धर्मको मै जानता तो हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नही है ! अधर्म को भी मे जानता हूँ, पर हाय, उससे मै बच नही पाता !

जीवनकी यह स्थिति बडी विकट है। अचानक गिरना सरल है, जानकर गिरना कठिन, जानकर और फिर रुकनेकी इच्छा रहते ! भूलसे गिरनेमें शरीरकी क्षति है, जानकर गिरनेमें आत्माका हनन है। हमारा समाज आज इसी आत्म-हननकी स्थितिमें जी रहा है। कौन नही जानता कि स्त्रियोको पर्देमें रखना, अपनी वशावलिपर हल्का तेज़ाब छिड़कना है। विवाहकी आजकी प्रथा किसे सुखकर है ? और सक्षेपमें हमारा आजका जीवन किसे पसन्द है ? हम आज जिस चक्रमें उलझे घूम रहे है, उसे तोडना चाहते है, पर तोड नही पाते।

परम्पराके पक्षमें एक बहुत बड़ी दलील है, उसकी गति। परम्परा बुरी है या भली, चलती रही है, उसके लिए किसी उद्योगकी जरूरत नहीं

है। कौन उससे लड़कर उद्योग करे, नया झगड़ा मोल ले। फिर हम समाज-जीवी हैं। जब सारा समाज एक परम्परामें चल रहा है, तो वह अकेला कौन है, जो सबसे पहिले विद्रोहका झण्डा खड़ा करे, नक्कू बने ?

अच्छा, कोई हिम्मत करे, नक्कू बननेको भी तैयार हो चले, तो उसके भीतर एक हड़कम्प उठ आता है—लोग क्या कहेंगे ? और ये लोग ? जिन्हें सहीको ग़लत कहनेकी मास्टरी हासिल है और जो नारदके खानदानी एवं मन्थराके भाई-बहन है, ऐसा बवण्डर खड़ा करेंगे, सत्यके विरुद्ध ऐसा मोर्चा बाँधेंगे कि यहीं प्रलयका नज़ारा दिखाई देगा।

चलो, इस मोर्चेसे भी लड़ेंगे ! असत्यका मोर्चा, सत्यके सिपाही को लड़ना ही चाहिए, पर चारों ओरके ये समझदार साथी जो घेर बैठे—"हाँ हाँ, बात तुम्हारी ही ठीक है, पर तुम्ही क्यों अगुवा बनते हो। अकेला चना भाड़को नही फोड़ सकता ! इन सब बुराइयोको तो समय ही ठीक करेगा। याद नहीं, रामूने सिर उठाया, बिरादरीके पंचोंने उसे कुचल दिया। फिर तुम्ही तो सारे समाजके ठेकेदार नही हो। बड़ोंसे जो बात चली आ रही है, उसमें जरूर कुछ सार है। तुम्ही कुछ अक़्लके पुतले नहीं हो—समाजमें और भी विद्वान् हैं। चलो अपना काम देखो, किस झगड़ेमें पड़े जी !"

विचारका दीपक भीतर जल रहा है, धुंधला-सा, नन्हा-सा, टिमटिमाता। तेल उसमें कोई नही डालता, उसे बुझानेको हरेककी फूंक बेचैन है। दीपकमें गरमी है, वह जीवनके लिए संघर्ष करता है, उसकी लौ टिमटिमाती है, ठहर जाती है, पर अन्तमें निराशाका झोका आता है, वह बुझ जाता है। पता नहीं, हमारे समाजमें रोज तरुण-हृदयोंमें विचारोंके दीपक कितने जलते हैं और यों ही बुझ जाते है। काश, वे सब जलते रह पाते, तो आज हमारा समाज दीपमालिकाकी तरह जगमग-जगमग दिखाई देता।

सुना है, हाँ, देखा भी है, दीपक हवाके झोंकेसे बुझ जाता है, हवा नहीं चाहती कि प्रदीप जले, दोनोंमें शत्रुता है; पर वनमें ज्वाला जलती

है, तो आँधी ही उसे चारों ओर फैलाकर कृतार्थ होती है, दोनोंमें अभिन्न मित्रता है। बा० सूरजभान एक ज्वालाकी तरह, अपनी तरुणाईकी मदभरी अँगड़ाइयोंमें, समाजके अँधेरे आँगनमें उभरे। विरोधकी आँधियाँ उठीं, घहराईं, पर वे दीपक न थे कि बुझ जाते, अज्ञानके दारुण दर्पको दहते, चारों ओर फैल गये। भारी लक्कड़के बोझसे दब, छोटी चिनगारी बुझ जाती है, पर होलीकी लपट, इन्ही लक्कड़ोंकी सीढ़ियोंपरसे चढ़ आसमानके गले लगती है। पता नही, जब बाबूजी जन्मे, किस ज्योतिषी-ने उनकी भावीका लेख पढ़ा और उस सुकुमार शिशुको यह जलता नाम दिया—सूर्यकी तरह वे अँधेरेमें उगे और उसे छिन्न-भिन्न कर आसमानमें आ चमके! इन सब परिस्थितियोंका हम अध्ययन न करें, अपने मनमें विरोधकी आँधियोके झकोरोंका बल न तोल पायें, तो देवताकी तरह हम बाबू सूरजभानकी मूर्तिपूजा भले ही कर लें, उनके कार्योंका महत्त्व नहीं समझ सकते। तब उनके कार्य हमारे उत्सव-गीतोंमें स्वर भले ही भरें, हमारे अँधेरे अन्तरका आलोक और टूटे घुटनोंका बल नहीं हो पाते! ऐसा हम कब चाहेंगे?

तब आजकी तरह हरेक दफ़्तरपर 'नो वैकेंसी' की पाटी नहीं टँगी थी, वे चाहते तो आसानीसे डिप्टी कलक्टर हो सकते थे, पर नौकरी उन्हें अभीष्ट न थी, वे वकील बने और थोड़े ही दिनोंमें देवबन्दके सीनियर वकील हो गये। वकीलकी पूँजी है वाचालता और सफलताकी कसौटी है झूठ-पर सचकी सुनहरी पालिश करनेकी क्षमता। और बाबू सूरजभान एक सफल वकील, मूक साधना जिनकी रुचि और सत्य जिनकी आत्माका सम्बल! काबेमें कुफ़्र हो, न हो, यहाँ मयख़ानेसे एक पैग़म्बर ज़रूर निकला।

बाबू सूरजभान वकील; अपने मुवक्कलोंके मुक़दमे तो उन्होंने थोड़े ही दिन लड़े—वे कचहरियाँ उनके लायक़ ही न थीं—पर वकील वे जीवन भर रहे, आज ७५ वर्षके बुढ़ापेमें भी वे वकील हैं और रात-दिन मुक़दमे लड़ते हैं; न्यायकी अदालतमें, खोजकी हाईकोर्टमें, असत्यके विरुद्ध सत्यके मुक़दमे। संस्कृतिकी सम्पदापर कुरीतियोंके क़ब्जेके

विरुद्ध वे बराबर जिरह और बहस करते रहे है और सच यह है कि इन मुकदमोकी कहानी ही, इस नररत्नका जीवनचरित्र है।

प्रेसका तब आविष्कार न हुआ था और पुस्तकें आजकी तरह सुलभ न थी। बड़े यत्नसे लोग पुस्तकें लिखवाते और बड़े प्रयत्नसे उन्हें रखते थे। साम्प्रदायिक वातावरणकी कशमकशने इस प्रयत्नमें एक रहस्यभरी निगूढ़ताकी सृष्टि कर दी थी और इस प्रकार पुस्तकें दर्शनीय न होकर, पूजनीय हो चली थीं। रत्नोंकी तरह वे छिपाकर रखने और कभी पर्व-त्यौहारोंपर समारोहके साथ दिखानेकी चीज बन गई थी। आज हम भले ही इसपर एक क़ह-क़हाका मारें, उस युगमें पुस्तकोंके प्रति यह आत्मीय श्रद्धा न होती, तो हमारे इतिहासकी तरह, हमारा साहित्य भी आज अप्राप्य होता! युग-युग तक लोगोने युद्धके रहस्योकी तरह पुस्तकोंको अपने प्राणोंमें सँजोकर रक्खा है।

समयके प्रवाहकी सीढ़ियोंपरसे उतरते-उतरते संस्कृत, हिन्दी बन गई, तो इसमें क्या आश्चर्य कि प्रयत्नकी इस घनताने अन्धश्रद्धाका रूप धारण कर लिया! समयने करवट बदली, प्रेमकी सृष्टि हुई, युगने उन पुस्तकोंके प्रचार-प्रकाशनकी माँग की, पर युगकी माँग हरेक सुन ले, तो महापुरुषोंकी पूजाका अवसर जातियोंको कहाँ मिले? जैन-समाजमें प्रायः सबसे पहले बाबू सूरजभानने युगकी यह माँग सुनी और जैन शास्त्रों के छपानेकी आवाज़ उठाई! युगने अपने इस तेजस्वी पुत्रकी ओर चावसे देखा, पर अन्धश्रद्धाने उनके कार्यको धर्मद्रोह घोषित किया, शास्त्रोंकी निगूढ़ताके पक्षमें युग-युगसे संचित समाजकी कोमल भावनापर एक हथौड़ा-सा पड़ा और युद्धके लिए समाजको उभारकर वह सामने ले आई। धर्मका सैनिक, शैतानका अग्रदूत घोषित किया गया, पर लांछनोसे लचा, तो सुधारक क्या? उन्हें मार डालनेकी धमकियाँ दी गई, वे मुस्कराये। उनके प्रेसमें बम रक्खा गया, तो वे हँसे। धर्मके पुजारी क्रोधकी घृणा से उन्मत्त हो रहे थे और 'अधर्म'का सिपहसालार था शान्त, प्रसन्न, प्रेम-पूर्ण! पृथ्वीपर युगदेवता और आकाशमें भगवान् हँस रहे थे। ज्ञान

विजयी रहा, अन्धश्रद्धा पराजित हुई—आज उन विरोधियोंके वंशधर छपे हुए "शास्तरजी" का पाठ कर कृतार्थ हो रहे हैं।

एक वाक्यमें बाबू सूरजभानका स्केच है—अँधेरा देखते ही दिया जलानेको तैयार ! उन्होंने अँधेरा देखा और दीपक सँजोने चले । अँधेरा, अज्ञानका, अन्यायका और दीपक ज्ञानका, सुधारका । उन्होंने व्याख्यान दिये, लेख लिखे, पुस्तकें तैयार कीं और संस्थाएँ खोलीं, पर सबका उद्देश्य एक है, अँधेरेके विरुद्ध युद्ध ! वे अनथक योद्धा है । न थकना ही-जैसे उनका 'मोटो' हो । इस बुढ़ापेमें भी वीर-सेवा-मन्दिर (सरसावा, सहारनपुर) में जाकर रहे, दो घण्ट कन्या पाठशालाके अध्यापक, दो घण्टे शास्त्र-स्वाध्यायके पण्डितजी, और ४-६ घण्टे गम्भीर अध्ययन और अपनी खोजों पर लेख, यह एक ७२ वर्षके वृद्धकी वहाँ दिनचर्या थी ।

भारतकी नवीन राजनीतिमें दादाभाई नौरोजी और हिन्दी गद्यके नवविकासमें प्रेमचन्द्रका जो स्थान है, जैन-समाजकी नवचेतनाके इतिहास में वही स्थान बाबू सूरजभानका है । जैन-समाजके वे ईश्वरचन्द्र हैं, इसमें सन्देह नही, पर अजैन समाजकी कौन कहे! जैनसमाजमें ही लोग उन्हें ठीक-ठीक नही जान पाये । क्यों ? उन्होंने जान-बूझकर, अपनेको प्रसिद्धिसे बचाया । जैन-संस्थाओंके वे आदिसंस्थापक, पर संस्था बन गई, चल गई और दूसरोंको सौंप दी । किसी संस्थाके साथ उन्होंने अपनेको नही बाँधा । हमारे देशमें धर्मसुधारक आगे चलकर एक नये धर्मके संस्थापक हो जाते है । बाबू सूरजभानने अपनेको इस महन्ताईसे, नेतागिरीसे सदा बचाया और महिमाके माधुर्यसे निन्दाका नमकीन ही सदा उन्हें रुचिकर रहा । हम मरनेके बाद भी जीनेके लिए पत्थरोंपर नाम खुदानेको बेचैन है, उन्होंने जीतेजी ही अपनेको बेनाम रहकर जैसे अमरत्वका रस लिया ।

यह अपरिग्रह, यह अलगाव, अपना श्रेय दूसरोंको बाँटनेकी यह वृत्ति ही बाबू सूरजभान है । वे महान् हैं और सदैव इतिहासके एक पृष्ठ

की तरह महान् रहेंगे पर जैनसमाज सगठित रूपसे उनकी अब हीरक जयन्ती मनाए इसीमें उसकी शोभा है। यह उत्सव उनकी जीवनी शक्ति का प्रमाण हो और बाबू सूरजभानके बोय और अपन रक्तसे सीचे सुधार बीजोकी प्रदशनी भी यह आजके युगकी माँग है। क्या हम इसे सुनेंग ?

—अनेकान्त, १९४४

जन्म— गढीअब्दुल्लाखाँ, वि० स० १९४५

स्वर्गवास— अक्टूबर १९१९ ई०

मुश्किलका साथी

महात्मा भगवानदीन

सन् १९१० से पहले समाज-सुधारके लिए और धर्म-शिक्षाके फैलावके लिए कई लोग बड़ी कोशिशमें थे और उन्हें कुछ सफलता भी मिली थी, पर आज जो धर्म-शिक्षाका प्रचार जगह-जगह फैला हुआ है, वह इतना फैला हुआ न मिलता, अगर समाजने बाबू दयाचन्द्र गोयलीय-जैसा जवान न पाया होता।

मुज़फ्फरनगर ज़िलेके एक छोटे-से गाँव गढ़ी अब्दुल्लाखाँमें उनका जन्म हुआ और उनकी बचपनकी तालीम भी वहीं आस-पास मुज़फ़्फ़रनगर और मेरठमें हुई, बी० ए० उन्होंने जयपुर कालेजसे किया। यह जानकर तो लोगोंको अचरज ही होगा कि हिन्दीकी उन्होंने कहीं तालीम ही न पाई थी, उसे अपने आप ही सीखा था वह भी तब, जब वह समाज-सेवाके मैदानमें आये थे। समाज-सेवाका काम उन्होंने उस वक़्त शुरू किया, जब वह कालेजमें दाखिल हुए। बी० ए० में उन्होंने फ़ारसी ले रखी थी। यह सब हम इसलिए लिख रहे हैं कि उर्दू-फारसी पढ़े किसी हिन्दूको हिन्दी सीखनेमें बेहद आसानी होती है और जल्दी भी सीख ली जाती है और बहुत जल्दी ही ऐसा आदमी हिन्दीके साहित्यकारोंमें अपनी जगह बना लेता है, इसकी वजह यह है कि हिन्दूका धर्म हिन्दीमें होनेसे धर्म सम्बन्धी खास-खास शब्द उसे पहले ही से आते होते हैं और पुराणकी कथाएँ उसे अपनी नानी, दादी और बुआ-बहनोंसे हिन्दीके शब्दोंमें सुननेको मिलती रहती हैं; इस तरह हिन्दूको उर्दू-फ़ारसी रूँगेमें आ जाती है। हाँ, तो बाबू दयाचन्द्रजीने हिन्दीका अभ्यास जयपुरमें बढ़ाया और श्री अर्जुनलालजी सेठीकी जैन-शिक्षा-प्रचारक समितिमें काम करनेसे धर्म-ज्ञानमें ऊँचे दर्जे-

की जानकारी हासिल कर ली और कुछ दिनोंमें ही वहाँके परीक्षाबोर्डके मेम्बर बन गये और जल्दी ही रजिस्ट्रार हो गये।

हम पूरे छः महीने जयपुरमें उनके साथ रहे हैं, जब भी हमें उनकी याद आती है तो उनकी पढ़ाईके ढंगकी और पढ़ाईके साथ-साथ उनके काम करनेकी पूरी तस्वीर हमारी आँखोंके सामने आ जाती है। बी० ए० के इम्तिहानके तीन माह रह गये, पर वह परीक्षाबोर्डकी बैठकोंमें जानेसे कभी नहीं चूकते, इम्तिहानके पर्चे तैयार करनेमें उन्हें कोई अड़चन नहीं होती। परीक्षाबोर्डके रजिस्ट्रारके नाते उन्हें जगह-जगह पर्चे भेजनेमें कभी देर नहीं होती, पर्चे भेजनेका काम कितना नाजुक होता है और किस होशियारीसे करना पड़ता है, इसका अन्दाज़ा वे ही लोग लगा सकते हैं, जो कभी रजिस्ट्रार रहे हैं। फिर वे किसी सरकारी परीक्षा यूनिवर्सिटीके रजिस्ट्रार तो थे नहीं, वह तो एक समाजी घरेलू यूनिवर्सिटीके रजिस्ट्रार थे। न उन्हें कोई चपरासी मिला हुआ था और न कोई पूरे वक्तवाला लिखारी (लेखक)। लिखारीका बहुत-सा काम व चपरासीका सारा वह, खुद ही करते थे। बी० ए० के इम्तिहानके अब दो महीने रह गये हैं, पर वह पढ़ाईके कामके साथ-साथ समाजी और कामोंमें कम-से-कम दो घण्टे ज़रूर जुटते हैं। कालिजकी ग़ैरहाज़िरी कभी नहीं करते, यहाँ तक कि कल बी० ए० का इम्तिहान शुरू होनेवाला है और उनके कामके तरीक़ेमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह सब होनेपर भी बी० ए० में अच्छे नम्बरोंसे और अच्छे डिवीज़नमें पास होते। यह थी सच्ची लगन और इस लगनका यह नतीजा होना ही था।

होता, कि ऐसा जवान ज़्यादा दिन जीता अगर ऐसा होता तो न जाने समाजको कितना फ़ायदा पहुँचा होता। बी० ए० करनेके बाद कुछ दिन ललितपुरमें मास्टरी की, वहींसे विवाह किया और एक दुधमुहाँ बच्चा और विधवा छोड़कर इस दुनियासे जल्दीसे जल्दी ही चलते बने। क्या मास्टरीकी हालतमें, क्या बीमारीके पलंगपर, हर वक़्त और हर जगह उनका क़लम चलता ही रहा और उनकी विचार-धारा उसी वेगसे बहती

रही। लखनऊमें जब वह मौतके बिस्तरपर लेटे हुए थे, तब हम उनसे मिले थे। मौतका बिस्तर तो हम कह रहे हैं, उन्होंने एक क्षणके लिए भी अपने आपको मौतके बिस्तरपर नहीं माना, न ही समझा और न ही वैसा करने दिया। हमसे उन्होंने एक मिनिट भी न अपनी बीमारीकी बात की न और कोई कमजोरीकी बात की। जो चर्चा रही वह इस बातकी रही कि हम उस दिन लखनऊकी आमसभामें क्या बोलनेवाले हैं। हमें तो यही अचरज है कि ऐसे शख्सको मौतने अपने पंजेमें फँसानेके लिए कौन-सा वक़्त निकाला होगा। हमारा अपना विश्वास है कि मौत उसके पास आते हुए डरती है जो मौतसे नहीं घबराते और जो मौतकी बात कभी नहीं सोचते। कुछ भी हो यह सच ही है कि मौत उन्हें ले गई, कैसे ले गई कौन जाने।

उम्रके इस छोटेसे हिस्सेमें न जाने उन्होंने क्या कर डाला। दो सौ-ढाई सौ सफ़ेकी 'मितव्ययिता' एक किताब लिख डाली। धर्मकी तीन छोटी पुस्तकें लिख डालीं, जाति-प्रबोधक नामका एक पर्चा सफलता-पूर्वक चलाकर दिखा दिया। जगह-जगह जाकर प्रचार किया, क्योंकि लिखनेके साथ-साथ बोलनेका कमाल भी उनमें था। जवान थे, जोशीला तो बोलते ही थे, पर मनोहर भी बोलते थे।

और सुनिए, वह ऐसे घरानेमें पैदा नहीं हुए थे, जो पढ़ाईका खर्चा बर्दाश्त कर सके और शायद इसी वास्ते वह मामूलसे ज्यादा बुद्धिमान् थे। एकसे ज्यादा बार उन्होंने अच्छे दरजेमें पास होकर वजीफ़ा यानी छात्रवृत्ति पाई। जैन-अनाथालयके संस्थापक चिरंजीलालजीने भी इस मामलेमें उनकी थोड़ी-बहुत मदद की, रायबहादुर मोतीसागरजीके बहनोई भाई मोतीलालजी भी दो साल तक या शायद कुछ ज्यादा उनको छात्रवृत्ति देते रहे। यहाँ यह बात जानना ज़रूरी है कि छात्रवृत्ति उन्हें दानके रूपमें नहीं दी गई थी, उधार थी। चुकानेके लिए काग़ज़ लिखा हुआ था, मगर शर्त यह थी कि वह छात्रवृत्ति सिर्फ़ उस वक़्त चुकाई जायगी, जब बाबू दयाचन्द्रजी कमाने लगेंगे और वह भी १०० रु० पीछे १० रु०

के हिसाबसे चुकाई जायगी, यानी उनकी तनख्वाह १०० रु० होगी तो १० रु० माहवार चुकाना पडेगा, यहाँ कोई यह न समझे कि भाई मोतीलाल वसूल करनेमें बडे कडे आदमी थे। भाई मोतीलालजीके आगे-पीछे कोई नही था। वह अपना रुपया ऐसे ही कामोमें खर्च किया करते थे। वह इस तरह दी हुई छात्रवृत्तिको उगाहकर कुछ अपने काममें थोडे ही लाते थे, फिर किसी दूसरेको देनी शुरू कर देते थे। इस तरह उनकी सख्ती चुकानेवालेको भले ही थोडी अखरती हो, पर और किसीको नही अखरती थी और न हमारे पढनेवालोको अखरेगी। इतनी लम्बी-चौडी बात हमने योही नही कही। हमारे कहनेकी यह वजह है कि बाबू दयाचन्द्रजी-के साथ उन्होने काफी सख्ती की थी और उनकी सख्त चिट्ठी हमने अपनी आँखो देखी थी, और उसको पढा भी था। बा० दयाचन्द्रजीने नौकर होनेके कुछ ही दिन बाद शादी कर ली थी। बस, शादी करनेके कुछ ही दिनो बाद शायद जबतक बहूकी मेंहदी फीकी भी न पडी होगी कि यह चिट्ठी दयाचन्द्रजीके नाम ललितपुरमें आ धमकी। पूरी चिट्ठी तो हमें याद नही रही, पर वे लफ्ज हमारे दिलपर ज्यो-के-त्यो अकित है "वजीफेकी (छात्रवृत्तिकी) रकम अदा किये बगैर आपको शादी करनेका कोई हक नही था" यह चिट्ठी उर्दूमें थी। भाई मोतीलालजी उर्दूमें ही सख्त चिट्ठी लिखा करते, पढनेवालोपर जरूर यह असर पडेगा कि भाई मोतीलालजी बडे सख्त थे और हमपर भी उस वक्त ऐसा ही असर पडा था, पर बाबू दयाचन्द्रजीने अपना मन ज़रा भी मैला नही किया और हमसे बोले कि उनकी शिकायत ठीक है, सचमुच मुझे बिना रुपया अदा किये ऐसा नही करना चाहिए था। यह मुझे ठीक याद नही कि उन्होने कोई चीज़ गिरवी रखकर या यो ही मामूली काग़ज़पर लिखकर उसी वक्त किसीसे रुपये उधार लिये और जितने महीने उन्हें नौकर हुए बीत चुके थे १० रु० फ़ी महीनेके हिसाबसे मनीआर्डर करके भेज दिया। ये थे बाबू दयाचन्द्र। त्याग, पैसेका त्याग नही होता, असली त्याग तो है हृदयकी मलिनताका और वही सच्चा त्याग है, इसलिए बा० दयाचन्द्रजी नौकरी करते और गृहस्थ

होते हुए भी सच्चे त्यागी थे।

हमारी उनसे बहुत ही एकमेकता थी, जयपुरमें हम दोनों एक ही कमरेमें रहते थे। हम वहाँ छात्रालयके सुपरिण्टेण्डेण्ट थे और बाबू दयाचन्द्र छात्रालयमें रहनेके नाते एक छात्र भी थे और हमारे मित्र भी थे। हमें वहाँ खुजली हो गई थी, एक अंग्रेजी सफ़ेद जहरीली दवा गोलेके तेलमें घोलकर हमारे बदनपर मलनेके लिए डाक्टरने दी और उसके लिए डाक्टर-की यह खास हिदायत थी कि इस दवाको जो कोई लगायेगा, अगर उसका एक कण भी मुँहके रास्ते पेटमें पहुँच गया तो लगानेवालेके खुजली हो जानेका डर है। यों तो छात्रालयके सभी छात्र हमसे बेहद मुहब्बत करते थे, पर श्रीचन्द्र नामी एक छात्र तो बहुत ही मुहब्बत रखता था। छात्रोंमेंसे कई दवा लगानेके लिए तैयार हुए और वह हमारे मना करनेपर मान गये, पर श्रीचन्द्र तो हद कर बैठा, और वह हमारा सबसे ज्यादा आज्ञा-कारी था, पर इस मामलेमें उसने हमारी एक न मानी। दवा गोलेके तेलमें घोल ही तो डाली, हाथ भिगो लिये। इतनेमें पण्डित अर्जुनलालजी सेठी आ गये। उन्होंने जब फटकारा, तब श्रीचन्द्रके होशियारीसे हाथ धुलवाये गये और न मालूम और क्या-क्या किया गया। यह क़िस्सा चल ही रहा था कि बाबू दयाचन्द्रजी आ पहुँचे। सेठीजीने बहुतेरा रोका, हमने भी पूरा ज़ोर लगाया पर उनके कानपर जूँ न रेंगी। उन्होंने न कुछ जवाब दिया और न बोले, बस पकड़ हमारा हाथ और लगे दवा मलने। दवा मल चुकनेके बाद बहुत होशियारीसे उन्होंने अपने हाथ धोए, जिसे अगर और कोई देखता तो यही कह बैठता कि जब तुम दवासे इतना डरते हो तो लगानेका शौक़ क्यों चढ आया था, पर पाठक यह ख़ूब समझ लें, ये हाथ दवासे डरकर नहीं धोये जा रहे थे। ये इसलिए धोये जा रहे थे कि दवा लगानेके बाद मुझे खाना खिलानेका काम भी तो उनको उन्हीं हाथोसे करना था, और यह सब कुछ मेरे ख्यालसे किया जा रहा था। यह था बाबू दयाचन्द्रजीका वैयावृत्त। ये सब बातें धर्म-प्रेमके बिना नहीं आ सकतीं और धर्म-प्रेमीको सीखनी नहीं पड़तीं।

२२ जनवरी १६१० को हम गुरुकुल खोलनेका व्रत ले चुके थे और अपना जीवन उस कामके लिए सौंप चुके थे, पर अर्जुनलालजी सेठी उस वक़्त समाजमें गुरुकुल नामसे एक नई संस्था खोले जानेकी ज़रूरत नहीं समझते थे, इसलिए वह नहीं चाहते थे कि उनकी शिक्षासमिति हमारी सेवाओंसे वंचित हो जाय। इसलिए उनकी तजवीज़ यह थी कि जयपुरमें ही कहीं किसी नसियामें इस तरह हमारा व्रत पूरा कर दिया जाय, जिस तरह लार्ड कर्ज़नने उदयपुर महाराणाकी दिल्ली फ़तह करनेकी प्रतिज्ञा, मिट्टीकी दिल्ली बनाकर फ़तह करनेसे पूरी हो जानेकी बात सुझाई थी। मईसे नवम्बर तक हमको सेठीजी इसी तरहसे टालते रहे। १० नवम्बर १६१० को बाबू दयाचन्द्रजीने हमें दरवाज़ा बन्द करके एक घण्टे सारी ऊँच-नीच समझाई और इतना सीधा, खरा और जोशसे भरा उपदेश दिया कि दूसरे दिन यानी ११ नवम्बरको हम जयपुरसे निकल पड़े और फिर १६११ की अक्षय तीजको यानी छः महीने बाद गुरुकुलकी स्थापना हो गई।

बाबू दयाचन्द्रजी हमारे बड़े दोस्त थे और अब तकके हालसे पढ़नेवालोंने समझ ही लिया होगा कि हमारे साथ उनका कितना अपनापन था, फिर भी वह अपने गहरे-से-गहरे मित्रके साथ खरी बात कहनेमें नहीं चूकते थे और सच्ची बात कितनी ही कड़ुवी क्यों न हो, उसे कहते नहीं रुकते थे। कोई यह न समझ बैठे कि उनका उपगूहन अंग कच्चा था, और वे दूसरोंकी बुराई छिपाकर नहीं रख सकते थे। क्योंकि हर धर्मात्माका यह फ़र्ज़ है कि वह दूसरेकी बुराइयाँ छिपाये, वह किसीकी बुराई किसीसे नहीं करते थे। वह उसकी बुराई उसीसे कहते थे और वह आदत न सुधारे तो उससे अपना सम्बन्ध तोड़ लेते थे, पर उसकी बुराइयोंका कभी गीत नहीं गाते फिरते थे। वह कानके कच्चे थे, इसे यों भी कहा जा सकता है कि वह किसीको झूठा ही न समझते थे और इसलिए दिलके खरे थे। जो दिलका खरा होता है, वह अगर कानका कच्चा हो तो किसीको उससे डरनेकी ज़रूरत नहीं।

अब सुनिए एक सही बात—उनका ग्रामभाई श्री दीपचन्द्र, जो आजकल कहीं किसी मिलमें मैनेजर है, सन् १९१२ में हमारे गुरुकुलका ब्रह्मचारी था और लाला गेंदनलालजीका लड़का श्री पीतचन्द्र, उन दिनों हमारे गुरुकुलका ब्रह्मचारी था। होनहारकी बात कि एक दिन दीपचन्द्र-के पिता गुरुकुल ऋषभब्रह्मचर्याश्रम देखने आये। रातके ९ बजेका वक़्त था। जाड़ेके दिन थे। सब ब्रह्मचारी लिहाफ़ ओढ़े सो रहे थे। दीपचन्द्रका लिहाफ़ कुछ हलका था और ऐसा ही था, जैसा और बीसियों ब्रह्मचारियों का था। पर पीतचन्द्रका लिहाफ़ बहुत भारी था, और लिहाफ़ोंसे खूब-सूरत भी था। यह सब देखकर दीपचन्द्रजीके पिताने हमसे तो कुछ नहीं कहा, पर बा० दयाचन्द्रको ख़बर दी और कुछ ही दिनों बाद बा० दया-चन्द्रजीकी बड़ी लम्बी-चौड़ी चिट्ठी बेहद कड़वी दसियों फटकारोंसे भरी हमारे नाम हस्तिनागपुर आ धमकी। धमकियोंके साथ सम्बन्ध तोड़नेकी भी धमकी थी, यह सुनकर तो पाठक हैरान रह जायँगे कि उसका कोई जवाब नहीं माँगा गया था। बस यह समझिये कि वह हाईकोर्टका आख़िरी फ़ैसला था, पर हमने फिर भी जवाब देकर उनकी तसल्ली कर दी, और उनसे यह भी चाहा कि वहाँ खुद आकर हमारी बातकी जाँच कर लें और देख लें कि हम जो कुछ कह रहे हे ठीक है या नहीं। लौटती डाकसे हमें जवाब मिला कि मैं आपकी बातको बिल्कुल ठीक समझता हूँ, पर आपने यह क्यों लिखा कि मैं खुद आकर वहाँ उसकी जाँच करूँ। क्या आपको अपनेपर विश्वास नहीं? ये थे बा० दयाचन्द्र। कितने खुले दिल, कितने खरे और कितनी मन्द कषायवाले। अब ऐसे साथी कहाँ नसीब हैं।

बा० दयाचन्द्रजी सिरसे पैरतक धर्मात्मा थे और इसलिए सच्चे सुधारक थे, उन्होंने आर्यसमाजी लड़कीसे शादी की और बहुतसे बेकार रस्म-रिवाजोंको किसी तरह अपनानेके लिए तैयार नहीं हुए, हाँ एक बार अपनी धर्मपत्नीके कहनेसे अपने बच्चेके सख़्त बीमार होनेपर झाड़-फूँककी सिर्फ़ इजाजत ही नहीं दी थी, किन्तु खुद वह झाड़-फूँक करनेवाले-

को बुलाकर लाये थे। पढ़नेवाले ये न समझें कि वह झाड़-फूंकमें विश्वास रखते थे। उन्होंने यह काम सिर्फ़ अपनी धर्मपत्नीके विचारोंमें आड़े न आनेके लिए किया था। वह पढ़े-लिखे आदमी थे, मनोविज्ञानसे खूब वाक़िफ़ थे। वह खूब समझते थे कि माँकी कमज़ोरीका दुधमुँहे बच्चेपर असर पड़े बिना न रहेगा। इसलिए उनका झाड़-फूंककी इजाज़त देना विश्वास-की कमज़ोरी नहीं, मज़बूतीका सबूत है। अगर वह उस वक़्त हठ कर जाते तो धर्मपत्नी मान तो जाती पर दुःख ज़रूर मानती, वह तो हिंसा होती। विधवा-विवाहकी आवाज़ उनसे पहले उठी तो थी, पर उसमें दम न था। बाबू दयाचन्द्रजीने इस आवाज़को फिर अपने ढंगसे उठाया और वह कुछ उम्र पाते तो इस तरफ़ भी कुछ ज़रूर करके दिखा जाते।

हम राजकारनके मैदानमें कूद चुके थे और उन दिनों ऐसा करना अपने रिश्तेदारों और अपने दोस्तोंकी नज़रोंमें गिरना था, और तो और भाई अजितप्रसादजीको जो हमारे मारशल्लाके इल्ज़ामके मुकदमेमें हमारे वकील थे, करनालमें इसी वजहसे ठहरनेके लिए जगह मिलना मुश्किल हो गया था। आख़िर एक वकीलने बड़ी हिम्मत करके उन्हें अपने घरपर ठहराया था। बा० दयाचन्द्रजी राजकारनके मैदानमें नहीं आये, पर उन दिनों राजकारनमें कूदना भले ही कुछ बड़ा काम हो, पर राजकारन में कूदनेवालोंसे दोस्ती बनाये रखना और खुले दिल खुल्लमखुल्ला अपने घरमें उनका स्वागत करना यह और भी कहीं बड़ा काम था और इस विचारसे हम यह कहेंगे कि बा० दयाचन्द्रजी राजकारनके मैदानमें न कूद-कर भी राजकारनमें कूदे-जैसे ही थे। हमसे मिलनेमें वह कभी नहीं झिझके। हमारी बातोंको ध्यानसे और शौक़से सुना और हमें सलाह दी। जो सलाह दी वह हमें अपने रास्तेसे अलहदा करनेवाली नहीं थी। रास्तेपर मज़बूतीसे डटा रखनेवाली थी।

मामूली घरानेका जवान, पूरा गृहस्थी और फिर इतना निर्भीक और निडर; धर्म, समाज और देशप्रेममें भीगा और उसके लिए ज़्यादा-से-

ज्यादा वक्त निकालकर हर तरहके कामके लिए तैयार विरला ही कोई होता है ।

सचमुच बा० दयाचन्द्रकी जिन्दगी ऐसी है, जिसका अनुसरण आजकलके जवान करे तो समाज, धर्म और देशके लिए बडे उपयोगी बन सकते हैं ।

—ज्ञानोदय काशी, मई १९५१

मूक साधक

श्री माईदयाल जैन

बाबू दयाचन्द्रजी गोयलीयका जन्म मौजे गढी अबदुल्ला खाँ ज़िला मुज़फ्फरनगरके एक मध्यम श्रेणीके अग्रवाल लाला ज्ञानचन्द्रके यहाँ मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा सवत् १९४५ को हुआ था।

आपने देहरादूनसे सन् १९०७ मे प्रथम श्रेणीमे एन्ट्रेन्स, क्वीन्स कॉलेज बनारससे एफ० ए० और महाराजा कॉलेज जयपुरसे बी० ए० की परीक्षाएँ अच्छे नम्बरोसे पास की थी।

विद्यार्थी अवस्थामे देहरादूनमे ही सभा-सोसाइटियोको देखकर आपमें समाजसेवाके भाव पैदा हो गये और आपने भी स्कूलके छात्रोकी एक जैन-सभा स्थापित की। इन्ही दिनोमे आप देहरादूनके ला० चिरजी-लालजी सस्थापक जैन अनाथाश्रमके सम्पर्कमे आ गये और उर्दू 'जैन प्रचा-रक' मे लेख लिखने लगे। चूंकि बनारसमे स्याद्वाद पाठशाला (अब महाविद्यालय) के छात्रावासमे और जयपुरमे जैन-शिक्षा-प्रचारकसमिति के वर्द्धमान जैन-बोर्डिंग हाउसमे रहते थे, वहाँके वातावरणसे आपको जैनधर्मके अध्ययनकी रुचि हो गई और समाजसेवाके भावोमे दृढता आ गई।

पहिले आपने ललितपुरमे बतौर सेकिण्ड मास्टरके काम किया, और वहाँकी अभिनन्दन-जैन-पाठशालाके मत्रीपदको ग्रहण करके उसकी खूब उन्नति की। ये दिन आपके अर्थकष्टके थे और आपने अध्यापकी छोडकर वकालत करनेका विचार किया, किन्तु प० नाथूरामजी प्रेमी आदि मित्रोंके निषेध करनेपर आपने वकालत करनेके विचारका छोड दिया। साहित्य-सेवाके लिए यह बडा भारी स्वार्थत्याग था। फिर आप लखनऊके कालीचरण हाईस्कूलमें आ गये और आपका अर्थसकट दूर हो गया।

आप ऋषभ-ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरकी प्रबन्धकारिणी कमेटीके सभासद् थे और आप ही उसके वार्षिक उत्सवोंपर चन्देके लिए अपील किया करते थे। भारत-जैन-महामण्डलके जीवदया विभागके आप मंत्री थे और आपने बहुत-से जीवदया-उपयोगी ट्रैक्ट लिखे तथा प्रकाशित किये।

आपकी जैन-साहित्य तथा हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी ठोस सेवाएँ कभी न भूली जाएँगी और उनसे आपका नाम अमर रहेगा। आपने 'जाति-प्रबोधक' मासिक पत्र द्वारा तीन वर्ष तक जैन-समाजमें खलबली मचा दी। आप 'जैन-हितैषी' में जैनधर्म सम्बन्धी अँगरेज़ी लेखोंका हिन्दी-अनुवाद किया करते थे।

आपने जीवदया सम्बन्धी, जैनधर्म सम्बन्धी तथा सर्वसाधारण उपयोगी हिन्दी पुस्तकें तथा ट्रैक्ट ४६ से अधिक लिखे हैं, जिनमें बाल-बोध जैन धर्म (४ भाग) जैन पाठशालाओंमें अबतक पाठ्य पुस्तकोंके रूपमें पढ़ाये जाते हैं। आपकी हिन्दी पुस्तकोंसे नवयुवकोंमें सादगी, प्रगति, सदाचार, चरित्रगठन, देशसेवा तथा मितव्ययिताके भाव पैदा होते हैं।

आप जैसा निर्भीक लेखक, जोशीला वक्ता, सुयोग्य शिक्षक और निःस्वार्थ समाजसेवक जैन-समाजमें होना कठिन है। आपने जैनसमाज तथा हिन्दी-साहित्यकी जो सेवा की है, वह अमर रहेगी।

खेद है कि आपका अक्टूबर सन १९१९ में युद्धज्वरमें स्वर्गवास हो गया, जब कि आपकी आयु केवल ३० वर्षकी थी। इतनी कम आयुमे इतना महान् कार्य करनेके लिए महान् साधना, दृढ़ निश्चय, अपार मनोबल और बेहद परिश्रमकी आवश्यकता है। उसके मालिक साधारण मनुष्य नहीं हो सकते, महापुरुष ही हो सकते हैं।

—दिगम्बर जैन, १९४३

जन्म— आरा, १८८८ ई०

मृत्यु— कलकत्ता, १९२७ ई०

श्रद्धाञ्जलि

श्री गुलाबराय एम० ए० एल-एल० बी०

मनुष्य-जीवनमें आकस्मिकताके लिए बहुत स्थान रहता है। इसी आकस्मिकताने देवेन्द्रजीसे मेरा परिचय कराकर मुझे हिन्दीका सेवक बना दिया। यद्यपि यह सम्भव था कि बिना देवेन्द्र बाबू-से साक्षात्कार हुए भी में लेखक बन जाता, तथापि वास्तविक बात यह है कि उनके द्वारा प्रकाशित की हुई मुद्रण-कलाकी आदर्शरूप पुस्तकोंके प्रलोभनने एवं उनके निजी प्रोत्साहनने मुझे ग्रंथ-लेखनके पथमें अग्रसर किया।

देवेन्द्रजीसे मेरा प्रथम साक्षात्कार वैश्य-बोर्डिंग-हाउस, आगरा में हुआ था। उससे पूर्व उनके एक पत्र द्वारा जो कि उन्होंने मेरे स्नेही मित्र (Chum) श्रीयुत यमुनाप्रसादजीको (यह सज्जन आजकल मथुरामें वकालत करते है) लिखा था, मेरा चित्त उनकी ओर आकर्षित हो गया था। यद्यपि में उस कलाका विशेषज्ञ नही हूँ, जिसके द्वारा लोग लेखन-शैलीसे मनुष्यका चरित्र जान लेते है, तथापि उस पत्रने मुझे उनके प्रेम-पूर्ण हृदय, उनकी सहृदयता, कार्य-कुशलता तथा कर्तव्य-परायणता का परिचय दे दिया। जब वह यमुनाप्रसादजीके यहाँ आकर ठहरे, मैंने जो कुछ अनुमान किया था, अक्षरशः सत्य पाया। उनकी सौम्य मूर्तिमें विश्व-प्रेम, आशा और उत्साहके पवित्र भावोंकी दीप्ति झलक रही थी। वह बहुश्रुत एवं अनुभवी थे, तथापि उनको वहाँपर बड़ी दीनता और छात्र-भावसे वार्तालाप करते देखा। प्रसन्नताने उनके चेहरेपर साम्राज्य-सा स्थापित कर लिया था। उन्होंने स्वप्रकाशित 'सेवा-धर्म' दिखलाया; उसको देखते ही मुझे 'शान्ति-धर्म' लिखनेका विचार हुआ। मैंने उनसे 'शान्ति-धर्म' लिखनेका विचार पत्रद्वारा प्रकट किया था। पत्रका

उत्तर ऐसा सानुरोध आया कि उसके आगे आलस्य, अयोग्यता-जन्य नैराश्य नहीं ठहर सकता था। पुस्तक लिखकर भेज दी; थोड़े ही दिनोंमें एकदम बिलकुल नई रीतिकी छपाई, नये डिज़ाइनके आवरण-पत्रसे विभूषित, सुन्दर सजीली पुस्तक मुझे मिल गई। मेरे घरके लोग, इष्ट-मित्र उसे देखकर आश्चर्यान्वित-से हो गये। उन दिनों इतनी पुस्तकमालाओंका जन्म नही हुआ था। जो लोग मुझसे कुछ परिचय रखते हैं, वह यह जानते हैं कि मेरी सभी चीज़ोंमें अस्तव्यस्तता दिखाई पड़ती है, इस कारण मेरी पुस्तक मेरी नही मालूम होती थी। पुस्तककी समालोचना भी अच्छी निकली; फिर क्या था, मुझमें भी उत्साहकी बाढ़-सी आ गई! उसी उत्साहकी बाढ़में 'फिर निराशा क्यो लिखी'। वह भी देवेन्द्रजी द्वारा प्रकाशित हुई।

देवेन्द्रजी कार्यको स्थगित करना नही जानते थे। उनके हाथमें पुस्तक देकर बाट जोहनेकी आवश्यकता नहीं रहती थी। इसीकारण 'फिर निराशा क्यों' के एक ही दो मास पश्चात् 'मैत्रीधर्म' भी प्रकाशित हो गया। वे 'नवरस' को विशेष सज-धजके साथ निकालना चाहते थे, किन्तु खेद है कि उस ग्रन्थके विषयमें जो उनकी आशाएँ-अभिलाषाएँ थीं, वह उनके साथ ही चली गईं। मुझको प्रकाशक और भी मिले, किन्तु किसी प्रकाशकने मेरी पुस्तकोंमें इतना परिश्रम नही किया, जितना कि देवेन्द्रजीने किया था। प्रेस-कॉपी मुझे नहीं तैयार करनी पड़ती थी। वह स्वय ही प्रेस-कापी तैयार कर लेते थे, और यदि मैं उसमें भी रद्दोबदल करके उसको ख़राब कर डालता, तो भी वह एक और प्रेस-कॉपी तैयार करानेको प्रस्तुत रहते थे। जब ऐसा प्रकाशक मिले, तब मूढ़ भी लेखक बन सकता है। उनका यह सिद्धान्त था कि पुस्तक की सफलताके हेतु विषय और भाषाकी भाँति उसकी छपाईकी उत्तमता परमावश्यक है। चित्तको पहली बार आकर्षण करनेके निमित्त शरीरका सौंदर्य आवश्यक है, फिर तो उस व्यक्तिके गुण हृदयमें स्थान जमा लेते हैं। यही हाल पुस्तक का है। यदि हिन्दीमें प्रकाशन-कलाका इतिहास लिखा जाय, तो उनको

बहुत ऊँचा स्थान मिलेगा। प्रकाशन-कार्यमें वह हानि-लाभका विचार नहीं रखते थे। ग्रन्थकी उत्तम छपाई ही उनका मुख्य ध्येय था।

प्रकाशन उनका व्यवसाय न था, वरन् व्यसन था। जब आप एफ़० ए० की परीक्षा देने जाते, तो अन्य विद्यार्थियोंकी भाँति पाठ्य-ग्रन्थोंका बस्ता बाँधकर नहीं ले जाते थे, न वह इस खोज-बीनमें रहते थे कि आज क्या पर्चेमें आवेगा। वह अपने साथ अपनी प्रकाशित पुस्तकोंके प्रूफ ले जाते थे, जिनका कि वे परीक्षाकी घंटी बजने तक संशोधन करते रहते थे। उन्होंने हिन्दी-पुस्तकोंके प्रकाशन ही में सफलता नहीं दिखाई थी, वरन् अँगरेज़ी-पुस्तकोंके प्रकाशनमें भी हिन्दी-पुस्तकोके समान ही सफलता प्राप्त की।

उनकी क्रियाके क्षेत्र संकुचित न थे। वह 'सेवा-धर्म' के केवल प्रकाशक ही नहीं, किन्तु उसके सच्चे अनुयायी थे। ज़रा-सी बातपर उनका हृदय द्रवित हो जाता था; और उत्साह उनमें इतना था कि वह अपने परिश्रमके बलपर पर्वतको भी हटा देनेका साहस कर सकते थे। वह केवल साहस ही नही रखते थे, जिस कार्यमें लग जाते, उसमें न शारीरिक स्वास्थ्यकी परवा करते, न आर्थिक लाभ या हानिकी। परवा तो इसी बातकी रहती थी कि उनका ध्येय किसी-न-किसी प्रकार पूर्ण हो जाय।

पूर्ण रूपसे वह धार्मिक थे, किन्तु उनके धर्मने उनके विचारोंको संकुचित नहीं बनाया था। वह प्रत्येक धर्मके मनुष्योंसे भ्रातृ-भावसे मिलते थे। घृणा एवं द्वेषकी उनमें गन्ध तक न थी, इसीलिए वह समाजमें सर्व-प्रिय बन सके। भारतवर्षमें थोड़े ही ऐसे विद्वान् होंगे, जिनका कि उनसे निजी परिचय न हो। विदेशके भी बहुत-से विद्वानोंसे उनका परिचय एवं पत्र-व्यवहार था। जैन-धर्मके साहित्यको जितनी अँगरेज़ी भाषा-भाषियोंसे परिचय करानेमें देवेन्द्रजीने सहायता दी है, उतनी थोड़े ही लोगोंने दी होगी। यदि वे जीवित रहते, तो देश-देशान्तरोंमें अपने धर्म-का गौरव-स्थापन करनेमें बहुत कुछ योग देते।

कालकी गति बहुत कुटिल है और कर्मोका विपाक एक दुर्भेद्य रहस्य है। ज्ञात नही कि ऐसे समाज-सेवकको संसारसे इतने शीघ्र क्यों उठा लिया गया। जो महाशय उनसे उपकृत हुए हैं, उनका परम धर्म है कि उनकी स्मृतिको जीवित रखनेका उद्योग करें। यद्यपि किसी महान् व्यक्तिके व्यक्तित्वका शब्दों द्वारा वर्णन करना प्राय: दुस्साध्य कार्य है, तथापि ऐसे गुणग्राही समाज-सेवक सज्जनके प्रति मूक रहना कृतघ्नता है; इस भावसे थोड़ी-सी पंक्तियाँ में अपनी सेवाञ्जलि-स्वरूप उनकी पुण्य-स्मृतिको भेंट कर रहा हूँ। आशा है, इस प्रेमकी भेंटको प्रेम-पुजारी की आत्मा स्वीकार करेगी।

—देवेन्द्रचरित, मई १६३१

परिचय

श्री अजितप्रसाद एम० ए०, एल-एल० बी०

क्षत्रिय-कुलोत्पन्न, राजा अग्रके वंशज, बाँसलगोत्रीय, श्री सुपार्श्व-दासजी आराके उच्च कोटिके सद्‌गृहस्थ थे। विद्याध्ययनके लिए पटनामें छात्र-जीवन व्यतीत करते थे। एक दिन पूर्ण यौवनावस्थामें गंगा-स्नान करते हुए वह एकाकी जल-समाधिस्थ हो गये। इधर तो श्रीयुत सुपार्श्वदासजीका शरीर गंगागर्भमें समाया, और उधर उनके हाईकोर्टकी वकालत परीक्षामें उत्तीर्ण होनेका समाचार आया। जो खबर हर्षको विस्तार करती, वही दुखको बढ़ानेवाली हो गई। पतिदेवके आकस्मिक वियोगसे संसार-भोगोंसे उदासीन होकर देवेन्द्रकी माताजी वैधव्य-दीक्षा लेकर अपने भाई श्रीयुत नन्हलालजीके घर आरा-नगरमें रहने लगी। उस समय देवेन्द्रको जन्म लिये हुए केवल दो महीने हुए थे। पुत्रकी मूर्तिमें पतिदेव-का प्रतिबिम्ब देखती हुई देवेन्द्रकी माताका सारा संसार पुत्र-प्रेम और धर्मानुरागमें संकुचित था। रसायनकी तरह संकुचित प्रेमका आवेग माता-के दूध द्वारा देवेन्द्रकी नस-नसमें ऐसा प्रसारित हुआ कि उसका जीवन विश्व-प्रेम और धर्मानुराग-रूप हो गया।

शैशव अवस्था और बालकपनसे ही प्रेम-रसने अपना प्रभाव देवेन्द्र-के स्वच्छ हृदय-पटपर जमा लिया। घरके और आस-पासके बालकोंसे खेल-क्रीड़ामें वह द्वेष और ईर्ष्या-भाव न करके सदा प्रेमसे व्यवहार करते थे। स्कूलमें सहपाठियोंकी सहायता करना, अध्यापकोंकी विनय, बड़ोंसे नम्र-भाव देवेन्द्रका स्वभाव था। यह सबके प्यारे, और सब इनके प्यारे थे।······

श्रीयुत बाबू देवकुमारजीकी महान् आत्माका देवेन्द्रके हृदयपर गहरा प्रभाव पड़ा। जिस कामको श्री बा० देवकुमारजी पूरा न कर

सके, उसको सम्पूर्ण सम्पन्न करना देवेन्द्रने अपना ध्येय और कर्तव्य बनाया, और उसके लिए यथाशक्ति यथेष्ट और अथक परिश्रम करते रहे।

जैन-सिद्धान्तके मर्मज्ञ, अनुरागी, कषाय-हीन, अलोभी और परोपकारी समाज-सेवक तैयार करनेके उद्देश्यसे श्री बा० देवकुमारजीने श्रीस्याद्वाद-महाविद्यालयकी स्थापना १२ अप्रैल १६०५ को जैन-धर्म-भूषण ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी, बाबा भागीरथजी वर्णी और बाल ब्रह्मचारी प० पन्नालाल आदि महानुभावोकी उपस्थितिमें दानवीर जैन-कुलभूषण श्रीमान् सेठ माणिकचन्दजी जस्टिस-आव-दी पीस द्वारा कराई। प्रथम विद्यार्थी श्री गणेशप्रसादजीने जो अब न्यायाचार्य-पदसे विभूषित जैन-धर्मके एक दिग्गज विद्वान् है, प्रारम्भ मुहूर्तके समय श्री प्रमेयकमल-मार्तण्डसे पाठ पढा था।

स्याद्वादविद्यालयके प्रथम मत्री इसके सस्थापक और सरक्षक श्री बा० देवकुमारजी ही नियत हुए, और उनके स्वर्गारोहणपर यह उत्तरदायित्व-पूर्ण पद सुविख्यात जैन-कवि, गद्य-लेखक और जैन-जातिके नि स्वार्थ सेवक श्रीयुत जैनेन्द्रकिशोरजी आरा-निवासीको सौपा गया।

श्री जैनेन्द्रकिशोरजी १६०८-६ में विषम रोगसे पीडित रहे, किन्तु जबसे उनके परम भक्त श्रद्धालु शिष्य देवेन्द्र बनारस हिन्दू युनि-वर्सिटी-कॉलेजमें प्रविष्ट हुए, तबसे वे अपना समय अधिकतर स्याद्वादकी सेवामें ही लगाने लगे। रात-दिन वह स्याद्वादके ही प्रबन्धमें दत्तचित्त रहते थे, जैन-धर्मकी उपासना और जैन-जातिकी सेवाको उन्होने अपना जीवनोद्देश्य बना रक्खा था, स्याद्वादकी सेवा भी उस विशाल उद्देश्यमें गर्भित थी। देवेन्द्र विद्याध्ययन-जैसे परम कर्तव्यको भी स्वार्थ समझकर स्याद्वादकी सेवाके सामने गौण कर देते थे। अनेक अवसरोपर स्याद्वादके कार्यसे अवकाश न मिलनेके कारण कॉलेजमें उनकी अनुपस्थिति हो जाया करती थी।

स्याद्वादका प्रबन्ध कितना दुस्तर और दुस्साध्य था, यह श्री जैनेन्द्र-किशोरजीके एक पत्र नं० ७५७ से विदित होता है, जो उन्होने देवेन्द्रके

नाम २० फरवरीको बाँकीपुरसे, जहाँ वह इलाज कराने गये थे, लिखा था--

"......Of course, the work of the Institution is not methodical. It may be remedied if you try in your own way. Please send me a plan by which the institution may proceed systematically. I shall sanction it after perusal and necessary modifications ...You know that the boys of the Patshala have been obstinate, wicked and quarrelsome for a long time. They often raise their head against Patshala Staff in combination. All the previous superintendents have suffered, and been removed for their sake. They always try to live and work independently. I am dead against such combinations by boys in their scholastic career."

"इस संस्थाका काम बेशक नियम रूपसे नहीं होता है। यदि तुम अपने ढंगपर कार्य करोगे, तो सब ठीक हो जायगा। मुझे एक कार्य-क्रम लिखकर भेज दो, जिससे इस संस्थाका काम सुचारु रीतिसे चल सके। मै उसको पढ़कर, और उसमें आवश्यक सुधार करके अपनी स्वीकारिता भेज दूँगा। तुम जानते हो कि पाठशालाके लड़के हठी, कुत्सित विचार-वाले और झगड़ालू दीर्घकालसे हो रहे है। वह अक्सर पाठशालाके कार्यकर्ताओंके मुक़बिलेमें सिर उठाया करते हैं। पहलेके सुपरिण्टेण्डेण्ट इन्हीके कारण दुखी होकर अलग हो गये। यह सदैव निरंकुशतया रहने और काम करनेका प्रयत्न किया करते हैं। विद्यार्थी अवस्थामें लड़कोंके इस प्रकार जत्था बनानेसे मुझको कड़ा विरोध रहा है।"

यह सब कुछ होते हुए भी उन्होंने लिखा था—

"Of course, I feel my responsibility even on my sick bed, but what can I do."

"निस्संदेह मैं अपने उत्तरदायित्वका अनुभव रोग-शय्यापर भी कर रहा हूँ, किन्तु मैं क्या करूँ।"

१५ मई, १९०९ को श्री जैनेन्द्रकिशोरका स्वर्गारोहण हुआ, और स्वर्गीय सेठ माणिकचन्दजीके आग्रहसे स्याद्वादका मंत्रित्व पद देवेन्द्रको अपनी विद्यार्थी अवस्थामें ही स्वीकार करना पड़ा।

देवेन्द्रके अथक परिश्रम करनेपर भी इस संस्थाकी परिस्थिति कैसी विकट रही, इसका कुछ अनुमान उस पत्रसे हो सकता है, जो २४ मार्च १९११ को श्री जैन-सिद्धान्त-भवनके संस्थापक मंत्री और श्री स्याद्वाद-महाविद्यालयके संस्थापक-सदस्य स्वर्गीय श्रीयुत किरोड़ीचन्दजी-ने आरासे देवेन्द्रको इस भाँति लिखा था—

"...सब हालात श्रीमान् नेमीसागरजीसे भी मालूम हुए... पाठशालाके विद्यार्थियोंके भी हालात मालूम हुए...यदि हम लोग ऐसे मूर्ख बालकोंसे डर जायेंगे, तो कदापि समाजका सुधार नहीं हो सकता... हमारे तीर्थंकरोंपर भी लोगोंने बहुत उपसर्ग किया...हम लोगोंको सब काम शान्तचित्तसे. पूरे तौरसे समझ-बूझकर धर्म्मोन्नति और जात्युन्नति का करना चाहिए; यदि हम कोई काम मान, बड़ाई, कीना, बुग्ज़ रखकर करेंगे, तो अवश्य दुर्गतिके पात्र होंगे; और यदि शुद्ध अन्तःकरणसे समाजके कल्याणके वास्ते अपना कर्तव्य समझकर नियमका पालन करते संते, यदि दुष्ट लोग अपकीर्ति करेंगे तो उसका फल वही भोगेंगे...। इस पाठशाला-के प्रारम्भ ही से लड़ाई-झगड़ेकी उत्पत्ति है। यदि यह कहा जाय कि लड़ाई-झगड़े ही से इस पाठशालाकी उत्पत्ति है, तो भी सत्य है। यदि हम लोग अपकीर्तिसे डरकर छोड़ देते, तो आज पाठशालाका काशीमें नाम-निशान भी बाक़ी न रहता, परन्तु नहीं, हम लोग हमेशा अपना धर्म समझकर गिरी हुई जैन-जातिके सुधारनेके ख़यालसे अपने काममें मुस्तैद

रहे. . .। इन्हीं बातोंको, आशा हैं, आप लोग भी करेंगे । इस साल महा-सभामें भी जरूर महाविद्यालयके पृथक् करनेकी कोशिश होगी; यदि ऐसा हुआ, तो हम लोगोंका सफल मनोरथ होगा, क्योंकि जिस काममें बहुसम्पत्ति व मान-बड़ाईवाले लोग होते है, उस संस्थाकी यही दशा होती है और इसी वजहसे हम पाठशालाके विद्यालयमें मिलानेके बिल्कुल विरुद्ध थे, परन्तु सेठ (माणिकचन्द)) जी व सीतलप्रसादने ज़ोर देकर यह काम कराया । ख़ैर, गुज़री बातोंका ख़याल नही करना, आप पूरे तौरसे मुस्तैदीके साथ नियमोंका पालन करना, और जो विद्यार्थी आज्ञाभंग करे, उसको समझाना; यदि वह न माने, तो उसको उचित दंड देना—आप कदापि समाजका भय न करना । विद्यालयके अलग ही होनेमें ख़ैरि-यत है । हम लोगोंको इसमें कुछ कहनेकी ज़रूरत नही है; वह लोग अपने ही मान-बड़ाईके वास्ते, जहाँ चाहें ले जावें, क्योंकि हम पहले ही से खूब समझे हुए हैं कि विद्यालयके पेटमें ४०००० तोले वज़नका बायगोला है, वह जब तक नष्ट नहीं होगा, तब तक इस विद्यालयको इस भारत-भूमिमें कदापि स्थिरता व शान्ति नहीं होगी. . .आप लोग कदापि किसी-का भय न करना, हमेशा आनन्दचित्तसे अपने कर्तव्यको पालन करना, चाहे कोई खुश हो, या नाखुश । हम लोग किसीके नौकर नहीं, धर्मका पैसा खाना नहीं, फिर किसका डर है । हम लोग केवल धर्म समझकर इस कार्यको करते है. . .अब आप ही लोगोंसे कल्याणकी आशा है" ।

२ एप्रिल १९१२ को श्री पं० पन्नालाल बाकलीवालने एक पत्रमें देवेन्द्रको लिखा था—

"कल ज्ञात हुआ कि आपका विचार यहाँ रहनेका नहीं है. . .महा-विद्यालयकी, या यों कहिये, जैन-समाजकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है. . .महाविद्यालय उठ गया समझिये ।"

ऐसे दुःसाध्य पब्लिक कार्यका भार एक कॉलेजमें पढ़नेवाला युवक अपने ऊपर कैसे ले सकता था, इसमें पाठकोंको आश्चर्य होगा । निस्संदेह यह असामान्य बात है, किन्तु देवेन्द्रका जीवन ही असामान्य था । कॉलेज-

की पुस्तकों और उपाधियोंसे देवेन्द्रको इतना प्रेम नहीं था, जितना जैन-जाति और जैन-धर्मसे। कॉलेजकी पढ़ाई जैन-धर्म और जैन-जातिकी सेवाके वास्ते एक निमित्त-मात्र थी। यही कारण है कि वह बरसों कॉलेज में पढ़े, किन्तु न तो कभी परीक्षामें बैठे, और न उत्तीर्ण हो पाये।

देवेन्द्रने परम प्रेम और शुद्ध भक्तिके आवेशमें उस मोक्ष-साधक स्थानका नाम, जहाँ विद्यालय स्थापित किया गया था, निर्वाणकुञ्ज रक्खा था, और जब तक वह स्याद्वादके मंत्री रहे, सब पत्र-व्यवहार इसी उत्साहोत्पादक नामसे होता रहा। गंगा-तटपर जो विशाल घाट–इस स्थानको श्री बाबू निर्मलकुमारजीके पितामहने बनवाया था, और जिसकी मरम्मतमें १०-१२ बरस हुए १०-१२ हजार रुपया लग गया, उसका वास्तविक नाम प्रभूघाट देवेन्द्रने प्रचलित करा दिया था, किन्तु अब तो प्रभूघाट और निर्वाणकुञ्जको लोग भदैनीघाटके नामसे ही जानते हैं।

काशी स्याद्वाद-महाविद्यालयका नवम वार्षिकोत्सव स्याद्वादके इतिहासमें क्या, जैन-समाजके इतिहासमें चिरस्मरणीय रहेगा, ऐसा जैन-महोत्सव न पहले कभी हुआ, और न भविष्यमें होनेकी आशा व सम्भावना ही है। इसके महत्त्वका अनुभव तो उन्हींको है, जो इस महोत्सवमें सम्मिलित हुए थे। इसका कुछ वृत्तान्त जनवरी १९१४ के अँगरेज़ी जैन-गजटमें प्रकाशित हुआ है। सहृदय पाठक उसको पढ़कर कुछ अनुभव कर सकते हैं।

जिस परिश्रमका परिणाम यह था कि सभ्य-संसारके जगद्विख्यात विद्वानोंका ऐसा सम्मेलन जैन-जातिके इतिहासमें कभी नहीं हुआ था। २३ दिसम्बर १९१३ को रथोत्सव, २५ को प्रातः नगरकीर्तन और शामको काशीके टाउनहालमें मिसेज़ एनीबेसेण्टके सभापतित्वमें प्रथम पब्लिक सभा हुई।

हिन्दू, मुसलमान, पारसी, क्रिश्चियन, थियोसोफिस्ट, योरपियन, जरमन, अमेरिकन सब ही थे। मंगलाचरणके पश्चात् स्वर्गीय श्री जगमंदरलाल M. A., Barrister-at-law ने अभ्यागत-संघका

स्वागत किया, और अपने अनुपम तथा संक्षिप्त व्याख्यानमें जो जागृति समाजमें भारत जैन-महामण्डलके द्वारा हुई, उसका दिग्दर्शन कराया। इसी सभामें "जैन-महिलारत्न" की पदवी स्वर्गीया श्रीमती मगनबाईजी-को दी गई थी। २६ को स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, न्याय-वाचस्पति श्रीमान् पंडित गोपालदासजीके सभापतित्वमें ब्रह्मचारी महात्मा भगवान-दीनजी और पंडित अर्जुनलाल सेठीके धर्म-व्याख्यान हुए। रात्रिको बाबू सूरजभान वकीलके सभापतित्वमें बाबू प्रभूरामजी रावलपिण्डी-निवासी-का व्याख्यान 'शान्तिधर्म' और पण्डित गोपालदासजीका 'जैनधर्म' पर हुआ।

२७ को दिनमे डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणके सभापतित्वमें स्वर्गीय श्रीयुत जिनेश्वरदास माइलने प्रभावशाली कविता पढी; डॉक्टर हरमन जेकोबी, जरमनीकी बान युनिवर्सिटीके प्रोफ़ेसरको, "जैनदर्शन-दिवाकर" की उपाधि प्रदान की गई, और प० गोपालदासजीका धर्म-व्याख्यान हुआ।

२८ को गंगा-तटका दृश्य देखते हुए नौका द्वारा हमारे माननीय अतिथि जरमनीके डॉक्टर स्ट्राउस और जेकोबी और अमेरिकाके प्रोफेसर जेम्सप्रैट प्रभुघाटपर उतरे, और जूते निकालकर विनयपूर्वक जिनबिंब के दर्शन किये और जिन-पूजाका दृश्य देखा। स्याद्वादके हालमें डॉक्टर जेकोबीने विद्यार्थियोंको संस्कृत-भाषामें उपदेश दिया। दिनमें डॉक्टर जेकोबीकी अध्यक्षतामे सभा हुई। उन्होने श्री बाबू देवकुमारजीके विशाल चित्रका पर्दा हटाकर जनताको उस जैनधर्म-प्रचारक और जात्युद्धारक महान् आत्माका अनुकरण करनेके लिए उत्तेजित किया—"जैन-सिद्धान्त-महोदधि" की उपाधि डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणको प्रदान की गई, और 'जैनधर्म-भूषण' का पद ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीको दिया गया, श्री मन्नीलाल उदानी एम. ए., राजकोट-निवासीका भी धर्म-व्याख्यान हुआ। जो प्रशंसा-पत्र और उपाधि प्रमाण तैयार किये गये थे, वह ऐसे सुसज्जित और प्रभावोत्पादक थे कि अब वैसी वस्तुके देखनेकी आशा

करना भ्रम है। २६ को जैन-सिद्धान्त-भवन, आराके अनुपम धार्मिक चित्रों, ताड़-पत्र-लिपि, प्राचीन ग्रन्थों, ताम्र-पत्रों आदिकी प्रदर्शनी की गई।

पूर्वोल्लिखित महानुभावोंके अतिरिक्त बनारसके लार्ड बिशप (लाट पादरी), प्रोफेसर उनवाला, श्री बाबू भगवानदास एम. ए., कुमार सत्यानन्दप्रसाद, जर्मनीके मि० फिसकोन, नरसिंहपुरके श्री माणिकलाल कोचर, काठियावाड़के श्री सेठ हुकुमचन्द खुशालचन्द, इन्दौरके श्री सुखन्त-कर, राजा मोतीचन्द, रानी साहबा औसानगंज, मूडबिद्रीके साधु गुम्मनजी और श्वेताम्बर साधु महाराज कर्पूरविजय, क्षमामुनि, विनयमुनि, प्रताप-मुनि आदिके नाम वर्णनीय हैं, जो इस महोत्सवमें पधारे थे।

जुलाई १९१४ में श्रीमान् सेठ माणिकचन्द जे. पी. का स्वर्गवास हुआ। इन्हींके आग्रहसे देवेन्द्रने स्याद्वादके मंत्रित्व-पदका भार ग्रहण किया था; अतएव उसी साल उन्होंने इस पदको त्याग दिया।···

वंगीय सार्वधर्म-परिषद्–

जैनधर्मका प्रचार देवेन्द्रके जीवनका सार था। "अखिल जगत्के उद्धारके वास्ते जैनधर्मका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण एक अद्वितीय साधन है", यह उसका दृढ़ विश्वास था और इस विश्वाससे प्रेरित होकर उस विश्वप्रेमीके मनमें इस भावनाका सदैव संचार रहता था कि जैनधर्म जगत्-व्यापी हो, सार्वधर्म हो। इसी विचारके आवेशमें उसने ३१ दिसम्बर १९११ को स्याद्वाद-विद्यालयमें एक सभा एकत्र की। उस सभाने देवेन्द्र-को ही सभापति निर्वाचित किया। सर्वसम्मतिसे वंगीय सार्वधर्म-परिषद्-की स्थापना हुई; और देवेन्द्र ही इसके मंत्री और कोषाध्यक्ष रहे। इसके संस्थापक सदस्य पं० पन्नालाल बाकलीवाल, पं० लालाराम, पं० गजाधर-लाल, पं० तुलसीराम, देवेन्द्र और १५ अन्य विद्वान् थे।

इस परिषद्को क़रीब १०००) मिला, और इसने क़रीब एक साल काम किया। निम्नलिखित पुस्तकोंका बंगाली भाषामें अनुवाद कराके हज़ारों प्रतियाँ बिना मूल्य वितरण की गईं।

नाम	सम्पादक
१. सार्वधर्म	श्रीयुत गुरुवर्य पं० गोपालदासजी
२. जैनधर्म	लोकमान्य श्रीयुत बाल गंगाधर तिलक
३. जैन-तत्त्वज्ञान तथा चारित्र	जर्मन विद्वान् प्रोफेसर हरमन जैकोबी
४. जिनेन्द्र-मतदर्पण	ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी
५. जैनधर्मकी प्राचीनता	श्रीयुत बाबू बनारसीदासजी एम० ए०
६. शान्तिपाठ	आचार्य पद्मनन्दि

यद्यपि कार्यकर्ताओंके असहयोग, और रुपयेकी कमीके कारण यह संस्था एक बरससे अधिक न चल सकी, किन्तु इस थोड़े-से कामने ही वंग-वासियोंमें जैनधर्मके अध्ययनकी रुचि उत्पन्न कर दी, और अब अनेक बंगाली जैनधर्मके न्याय, साहित्य और सिद्धान्तको पढ़ते और उसपर विचार करते, लेख और पुस्तकें लिखते हैं।

वंगीय सार्वधर्म-परिषद्की रचनाके महत्त्वका एक प्रबल उदाहरण यह है कि जहाँ तक अजैनोंका सम्बन्ध है, जैनधर्मके सिद्धान्तको समझने-में सबसे अधिक निष्ठा और उसके प्रचारमें सबसे अधिक परिश्रम बंगालियों-ने किया है—Sacred Books of the Jainas Series नामकी सिद्धान्त शास्त्रोंकी ग्रन्थमालाके स्थापन करने और चलानेमें श्रीयुत शरच्चन्द्र घोषाल एम. ए., बी. एल. काव्यतीर्थ, विद्याभूषण भारती, Professor of English and Philosophy सरस्वती, वेदान्त-परिभाषा, प्रमाण-मीमांसा आदि ग्रन्थोंके सम्पादक ही अग्रसर हुए। उन्होंने एक पत्रमें मुझे लिखा है।

There was a time when I decided to devote my life to the Propagation of Jainism, and Devendra was going to start a chair of Jainism in the Benares Hindu University, and he requested

me to accept the same. I expressed my assent. Devendra also had a project to start a special College for the Jainas with a Jaina Boarding which would be affiliated to a recognised Indian University. He made me promise that I would accept the Principalship of the proposed College. He had a great desire to publish in Bengali, Hindi, and English the great works of the Jainas.........There was a talk that on some future date I would write some Bengali works on Jainism. All the projects however collapsed with the death of Devendra. Otherwise by this date at least twenty volumes of the Sacred Books of the Jainas would have been published, and I would have been working elsewhere for the propagation of Jainism......His mind was always full of schemes for the advancement of Jainism. With him departed all my opportunities to utilise the knowledge of Jainism which I acquired by long and deep study of manuscripts and printed books and which I continue even up to the present. Had there been such a spirit as Devendra living at the present day, even now I am willing to resign my post and work for Jainism till the end of my life.

"एक समय था, जब मैंने यह निश्चय किया था कि अपना जीवन जैनधर्मके प्रचारमें लगा दूंगा। बनारस हिन्दू-युनिवर्सिटीमें देवेन्द्रका विचार एक जैनधर्मशिक्षकके नियत करनेका था, और उसने उस पदके वास्ते मेरी स्वीकृति ले ली थी। देवेन्द्रका विचार जैनियोंके वास्ते विशेष करके एक जैन-कॉलेज खोलनेका था, जिसके साथ जैन-बोर्डिंग भी होता और जो किसी प्रतिष्ठित युनिवर्सिटीसे सम्बन्धित होता, और उस कॉलेज-के प्रिंसिपल पदकी स्वीकृति भी मुझसे ले ली थी। देवेन्द्रकी उत्कट मनो-कामना थी कि जैनधर्मके महान् ग्रन्थ बंगाली, अँगरेजी और हिन्दीमें प्रकाशित करे. . .यह भी बातचीत थी कि भविष्यमें जैनधर्मपर कुछ पुस्तकें मै बगाली भाषामें सम्पादन करूँगा, किन्तु यह सब विचार देवेन्द्रके शरीरान्त से ढह गये, नही तो इस समय तक "जैनियोंकी पवित्र पुस्तकमाला" के कम-से-कम २० ग्रन्थ तो छप चुके होते, और मैं कही और ही जैन-धर्म-प्रचारका काम करता होता. . .देवेन्द्रके मनमे जैनधर्मकी प्रभावनाके विचार सदैव भरे रहते थे। उनके साथ मेरे सब मनसूबे भी भरे रहते थे। उसके साथ मेरे सब मनसूबे भी चल बसे, जो मैंने जैनधर्मके ज्ञान को, जिसे मैंने मुद्दत तक हस्त-लिखित और मुद्रित शास्त्रोंके गहरे अध्ययन-से प्राप्त किया था, काममें लानेके वास्ते बाँध रक्खे थे। यदि देवेन्द्र जैसा कोई जीवात्मा इस समय होता, तो मै अब भी अपने पदको त्यागने और आजन्म जैनधर्मकी सेवा करनेको तैयार हूँ।"

श्रीयुत हरिसत्य भट्टाचार्य, एम. ए. बी. एल. ने श्री वादिदेवके प्रमाणनयतत्त्व-लोकालकारका रत्नप्रभा तिलक समेत अँगरेज़ीमें सम्पादन किया है; और "A compendium of Jaina Philosophy" "Divinity in Jainism" नामकी दो पुस्तकें जैनधर्मपर अँगरेज़ीमें लिखी हैं। वह अपने एक पत्रमें लिखते हैं:—

"........The book that I received from Devendra was entitled 'Jaina Dharma' and 'written in Bengali......That I am known

as a Jaina scholar now-a-days is all due to him......

About a year after Devendra's death I met Sir Ashutosh Mukherji. He was very much grieved to hear about the death of Devendra and it was then that I learnt that Devendra so young and so simple as he was, was held in great esteem by that lion of men, who told me that Jainism suffered an irreparable loss in the untimely death of Devendra."

"...देवेन्द्रसे मुझे 'जैनधर्म' नामकी पुस्तक बंगाली भाषामें मिली...। यह देवेन्द्र ही का अनुग्रह था कि जिसके कारण आजकल मै जैन-धर्मका जानकार समझा जाता हूँ...। देवेन्द्रके देहान्तके क़रीब एक साल पीछे एक अवसरपर मेरा मिलना सर आशुतोष मुखर्जीसे हुआ, उनको देवेन्द्रके देहान्तका समाचार सुनकर अत्यन्त दुःख हुआ और उस समय मुझे मालूम हुआ कि उस नर-केसरीके हृदयमें देवेन्द्र-जैसे सीधे-सादे नवयुवकका कितना आदर था, उन्होंने कहा कि देवेन्द्रके कायोत्सर्गसे जैन-धर्मको ऐसी हानि पहुँची है कि उसकी पूर्ति असम्भव है।"

श्रीयुत हरिसत्य भट्टाचार्यके लेख अब भी अँगरेज़ी जैन गज़टमें रहते हैं।

इलाहाबादमें सुमेरचन्द-जैन-होस्टलके स्थापित कराने, इसकी उन्नति करने और इसको इलाहाबाद युनिवर्सिटीसे सम्बद्ध करानेका श्रेय अधिक अंशोंमें देवेन्द्रको ही प्राप्त है। इसके स्थापित होनेके कुछ समय पश्चात् २१ सितम्बर १९१३ को इस छात्रालयके अन्तर्गत एक "जैन-भ्रातृसभा" की स्थापना की गई और देवेन्द्र उसके सभापति नियत होकर यावज्जीवन इस पदपर सुशोभित रहे।

देवेन्द्रकी मनःकामना थी कि यह होस्टल एक अद्वितीय संस्था हो; और जैन कॉलेजका रूप ग्रहण करके, जैन युनिवर्सिटीका बीज बन जावे, जहाँ जैन-प्रेससे जैनागम प्रकाशित होकर अजैन संसारमें जैन-धर्मका प्रचार और प्रकाश करे।

देवेन्द्र कहा करते थे कि वह एक बड़ा झंडा लेकर जैनागमके मार्मिक ज्ञाताओंका संघ बनाकर धर्म-प्रचारार्थ संसारके सब देश-प्रदेशोंमें विहार करेंगे।

सन् १९१३ में शिमला पहाड़पर जैन-मन्दिरकी प्रतिष्ठा हुई थी। इस प्रतिष्ठाके अवसरपर जो रथोत्सव हुआ, उसको महोत्सव बनानेका श्रेय विशेष करके देवेन्द्रको ही प्राप्त है। उन्होंने ८००रु० के अपने छपाये हुए जैन-धर्मके ग्रन्थ उस अवसरपर बिना दाम बाँटे थे।

सेन्ट्रल जैन-कॉलेज—

जैन-कॉलेजका विचार १८९० में, पहले-पहल मुरादाबाद-निवासी पण्डित चुन्नीलाल और मुंशी मुकुन्दलालने प्रकट किया था। जून १९०२ के जैन-गजटमें उसकी आवश्यकता दिखलाई गई थी। दिसम्बर १९०४ में अम्बाला-महासभाके अधिवेशनपर एक डेपुटेशन जैन-कॉलेजके वास्ते द्रव्य एकत्र करनेके लिए निर्वाचित हुआ। इस प्रतिष्ठित मण्डलमें मुरादाबादके पण्डित चुन्नीलाल और मुंशी बाबूलाल वकील, नजीबाबाद-के रायबहादुर साहु जुगमन्दरदास, दिल्लीके भाई मोतीलाल और लाला जिनेश्वरदास मायल, पं० अर्जुनलाल सेठी, पं० रघुनाथदास सरनौ, ब्र० सीतलप्रसादजी आदि थे। इन महानुभावोंने संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त और राजपूतानामें दौरा करके ३०-४० हज़ार रुपया एकत्र किया।

कार्यकर्ताओंमें मतभेदके कारण जैन-कॉलेजकी स्थापना न हो सकी और संचित द्रव्य महाविद्यालयके ध्रौव्य फ़ण्डकी मदमें पड़ा रह गया।

जैन-कॉलेजकी आवश्यकताका जितना प्रभाव देवेन्द्रके हृदयपर था, शायद ही किसी दूसरेपर पड़ा हो। यह अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सत्य है कि वह सेंट्रल जैन-कॉलेजकी जाप जपा करते थे।

काग़ज़के दस्ते-के-दस्ते उन्होंने "सेंट्रल जैन-कॉलेज" शब्द लिख-लिखकर भरे हैं, और यदि वह जीवित रहते, तो सेंट्रल जैन-कॉलेज स्थापित हो गया होता।

श्री जैन-वीर बाला-विश्राम–

जब देवेन्द्र जैन-सिद्धान्तभवन, आराका काम करते थे, उसीके साथ-साथ कन्या-पाठशालाकी भी, जो श्रीशान्तिनाथ जिनालयमें स्थापित थी, देख-भाल रखते और समस्त प्रबन्ध करते रहते थे। इसी पाठशालाको बढ़ाकर महिला महाविद्यालय कर देना देवेन्द्रका अभीष्ट था, और इस विषयमें कई दफ़ा उन्होंने मुझसे वार्तालाप किया है। खेद है कि देवेन्द्रका अभीष्ट तो नहीं पूरा हो सका, किन्तु उसका संकुचित रूप श्रीजैनबाला-विश्राम है, जो आरा नगरसे बाहर ३ मीलपर धनुपुरामें स्थापित है।

स्वर्गारोहण–

मार्च १९२१ में कुछ पुस्तकोंके छपवानेके प्रबन्धार्थ देवेन्द्र कलकत्ते गये। वहाँ प्रेसके झंझटके कारण अधिक ठहरना पड़ा। सहसा शीतला रोगने आ दबाया। श्रीमान् बाबू छोटेलालजीने, जिनके यहाँ वह ठहरे हुए थे, चिकित्सा और परिचर्यामें तन-मन-धनसे पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु विकराल कालके आगे कुछ न चली, और रविवार, फाल्गुन शुक्ल १०, सं० १९७७, अर्थात् १७ मार्च, १९२१ को वृद्धा माता, १५ वर्षकी अर्द्धांगिनी, कुटुम्बी जनों और सैकड़ों मित्रोंको बिलखता छोड़, अपने मित्रगण और प्रेमियोंसे सैकड़ों कोस दूर, अत्यन्त शारीरिक वेदना समता भावसे सहकर, जैन-जातिके उद्धार और जैन-धर्मके प्रचारका ध्यान करते हुए देवेन्द्र सुरलोकमें सुरेन्द्र हो गये।

१८८८,	अक्टूबर	२७ ...	जन्म
१९०५,	एप्रिल	१२ ...	श्री स्याद्वाद-महाविद्यालय की स्थापना
१९०७	जुलाई	...	श्री देवकुमारजीका स्वर्गवास

१६०८,	जुलाई		. . . सेंट्रल हिन्दू-कॉलेज बनारस में प्रवेश
१६०६,	मई	२५	. . . श्री जैनेन्द्रकिशोरका स्वर्गवास
१६११,	जून	३	. . . श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-की स्थापना
१६११,	जून	५	. . . अणुव्रत ग्रहण
१६११,	दिसम्बर	३१	. . . वंगीय सार्वधर्म-परिषद्की स्थापना
१६१३,			. . . शिमला जैन-मन्दिरकी स्थापना
१६१३,	दिसम्बर		. . . श्री स्याद्वाद-महोत्सव सप्ताह काशी
१६१४,	जुलाई		. . श्री दानवीर सेठ माणिकचंद जे. पी. का स्वर्गवास
१६१५,	नवम्बर		. . . कलकत्तेमें श्री जैन-सिद्धान्त-भवनकी प्रदर्शनी
१६१६,	नवम्बर	२२	. . . श्री बाबू किरोड़ीचन्दका स्वर्गवास
१६२१,	मार्च	१७	. . . स्वर्गारोहण

लेखककी देवेन्द्रचरित्र नामक १०२ पृष्ठकी पुस्तकसे उक्त अंश संकलित किया गया है ।

बेरिस्टर
जुगमन्दिरलाल
जैनी

जिनवाणीभक्त

श्री अजितप्रसाद जैन एम० ए० एल-एल० बी०

ब्रह्मचारीजीकी साहित्यसेवामें श्रीयुत जुगमंदरलालजी जैनी ने पर्याप्त सहयोग दिया। जैनीजी पूर्वजन्म-संस्कारसे प्रखर बुद्धिमान् थे। मैट्रिक्यूलेशन, इण्टरमीडियेट परीक्षाओंमें बराबर सरकारी छात्रवृत्ति पाते रहे। एम. ए. में प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होते ही वह तुरन्त इलाहाबाद यूनिवर्सिटीमें अंग्रेज़ी भाषाके अध्यापक और छात्रालयोंके प्रवन्धक नियत किये गये। तीन बरस अध्यापकी करके १६०६ में एक-ज़ेटर कॉलिज ओक्सफोर्ड में दाखिल हुए और १६१० में बैरिस्टर होकर स्वदेश लौट आये। बम्बईसे सेठ माणिकचन्द पानाचन्दजी, श्रीमती मगनबाई आदिके साथ श्रवणबेलगोलाके महामस्तकाभिषेक उत्सवमें सम्मिलित होकर पुण्य प्राप्त किया। रोमन लॉ और जैनधर्मकी रूपरेखा जैनीजीने लंदनमें छपवाई।

बैरिस्टरीमें उनको पर्याप्त सफलता हुई और १६१३ में एक प्रीवी काउन्सिलके मुकदमेमें उनको लंदन भेजा गया।

१६१४ से १६२० तक और १६२२ से देहोत्सर्ग १३-७-१६२७ तक जैनीजी इन्दौर राज्यके न्यायाधीश और व्यवस्था-विधि-विधायिनी सभाके अध्यक्ष रहे, बीचके १६२० से १६२२ तक वह निःशुल्क सरकारी काम, असिस्टेंण्ट कलक्टरी और अमन सभाके संस्थापक मंत्रित्वका कार्य करते रहे और रायबहादुरकी उपाधि प्राप्त की।

वह सब बैरिस्टरी, राजकीय सेवा और निःशुल्क सरकारी कार्य करते हुए भी अपने अवकाशका समय वह बराबर साहित्यसेवामें लगाते

रहे। ब्रह्मचारीजीके साथ बैठकर, उनको चातुर्मासमें अपने पास ठहराकर जैनीजीने अंग्रेज़ी भाषामें बृहद् स्पष्ट व्याख्या और मौलिक प्रस्तावना सहित तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, आत्मानुशासन, पंचास्तिकायसार, समयसार, गोम्मटसार, जीव-कर्मकाण्डका अनुवाद किया। कभी-कभी तो वह रातके दो बजे तक इस कार्यमें व्यस्त रहते थे। जैन पारिभाषिक शब्दों का कोष तैयार किया और इन सब पुस्तकोंको अपने स्वोपार्जित द्रव्यसे छपवाया और प्रकाशित किया।

जैनीजीने १९०४ से अंग्रेज़ी "जैनगज़ट" के सम्पादनका कार्य अपने हाथमें लिया। अब वह चालीसवें बरसमें अजिताश्रम लखनऊसे प्रकाशित हो रहा है। भारत जैन महामण्डलमें जैनीजीने जान डाली और उसको बराबर प्रोत्साहन देते रहे। साम्प्रदायिकता उनके पास नहीं फटकती थी।

वात्सल्य भाव उनके हृदयसे छलका पड़ता था। जैन-जातिका उद्धार और जैनधर्मका प्रचार उनके जीवनका ध्येय था।

देहावसानसे एक वर्ष पहिले १४ अगस्त १९२६ को जैनीजीने एक वसीयतनामा लिख दिया था कि उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति जनहितार्थ जैनधर्मकी रक्षा तथा प्रचारमें काम आवे। वह धर्मनिधि क़रीब एक लाखके है और श्री सेठ लालचन्दजी सेठी उसके प्रबन्धक हैं। इस निधि की आमदनीसे सेण्ट्रल जैन पबलिशिंग हाउस, अजिताश्रम लखनऊ, ऋषभ जैन लाइब्रेरी लंदन, अंग्रेज़ी जैनगज़ट, जैन साहित्य मंडल लंदनको निरन्तर सहायता मिलती रहती है। तथा अंग्रेज़ीके साथ धार्मिक अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियोंको छात्रवृत्ति दी जाती है। जैनीजी वास्तविक दानवीर और साहित्यसेवक थे।

अब मैं अपनी रामकहानी क्या कहूँ ? मुझे तो जो कुछ साहित्यिक लाभ हुआ, इन्हीं दोनों महापुरुषोंके दिये हुए ज्ञानदान और प्रोत्साहनका प्रभाव है। इन दोनोंका सत्संग मुझे १९०४ से मिला। ब्रह्मचारीजीको

मुझसे धर्मचर्चा करते-करते कभी-कभी अधिक रात बीत जाती थी और रातको वह मेरे यहाँ रह जाते थे। जैनीजी भी इलाहाबादसे आकर मेरे यहाँ ठहरते थे, और मैं भी इलाहाबादमे ठहरता था।

तभीसे मैने शान्तिपाठ, आचार्य अमितगति प्रणीत सामायिक पाठ, क्षमायाचना पाठका अग्रेज़ीमे अनुवाद किया। १९१३ से मैं जैनगज़टके सम्पादनका काम कर रहा हूँ।

—दिगम्बर जैन, दिसम्बर १९४२

जन्म—	जयपुर ९ सितम्बर १८८० ई०
शिक्षा—	बी० ए० १९०२ ई०
स्वर्गवास—	अजमेर २२ दिसम्बर १९४१ ई०

एक मीठी याद

— गोयलीय —

चौरासी (मथुरा) पर स्थित महासभाके विद्यालयमें अध्ययनके निमित्त मैं १९१४ ई० में गया था। वहाँ मेरी ननिहाल (कोसी-मथुरा) के चार विद्यार्थी पहलेसे पढते थे। ये चारो विद्यार्थी पहले सेठीजीके विद्यालयमें पठनार्थ गये थे, किन्तु उनके बन्दी किये जाने पर चौरासी आ गये थे। कुछ तो तब सेठीजीके नामकी भनक कानमें पडी और फिर लोकमान्य तिलकका जुलूस मथुरामें निकला, उस समय भी न जाने कैसे सेठीजीकी प्रशस्ति सुननेमें आई।

उन दिनो अग्रेज़-जर्मन-युद्ध चल रहा था। न मालूम क्यो अग्रेज़ोकी हार और जर्मनोकी जीतके समाचार पढ-सुनकर आह्लाद और सन्तोष होता था। फिर धीरे-धीरे—स्वराज्य, परतन्त्रता, भारतमाता, वन्देमातरम् आदि शब्द कानोकी राह हृदयमें उतरते गये, और उनका अर्थ भी उजागर होता गया। तभी समझमें आया कि भारतमाताके बन्धनोको काटनेमें जो सेनानी सलग्न थे, उन्हीमें एक सेठीजी भी थे। उनका अस्तित्व अग्रेज़ी राज्यके लिए अमगल था, इसीलिए उन्हें जेलमें डाल दिया गया है। उन्हें मुक्त करानेके लिए लोकमान्य तिलक, ऐनी बीसेण्ट-जैसे प्रमुख नेताओने भरसक प्रयत्न किये, भारतीय पत्रोने अग्रलेखपर अग्रलेख लिखे, किन्तु अग्रेज़ी सरकार टस-से-मस न हुई। जैन-समाजमें ब्र० सीतलप्रसादजी, श्री बाडीलाल मोतीलाल शाह और बा० अजितप्रसादजी वकीलने सेठीजीके छुटकारेके लिए अनथक परिश्रम

किया। व्याख्यानों-लेखों द्वारा करुण पुकार सरकारके कानों तक पहुँचाई। गाँव-गाँव और शहर-शहरसे तार दिलवाये, परन्तु सरकारके कानपर जूँ तक न रेंगी। श्री नाथूरामजी प्रेमी द्वारा सम्पादित और प्रकाशित जैनहितैषीने भी बहुत मनोयोगसे हाथ बटाया।

सेठीजीके सम्बन्धमें अधिक-से-अधिक जाननेकी प्रबल आकांक्षा मेरे बालहृदयमें उत्तरोत्तर बढ़ती गई। जैन-जैनेतर पत्रोंमें खोज-खोजकर सेठीजी सम्बन्धी लेख-समाचारादि पढ़ता।

तभी यह भी पढ़ा कि सेठीजी जिन-दर्शन किये बग़ैर भोजन नहीं करते थे। जेलमें जिनदर्शनकी सुविधा न होनेके कारण, उन्होंने भोजन का त्याग कर दिया और उसपर वे इतने दृढ़ रहे कि ७० रोज़तक निराहार रहे। अन्तमें सरकारको झुकना पड़ा और महात्मा भगवानदीनजीने जेलमें जिन-प्रतिबिम्ब विराजमान कराई, तब उनका उपवास समाप्त हुआ। भारतके राजनीतिक बन्दियोंमें सेठीजीका यह प्रथम उदाहरण था, इसलिए भारतीय नेताओंने 'भारतका ज़िन्दा मेक्स्वनी' कहकर उनका अभिनन्दन किया था।

ई० सन् १९१६ या १७ में अम्बालेमें जैनवेदी-प्रतिष्ठा थी। मुझे भी वहाँ जानेका अवसर प्राप्त हुआ। बा० अजितप्रसादजी लखनऊवालोंको पहले-पहल मैंने वहीं देखा। वे सेठीजीके छुटकारेके लिए प्रयत्न कर रहे थे। वहाँ लोकमत जागरित करने और आर्थिक सहायता प्राप्त करनेके लिए वे आये हुए थे। पण्डालमें उनका अत्यन्त प्रभावशाली भाषण हुआ और आर्थिक सहायतार्थ उन्होंने सेठीजीके छपे हुए चित्र बेचे। एक-एक चित्रकी लागत एक-एक पैसेसे अधिक नहीं होगी, लेकिन जनताने अपनी शक्ति-अनुसार मूल्य देकर खरीदा। मुझे भी जेब-खर्चको जो चार आने मिले थे, उसका चित्र ले लिया और वह जबतक (१९२५ ई० में) सेठीजीके साक्षात् दर्शन नहीं हो गये मेरे पास बना रहा।

१९१८ या १९ ई० में विद्यार्थी सभाकी ओरसे 'ज्ञानवर्द्धक' अर्द्ध-

साप्ताहिक पत्र हस्तलिखित निकलता था। इसका मैं और श्री मथुरादास[1] सम्पादन करते थे और श्री सुन्दरलाल[2] अपने सुवाच्य अक्षरोंमें लिखते थे।

जब सेठीजीको मुक्त करो आन्दोलन प्रबल हो उठा तो कुछ शर्तों-के साथ भारत सरकार उन्हें छोड़नेको उद्यत हुई, किन्तु सेठीजीने पाबन्दी-के साथ रिहा होना ठुकरा दिया। हमने 'ज्ञानवर्द्धक'में सरकारकी कड़ी भर्त्सना करते हुए सेठीजीके इस दृढ़ निश्चयकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। हमारे इस साहसपूर्ण वक्तव्य और सुरुचिकी सभी अध्यापकवर्गने दाद दी, किन्तु पं० इन्द्रलालजी[3] शास्त्री जो जन्मतः रूढ़िवादी हैं और देशसेवा के नामसे कानपर हाथ रखते थे, थोड़ा भिन्नाये, किन्तु कुछ कर नहीं सकते थे। क्योंकि विद्यार्थियोंका परस्पर बहुत अच्छा संगठन था, और वे अपनी नम्रता, अध्ययन-शीलता और विकासोन्मुखी कार्योंकी ओर अग्रसर रहनेके कारण सभी अधिकारीवर्ग और अध्यापकोंके कृपापात्र थे।

यही अंकुर धीरे-धीरे हृदयमें फूटते रहे। १९१९ में रौलट-एक्ट-के विरोधमें भारतव्यापी हड़ताल हुई तो हम सब विद्यार्थियोंने भी हड़ताल की और उपवास रक्खा। सभा करके गरमागरम भाषण दिये, प्रस्ताव पास किया और मथुराकी बृहत् सभामें लाइन बनाकर भाषण सुनने गये।

ग्रीष्मावकाशकी छुट्टियोंमें घर गया तो वापिस विद्यालय न जाकर १९२० में दिल्ली चला गया और गली-गली, कूचे-कूचे में घूमकर खद्दर बेचने लगा। फिर १९२४ में जैनसंगठन सभा की स्थापना की।

एक रोज़ मालूम हुआ कि ला० हनुमन्तसहाय[4]के यहाँ सेठीजी आये

१—श्री मथुरादासजी पद्मावतीपुरवाल हैं। यह बी० ए० और न्यायाचार्य होनेके बाद गुजरानवाला गुरुकुलमें अध्यापक हो गये थे। फिर दिल्लीमें भारत बैंकमें काम करने लगे थे।

२—श्री सुन्दरलाल परवार जैन हैं और वैद्यक-परीक्षा पास करके सी. पी. के किसी स्थानमें वैद्यकका स्वतंत्र व्यवसाय कर रहे हैं।

३—ये उन दिनों विद्यालयमें व्याकरणके अध्यापक थे।

४—दिल्लीके प्रसिद्ध देशभक्त।

हुए हैं। चरणस्पर्शको तुरन्त वहाँ पहुँचा। वे कहीं जानेकी शीघ्रतामें थे, इसलिए जी भरकर उन्हें देख भी न सका। मुझे वे जानते भी न थे। मैं उन्हें कैसे बताऊँ कि १० वर्षसे परवाना बना हुआ, जिस ज्योतिके लिए तड़प रहा था. वह आज दिखाई भी दी तो बिजलीकी तरह। न एकटक निहार ही सका, न क़दमोंपर सर ही धुन सका।

मुझे जिनके दीदकी आस थी, वोह मिले तो राहमें यूँ मिले।
मैं नज़र उठाके तड़प गया, वोह नज़र झुकाके निकल गये॥
—महमूद अयाज़ बंगलोरी

१९२६ में उनसे मिलनेमें मैं जयपुर पहुँचा। तब वे मेरे नामसे परिचित हो चुके थे। दो रोज़ ३-३ घण्टे अत्यन्त स्नेह और प्यारसे राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक चर्चाएँ कीं। चर्चा करते हुए वे इतने गहरेमें उतर जाते थे कि मेरी मोटी बुद्धि थककर बैठ जाती थी। मेरी बहुत प्रबल अभिलाषा थी कि सेठीजी पुनः जैन-जागरणका कार्य्य हाथमें लें। देशसेवाका व्रत लेने और जो भी अर्थ हाथमें आये, उसे देशसेवामें ही न्योछावर कर देनेके कारण सेठीजी स्वयं तो दारिद्र्यव्रती थे ही, उनके परिबारको भी यह सब सहना पड़ता था। परिवारके निमित्त मैंने कई रईसोंसे कुछ भिजवानेका प्रयत्न किया भी तो सब व्यर्थ हुआ, क्योंकि सेठीजीके यज्ञमें पड़कर सब स्वाहा हो जाता था।

अतः मेरी प्रबल इच्छा थी कि सेठीजीको किसी ऐसे कार्य्यमें लगा दिया जाय, जो उनकी प्रतिष्ठा, रुचिके अनुकूल हो। जिसमें रहकर वे अधिक-से-अधिक देश-सेवा कर सकें और गार्हस्थिक चिन्ताओंसे मुक्त रह सकें। मैंने एक-दो धनिकोंको एक अच्छे स्टैण्डर्डका साप्ताहिक पत्र निकालनेके लिए राज़ी कर लिया था, और इच्छा थी कि सेठीजी अपनी रुचि और नीतिके अनुसार उसका संचालन करें, किन्तु सेठीजी बन्धनोंमें फँसनेवाले जीव नहीं थे। वह राजपूतानेका केसरी घुल-घुलकर तो मर गया, पर किसीके भी कटघरेमें नहीं फँसा। हालाँ कि जयपुर सरकारकी तरफ़से जयपुर राज्यमें प्रवेश न करनेकी सख्त पाबन्दी लगी हुई थी,

फिर भी वे कई माहसे सपरिवार किसी तरकीबसे जयपुरमें रह रहे थे और सपरिवार ही नही रह रहे थे, काकोरी षड्यन्त्रके ख्यातिप्राप्त श्री अशफाक़ुल्लाको भी फ़रारी हालतमें अपने यहाँ छद्मवेशमें छिपा रखा था।

मेरी उन दिनों आन्तरिक इच्छा थी कि वे मुझे भी अपने क्रान्तिकारी कार्योंमें दीक्षित कर लें, किन्तु वे सदैव टालते रहे। धीरे-धीरे सम्बन्ध बढ़ते गये और मुझपर वे पूर्ण विश्वास करने लगे। सन् २८ में दिल्ली आये तो मुझे अपने साथ शौक़त[1] उस्मानीके यहाँ भी ले गये।

उस्मानी साहब उन दिनों भारत-सरकारसे पोशीदा रहकर सदर-बाज़ारके एक कमरेमें रह रहे थे। सैकड़ों राज़की बातें सुनी। सेठीजीने मुझे वहाँ कभी-कभी जाते-आते रहनेको कह दिया था। ४-५ रोज़के बाद जाकर देखता हूँ तो ज़ीनेके दर्वाज़ेका ताला लगा हुआ था। मैं किसीसे पूछूँ कि एक मुसलमान (जो शायद मकान-मालिकका नौकर होगा) स्वय ही बोला–"कहिये हज़रत किसकी तलाशमें हैं आप ?"

"यहाँ एक साहब रहते हैं, उन्हीसे मिलना है।"

"यहाँ तो कोई साहब नही रहते, मुद्दतोंसे ताला बन्द है। आप उनसे कब मिले थे ?"

मैं इसका जवाब न देकर ज़ीनेसे उतर आया और समझ गया कि

१—शौक़त उस्मानी भारतके उन सपूतोंमें हैं, जो हिजरतके बहाने भारतसे चले गये थे। इनकी रूसयात्रा (जहाँ तक मुझे स्मरण है) प्रताप, कानपुरसे प्रकाशित हुई थी जिससे इनके साहसी, विकट जीवन और उत्कट देशभक्तिका परिचय मिलता है। भारतसे क़ाबुल आदि अनेक देशोंमें होते हुए रूस पहुँचे। क़ाबुल राज्यने नज़रबन्द किया तो किसी राज्यने तोपके मुहानों पर रखा, किसीने गधोंके अस्तबलमें बाँधकर डाल दिया। कभी बर्फ़के पहाड़ पर रात काटनेको मजबूर हुए, कभी सरहदी लुटेरोंका मुक़ाबिला करना पड़ा। अन्तमें रूस पहुँचे तो वहाँ लेनिनने इनका शानदार स्वागत किया और जुलूस निकाला।

पुलिसको उनको गन्ध मिल गई है, शायद इसलिए उड़छन्न् हो गये हैं और यह नौकर मुझे सी० आई० डी० समझकर चकमा दे रहा है। फिर एक-दो माहके बाद पत्रोंमें पढ़ा कि देशमें भिन्न-भिन्न भागोंसे कम्युनिस्ट पकड़कर मेरठ जेलमें रखे गये हैं, और मेरठ षड्यन्त्र केसके नामसे उनपर मुक़दमा चल रहा है। उन्हीं अभियुक्तोंमें शौकत उस्मानी भी थे।

जब मैं नजीबाबादसे दिल्ली चला आया और समन्तभद्राश्रममें रहने लगा तो तक़रीबन ७-८ रोज़ वहाँ मेरी वजहसे रहे। साथ ही खाना खाते, साथ ही घूमने जाते और हम एक ही कमरेमें सोते। उन्हें बमुश्किल २-१ घण्टे नींद आती थी। दिनभर तो बातें करते ही थे, रातको भी बातें करते! एक तो बात सुननेका चस्का, दूसरे अदब इजाज़त नहीं देता था कि वे बातें करते रहें और मैं खर्राटे भरने लगूँ। लिहाज़ा नींद आने लगती तो बैठकर सुनने लगता।

तत्त्व-चर्चा चलती तो मुझे ऐसा मालूम होने लगता कि समुद्र उमड़ा आ रहा है, मैं उसमें कभी डूब रहा हूँ, कभी उबर रहा हूँ, परन्तु किनारा नहीं पा रहा हूँ। राजनीतिके दाव-पेंच, घात-प्रतिघात सुनाने लगते तो मालूम होता, यह अर्जुन नहीं, महाभारतका योगी कृष्ण है, जो अपनी किसी योग-भ्रष्टताके कारण इस युगमें जन्म लेनेको बाध्य हुआ है और अर्जुन-जैसा शिष्य न मिलनेके कारण छटपटा रहा है। कई बार तो डर लगने लगता। शायरीका भी अच्छा शौक़ रखते थे। बीच-बीचमें मुँहका ज़ायक़ा बदलने और वातावरणको नीरस न होने देनेके लिए—ग़ालिब-ओ-ज़ौक़के प्रसंगानुसार शेर भी फ़र्मा देते थे। एक दिन जो मौजमें आये तो बोले—

"बेटा, हम भी तुकबन्दी कर लेते हैं।"

"तुकबन्दी कैसी, आप तो अच्छी-खासी कविता कह लेते हैं। मैंने बचपनमें आपकी बनाई कई कविताएँ पढ़ी हैं। **'कब आयगा वोह दिन कि बनूं साधु बिहारी'** मुझे खास तौरसे पसन्द थी।"

वे हँसकर बोले—"अच्छा तो बदमाश तू बचपनसे मेरा आशिक़ रहा है।"

"यह तो आपकी महती कृपा है, जो आप इस सम्बोधनसे मुझे कृत-कृत्य कर रहे हैं। हाँ, एक अकिंचन भक्त मैं आपका अवश्य रहा हूँ।"

"अच्छा तो बच्चू यह बात है जो दौड़-दौड़कर तुम जयपुर और अजमेर जाते रहे हो, और हज़ार ठिकाने छोड़कर मै तुम्हारे पास ठहरने को मजबूर हुआ हूँ।"

"जी, आप शायद अपना कोई ताज़ा कलाम सुनाना चाह रहे थे!"

"ताज़ा तो नही है, ५-६ वर्ष पूर्व कही गई, एक तुकबन्दी है। कुछ दोस्तोंने इस समस्याकी–**'देखें कहाँ-कहाँ पै हथेली लगायेंगे'** पूर्ति करनेको मजबूर कर दिया। १०-५ मिनिट तबीयत पै ज़ोर दिया तो ये पंक्तियाँ मुँहसे निकल पड़ी—

मन्दिरमें क़ैद करते हैं ताले ठुका दिये,
मस्जिदमें उस हबीबके परदे लगा दिये,
पूछा सबब तो ऐंठके पोथे दिखा दिये,
वाइज़ने चीख़-चीख़ सिपारे सुना दिये।
महफ़िलमें बेहिजाब हम आँखें लड़ायेंगे।
देखें कहाँ-कहाँ पै हथेली लगायेंगे[1]॥

वाइज़से जाके पूछा कि मय है हराम क्यों,
बोला कि "मेरे सामने लेते हो नाम क्यों",
जन्नतकी तलाशमें है बूढ़ा इमाम क्यों,
खुल जाये राजेमअ़रफ़ी पीले न जाम क्यों?
मयख़्वार, उस ख़ुदाको भी एक्शा पिलायेंगे।
देखें कहाँ-कहाँ पै हथेली लगायेंगे[1]।

१–मेरे प्यारेको किसीने तालेमें बन्द कर दिया है तो किसीने उसे परदोंमें छिपा दिया है। कारण पूछनेपर धर्मशास्त्रोंके पोथे दिखा दिये कि इनके वारण्टपर इन्हें बन्दी बनाया है, किन्तु इन मूर्खोंने यह नहीं समझा कि उसका हुस्न हज़ार पर्दोंमें भी नहीं छिप सकता। न जाने दें मुझे मन्दिरों और मस्जिदोंमें। मैं तो खुले आकाशके नीचे खड़ा होकर उसको निहारूँगा, देखूँ कहाँ-कहाँपर ये लोग बन्दिशें लगायेंगे?

उक्त कविता न हिन्दी है न उर्दू, न इसे कोई शायराना अहमियत ही दी जा सकती है। सचमुच तुकबन्दी है। मगर यह तुकबन्दी किस वातावरणमें कही गई और क्यों कही गई, यह पसेमंज़र मुझे मालूम था। उसका तसव्वुर मस्तिष्कमें था ही, बस कुछ न पूछिये—एक-एक पंक्तिपर तड़प-तड़प गया।

बात यह थी कि सेठीजीके एक शिष्य मोतीचन्द जैनको फाँसी दे दी गई थी। वह महाराष्ट्रीय जैन था। सेठीजीको उससे बहुत स्नेह था। अपने वफ़ादार और जाँबाज़ शिष्यकी मौतपर उन्हें बहुत सदमा पहुँचा! मगर कर भी क्या सकते थे?

हाय वह मजबूरियाँ, महरूमियाँ, नाकामियाँ

५-६ वर्ष बाद जब वे जेलसे मुक्त होकर आये तो मोतीचन्दकी पवित्र स्मृतिमें सेठीजीने अपनी कन्याका विवाह महाराष्ट्रके एक युवकसे इस पवित्र भावनासे कर दिया कि मैंने जिस प्रान्त और जिस समाजका सपूत देशको बलि चढ़ाया है, उस प्रान्तको अपनी कन्या अर्पण कर दूँ। सम्भव है उससे भी कोई मोती-जैसा पुत्ररत्न उत्पन्न होकर देशपर न्योछावर हो सके।

यह सम्बन्ध उक्त पवित्र भावनाके साथ-साथ अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय भी था। जैनोंमें यह नया उदाहरण था। और हर नये कार्य्यसे रूढ़िवादियोंको चिढ़ होती है। अतः सेठीजी जातिसे बहिष्कृत भी किये गये और मन्दिर-प्रवेशपर भी रोक लगा दी गई!

इसी वातावरणके आस-पास कुछ मनचलोंने तत्काल उक्त मज़ा-

२—देव-दर्शन और शास्त्र-श्रवणका अधिकार मानवमात्रको क्यों नहीं? क्यों चन्द आदमी इस अमृत-सुराके ठेकेदार बने हुए हैं। अध्यात्म-सुरा पीकर तू-मैं का भेद भूल जानेका सभीको अधिकार है। यह सुधा पीते ही आत्मा और परमात्माके बीचका व्यवधान मिट जायगा। हम तो स्वयं भी पीएँगे, अपने प्यारेको भी पिलायेंगे और एकाकार हो जायेंगे। ओ, धर्मके ठेकेदारो, तुम कहाँ कहाँ पर अपनी टाँग अड़ाते फिरोगे?

किया समस्या-पूर्ति करनेको मजबूर कर दिया। हृदयके भावोको जो आग्रहकी हवा लगी तो भडक उठे और उक्त पक्तियाँ मुँहसे बेसाख्ता निकल पडी। उक्त वातावरणके प्रकाशमे जब इस तुकबन्दीको कोई पढे या सुने तो सिवाय सर धुननेके और चारा ही क्या है ?

ज़मीरे पाकतीनत आह कितना बे मुरव्वत है ?
सितमगर हर मसर्रतको गुनहगारी बताता है ॥

—**अकबर हैदरी देहलवी**

सेठीजीमे एक बहुत बडा नुक्स था, हा मेरे-जैसे जाहिल इसे नुक्स ही कहेगे ? वे ज़मानेकी रफ्तारसे तेज चलना चाहते थे। परिणाम इसका यह होता था कि फिसड्डी लोग उनके पाव पकडकर उन्हे भी अपने साथ रखना चाहते थे, और जब वे पकडाईमे न आकर आगे बढकर अपने फिसड्डी साथियोको भी आगे बढनेको ललकारते थे तो साथी खिसियाकर अनाप-शनाप बकने लगते थे। इस स्वभाव-दोषके कारण सेठीजीको ज़मानेकी न तो कभी वाहवाही प्राप्त हुई न क्षणभरको शान्ति मिली।

सेठीजी प्रखर देशभक्त तो थे ही, उग्र सुधारक भी थे। केवल व्याख्यान देकर और लेख लिखकर उनकी पिपासा शान्त नही होती थी। वे तो अमली जीवनके आदी थे।

हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिल भारतीय ससद्ने १९५० मे पास किया, तब कही जाकर जैन-परिषद्को भी उसका समर्थन करनेका साहस हो सका। लेकिन सेठीजी तो दिव्यद्रष्टा थे, कब पृथ्वी करवट लेगी, कब भूचाल और ज़लज़ले आएँगे, यह सब उन्हे वर्षो पहले दीख जाता था—

जो है पर्देमें पिन्हाँ[1], चश्मे बीना[2] देख लेती है।
ज़मानेकी तबियतका तक़ाज़ा देख लेती है ॥

—**इक़बाल**

और इसी दिव्य ज्ञानके बलपर वे जनताको चेतावनी दे देते थे। यह और बात है कि हम उनके दिव्य ज्ञानकी उपेक्षा करते रहे। आज

१ छिपा हुआ। २ दिव्य दृष्टि।

सर्वधर्म-समभावका नग़मा चारों ओर सुनाई देता है। स्याद्वाद और अनेकान्तका अर्थ ही सर्वधर्म समभाव किया जाता है और आज इस तथ्य-को सर्वसम्मतिसे स्वीकृत कर लिया गया है कि एक सम्यक्ज्ञानी और सत्यशोधकके लिए समस्त धर्मग्रन्थों, दर्शनों आदिका ज्ञान अत्यावश्यक है, किन्तु सेठीजीने जेलसे छूटते ही आजसे ३१ वर्ष पूर्व गीताके अध्ययन करनेकी सलाह जैनियोंको दी तो लोग आपेसे बाहर हो गये थे। उस वक़्तके उग्र सुधारकोंका भी साहस नहीं हुआ कि वे सेठीजीका समर्थन कर सकें। उन्होंने यह लिखकर कि "सेठीजी जेलमें घोर यंत्रणाएँ पाने-के बाद मालूम होता है—विक्षिप्त हो गये हैं, अतः वे क्रोधके नहीं, दयाके पात्र हैं।" अपनी स्थिति सुरक्षित कर ली।

उस वक़्त तो उक्त सफ़ाई समझमें नही आई थी, क्योंकि मैं स्वयं भी कठमुल्ला था। पर आज सोचता हूँ तो मालूम होता है कि सेठीजी सचमुच विक्षिप्त हो गये होंगे। आपेमें हुए होते तो वे इन झंझटोंमें क्यों पड़े होते? अन्य पण्डितोंकी तरह वे भी कीर्ति और पैसा प्राप्त कर सकते थे। वे ज़िन्दगी भर तिल-तिल करके क्यों घुलते?

मेरे ग़मख़्वार! मेरे दोस्त!! तुम्हें क्या मालूम?
ज़िन्दगी मौतकी मानिन्द गुज़ारी उसने॥

—क़तील

हाँ, तो मैं भी कहाँ-से-कहाँ बहक गया। बात तो सिर्फ़ इतनी थी कि सेठीजीने मौजमें आकर उस रातको अपनी उक्त कविता भी सुनाई! फिर उस रोज़ कोई बात न चल सकी, उक्त कविता सुननेके बाद मैं कई बार अपनी विचारसरितामें डूबने और उबरने लगा। इसी आलममें नींद आ गई। सुबह उठा तो सेठीजीको चारपाईसे नदारद पाया। पहले तो ख़याल हुआ इधर-उधर गये होंगे। लेकिन जब वे कई घण्टों तक वापिस नही आये तो चिन्ता बढ़ी और काफ़ी परेशान हुआ! तीन-चार रोज़के बाद देखता हूँ तो सेठीजी सामने खड़े थे।

मैंने तावमें भरकर कहा—"सेठीजी आप भी ख़ूब हैं। कोई मरे या

जिये आपकी बलासे ?"

वे हँसकर बोले—"पगले, पहले बात भी सुनेगा, या अनाप-शनाप बकवास किये जायेगा।"

तब उन्होंने बताया कि—"सुबह बाहर जाकर जो अखबार पढ़ा तो मेरे हाथोंके तोते उड़ गये ! तुमने भी चन्द्रशेखर आज़ादका अजमेरमें गिरफ़्तार होनेका संवाद पढ़ा होगा। संवाद क्या था, मेरे लिए तो मृत्यु-सन्देश था ! आज़ादको मैंने ही एक गुप्त स्थानपर ठहराया हुआ था। उसका मेरे यहाँसे गिरफ़्तार हो जानेका अर्थ मेरी नैतिक मृत्यु थी, मेरी सारी तपस्या निष्फल हो जाती ! दुनिया क्या कहती कि सेठी भी उसकी सुरक्षाका यथोचित प्रबन्ध न कर सका।

"बस इसी न्यूज़को पढ़कर मैं आपेको भूल गया और तुमको बग़ैर सूचित किये ही छद्मरूपमें वास्तविक बात जाँचनेको अजमेर पहुँचा। शुक्र है कि उसको सही-सलामत पाया। पुलिसने उसके धोखेमें किसी और-को मेरे यहाँसे पकड़ लिया था ! अब उसको स्थानान्तर करके आया हूँ।"

जाबके स्थानकवासी जैनियोंने मुनि धनीरामजीकी प्रेरणासे पंचकूलेमें एक गुरुकुलकी स्थापना की थी। उसके संचालकोंकी इच्छा थी कि उस कुलगुरुका भार सेठीजी ले लें। किसी तरह उन्हें राज़ी भी कर लिया : गुरुकुलवाले तो सेठीजीसे स्वीकृति लेकर निश्चिन्त हो गये और गुरुकुलकी उन्नतिका सुख-स्वप्न देखने लगे। उधर सेठीजीका आशय ही और था। वे चाहते थे कि पंचकूलाको क्रान्तिकारी कार्योंका केन्द्र बनाया जाय और फ़रार देशभक्तोंको उसके पहाड़ी इलाक़ोंमें छिपानेका प्रबन्ध किया जाय। उन्होंने अपनी यह योजना मुझपर प्रकट की और अपने साथ ले चलनेकी इच्छा भी ज़ाहिर की; किन्तु मेरा अजीब आलम था—

आपके अहदेकरमका भी तसव्वुर है गिरां।
उन मुक़ामात पै अब आपका सौदाई है ॥

—अर्शी भोपाली

जब मैं दौड़-दौड़कर सेठीजीके पास जयपुर और अजमेर जाकर दीक्षित कर लेनेको गिड़गिड़ाया तो वे टस-से-मस न हुए और बराबर यही कहते रहे कि अभी तुममें पात्रता नहीं। और जब उन्होंने स्वयं आह्वान किया तो मैं स्वयं आपेमें न था।

यह इत्तफ़ाक़ तो देखो बहार जब आई।
हमारे जोशे जुनूँका वही ज़माना था॥

—असर लखनवी

मैं महात्मा गांधीके असहयोग-आन्दोलनमें पूर्णरूपेण कूद पड़नेका निश्चय कर चुका था; और आये दिन विश्वस्त-से-विश्वस्त क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओंको मुख़बिर होते देख मन इस ओरसे क़तई फिर गया था।

मैं घर-बार छोड़कर १९३० के असहयोग-आन्दोलनमें कूद पड़ा था और दिल्लीके प्रथम ५ सत्याग्रहियोंके साथ नमक-क़ानून तोड़ रहा था! तभी एक रोज़ सेठीजी आये और एकान्तमें ले जाकर बोले—

"मैं मुनि धनीरामजी और उनके शिष्य कृष्णचन्द्रजीको गुरुकुलसे ले आया हूँ, और इस वक़्त उन्हें जीतगढ़पर छोड़ आया हूँ, तुम जैनियोंका एक बड़ा जल्सा करके उनकी मुँहपत्ती उतरवा दो। उन्हें लोक-सेवाके लिए इस संकुचित क्षेत्र और वेषसे बाहर निकाल दो।"

मैं तो सुनकर सिहर गया। मैं दिगम्बर-कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ, साधु स्थानकवासी हैं। मेरे इस कार्यसे जनतामें जो क्षोभ और भ्रम फैलता, वह मस्तिष्कमें घूम गया। मैं इस सुधारके लिए प्रस्तुत न हुआ और मैं उनकी परीक्षामें इस बार भी अनुत्तीर्ण ही रहा; परन्तु सेठीजी फ़ौलादके बने थे, उन्हें लचकना और मुड़ना आता ही नहीं था। उन्होंने चुपचाप दोनों साधुओंकी मुँहपत्ती उतार दी, और रात्रिको होनेवाली कांग्रेसकी व्याख्यानसभामें इसकी घोषणा भी कर दी। जनताने इस सुधारकी खूब सराहना की। लेकिन इस सुधारका परिणाम यह हुआ कि सेठीजीका पंचकूला गुरुकुलसे भी सम्बन्ध-विच्छेद हो गया!

माना कि हर बहारमें पर टूटते रहे।
फिर भी तवाफ़े[१] सहने गुलिस्ताँ किये गये॥

—ख़ुरशीद फरीदाबादी

मै सन् ३२ में कारागारसे मुक्त होनेके बाद सेठीजीकी चरण-रज लेने अजमेर पहुँचा। वहाँ जाकर जो उनकी स्थिति देखी, उससे कई घण्टे सुबक-सुबककर रोता रहा। सर्वस्व होम देनेके बाद, जिन्दगीभर स्वयं भी देश-सेवामें जूझते रहनेके कारण घरेलू स्थिति भयावह हो उठी! आर्थिक स्रोत सब सूखे हुए और ८-१० प्राणियोके भरण-पोषणकी समस्या। मौतके सामने भी घुटने न टेकनेवाला सेठी स्वय तो न झुका, पर उसकी कमर झुक गई। उसमें वह तनाव और बाँकपन देखनेमे न आया। घरका वातावरण मुझसे ओझल नही रह सका। तभी बरफ़ बेचनेवालेने रबड़ी मलाईकी बरफ़की चटखारेदार आवाज़ दी तो बच्चोंके मुँहमें पानी भर आया, और सेठीजीसे बरफ़ दिलवानेकी ज़िद करने लगे। मगर चीलके घोंसलेमे माँस कहाँ? वे चुपचाप थोड़ी देर तो बच्चोंका रोना-बिलखना देखते-सुनते रहे। जब न रहा गया तो मुझसे बोले—"गोयलीय! तुम बहुत अच्छा व्याख्यान दे लेते हो, आज इन बच्चोंको बरफ़की अनुपयोगितापर एक स्पीच दो!"

मैने कहा—"सेठीजी, कही बच्चे भी इस तरहकी सीख मानते है। खासकर, बरफ़, चूरन और मिठाईके सम्बन्धमे।"

सेठीजीके अब तेवर बदल चुके थे! बोले—"तो इन्हें यह समझाओ कि तुम्हारे नालायक़ पिता कुछ कमाते-धमाते नहीं है, और जो तुम्हारे बाबा छोड़ गये थे, उसे भी ये स्वाहा कर चुके है।"

में सहमकर बोला—"सेठीजी, अभी इनमें इतनी समझ ही कहाँ है, जो समझानेसे मान सके।"

बोले—"नालायक़, यह भी नही समझेंगे, वह भी नहीं समझेंगे, तो फिर

१—बग़ीचेकी प्रदक्षिणा।

मैं क्या करूँ ? सरकारी नौकरको २० वर्षमें पेंशन मिल जाती है, और वह अपने बच्चोंका निश्चिन्त होकर भरण-पोषण करता है। मैंने अपनी एक-एक हड्डी गलाकर रख दी तब भी क्या मुझे इनके भरण-पोषणकी चिन्तासे मुक्ति नहीं मिलेगी ?"

मैं क्या जवाब देता। हिचकी बँध गई—

यह दीवारोंके छींटे ख़ूँके यह ज़ंजीरके टुकड़े।
फ़िज़ा ज़िन्दाकी शाहिद है कि दीवाने पै क्या गुज़री।

—सबा अकबराबादी

मुझे रोता देखकर बोले—"गधे, मेरी हालतेज़ारसे कुछ नसीहत ले। अन्धोंकी तरह कुएँमें मत कूद। वर्ना ज़िन्दगीभर रोता रहेगा। मेरा क्या है मैं तो मिट चुका—

दिलको बरबाद करके बैठा हूँ।
कुछ ख़ुशी भी है, कुछ मलाल भी है॥

—जिगर मुरादाबादी

मेरे बच्चोंपर जो गुज़रेगी, उससे मैं वाक़िफ़ हूँ, उनकी आँखोंके आँसू पोंछनेका भी किसीको अहसास न होगा।

लेकिन मैं नहीं चाहता कि तू इस तरहकी ग़लतियाँ दोहराये। देश और समाजकी सेवा जितनी बन पड़े, उतनी कर, मगर सेवा करते-करते एक दिन निरा सेवक बनकर न रह जाना पड़े इसके लिए सदैव सावधान रहना।"

स्वयं तो मिटे, मगर मुझे मिटनेसे बचा दिया, उनके इस अमोघ मंत्रको तावीज़की तरह बाँध लिया !

१६३७-४० में जनपरिषद्‌का ऑफ़िस सँभालना पड़ा तो मेरे आग्रहपर सेठीजी भी कार्य करनेको अग्रसर हुए। इस अर्सेमें वे राजनैतिक घात-प्रतिघातोंमें इतने क्षत-विक्षत हो चुके थे कि सचमुच मानसिक सन्तुलन खो बैठे थे। राजनैतिक क्षेत्रमें महात्मा गांधीके अन्ध-भक्त नहीं थे। उनके हर आन्दोलनमें जेल जाते थे, कांग्रेसका कार्य करते थे। राजस्थानप्रान्तीय काँग्रेसके अध्यक्ष थे। फिर भी उनके

सभी विचारों एवं सिद्धान्तोंके क़ायल नहीं थे। अतः काँग्रेसका हाई-कमाण्ड नहीं चाहता था कि राजपूतानेकी बागडोर सेठीजीके हाथमें रहे। काँग्रेस-चुनावमें खद्दरके कपड़े कुली-कबाड़ियोंको पहनाकर सेठीजीके प्रतिद्वन्द्वीको वोट दिलवाये गये, फिर भी सेठीजी विजयी हुए। जब वे बन्दी बनाकर रेल द्वारा ले जाये जाने लगे तो जनता एंजिनके आगे लेट गई। महात्मा गांधी अजमेर आये तो सेठीजी उनके यहाँ नही गये; महात्माजीको उनके घरपर जाना पड़ा। इतनी दृढ़ स्थितिको हाई-कमाण्ड कैसे बर्दाश्त कर सकता था। सेठीजीका राजनैतिक जीवन समाप्त करनेके लिए कई लाख रुपया व्यय किया गया, अनेक दाव-पेंच खेले गये और इस प्रकार अभिमन्युकी नहीं, स्वयं अर्जुनकी राजनैतिक हत्या कर डाली। बादमें इसी गुटबन्दीके शिकार सुभाष, नरीमैन आदि-को भी होना पडा, किन्तु इस गुटबन्दीकी वेदीपर सेठीजीका बलिदान प्रथम बलिदान था, अतः लोग समझ भी न पाये और वह निरीह घुट-घुटकर समाप्त हो गया। बादमें सुभाष बाबूके अध्यक्ष-चुनावमें तो देशने जान ही लिया कि पदारूढ़ दल किस खूबीसे दलन करता है।

आज काँग्रेस-शासनमे काँग्रेसियोंके भ्रष्टाचार और अन्यायोंके कारण बहुत-से लोगोंने गांधी टोपीका परित्याग कर दिया है, किन्तु सेठीजी-को इस टोपीसे उस समय ही चिढ़ हो चुकी थी।

१९३७ की ईस्टरकी छुट्टियोमें रीवाँ स्टेटके सतना शहरमें परिषद्-का वार्षिकोत्सव था। मेरे आग्रहपर सेठीजी भी पधारे। मैंने देखा उनके सरपर गाँधी टोपी न होकर अलवर स्टेटके सिपाहियों-जैसी बटन लगी हुई किश्तीनुमा खाकी टोपी है। धवल स्वच्छ गांधी टोपीके आगे वह अच्छी नहीं लगती थी और जनताको भी यह देखकर अचम्भा-सा होता था कि सेठीजी-जैसे देशभक्तने एक रियासतकी ग़ुलामाना चिह्न वाली टोपी क्यों पहन रक्खी है ? तब भारतके सभी राजनैतिक विचार-वाले गांधी टोपी लगाते थे और यह देशभक्तिकी प्रतीक समझी जाती थी। मैं भी चाहता था कि सेठीजी गांधी टोपी पहन लें तो ज्यादा मुनासिब

हो। लेकन कहनेकी हिम्मत नहीं होती थी। आखिर एक तरक़ीब निकाली। शामको खाना खाकर मैं और सेठीजी नंगे सर घूमने निकले। इस तरहका वातावरण मैंने जान-बूझकर बनाया था। उनकी टोपी मैंने छुपाकर रख दी और उस स्थानपर अपनी दूसरी गांधी टोपी रख दी। रातको तनिक देरसे घूमकर आये और जल्दीसे टोपी पहनकर जल्सेमें पहुँचना है ऐसी स्थिति पैदा हो गई। सेठीजीको अपनी टोपी नहीं मिली तो नंगे सर चलनेको प्रस्तुत हो गये।

मैंने कहा—"आपकी टोपी अँधेरेमें नहीं मिल रही है तो न सही, फिर ढूँढ़ लेंगे। इतने आप यह नई टोपी पहन लीजिये।"

मेरा इतना कहना था कि चराग़-पा हो गये—"बेटा, हमको धोखा न दो, कुछ धूपमें सुखाकर सेठीरामने बाल सुफ़ेद नहीं किये हैं। हमारे सामने ही गांधी टोपी पहनकर हमारा खून जलाते हो, फिर भी हमने कुछ नहीं कहा, उलटा हमींको यह टोपी पहननेको मजबूर करते हो? शर्म नहीं आती तुम्हें अपनी इस हरकतपर?"

मैं किसी तरह उनकी ख़ुशामद करके नंगे सर ही उन्हें जलसेमें ले गया। मेरे आग्रहपर मेरे साथ अलवर, बान्दीकुई, जयपुर, अजमेर, नीमच, मन्दसौर, इन्दौर, बड़वानी, महेश्वर, मण्डलेश्वर, खण्डवा आदि स्थानोंमें १६३७ में भाषण देने गये थे, और तक़रीबन एक माह इस प्रवासमें मुझे उनके साथ रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कभी अवकाश मिला तो इस प्रवासके कड़ुवे-मीठे अनुभव लिखनेका प्रयत्न करूँगा।

डालमियानगर,

८ अक्टूबर १९५१

अधूरा परिचय

गोयलीय

सेठीजीका जीवन-परिचय लिख भेजनेके लिए मैंने उनके कई परिचितों और सम्बन्धियोंको पत्र लिखे, किन्तु खेद है कि कहींसे भी परिचय प्राप्त न हो सका। भाग्यकी बात अपनी फ़ाइलों को उलटते-पलटते मेरे अधूरे लेखोंमें बहुत ही ख़स्ता हालतमें फुलिस्केप काग़ज़के दो पृष्ठ निकल आये, जिसमें सेठीजीके सम्बन्धमें कुछ संकेतात्मक वाक्य लिखे हुए थे। उन्हीं पृष्ठोंके आधारपर थोड़ा-सा परिचय लिखने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

सन् १९२८ से १९३७ तक जितनी बार सेठीजीसे मिलनेका मुझे अवसर मिला मैं बराबर परिचय लिखा देनेका उनसे अनुरोध करता रहा, किन्तु वे कंजूसके धनकी तरह उसे सदैव छिपाये रहे। एक दिन मैंने बहुत अनुनय-विनय करते हुए कहा—"या तो आप अपने सम्बन्धमें सिलसिलेवार कहते जायें, या आप मेरे प्रश्नोंका उत्तर देते जायें, मैं यों सहज ही आपका पीछा छोड़नेवाला जीव नहीं हूँ।"

पहले तो वे व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी बातें करते ही न थे। राज-नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक चर्चाएँ ही मुख्य रूपसे करते थे। फिर विश्वास होनेपर कभी-कभी कुछ संकेत रूपमें कहते भी तो बेसिलसिले और धुँधला-धुँधला बयान कर जाते। मेरे उक्त निवेदनपर अभी कुछ कहने भी न पाये थे कि बोले—"अच्छा मेरा यह परिचय तुम कब लिखकर छपवाओगे ?"

मैं बोला—"आपके निधनके बाद।"

उछलकर बोले—"शाबास बेटा, तब तो वाक़ई तुम्हें कुछ बताया जा सकता है।" लेकिन बताया नहीं, इधर-उधरकी बातें करते रहे।

इस तरह जब भी प्रसग छिडता हवा-सी देकर और-और बातें करने लगते। फिर मैं कितना ही प्रयत्न करता, वे आपेमें न आते और मै हारकर चुप हो जाता।

१६३७ ईस्वीमें मैं और सेठीजी एक माह प्रवासमें रहे। तब कभी कुछ पूछ लेता, कभी कुछ जान लेता। उन सब बातोको एकान्तमें बैठा हुआ सकेत रूपमें नोट कर रहा था, ताकि स्मृतिपटलसे उतर न जायें और दिल्ली जाते ही विस्तारसे लिख लूं। लेकिन लिखते हुए उन्होने भाँप लिया, बोले—"अच्छा बच्चू, हमसे भी यह चालाकी!"

पहले तो मै बहाने करता रहा, मगर जब वे नही माने तो मुझे भी ताव आ गया, बोला—"हाँ लिखता हूँ और जरूर लिखूंगा। आपका क्या है, आज मरे कल दूसरा दिन। इस घुने पिंजरका क्या विश्वास, पर मुझे तो अभी जीना पडेगा। आपका जीवन-परिचय मै नही लिख सका तो आगेकी पीढ़ी मुझे क्या कहेगी? राजपूतानेके गडे मुर्दे तो मैं उखाडता फिरूँ, लेकिन राजपूतानेके जीवित नरकेसरीका इतिहास न लिख पाऊँ, मेरे लिए यह कितने कलककी बात होगी।" फिर मैंने आँखोमें आँसू भरकर कहा—"आपको अपने ऊपर दया नही आती तो न सही, आप मेरी स्थितिपर तो तरस खाइये। लोग जब आपके सम्बन्ध-में विस्तृत जानकारी मुझसे चाहेंगे, तब मै क्या जवाब दूंगा।"

सुनकर हँसने लगे। बोले—"बेटा, अच्छा-खासा लेकचर दे लेते हो। थोडा-थोडा तेरा जादू हमपर भी असर डाल रहा है।" और बस फिर वही रफ्तार बेढगी। दुनियाभरकी बातें करना, पर अपने बारेमें कुछ नही कहना। और कहना भी तो बेतरतीब और वह भी लिख लेनेकी मनाई।

पहले खयाल था, इन्ही बेतरतीब टुकडोको जोडकर जीवन-परिचय लिख लूंगा! पर इन ११-१२ वर्षोंमें कुछ ऐसे झकोले आये कि लिखने-का विचार तक नही आया और जब लिखने बैठा हूँ तो स्मृतिपटलसे वे सब बातें विस्मरण हो गई हैं, बहुतेरा प्रयत्न करता हूँ कि कुछ उनकी राज-

नैतिक जीवन-सम्बन्धी घटनाएँ याद आ जायें, किन्तु याद नहीं आ रही हैं। अतः फाइलमें मिले हुए १३ वर्ष पुराने नोट्सके आधारपर ही कुछ लिखने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

सेठीजीके पितामह श्री भवानीदासजी सेठी दिल्ली (वैद्यवाड़ा) में रहते थे। मुग़ल सल्तनतके अन्तिम बादशाह बहादुरशाह 'ज़फ़र' का शासनकाल था। भवानीदासजीके शहज़ादोंके साथ मैत्री-सम्बन्ध थे। उन्हीके साथ अक्सर उठक-बैठक रहती थी। उनका सब कारोबार गुमाश्ते देखते थे। भवानीदासजीका परिचय और प्रभाव इतना था कि वे स्वयं कारोबार नहीं देखते थे, तब भी उनके नामपर कारोबार अच्छा चलता था। इनकी पत्नी और बच्चेका निधन हो गया था। १८४५ ई० में इनको यकायक स्वप्न दिखाई देने लगे और कोई स्वप्नमें इनसे बार-बार दिल्ली छोड़ देनेका आग्रह करने लगा। पहले तो खास ध्यान नहीं दिया गया, किन्तु बार-बार जब यही वाक्य दुहराया जाने लगा तो इसे आनेवाली आपत्तिका संकेत[1] समझकर ये दिल्ली छोड़कर जयपुर चले गये।

जयपुर निवासस्थान बनानेके बाद श्री भवानीदासजीने अपना द्वितीय विवाह किया और उनकी पत्नीसे जवाहरलाल सेठीका जन्म हुआ।

जवाहरलालजीने मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त की और जयपुर राज्यके चूमूँ ठिकानेके कामदार (दीवान) और कौन्सिलके सेक्रेटरी पदपर नियुक्त हुए।

जवाहरलालजीका पाणिग्रहण जयपुर राज्यके प्रतिष्ठित और सम्मानित श्री मोहनलालजी नाज़िमकी सौभाग्यवती पुत्री पाँचोदेवीसे[2]

१—यह १८५७ में होनेवाले ग़दरकी भविष्य वाणी थी।

२—इस वीर-माताके चरण-स्पर्शका सौभाग्य मुझे १९३७ ई० में मिल चुका है। तब वे काफ़ी वृद्ध थीं और जयपुरमें अपने बड़े पुत्रके साथ रहती थीं।

हुआ। जिनकी कूखसे १८८१ ईस्वीमें श्री अर्जुनलालजी सेठीका जन्म हुआ।

सेठीजीने १८९८ ई० में मैट्रिक और १९०२ में बी० ए० पास किया। बी० ए० की परीक्षा देने लखनऊ गये तो वहाँ आपके मनमें समाज-सेवाके अंकुर उत्पन्न हुए। वहाँ यह देखकर कि परीक्षार्थियोंमें जैन विद्यार्थियोंको अपने घरपर भोजन करानेकी शुभ भावनासे श्री सीतल-प्रसादजी (बादमें ब्रह्मचारी) खोजते फिर रहे हैं। आपके हृदयपर इस वात्सल्य भावका बहुत प्रभाव हुआ। उन्हीं दिनों अपने हमनामकी लाड़ली पुत्री गुलाबदेवीसे सेठीजीका विवाह हुआ। १९०४ में प्रकाश उत्पन्न हुआ, यह अत्यन्त होनहार प्रतिभाशाली बालक था, किन्तु खेद है कि १९२४ में केवल २० वर्षकी भरी जवानीमें अचानक स्वर्गवासी हो गया, जिसका सेठीजीकी मनःस्थितिपर बहुत घातक घाव हो गया। नज़र-बन्द किये जानेसे पूर्व तीन लड़कियाँ भी थीं। १९२० में नज़रबन्दीसे छूटनेके बाद उन तीनोंका विवाह क्रमशः हूमण जैन, खण्डेलवाल जैन और ब्राह्मण वरोंसे कर दिया।

जेलसे आनेके काफ़ी अर्से बाद उनके तीन सन्तानें—प्रकाश, जगत, विमला—और हुईं। मैंने तो सन् ३७ में उनको ११, ५ और ७ वर्षकी अवस्थामें देखा था, जो अब सब युवा हो गये होंगे।

सेठीजीने बी० ए० उन दिनों पास किया था, जब बी० ए० चिराग़ लेकर ढूंढ़नेपर बमुश्किल मिलते थे। आपकी जयपुर राज्यमें निज़ामत (डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट) पदपर नियुक्ति होनेवाली थी कि १९०२ में पिता-जीकी मृत्यु हो जानेसे चूमूं ठिकानेकी कामदारीका पद सँभालना पड़ा। अभी पूरी तरहसे वज़ारतका क़लमदान सँभालने भी नहीं पाये थे कि चूमूं ठिकानेमें ए० जी० जी० का पदार्पण हुआ। स्टेटने औक़ात से भी ज़्यादा उसका पुरतकल्लुफ़ स्वागत किया, फिर भी उसने कह ही दिया—These are Rusties (ये गँवार हैं)। सेठीजीके हृदयपर अंग्रेज़ी राज्य-द्रोहका यह सबसे पहले इंजेक्शन लगा।

सिंघई भूतारामजी १८०२ में महाराजा जयपुरके मुसाहिब थे। उनकी स्वीकृति लिये बग़ैर कोई भी अंग्रेज़ शहरमें प्रवेश नहीं कर सकता था, और जब तक वे जिये भाद्रपदमें चिड़ियाघरके शेरोंको मांस नहीं दिया जाता था। इन्हीं बातोंको सुनकर सेठीजीके हृदयमें अंग्रेज़ी राज्यके प्रति विद्रोही, और राष्ट्र-प्रेमकी भावना उत्पन्न हुई। अभी पूरे दो वर्ष कामदार पदपर कार्य करने भी न पाये थे कि राज्यकी ओरसे बेगार प्रथा, किसानों-मज़दूरोंके शोषण आदिको देखकर सेठीजीका हृदय काँप उठा और उन्होंने त्यागपत्र देकर खुले आकाशके नीचे खड़े होकर स्वच्छन्द साँस लिया।

यों तो आपमें बाल्यकालसे ही लोकसेवाके चिह्न प्रकट होने लगे थे। घर आया हुआ भिक्षुक खाली हाथ नहीं लौट पाता था, जो हाथ पड़ा चुपचाप उठाकर दे देते थे। बाल्यावस्थासे ही सभाओंमें व्याख्यान देने और नाटकोंमें भाग लेने लगे थे। स्वयं अबोध विद्यार्थी होते हुए भी १३ वर्षकी अवस्थामें एक पाठशाला खोली, जैनप्रदीप[१] पत्र निकाला, विद्या-प्रचारिणी सभा बनाई। श्री जवाहरलालजी जैन वैद्य सेठीजीके बाल्य-सखा थे, हिन्दीकी रुचि उन्हींके संसर्गसे सेठीजीमें उत्पन्न हुई। नेतृत्व-शक्ति बाल्यावस्थासे ही भासित होने लगी थी। साथी बालकोंको अपने अनुशासनमें रखते थे। १३ वर्षकी अवस्थासे आपके हिन्दी जैन-गज़टमें लेख भी छपने लगे थे। देशोद्धारकी उग्रतम भावना आपमें जन्म-जात थी। वह धीरे-धीरे पनपती गई और कामदार होते हुए भी सेठीजीने सात आदमियोंकी एक गुप्त समिति बनाई जिसमें घीसूलालजी गोलेछा (श्वेताम्बर जैन) और दीवान जमनालालजी मुख्य थे। उस समिति

---

१ शायद हस्तलिखित, शायद इसलिए कि मैं नोट करते समय यह पूछना भूल गया था, अब मुझे स्मरण नहीं रहा है कि पत्र छपाते थे या हाथसे लिखते थे। उस आयुमें हाथसे लिखना ही अधिक सम्भव हो सकता है।

में भारत माँ और जैनसमाजकी सेवामें प्राणतक न्योछावर करनेका व्रत लिया गया। फिर तीन संगठित संस्थाएँ बनाई गईं, जिनकी अन्तरंग समितिमें सात सदस्य थे।

बी० ए० पास करते ही सेठीजी रावलपिण्डी जैनसमाजके निमन्त्रण-पर १९०४ ई० में गये और वहाँ पहले-पहल जैनसमाजके समक्ष अंग्रेजीमें भाषण दिया[1]।

रावलपिण्डीके आदर-सत्कारके बाद सेठीजीका उत्साह बढ़ गया और वे पूर्णरूपेण सामाजिक क्षेत्रमें उतर आये। १९०५ ई० में नजीबा-बादके साहू जुगमन्दरदासके नेतृत्वमें महासभाका डेपुटेशन सी० पी० गया। उसमें पं० चुन्नीलाल मुरादाबादवाले, श्री चन्द्रसेन वैद्य इटावे वाले, पं० रघुनाथदास सरनऊवाले, हकीम कल्याणराय अलीगढ़वाले, पं० जिनेश्वरदास माइल देहलवी, श्री सीतलप्रसाद (ब्रह्मचारी होनेसे पूर्व) लखनऊवाले और सेठीजी थे। डेपुटेशन[2] दो माह सी० पी० में फिरा और केवल दस हज़ार रुपया मिला जो कि महासभाके फ़ण्डमें

१—सेठीजीने यह संस्मरण सुनाते हुए हँसकर कहा था—मैं तभी स्कूलसे ताज़ा-ताज़ा रंगरूट निकला था। धार्मिक और सामाजिक ज्ञानमें उल्लूका पट्ठा था, फिर भी न जाने क्यों मेरा व्याख्यान पसन्द किया गया और मेरी बड़ी प्रशंसा हुई।

२—इस डेपुटेशनका एक ग्रुप फोटो मैंने नजीबाबादमें साहू जुग-मन्दिरदासजीके पास १९२८ में देखा था। उस पुरानी स्मृतिको वे बहुत सावधानीसे अपने यहाँ रक्खे हुए थे और डेपुटेशनके अनेक मनो-रंजक संस्मरण सुनाया करते थे। परन्तु अफ़सोस, उन्हें लिख लेनेका मुझे तब शऊर ही न था। हाय! ज़िन्दगीमें यह ग़लती मुझसे ऐसी हो गई है कि मेरे इस बेशऊरेपनको भावी पीढ़ी कभी क्षमा नहीं कर सकेगी, अब पछताता हूँ और सर धुनता हूँ। अब कौन है जो इनके जीवन-परिचय लिखवा सकेगा?

जमा कर दिया गया। कानपुर स्टेशनपर डेपुटेशनसे मुलाकात करनेके लिए डिप्टी चम्पतराय आये। उन्होने डेपुटेशनके नेता साहू जुगमन्दर-दाससे कहा कि तुम क्यो अर्जुनलालकी जिन्दगी खराब करते हो। इस होनहार युवकको किसी अच्छे काममें लगने दो। लेकिन सेठीजीके हृदय पर उनकी सीखका विपरीत प्रभाव हुआ और उन्होने मनमे यह दृढ धारणा बना ली कि भविष्यमे जैन समाजके लिए ही जीऊँगा और उसीके लिए मरूँगा।

जयपुर लौटनेके बाद चौरासी मथुरापर महासभा द्वारा स्थापित विद्यालयके सेठीजी मैनेजर नियुक्त हुए। ला० खूबचन्द कण्ट्राक्टरके निमन्त्रणपर सहारनपुरमे जैन-महोत्सवके अवसरपर महासभाका वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशनको सफल बनानेमे सेठीजीने कोई कसर बाकी न छोडी। जल्सा बहुत शानदार और सफल हुआ।

महाविद्यालयकी सेठीजी अधिक सेवा न कर सके। उसके ज्वाइण्ट सेक्रेटरी बा० बनारसीदास मगरूर स्वभावके और अग्रेजी शिक्षाके अधिक पक्षपाती थे। लेकिन सेठीजी अग्रेजीके साथ धार्मिक शिक्षणको अधिक महत्त्व देते थे। सन् १९०४ मे विद्यालय छोडकर जयपुरमे गुप्त समिति बनाकर कार्य करने लगे। सुधारक प्रवृत्ति होनेसे सुधारका कार्य्य भी हाथमे लिया और घर-घर जाकर सुधारक कार्योको प्रोत्साहन देने लगे। जैन विधिसे विवाह कराये जाने लगे हाथीपर तोरण मारनेकी प्रथा बन्द कराई। बाबू चिमनलालजीने जयपुरमे मेला कराया तो उसमे होनेवाले नाटकका समाजने काफी विरोध किया, किन्तु सेठीजीने उस विरोधका डटकर मुकाबिला किया अन्तमे सफलता प्राप्त की।

इससे आगे लिखे हुए साकेतिक वाक्य स्वय मेरी समझमे नही आ रहे है और इनसे क्या अभिप्राय था, मुझे स्मरण नही रहा है। मैने तो जल्दी-जल्दी सकेतमात्र लिख लिया था ताकि सेठीजी न देख लें और बादमें यथा-वसर लिख लूँगा। लेकिन आगे न तो सेठीजीके भयसे लिख पाया और न फिर मुझे ही लिख लेनेका समय रहा। और यह नोट फाइलमें दबकर

रह गया। वे संकेत शब्दमें लिखे दे रहा हूँ, शायद कोई जानकार इससे लाभ उठा सके।

पोलिटिकिल एजेण्टको गायकी ज़रूरत थी। डेरीके नवाब फ़ैयाज़ अलीख़ाँका आदमी गाय खोलकर ले गया। सेठीजीको चिट्ठीका प्रभाव, तलवारका लड़केके घाव और घाव लिये जानेपर लड़केकी वीरता। मथुराका मदन लड़का, घावमें भरे जानेके लिए शिक्षकोंमें मांस देनेकी होड़। सेवाकी ड्यूटी। १९०५ में जैनशिक्षाप्रचारक समिति उसीके अण्डर वर्द्धमान विद्यालय, वर्द्धमान लायब्रेरी जैन बोर्डिंग"।

हाँ, खूब याद आया। १९३७ में जब मैं सेठीजीके साथ एक मास प्रवासमें रहा, तब एक सप्ताह जयपुरमें भी रहना हुआ। वहाँ हम उसी मकानमें रहे, जिसमें कभी सेठीजी रहा करते थे।. उन दिनों उनके बड़े भाईका परिवार उसमें रहता था। सेठीजीकी वीरमाता भी जीवित थी और अपने बड़े पुत्रके परिवारके साथ रहती थीं। मुझे भी उस दिव्य माताके चरण-स्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सेठीजीके कामदारी पदसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेपर उनके बड़े भाईको राज्यने उस पदपर नियुक्त कर दिया था, सन् ३७ में भी वे उसी पदपर आसीन थे।

इसी मकानके नज़दीक उस जैन पुस्तकालयको देखना भी नसीब हुआ, जिसमें बैठकर सेठीजीने अपने जाँ-बाज़ साथियोंके साथ न जाने कितनी गुप्त मंत्रणाएँ की थी।

उन्हीं स्थानोका तवाफ़ करते हुए सेठीजीसे विदित हुआ कि भारतके प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता रासबिहारी बोसकी विप्लवी संस्थाकी राजपूताना शाखाके वे मुख्य सूत्रधार थे, और सेठीजीका एक शिष्य प्रताप, रासबिहारीके सम्पर्कमें भी रहता था!

१९१२ में दिल्लीके चाँदनी चौकमें लार्ड हार्डिंगपर जो बम फेंका गया, वह रासबिहारीके दलकी योजना थी। दिल्ली शाखाके मुख्य कार्यकर्त्ता मास्टर अमीरचन्दजी पुलिस द्वारा हिरासतमें ले लिये गये थे,

और उन्हें जेल न भेजकर उन्हींके मकानमें नज़रबन्द करके छद्मवेषमें पुलिस-ने चारों तरफ़ घेरा डाल दिया था, ताकि उनके पास आने-जानेवाले दलके अन्य सदस्योंको भी फाँसा जा सके।

पूर्वयोजनाके अनुसार सेठीजी अपने कुछ शिष्योंके साथ उनसे मिलने-को दिल्लीके लिए रवाना हो चुके थे। उन्हें इस नज़रबन्दीका इल्म तक नही था। वे अपनी धुनमें मास्टरजीके यहाँ पहुँचते और बाआसानी पुलिस उन्हें दबोच लेती, किन्तु प्लेटफ़ार्मपर ही दलके एक सदस्यने इन्हें सूचना देकर सावधान कर दिया। लेकिन मास्टरजीसे मिलना आवश्यक था। पुलिसके घेरेमें उनसे कैसे मिला जाय, कामकी बातें कैसे की जायें और साफ़ बचकर कैसे वापिस आया जाय। यही सब योजना बनाकर छद्मवेषमें मास्टरजीके दर्वाजेपर जाकर इस तरह आवाज़ देने लगे, जैसे साहूकार क़र्ज़दारको आवाज़ देता है। पुलिसने दर्याफ़्त किया तो बताया "हज़रतपर एक-डेढ़ वर्षसे रुपया पावना है। लेकिन देनेका नाम नहीं लेते और रोज़ाना कोई-न-कोई घिस्सा देते रहते हैं। मै भी आज नावाँ वसूल करके ही जाऊँगा।" पुलिसने और भी शह दे दी। बड़ा बदमाश है, जो लिया जा सके, वसूल कर लो। इसे तो फाँसी लगनेवाली है।

मास्टरजीने सेठीजीकी आवाज़ पहचान ली, वे ऊपरसे ही बोले—"तुम नीचेसे ही शोर क्यों मचा रहे हो, भले आदमियोंकी तरह चाहो तो ऊपर आकर बात कर सकते हो!"

दोनों भले आदमियोंने जो विचार-विमर्श करना था कर लिया!

× × ×

जवानीमें उनका कैसा शान्दार व्यक्तित्व रहा होगा, यह उनके जर्जर शरीरसे भी भाँपा जा सकता था।

खण्डहर बता रहे हैं इमारत विशाल थी।

छः फुट लम्बा क़द, चौड़ा चकला सीना, गेहुँआ रंग, किताबी चेहरा, गाल पिचके हुए, सुतवाँनाक, आँखें चमकीली, ऊँचा माथा! चश्मा लगाते थे। खद्दरका ढीला-ढाला कुरता पहनते थे। सरपर गांधी

टोपी लगाते थे। बादमें गांधी टोपी पहनना छोड़ दिया था।

शरीर उनका जर्जर हो चुका था, उसमें घुन लग चुका था। फिर भी आवाजमें वही कड़क, वही दम-खम। चलनेमें भी एक बाँकपन और बातचीतमें भी एक अजीब आकर्षण।

जैनधर्मके उद्भट विद्वान्, हिन्दूधर्म, विशेषकर गीताके अधिकारी विद्वान्, इस्लाम धर्मके ऐसे जानकार कि मुसलमान क़ुरान पढ़ने आते थे। राजनीतिमें इतने पारंगत कि अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञ मंत्रणा लेने आते थे। व्याख्यान-शैली अत्यन्त प्रभावशाली, जनता घण्टों मंत्रमुग्ध बनी सुनती रहती। जहाँ भी जाते वहाँके कार्य्यकर्ता, उनकी व्याख्यान-सभाओंका ताँता बाँध देते।

जीवनभर वे दुःखमें डूबे रहे। भरी जवानीमें उनका कमाऊ पुत्र चल बसा। पारिवारिक भरण-पोषणकी चिन्ताओंने कभी पिण्ड नहीं छोड़ा। अपने ही कहे जानेवालोंके षड्यन्त्र और विश्वासघातोंने उनकी कमर तोड़ दी। राजनैतिक घात-प्रतिघातोंने उनकी जीते-जी हत्या कर दी। यह सब आपदाएँ किसी पर्वतपर भी पड़तीं तो वह भी ज़मीनसे लग जाता! फिर सेठीजी तो आखिर मनुष्य थे। कब तक सीना तानकर खड़े रहते? उनका आखिर मानसिक सन्तुलन जाता रहा और वे पूर्वापर विरोधी इस तरहकी बातें करने लगे कि यह दीवानी दुनिया उन्हें दीवाना समझ बैठी!

शऊरमन्दोंसे बहतर था, ऐसा दीवाना।

और जनवरी १९४२ में उनकी पत्नीका पत्र मिला कि "सुना है, सेठीजी इस संसारमें नहीं रहे हैं। वे ५-६ माहसे घरसे लापता थे।" उस रोज़ दिनभर गुलज़ार देहलवीका यह शेर गुनगुनाता रहा—

जहाँ इन्सानियत वहशतके आगे ज़िबह होती है।
वहाँ ज़िल्लत है दम लेना, वहाँ बहतर है मर जाना॥

डालमियानगर, ११ अक्तूबर १९५१

और भी

गोयलीय

छह वर्षोंके बन्दी जीवनके बाद १९२० ई० मे जब सेठीजी मुक्त होकर पूना स्टेशन होते हुए बम्बई जा रहे थे, उस समय पूना स्टेशनपर भगवान् तिलक द्वारा उनका अभूतपूर्व स्वागत-समारोह किया गया और वे इतने आनन्दविभोर हुए कि उन्होने अपने गलेका रेशमी दुपट्टा सेठीजीके गलेमे डाल दिया और अभिनन्दन करते हुए कहा—

"आज महाराष्ट्रवासी सेठीजीको अपने बीच देखकर फूले नहीं समाते। ऐसे महान् त्यागी, देशभक्त और कठोर तपस्वीका स्वागत करते हुए महाराष्ट्र आज अपनेको धन्य समझता है।"

सेठीजी जब नजरवन्द किये गये तो भारतके सभी समाचारपत्रों–अभ्युदय, प्रताप, न्यू इण्डिया, मॉडर्न रिव्यू, लीडर, बगाली, भारतमित्र, वैंकटेश्वर समाचार, हिन्दू, इण्डियन सोशल रिफार्म, भारतोदय, कलकत्ता समाचार, हिन्दी-समाचार, अमृतबाज़ार पत्रिका, एडवोकेट—आदिने उनके मुक्त किये जानेका आन्दोलन किया। १९१७ मे काग्रेसके कलकत्ता अधिवेशनमें भी प्रस्ताव पास हुआ और स्वय एनी बीसेंट वाइसरायसे इस सम्बन्धमे मिली।

सेठीजीने जैन वर्द्धमान विद्यालयकी स्थापना १९०७ मे की थी। यह वह युग था, जब इस तरहके विद्यालयोंकी कल्पना भी किसीके मस्तिष्क मे नही थी। न उस समय—गुजरात विद्यापीठ था, न काशी विद्यापीठ था। न मालवीयजीके मस्तिष्कमे हिन्दूविश्वविद्यालयकी योजना थी, न विश्वकवि रवीन्द्रनाथ शान्तिनिकेतनके उद्घाटनका शुभ विचार रखते थे। न लाला लाजपतरायके 'तिलक आफ पॉलिटिक्स' का अस्तित्व था, न देशबन्धुदासका ढाका राष्ट्रिय विद्यालय मौजूद था। इस विद्यालयने

अल्पकालमें ही जो धार्मिक संस्कारोंसे ओतप्रोत निःस्पृही देशभक्त स्नातक तैयार किये, उसकी ख्याति चारों ओर फैल गई। काश, इस विद्यालयको समाजका पूर्ण सहयोग मिला होता और सेठीजीके बन्दी होनेके बाद भी इसे चालू रखा जाता। अन्य छोटे-मोटे स्कूल, विद्यालय रूपी पोखर-तालाब न बनाकर केवल इस सागरकी रक्षा की[1] गई होती, तो उसके प्रखर जलकण सारे संसारमें व्याप्त होकर जिस शानसे बरसते और सुजलां, सुफलां भारत माँको शस्यश्यामला बनाते, कल्पनाके अतिरिक्त अब और कहा भी क्या जा सकता है ? हाय !

वसीले हाथ ही आये न क़िस्मत आजमाईके।

१६२० में नागपुर कांग्रेसमें डा० मुजे आदि महाराष्ट्रिय नेता नही चाहते थे कि गाँधीजीका जुलूस निकले। यह सेठीजीके ही महान् व्यक्तित्वका परिणाम था कि बावजूद घोर विरोधके भी महात्माजीका विराट जुलूस नागपुरमें निकल सका। यह जुलूस पुलिस और प्रान्तीय नेताओंके घोर विरोध करनेपर भी निकाला गया। इससे पुलिसकी कितनी बदनामी हुई और वह कितनी चिढ़ गई, यह इसी घटनासे जाना जा सकता है कि १६३७ में मेरी अभिलाषानुसार जैनधर्म सम्बन्धी व्याख्यान देनेके लिए सेठीजी भिन्न-भिन्न स्थानोंमें होते हुए इन्दौर आये। मैं भी इस एक माहके प्रवासमें उनके साथ था। ग्वालियर राज्यकी तरह यहाँ भी सी० आई० डी० लगी रहती थी। सेठीजीको न जाने क्या सूझा,

---

१—रक्षा होती भी कैसे ? सेठीजीने जिन तत्त्वोंसे यह आशियाना बनाया था, वह सैयाद और बर्क़की नज़रोंसे ओझल भी कैसे रहता ? बक़ौल इक़बाल—

लाऊँ वोह तिनके कहींसे आशियानेके लिए।
बिजलियाँ बेताब हों, जिनके जलानेके लिए॥
दिलमें कोई इस तरहकी आरज़ू पैदा करूँ।
लौट जाये आस्माँ मेरे मिटानेके लिए॥

मुझसे बग़ैर कहे ही वे सीधे जर्नल पुलिस इन्सपेक्टरके पास पहुँचे, और उससे कहा कि "मेरा अब राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं केवल धर्मोपदेशके लिए भ्रमणमें निकला हूँ। अतः सी० आई० डी० अब पीछे रखना व्यर्थ है" यह पुलिस-अफ़सर वही अंग्रेज था, जो १९२० के कांग्रेस अधिवेशनके अवसरपर नागपुरमें पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट था। सेठीजीको तत्काल पहचान लिया और आगबबूला होकर अनाप-शनाप बकने लगा, जिसका लब्बो-लुबाब यह था कि "तुम सात बार मरकर भी क़सम खाओ कि मैंने राजनीतिक क्षेत्रसे संन्यास ले लिया है तो भी विश्वास नहीं किया जा सकता।" और इन्हें तत्काल बँगलेसे बाहर करा दिया।

जब मुझे इस घटनाका पता चला तो बहुत दुःख हुआ और मैंने झुंझलाकर कहा—"आप वहाँ गये ही क्यों?" सेठीजी बोले—"बेटा, मैं तो हर आदमीके कानमें यह कह देना चाहता हूँ कि मेरा आजके भारतीय आन्दोलनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई भी मुझे कांग्रेस मशीनरीका पुर्ज़ा समझे, इसे मैं अपनी हतक़ समझता हूँ।" मैंने कहा—"आपके विचार वर्तमान हाईकमाण्डसे नहीं मिलते हैं, या वे आपको काम नहीं करने देना चाहते हैं तो न सही, आप चुप रहें। मगर इस तरहसे ऐरे-ग़ैरोंसे कहना तो आपकी शानके भी खिलाफ़ हैं और आम जनता तो आपकी देशभक्ति पर भी शको-शुबह करने लगती है। क्योंकि आम धारणा यही है कि जो कांग्रेसी (पदारूढ़ वर्गका अनुयायी) नहीं है, वह देश-द्रोही है। और आप जीवनके अन्तिम दिनोंमें अपने सब किये-करायेपर पानी क्यों फेरते हैं।" वे बोले—"बेटा, मेरे हृदयमें जो नासूर हो गया है, उसे तुम नहीं देख सकते। मेरा इस दूषित वातावरणमें दम घुट रहा है, मैं हर एकको अपने अन्तरंगकी आवाज़ सुना देना चाहता हूँ।"

मैं उस समय तो उनके भाव नहीं समझा और कहीं मुझसे बोलते हुए बेअदबी न हो जाय, इस वजहसे चुप हो गया। पर उनके मनोभावों-का अर्थ आज स्पष्ट समझने लगा हूँ। जब कि उच्च-से-उच्च नेता कांग्रेस से पृथक् होकर उसका विरोध करना अपना अव्वलीन धर्म समझे हुए

हैं। और न जाने कितने गांधी टोपी न पहननेकी क़सम खा बैठे हैं। चूंकि जब सेठीजी अकेले थे, न उनका कोई सहयोगी था, न उनकी पब्लिसिटी करनेवाला कोई प्रेस था, अस्तु अपनी अक़्लके पैमानेसे ही लोग सेठीजी-को नापते थे।

मुझे स्वयं उनकी बातचीत और व्यवहारसे विश्वास हो गया कि इन्हें भारतकी स्वतन्त्रताकी कोई चाह नहीं है, और जो इन्होंने अभीतक इसके लिए तप-त्याग किये हैं, उसका इन्हें पछतावा है।

इन विचारोंसे मुझे बहुत मानसिक क्लेश पहुँचा। मेरे मनने कहा—सेठीजी अब जल्दी ही मर जाएँ तो अच्छा है ताकि उनके सुयशमें कोई धब्बा न लगने पाये। इसी उधेड़-बुनमें मैं २-३ रोज़ काफ़ी अन्यमनस्क और दुःखी रहा। सेठीजी उड़ती चिड़ियाको भाँपनेवाले थे। मुझ उथले-को भाँपनेमें उन्हें क्या देर लगती ?

बोले—"बेटा, क्या सचमुच भारतको स्वतन्त्र देनेका अभिलाषी है ?"

मैं गर्दन नीची किये चुपचाप बैठा रहा।

"तो एक काम कर, अपनी जैन समाजमें दो-चार मिलमालिक हैं। उनसे कहकर तू १००-२०० जर्मन-जापानी उनके मिलमें नौकर रखवा दे।"

"इससे क्या होगा ?"

मेरा कान पकड़ते हुए तनिक स्नेह-भरे स्वरमें बोले—"बेवक़ूफ़, अंग्रेज सरकार इसे कभी सहन नहीं करेगी, वह रोक-टोक ज़रूर लगायेगी। इससे जर्मन-जापानमें भी असन्तोष फैलेगा और यही असन्तोष महायुद्ध-को खींच लायेगा और जहाँ अंग्रेज़ युद्धमें फँसे, हम उन्हें इतने ज़ोरसे धकेलेंगे कि समुद्रमें ग़ोते खाते नज़र आयेंगे।"

बात जो उन्होंने कही, वह मेरे बल-बूतेकी नहीं थी। मेरे किसी भी मिल-मालिकसे इस तरहके सम्बन्ध नहीं थे जो मेरे कहनेपर इतना बड़ा खतरा उठानेको तैयार हो सके। अतः बात आई-गई हुई। मगर मैंने मनमें कहा कि वह अंग्रेज़ अफ़सर ठीक ही कहता था कि सेठीका सात

जनम भी विश्वास नहीं किया जा सकता ?

× × ×

सेठीजी ६ वर्षकी नज़रबन्दीसे १९२० में छूटने भी न पाये थे कि असहयोग-आन्दोलनमें कूद पड़े। १९२२ में आप मुक्त हुए तो आपको भेंट की हुई गाँधी टोपी नीलाम करनेपर १५०० रु० में बिकी थी।

१९२३ में साम्प्रदायिक दंगोंको रोकनेके लिए आप गली-कूचोंमें फिरते थे, तभी किसी मुस्लिम गुण्डेने उन्हें घायल कर दिया।

इसी वर्ष सेठीजीका इकलौता पुत्र प्रकाश मृत्यु-शय्यापर पड़ा हुआ था ! उसे वे देखने जोधपुर जा रहे थे कि पं० सुन्दरलालका तार उन्हे बम्बई तुरन्त पहुँचनेके लिए मिला। कर्तव्यकी पुकारके आगे रुग्ण बच्चेकी चीत्कार धीमी पड़ गई। उसे देखने न जाकर सीधे बम्बई पहुँचे और जब सभामें भाषण देने खड़े हुए तो जवान बेटेकी मृत्युका तार भी किसीने हाथमें थमा दिया। तार पढ़ा, चुपचाप जेबमें रखा और भाषण देने लगे। लोगोंने सुना तो सर धुन लिया। मगर वे विदेह बने भाषण देते रहे। शहरमें खबर पहुँची तो कोहराम मच गया, बाज़ार बन्द हो गये। जनता समवेदना प्रकट करनेको उमड़ पड़ी।

वोह घबराकर जनाज़ा देखने बाहर निकल आये।
किसीने कह दिया मय्यत जवाँ मालूम होती है॥

—सीमाब अकबराबादी

१९२५ ई० में कानपुरमें कांग्रेसके अधिवेशनमें सेठीजीके साथ जो नृशंस व्यवहार हुआ, वह कभी भुलाया नही जा सकता। अजमेर भी कांग्रेसका एक सूबा समझा जाता था, कांग्रेस विधानके अनुसार उसे भी अपने प्रतिनिधि चुनकर अधिवेशनमें भेजनेका अधिकार था। उस चुनावमें सेठीजीके अनुयायियोंका बहुमत हो गया। यह विरोधीपक्षको कैसे सहन होता ? उस चुनावको वर्किंग कमेटीने रद्द कर दिया, तो सेठीजीके नेतृत्वमें लोगोंने पण्डालके दर्वाज़ेपर सत्याग्रह कर दिया। पुलिसकी लाठी खानेवाले कांग्रेसी स्वयंसेवक इस सत्याग्रहको बर्दाश्त न

कर सके और स्वयं लाठी खाते-खाते वे इस कलाके इतने अभ्यस्त और आदी हो गये थे कि उन्होंने सेठीजीको लाठियोंसे बिछा दिया। इस आक्रमणसे सेठीजी अत्यन्त घायल हो गये। उन्हें देखनेको स्वयं महात्मा गाँधी, पं० मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, पं० जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, मौ० मुहम्मदअली, मौ० शौक़तअलीके साथ सेठीजीके निवासस्थानपर पहुँचे और सेठीजीसे कहा—"मुझे आपके चोट लगनेका भारी दुःख है, उसके प्रायश्चित्त स्वरूप में उपवास करना चाहता हूँ।" सेठीजीके समझानेपर महात्माजीने उपवासके संकल्पका त्याग करते हुए कहा—"आप धर्मशास्त्रके ज्ञानमें मेरे गुरुतुल्य हैं।"

समाचारपत्रोंमें जब सेठीजीके घायल होनेके समाचार पढ़े तो दिल्ली आनेपर मैंने सेठीजीसे इस घटनाके सम्बन्धमें पूछा। उन्होंने बताया कि इस काण्डसे जनता बहुत क्षुब्ध हो गई थी, और एक युवक तो मेरे पाँव छूकर महात्मा गाँधीकी हत्याको उद्यत हो गया था। बड़ी मुश्किलसे मैंने उसे रोका।

एक समय मिश्र विश्वविद्यालयके एक प्रोफ़ेसर अजमेरमें इस्लाम जगत्‌के प्रसिद्ध आलिम-फ़ाज़िल मौलाना मुईनुद्दीनसे मिलने आये तो मौलाना साहबने उनको सेठीजीसे भी मिलाया। बात करके वे बोले—"ऐसे दिग्गज विद्वान्‌की मिश्र-विद्यालयको आवश्यकता है।"

बताते हैं कि १९२० ई० में देशबन्धु सी० आर० दासने सेठीजीसे कहा था कि आपके जन्मका उपयुक्त स्थान राजस्थान नहीं था। आप बंगाल में जन्म लेते तो, देखते कि बंगाल आपका कितना सम्मान करता है।

बावजूद गहरे मतभेद होनेके ५ जुलाई १९३४ को महात्मा गाँधी स्वयं सेठीजीकी कुटियापर मुलाक़ात करने गये, और उन्हे पुनः राजनीतिमें भाग लेनेको विवश किया। ९ सितम्बर १९३४ को वे राजपूताना एवं मध्य भारत प्रान्तीय कांग्रेसके प्रान्तपति चुने गये, किन्तु प्रतिपक्षी दलने इस चुनावको भी रद्द करा दिया।

राजपूतानेका राजनैतिक वायुमण्डल इतना विषाक्त हो गया कि सेठीजीने भारत छोड़कर १९३५ में अफ़्रीका जानेका निश्चय कर लिया, किन्तु पासपोर्ट लेनेके बाद भी वे न जा सके। मैं समझता हूँ आर्थिक कठिनाइयोंके कारण ही ऐसा हुआ होगा।

फिर वे मेरे कहनेसे राजनैतिक क्षेत्रका सर्वथा त्याग करके सामाजिक सेवाके लिए तत्पर हो गये और यत्र-तत्र धार्मिक प्रवचनोंको जाने लगे थे। राजनैतिक कार्योंसे उनको अत्यन्त अरुचि हो गई और वे सर्व-धर्मसमभावी हो गये।

यद्यपि उनका जन्म जैनकुलमें हुआ था और जैनधर्ममें पूर्ण श्रद्धा एवं आस्था रखते थे, साथ ही अन्य धर्मोंके प्रति भी आदर रखते थे। उनका सहृदयतापूर्वक बखान करते थे। उनका रोम-रोम अनेकान्त-सुधा-में भीगा हुआ था। उन्हें सभी धर्मोंमें अच्छाइयाँ नज़र आती थीं। उनकी अनेकान्त दृष्टिमें राम-रहीम, बुद्ध-महावीरमें कोई अन्तर नहीं था।

शेख़ हो या बिरहमन माबूद है सबका वही।
एक है दोनोंकी मंज़िल फेर है कुछ राहका॥

—अज्ञात

जैनधर्मपर प्रवचन करते तो मालूम होता, कोई आँखों-देखा समवसरणका वर्णन कर रहा है। गीतापर बोलने लगते तो विदित होने लगता, इसी अर्जुनको योगिराज कृष्णने गीता सुनाई थी, और इस्लामपर जब वाज़ फर्माते तो अच्छे-अच्छे मौलवियोंको अपनी लाइल्मी और तंग-दिलीका अहसास होने लगता। उनके लिए दैर-ओ-हरममें कोई अन्तर नहीं था।

तुम्हारा ही बुतख़ाना काबा तुम्हारा।
है दोनों घरोंमें उजाला तुम्हारा॥

—आग़ाशाइर देहलवी

वे संकीर्णहृदय धर्मोन्मादी पण्डितों और मज़हबी मुल्लोंकी परछाईंसे भी दूर रहते थे। मज़हबी दीवानोंको वे मानवताका कलङ्क समझते थे। मेरे साथ प्रवासमें एक माहके क़रीब रहे। तीर्थोंकी भक्तिपूर्वक वन्दना-पूजा भी करते और चलते हुए कोई मन्दिर-मस्जिद रास्तेमें आते तो वहाँ से भी बा-अदब गुज़रते।

तेरे ज़िक्रने, तेरी फ़िक्रने, तेरी यादने वोह मज़ा दिया।
कि जहाँ मिला कोई नक़्शेपा, वहीं हमने सरको झुका दिया॥

—बहज़ाद लखनवी

लेकिन उनके राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वी जो ऊपरसे तो देशभक्तिका जामा पहने हुए थे और अन्तरंगमें घोर सम्प्रदायवादी थे, सेठीजी द्वारा राजनैतिक क्षेत्र सर्वथा परित्याग कर देनेपर भी, उनके विरोधी बने रहे और अपनी कलुषित मनोवृत्तिका यहाँ तक परिचय दिया कि—"सेठीजी मुसलमान हो गये।" यह क्रूर और असत्य प्रचार करनेसे भी बाज़ नहीं आये।

न हुआ सकूँ मयस्सर उसे बहरे ज़िन्दगीमें।
किसी मौजने डुबोया, किसी मौजने उभारा॥

—अज्ञात

राजनैतिक क्षेत्रसे उन्हें हटाने एवं मिटानेमें कैसे-कैसे प्रयत्न किये और कितने लाख रुपये व्यय किये। यह सब भेद—उन मिटानेवालोंमें ही फूट पड़ जानेके कारण खुल चुके हैं। सत्ताधारी राजनैतिक लोग—हाँमें हाँ न मिलानेवाले व्यक्तियोंको किस बुरी तरह समाप्त कर देते हैं, यह सेठीजीके नैतिक वधके समय तो जनता नहीं समझ सकी, क्योंकि पहली घटना थी।

नया बिस्मिल हूँ, मैं वाक़िफ नहीं रस्मे शहादतसे।
बता दे तू ही ऐ ज़ालिम! तड़पनेकी अदा क्या है?

—अकबर

लेकिन जब नरीमैन, खरे, सुभाष भी इस नीतिके शिकार बनाये गये, तब लोगोंने सेठीजीकी दयनीय स्थितिको समझा। और आज तो यह आम रिवाज हो गया है कि ३०-३० वर्षके खरे कार्यकर्ता भी कांग्रेस छोड़नेको वाध्य कर दिये जाते है। कांग्रेसके प्रमुख पं० जवाहरलालजी भी कब बाहर कर दिये जायें, कहा नही जा सकता।

वोह पलकों पै आ ही गया बनके आँसू।
ज़बां पर न हम ला सके जो फ़साना॥

—हसरत सहबाई

सेठीजीका आत्मधर्म क्या था, और वे किस श्रेणीमें पहुँच गये थे, यह मुझको लिखे गये १७ अगस्त १९३७ के पत्रसे विदित होगा, जो कि मेरे पास आज भी सुरक्षित है। लिखा है—"**क्या अच्छा हो जो मैं केवल सर्वज्ञोपासक अनेकान्ती नामसे ही पुकारा जाऊँ, और इसी तरह और ऐसे ही स्थानमें चढ़ जाऊँ, जहाँ तौहीद ही तौहीद हो, इरतिकाका यथार्थ हो।**"

यानी जहाँ पहुँचकर गुण, गुणी, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, ध्यान, ध्याता, ध्येयका अन्तर न रहे। तू और मैंका भेद ही नष्ट हो जाय।

अब मुहब्बत ही मुहब्बत है न हम हैं और न तुम।
जिसके आगे कुछ नहीं है, वह मुक़ाम आ हो गया॥

—आसी लखनवी

सेठीजी राजनैतिक क्षेत्रमें ही पीड़ित नही रहे, वे पारिवारिक भरण-पोषणकी चिन्तामें भी जीवनके अन्तिम श्वास तक गलते रहे। यौवनके पहले ही ज्वारमें देश-सेवामे कूद पड़े। बड़ोंका संचित सब कुछ स्वराज्य के दावपर लगा दिया। बुढ़ापेमें सहायता तो दूर ३० रु० मासिक वेतन पर भी वे मँहगे समझे गये—

वक़्ते पीरी दोस्तोंकी बेरुख़ीका क्या गिला?
बचके चलता है, हरइक गिरती हुई दीवारसे॥

—अज्ञात

उनकी इस दयनीय स्थितिका पता, इस पत्रसे भले प्रकार जाना जा सकता है—

अजमेर

१७ अगस्त १९३७

बन्धुवर,

मैं कल यहाँ आया, जयपुरमें बीमार हो गया था। मेरी तन्दुरुस्ती ख़राब हो ही गई। दर असलमें मैं दिलोदिमाग़ खो ही चुका। यहाँ आपका पत्र रखा हुआ मिला। आपने जो कुछ लिखा है—वाक़ई वह वैसा ही है, जो मैं समझ चुका था। ठीक ही है श्रद्धा और प्रेम-भावना असमर्थ और अशक्तके प्रति कभी किसीकी न रही और न रहेगी। भूल इतनी-सी मेरी है कि मैंने अपनेको ३० रु० का नौकर न समझा।······

गोयलीजी, सच है रुपयेका दासत्व नरकसे बढ़कर है, और रुपया तो दास भी बनाता है।··········

एक व्यक्तिके सहारे रहना न मेरे लिए इष्ट है न उपादेय। नौकरी तो ३० रु० की यहाँ भी मिल ही जायगी मुझे तो एक उद्देश्य सताता है और यह वही है जो शायद शपथ खाकर मैंने आपसे उभय पक्षके बचनोंके साथ जयपुरमें प्रकट किया था। मेरे बच्चे आनासागरमें डुबो दिये जाएँ, कुछ परवाह नहीं। मेरा क़तल कर दिया जाय फबहा[1]। अन्न कष्ट, जल कष्ट, वायु कष्ट[2],··········आवें··········[3]

······मैं तो जैनधर्म्म और उस राजनीतिका प्रचार करूँगा जो आपसे कई बार स्पष्ट हो चुके है। जो बड़वानीपर[4] ले गये, वे ही आगे का रास्ता खोलेंगे।·········

—अ० सेठी

१—बहुत बहतर।

२-३—इन स्थानोंपर स्वयं सेठीजीने बिन्दु लगाये हैं।

४—बड़वानी—बावनगजा क्षेत्रपर मैंने और सेठीजीने भक्तिभावपूर्वक बन्दना की थी, उसीकी ओर संकेत है।

राजनैतिक और आर्थिक दुश्चिन्ताओंके कारण सेठीजीका मानसिक सन्तुलन आखिर खराब हो गया, और जब कहीं आश्रय नहीं मिला तो ३० रु० मासिकपर मुस्लिम बच्चोंको पढ़ानेपर मजबूर हो गये। अपने ही लोगोंकी इस बेवफ़ाईका उनके हृदयपर ऐसा आघात लगा कि उन्होंने घर आना-जाना भी तर्क कर दिया और २२ दिसम्बर १९४१ को इस स्वार्थी संसारसे प्रयाण कर गये।

जिस असाम्प्रदायिक तपस्वीकी अर्थीपर कबीरकी मैयतकी तरह गाड़ने-फूँकनेके प्रश्नपर हिन्दु-मुस्लिम सघर्ष होता। वह भी कुछ सम्प्रदायी मुसलमानोंके षड्यन्त्रके कारण न हो सका। उनके परिवारवालोंको भी तीन रोज़ बाद सेठीजीकी मृत्युका संवाद मिला, और इस तरह वे ग़ालिबके निम्न शेरके मिसदाक़ बने--

वफ़ादारी बशर्ते इस्तवारी अस्ल ईमाँ है।
मरे बुतख़ानेमें तौ काबेमें गाड़ो बिरहमनको ।।

मिर्ज़ा ग़ालिबकी यह पवित्र भावना केवल कल्पना ही कल्पना थी। किसी भी ग़ैरमुस्लिमको कभी यह सन्मान[२] (?) न कभी प्राप्त हुआ और न होगा। वह तो जिन मज़हबी दीवानोंने सेठीजीको दफनाया, उनके मस्तिष्कमें यह विचार था, कि उनकी इस हालतसे हिन्दुओंको ज़लील किया जाय कि तुम्हारा इतना बड़ा नेता हमने दफ़ना दिया।

१--ग़ालिब फ़र्माते हैं--वफ़ादार होना ही सबसे बड़ा ईमान है। जो जीवनभर अपने ईमान टेकपर क़ायम रहे, अगर ऐसा ब्राह्मण मरे तो वह इस प्रतिष्ठाका अधिकारी है कि उसकी समाधि काबेमें बनाई जाय।

२--किसी व्यक्तिको काबेमें समाधि मिले, यह मुसलमानोंमें बहुत अधिक सम्मान समझा जाता है। फिर हिन्दूको, जिसे वे काफ़िर समझते हैं, अगर काबेमें समाधि मिल सके जो कि क़तई असम्भव है, उसके भाग्यपर तो फ़रिश्तोंको भी ईर्ष्या होगी।

काश, हिन्दु-मुस्लिमोंमें यह सच्चा स्नेह होता कि हिन्दू—पवित्र मुसलमान को अपने यहाँ अग्नि संस्कार देकर उसका अभिनन्दन करते और मुसलमान शुद्ध हिन्दूको अपने यहाँ दफ़नाकर उसका अहतराम करते तो यह सम्प्रदाय-वादके नामपर रक्तकी सरिता ही क्यों बहती ? जो सेठी जीवनभर गुरुडमवाद, पोपडमवाद, सम्प्रदायवादके विरुद्ध लड़ता रहा, मिटता रहा, वही सेठी इन मज़हबी दीवानों द्वारा इस तरह समाप्त कर दिया जायगा। विधिके इस लेखको कौन मेट सकता था ? —बक़ौल जिगर मुरादाबादी—

उसी कश्तीको नहीं ताबे तलातुम सद हैफ़ ।
जिसने मुँह फेर दिये थे कभी तूफ़ानोंके ।।

डालमियानगर,
१४ अक्टूबर १९५१

सेठीजीके दो पत्र

[पुराने काग़ज़ात उलटते हुए मुझे स्वर्गीय श्रद्धेय पं० अर्जुनलालजी सेठीका निम्न पत्र फुलिस्कैप आकारके छह पृष्ठोंमें पेंसिलसे लिखा हुआ मिला। यह पत्र जिनको सम्बोधन करके लिखा गया है, उनका नाम और उन सम्बन्धी व्यक्तिगत बातें और कुछ राजनैतिक चर्चाएँ जो अब अप्रासंगिक हो गई हैं—छोड़कर पत्र ज्यों-का-त्यों दिया जा रहा है। पत्रके नीचे उनके दस्तख़त नहीं हैं। हालांकि समूचा पत्र उन्हींके हाथका लिखा हुआ है। मालूम होता है या तो वे स्वयं इस कटे-छटे पत्रको साफ़ करके भेजना चाहते थे या दूसरेसे प्रतिलिपि कराके भेजना चाहते थे, परन्तु जल्दीमें साफ़ न होनेके कारण वहाँ भेज दिया। सम्भवतः जैनसमाजको लक्ष करके लिखा गया उनका यह अन्तिम पत्र है, ध्यान रहे यह पत्र मुझे नहीं लिखा गया था। पत्र मेरी मार्फ़त आया था, इसलिए उन्हें दिखाकर मैंने अपने पास सुरक्षित रख छोड़ा था।—गोयलीय]

अजमेर
१६ जुलाई १९३८

धर्मबन्धु,

संसारके मूल तत्त्वको अर्हत-केवली कथित अनेकान्त स्वरूपसे विचारा जाय और तदनुसार अभ्याससे उसका अनुभव भी प्राप्त हो तो, स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपनी विशेषता रखता है, और वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों ही प्रकारके जीवनमें परिवर्तन स्ववश हो चाहे परवश, अवश्यम्भावी होता है। यह परिवर्तन एकान्तसे निर्दोष श्रेयस्कर ही होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। कई अवस्थाओंमें वैयक्तिक रूपसे और कतिपयमें सामूहिक रूपसे परिवर्तन अर्थात् इन्क़लाब हित और कल्याणके विरुद्ध अवाञ्छनीय नहीं नहीं—विष-फलदायक भी साबित होता है। मानव जातिका समष्टिगत इतिहास इसका साक्षी है। अतः भारतमें परिवर्तन—इन्क़लाबका जो शोर चहुँ ओर मच रहा है और जिसकी गूंज कोने-कोनेमें सुनाई दे रही है, उससे जैनसमाज भी बच नही सकता, परन्तु अनेकान्तदृष्टिसे तथा अनेकान्तरूप व्यवहार-में जैनसमाजके लिए उक्त परिवर्तन ध्वनिसे उत्पन्न हुआ वाताकाश किस हद तक लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकारका हित-साधक होगा, यह एक गहन विचारणीय विषय है। इसी समस्या और आशयको लेकर मैं आपके सम्मुख एक खुली प्रार्थना लेकर उपस्थित होता हूँ और आपका विशेष ध्यान बालसुखसे हटाकर अन्तस्तलकी तरफ़ ले जानेका प्रयास करता हूँ। मुझे आशा है कि मेरे रक्त-मास रहित शुष्क तन-पिंजड़ेके क़ैदी आत्माकी अन्तर्ध्वनि आपके द्वारा जैनसमाजियोंके बहि-रात्मा और अन्तरात्मामें पहुँच जाय जो यथार्थ तत्त्वदर्शनकी प्रगति और मोक्षसिद्धिमें साधक प्रमाणित हो।

आप ही को मैं क्यों लिख रहा हूँ, आपसे ही उक्त आशा क्यों होती है, इसका भी कारण है। मेरा जीवनभर जैनसमाज और भारतवर्षके उत्थानमें साधारणतया वाकशूर वा क़लमशूरकी तरह नहीं गुज़रा, मैंने

असाधारण आकारके घन-पिण्डमें अपना और अपने हृदय-मन्दिरकी दिव्य तपस्वी-मूर्तियोंका उबलता हुआ रक्त दिया है, जैनों और भारतीयोंके उग्र तपोधन देवोंका प्रत्येक जीवन-मार्गमें स्वपर-भेद जनित वासनाओंको भस्मीभूत करके सार्वहितके लक्षसे प्रगतिका क्रियात्मक संचालन किया और कराया है। भारतवर्षीय जैनशिक्षा-प्रचारक समितिका संगठन स्वर्गीय दयाचन्द्र गोयलीय और उनके वर्गके अन्य सत्यहृदयी कार्यकर्ता—मोती,[1] प्रताप[2], मदन[3], प्रकाश[4] की जैसी राजनैतिक

१—स्वर्गीय वीर-शहीद मोतीचन्द सेठीजीके शिष्य थे। इन्हें आराके महन्तको वध करनेके अभियोगमें (सन् १९१३) में प्राण-दण्ड मिला था। गिरफ़्तारीसे पूर्व पकड़े जानेकी कोई सम्भावना नहीं थी। यदि शिवनारायण द्विवेदी पुलिसकी तलाशी लेनेपर स्वयं ही न बहकता तो पुलिसको लाख सर पटकने पर भी सुराग़ नहीं मिलता। पकड़े जानेसे पूर्व सेठीजी अपने प्रिय शिष्योंके साथ रोज़ानाकी तरह घूमने निकले थे कि मोतीचन्दने प्रश्न किया "यदि जैनोंको प्राणदण्ड मिले तो वे मृत्युका आलिङ्गन किस प्रकार करें?" बालकके मुँहसे ऐसा वीरोचित, किन्तु असामयिक प्रश्न सुनकर पहले तो सेठीजी चौंके, फिर एक साधारण प्रश्न समझकर उत्तर दे दिया। प्रश्नोत्तरके एक घंटे बाद ही पुलिसने घेरा डालकर गिरफ़्तार कर लिया, तब सेठीजी, उनकी मृत्युसे वीरोचित जूझनेकी तैयारीका अभिप्राय समझे। ये मोतीचन्द महाराष्ट्र प्रान्तके थे। इनकी स्मृतिस्वरूप सेठीजीने अपनी एक कन्या महाराष्ट्र प्रान्त-जैसे सुदूर देशमें ब्याही थी। सेठीजीके इन अमर शहीद शिष्योंके सम्बन्धमें प्रसिद्ध विप्लववादी श्री शचीन्द्रनाथ सान्यालने "बन्दी जीवन" द्वितीय भाग पृ० १३७में लिखा है—"जैनधर्मावलम्बी होते हुए भी उन्होंने कर्तव्यकी ख़ातिर देशके मङ्गलके लिए सशस्त्र विप्लवका मार्ग पकड़ा था। महन्तके ख़ूनके अपराधमें वे भी जब फाँसीकी कोठरीमें क़ैद थे, तब उन्होंने भी

आत्मोत्सर्गी चौकड़ियाँ मेरे सामने इस असमर्थ दशामें भी चिर आराध्य पदपर आसीन हैं; प्रातःस्मरणीय आदर्श पण्डितराज गोपालदासजी बरैया, दानवीर सेठ माणिकचन्द्र और महिला-ज्योति मगन बहन आदिके नेतृत्व-मण्डलका मैं अंगीभूत पुजारी अद्यावधि हूँ और पर्देकी ओटमें उन सबकी सत्तावाटिकाका निरन्तर भोगी भी हूँ और योगी भी। कौन किधर कहाँसे, यहाँ क्या और वहाँ क्या इत्यादि प्रत्येक प्रश्नके उत्तरमें मेरे लिए तो उक्त दिव्य महापुरुषोंकी आत्माएँ ही अचूक परीक्षा-कसौटीका काम

जीवन-मरणके वैसे ही सन्धिस्थलसे अपने विप्लवके साथियोंके पास जो पत्र भेजा था, उसका सार कुछ ऐसा था—"भाई मरनेसे डरे नहीं, और जीवनकी भी कोई साध नहीं है; भगवान् जब जहाँ जैसी अवस्थामें रक्खेंगे, वैसी ही अवस्थामें सन्तुष्ट रहेंगे।" इन दो युवकोंमेंसे एकका नाम था मोतीचन्द और दूसरेका नाम था माणिकचन्द्र या जयचन्द्र। इन सभी विप्लवियोंके मनके तार ऐसे ऊँचे सुरमें बँधे थे जो प्रायः साधु और फ़क़ीरोंके बीच ही पाया जाता है।"

२—प्रतापसिंह वीर-केसरी ठाकुर केसरीसिंहके सुपुत्र और सेठीजीके प्रिय शिष्य थे। सेठीजीके आदेशसे ये उस समयके सर्वोच्च क्रान्तिकारी नेता स्वर्गीय रासविहारी बोसके सम्पर्कमें रहते थे। इनके जाँबाज़ कारनामे और आत्मोत्सर्गकी वीरगाथा 'चाँद' वग़ैरहमें प्रकाशित हो चुकी हैं।

३—मदनमोहन मथुरासे पढ़ने गये थे, इनके पिता सर्राफ़ा करते थे। सम्पन्न घरानेके थे। सम्भवतः इनकी मृत्यु अचानक ही हो गई थी। इनके छोटे भाई भगवानदीन चौरासीमें सन् १४-१५में मेरे साथ पढ़ते रहे हैं, परन्तु मदनमोहनके सम्बन्धमें कोई बात नहीं हुई। बाल्यावस्था-के कारण इस तरहकी बातें करनेका उन दिनों शऊर ही कब था?

४—प्रकाशचन्द सेठीजीके इकलौते पुत्र थे। सेठीजी की नज़रबन्दीके समय यह बालक थे। उनकी अनुपस्थितिमें अपने-परायोंके व्यवहार

देती हैं, चाहे उस समयमें और अब जीवोंके परिणामों और लेश्याओंमें ज़मीन-आस्मानका ही अन्तर क्यों न हो गया हो ।

सतनामें परिषद्का अधिवेशन पहला मौक़ा था, तब उल्लेखनीय जैनवीर-प्रमुख श्री............के द्वारा आपसे मेरी भेंट हुई थी। मैं कई वर्षोंके उपयुक्त मौनाग्रहव्रतके बाद उक्त अधिवेशनमें शरीक हुआ था। इधर-उधर गत-युक्तके सिंहावलोकनके पश्चात् मैं वहाँ इस नतीजे पर पहुँच चुका था कि आपमें सत्य-हृदयता है और अपने सहधर्मी जन-बन्धुओंके प्रति आपका वात्सल्य ऊपरकी झिली नहीं है, किन्तु रगोरेशे में खौलता हुआ खून है, परन्तु तारीफ यह है कि ठोस काम करता है और बाहर नहीं छलकता।......

इस तरह मुझे तो दृढ़ प्रतीत होता है कि आपके सामने यदि मैं जैनसमाजके आधुनिक जीवन-सत्त्वके सम्बन्धमें मेरी ज़िन्दगी भरकी सुलझाई हुई गुत्थियोंको रख दूँ तो आप उनको अमली लिबासमें ज़रूर रख सकेंगे। अपेक्षा—विचारसे यही निश्चयमें आया।

बन्धुवर,

आपने राष्ट्रिय राजनैतिक क्षेत्रके गुटोंमें घुल-घुलकर काम किया है, उसकी रग-रगसे आप वाक़िफ़ हो चुके हैं और तजरुबेसे आपको यह स्पष्ट हो चुका है कि हवाका रुख किधरको है। इसीसे परिणाम-स्वरूप आपने निर्णय कर लिया कि जैनेतरोंकी ज्ञात व अज्ञात भक्ष्य-भक्षक प्रतिद्वन्द्विताके मुक़ाबिलेमें सदियोंके मारे हुए जैनियोंके रग-पटठोंमें जीवन-संग्राम और मूल संस्कृतिकी रक्षाकी शक्ति पैदा हो सकती है तो केवल

तथा आपदाओंके अनुभव प्राप्त करके युवा हुए। सेठीजी ५-६ वर्षकी नज़रबन्दीसे छूटकर आये ही थे कि उनकी प्रवास-अवस्थामें ही अकस्मात् मृत्यु हो गई। सेठीजीको इससे बहुत आघात पहुँचा। इन्हीं प्रकाशकी स्मृति-स्वरूप इनके बाद जन्म लेने वाले पुत्रका नाम भी उन्होंने प्रकाश ही रक्खा।

उन्हीं साधनों और उपायोंसे जो दूसरे लोग कर रहे हैं, अथवा जिनमें बहुत कुछ सफलता जैनोंके सहयोगसे मिलती है।……

आपके सामने आधुनिक काल-प्रवाहके भिन्न-भिन्न आन्दोलन-समूह धार्मिक वा सामाजिक, वाञ्छनीय वा अवाञ्छनीय, हेय वा उपादेय, उपेक्षणीय वा अनुपेक्षणीय, आदरणीय वा तिरस्कार्य, व्यवहार्य वा अव्यवहार्य, लाभप्रद वा हानिकर इत्यादि अनेक रूप-रूपान्तरमें मौजूद हैं। उनमेंसे प्रत्येकका तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओंका गृहस्थ तथा त्यागी, श्रावक-श्राविकाओंके दैनिक जीवनपर एवं मन्दिर-तीर्थों अथवा अन्य प्रकारकी नूतन और पुरातन संस्थाओंपर पड़ा है, वह भी आपके सम्मुख है। मैं तो प्रायः सबमें होकर गुज़र चुका हूँ, और उनके कतिपय कड़वे फल भी खूब चाख चुका हूँ और चाख रहा हूँ। अतः आपका और आपके सहकारी कार्यकर्ताओंका विशेष निर्णायक लक्ष इस ओर अनिवार्य-अटल होना चाहिए। नहीं तो जैन संगठन और जैनत्वकी रक्षाके समीचीन ध्येयमें केवल बाधाएँ ही नहीं आयेंगी, धक्का ही नहीं लगेंगे, प्रत्युत नामोनिशान मिटा देनेवाली प्रलय भी हो जाय तो मानवजातिके भयावह उथल-पुथलके इतिहासको देखते हुए कोई असम्भव बात नहीं है। अल्पसंख्यक जातियोंको पैर फूंक-फूंककर चलना होता है और बहुसंख्यक जातियोंके बहुतसे आन्दोलन जो उन्हींको उपयोगी होते हैं, अल्पसंख्यकोंमें घुस जाते हैं और उनके लिए कारक होनेकी अपेक्षा मारकका काम देते हैं। उनकी बाहरी चमक लुभावनी होती है, कई हालतोंमें तो आँखोंमें चकाचौंध पैदा कर देती है, मगर वास्तवमें Old is not gold glitters हरेक चमकदार पदार्थ सोना ही नहीं होता। बहुसंख्यक लोगोंकी तरफ़से मखमली खूबसूरत पलंगोंसे ढके हुए खड्डे विचारपूर्वक वा अन्तःस्थित पीढ़ियोंके स्वभावज चक्रसे तैयार होते रहते हैं, जिनके प्रलोभन और ललचाहटमें फँसकर अल्पसंख्यक लोग शत्रुको ही मित्र समझने लगते हैं, यही नहीं; किन्तु अपने सत्त्व-स्वत्वकी रक्षाका ख़याल तक छोड़ बैठते हैं। किमधिकम्, इस स्व-रक्षणकी भावना वासना भी

उनको अहितकर जँचने लगती है। इसके अलावा भावी उदयावलीके बल अथवा यों कहूँ कि कालदोषसे अभागे अल्पसंख्यकोंमेंसे कोई कंस जैसे भी पैदा हो जाते है जो अपने घरके नाश करनेपर उतारू हो जाते हैं, गैरों के चिराग़ जलाते है और पूर्वजोंके घरको अँधेरा नरक बना देते है।

......इस तरह जैन कुलोंमें, जैन पञ्चायतोंमें, जैन गृहोंमें चलती-चलाती ठण्डी पड़ी हुई आम्नायोंमें कलह, भीषण क्षोभ और तत्काल-स्वरूप तीव्र कषायोदय और अशुभ बन्धके अनेक निमित्त कारणोंसे बचाकर जैनोंका रक्षण, संगठन और उत्थान होगा, तभी इस समयकी लपलपाती हुई अनेकान्त-नाशक जाज्वल्यमान दावाग्निसे जैनधर्म और जैनसंस्कृति स्थिर रहेगी।

[१]

[यह पत्र सेठीजीने मुख़्तार साहबको लिखा था, जो कि अनेकान्त वर्ष १ किरण ४ में प्रकाशित हुआ था ।]

बन्धुवर,

अनेकान्त-साम्यवादीकी जय

अनेक द्वन्द्वोके मध्य निर्द्वन्द्व 'अनेकान्त की दो किरणें सेठीके मोह-तिमिराच्छन्न बहिरात्माको भेदकर भीतर प्रवेश करने लगी तो अन्तरात्मा अपने गुणस्थान-द्वन्द्वमेंसे उनके स्वागतके लिए साधन जुटाने लगा। परन्तु प्रत्याख्यानावरणकी तीव्र उदयावलीने अन्तरायके द्वारा रूखा जवाब दे दिया, केवल अपायविचयकी शुभ भावना ही उपस्थित है। आधुनिक भिन्न-भिन्न एकान्ताग्रह-जनित साम्प्रदायिक, सामाजिक एव राजनैतिक विरोध व मिथ्यात्वके निराकरण और मथनके लिए अनेकान्त-तत्त्ववादके उद्योतन एव व्यवहाररूपमें प्रचार करनेकी अनिवार्य आवश्यकताको मै वर्षोंसे महसूस कर रहा हूँ। परन्तु तीव्र मिथ्यात्वोदयके कारण आम्नाय-पथ-वादके रागद्वेषमें फँसे हुए जैन नामाख्य जनसमूहको ही जैनत्व एव अनेकान्त-तत्त्वका घातक पाता हूँ, और जैनके अगुवा वा समाजके कर्णधारोको ही अनेकान्तके विपरीत प्ररूपक वा अनेकान्ताभासके गर्तमें हठ रूपसे पडे देखकर मेरी अब तक यही धारणा रही है कि अनेकान्त वा जैनत्व नूतन परिष्कृत शरीर धारण करेगा ज़रूर, परन्तु उसका क्षेत्र भारत नही, किन्तु और ही कोई अपरिग्रह-वादसे शासित देश होगा।

अस्तु, अनेकान्तके शासनचक्रका उद्देश्य लेकर आपने जो झडा उठाया है, उसके लिए मै आपको और अनेकान्तके जिज्ञासुओको बधाई देता हूँ और प्रार्थनारूप भावना करता हूँ कि आपके द्वारा कोई ऐसा युग-प्रधान प्रकट हो, अथवा आप ही स्वय तद्रूप अन्तर्बाह्य विभूतिसे सुसज्जित हो, जिससे एकान्त हठ-शासनके साम्राज्यकी पराजय हो, लोकोद्धारक विश्व-व्यापी अनेकान्त शासनकी व्यवस्था ऐसी दृढतासे स्थापित हो कि

चहुँओर कम-से-कम षष्ठ गुणस्थानी जीवोंका धर्मशासन-काल मानव-जातिके---नहीं-नहीं जीवविकासके इतिहासमें मुख्य आदर्श प्राप्त करे, जिससे प्राणिमात्रका अक्षय्य कल्याण हो।

इसके साथ यह भी निवेदन कर देना उचित समझता हूँ कि अब इस युगमें सांख्य, न्याय, बौद्ध आदि एकान्त दर्शनोंसे अनेकान्तवादका मुक़ाबिला नहीं है, आज तो साम्राज्यवाद, धनसत्तावाद, सैनिकसत्तावाद, गुरुडमवाद, एकमतवाद, बहुमतवाद, भाववाद, भेषवाद, इत्यादि भिन्न-भिन्न जीवित एकान्तवादसे अनेकान्तका संघर्षण है। इसी संघर्षणके लिए गांधीवाद, लेनिनवाद, मुसोलिनीवाद आदि कतिपय एकान्तपक्षीय नवीन मिथ्यात्व प्रबल वेगसे अपना चक्र चला रहे हैं। . . . .

अतः इस युगके समन्तभद्र वा उनके अनुयायियोंका कर्तव्यपथ तथा कर्म्म उक्त नव-जात मिथ्यात्वोंको अनेकान्त अर्थात् नयमालामें गूंथकर प्रकट करना होगा, न कि भूतमें गड़े हुए उन मिथ्यादर्शनोंको कि जिनके लिए एक जैनाचार्यने कहा था कि "षड्दर्शन पशुग्रामको जैनवाटिकामें चराने ले जा रहा हूँ।" महावीरको आदर्श-अनेकान्त-व्यवहारी अनुभव करनेवालोंका मुख्य कर्तव्य है कि वे कटिबद्ध होकर जीवोंको और प्रथमतः भारतीयोंको माया-महत्त्व-वादसे बचाकर यथार्थ मोक्षवाद तथा स्वराज्यका आग्रह-रहित उपदेश दें। और यह पुण्यकार्य उन्ही जीवोंसे सम्पादित होगा, जिनका आत्म-शासन शुद्ध शासनशून्य वीतरागी हो चुका हो।

अन्तमें आपके प्रशस्त उद्योगमें सफलताकी याचना करता हुआ

अजमेर आपका चिरमुमुक्षु बंधु

२१-१-३० अर्जुनलाल सेठी

और अगर मर जाइये तो....

महात्मा भगवानदीन

अर्जुनलाल सेठीको लोगोने भुला दिया। भुला देना हम बडा अच्छा काम समझते है। जो समाज अपने चाँदो, अपने सूर्यो-को भुलाना नही जानता वह जीना नही जानता। पर चाँद और सूरजको भुलानेके लिए बडी अक्ल चाहिए, बडी हिम्मत चाहिए, बडा त्याग चाहिए और मर मिटनेकी तैयारी चाहिए। तुलसीने हिन्दीमे रामायण लिखकर वाल्मीकिको भुलवा दिया, विनोबाने मराठीमें 'गीताई' नामसे गीताका अनुवाद करके मराठी जानकार जनताके दिलसे सस्कृतकी गीता भुलवा दी, यह कौन नही जानता कि युग-युगमे नये-नये आदमी पैदा होकर पुराने आदमियोको भुलाते जाते है। क्या प० जवाहरलालने प० मोती-लाल नेहरूको लोगोके दिलोसे नही भुलवा दिया ? पर इस तरह भुलवाने जानेसे बुजुर्गोकी आत्मा नयोको आशीर्वाद देती। पर समाजने अर्जुनलाल सेठीको इस तरहसे कहाँ भुलाया, अगर इस तरहसे भुलाया होता तो अर्जुनलाल सेठीका आत्मा आज हम सबको आशीर्वाद दे रहा होता।

अर्जुनलाल सेठी समाजकी ऐसी देन थे, जिनपर चाहे देशके थोडे ही आदमियोको अभिमान हो, पर उस अभिमानके साथ इतनी तीव्रता रहती है कि जो उस अभिमानमे नही रहती जो करोडो आदमियोमें बिखरा होता है। यह किसको पता है कि कितने ही देशके मशहूर घरानोंमें जब अर्जुनलाल सेठीकी चर्चा चल पडती है तो सबके मुँहसे यही निकल पडता है कि उस-जैसे बातके पक्के आदमीको दुनिया बहुत कम पैदा करती है, और फिर सबके मुँहसे यही निकल पडता है कि होता कि हम भी अर्जुनलाल सेठी-जैसे बन सकते।

अर्जुनलाल सेठीको हम आदमी कहें, या देशकी आज़ादीका दीवाना कहें, हम अर्जुनलाल सेठीको हिन्दुस्तानी कहें, या आज़ादीके दीपकका परवाना कहें जो अपने २५ वर्षके इकलौते बेटेको मौतके बिस्तरपर छोड़कर पं० सुन्दरलालके एक मामूली तार पर दौड़ा हुआ बम्बई पहुँचता हैं, और बेटेके मर जानेके बाद भी उसे देशका काम छोड़कर घर लौटनेकी जल्दी नहीं होती। कोई यह न समझे कि उसे घरसे मोह नहीं था, उसे बेटेसे प्यार नहीं था। वह इतना प्यारा था, और इतना मुहब्बती था कि उस-जैसे पतिके लिए पत्नियाँ तरस सकती हैं, उस-जैसे बापके लिए बेटे जानपर खेल सकते हैं, उस-जैसे दोस्तके लिए दोस्त खून-पसीना एक कर सकते हैं, उस-जैसे नेताके लिए अनुयायी सरके बल चल सकते हैं।

अर्जुनलाल सेठीने त्यागका व्रत नहीं लिया, त्याग किसीसे सीखा नहीं, किसी नेताके व्याख्यान सुनकर जोशमें आकर उसने त्यागको नहीं अपनाया, त्याग तो वह माँके पेटसे लाया था, त्याग तो उसकी जन्मघुट्टीमें मिला था, त्यागको तो उसने माँके स्तनसे पिया था, इसलिए त्याग करते हुए उसे त्यागका गीत नहीं गाना पड़ता था और त्यागी होते हुए दूसरों पर त्यागके घमण्डका रोब नहीं जमाना पड़ता था। त्यागीका बाना पहनने-की उसे ज़रूरत ही कहाँ थी? इन पंक्तियोंके पढ़नेवालोंमें हो सकता है अनेकों ऐसे निकल आवें जो खुले नहीं तो मन ही मन यह कहने लगें कि रुपये तो हमसे भी मँगाये थे, पर यह वही बता सकते है जो उसके साथ रहे हों कि उसने उन रुपयोंका क्या किया था। अर्जुनलाल सेठीके त्यागकी बातें ऐसी हैं, जिनको आज भी हम साफ़-साफ़ कहनेके लिए तैयार नहीं। चूंकि यह अच्छा ही है कि अभी वे कुछ दिनों और अजानकारीके गड्ढेमें पड़े रहें, पर हम अपने पढ़नेवालोंको किसी दूसरी तरहसे समझाये देते हैं—

कलकत्ताके मशहूर देशभक्त श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्ती जो कि चित्तरंजनदासजीकी टक्करके आदमी थे, उनसे मिलनेके लिए हम पं० सुन्दरलालजीके साथ कलकत्ता पहुँचे। श्यामसुन्दर चक्रवर्ती 'सर्वेन्ट' नामका एक अंग्रेजी दैनिक निकालते थे। हम वहीं उनसे उनके दफ़्तरमें

मिले। वे बड़ी मुहब्बतसे मिले और ऐसी खातिरदारी की मानो हम उनके माँ-जाये भाई हों। थोड़ी देर बाद वे हमें अपने घर ले गये और १६ वर्ष-की लड़कीको दिखाया जो बीमारीसे काँटा हो गई थी और एकदम पीली पड़ी हुई थी। चक्रवर्ती और लड़कीकी माँसे बातों-बातोंमें यह भी पता चला कि उस लड़कीके लिए दवा और दूधका भी ठिकाना नहीं, तब हमने सोचा कि कुछ रुपये चक्रवर्तीको दे देने चाहिएँ। हम घरसे 'सर्वेण्ट' के दफ़्तर लौट ही रहे थे कि रास्तेमें एक आदमीने चक्रवर्तीके नामका ५०० रु० का चेक दिया, चक्रवर्तीजी हमारे साथ उस चेकको लेकर पासके बैंकमें पहुँचे और ५०० रु० लिये। दफ़्तरमें आये। पाँच मिनिटमें पूरे पाँच सौ खतम हो गये। 'सर्वेण्ट' में काम करनेवालोंकी २-३ महीनोंकी तनख्वाह चढ़ी हुई थी। चक्रवर्तीकी नज़रमें पहले वह आदमी थे जो देशकी आज़ादीके काममें जुटे हुए थे न कि वह बीमार लड़की जो पलंगपर पड़ी थी। हमने जब यह देखा तो यही मुनासिब समझा कि चक्रवर्तीके हाथमें दिये हुए रुपये तो न कभी दवाका रूप ले सकेंगे और न कभी दूध बन सकेंगे। इससे यही ठीक होगा कि दवा खरीद कर दी जाय और दूधका कोई इन्तज़ाम कर दिया जाय। अगर कुछ देना ही है तो लड़की-की माँके हाथमें दिया जाय। हमने यह भी सोचा कि लड़कीकी माँ हिन्दू नारी है और हिन्दू पत्नी है, वह पति देवतासे कैसे छिपाव रख पायेगी और फिर उसके पास भी वह रुपया कैसे बच सकेगा। आखिर ऐसा ही इंतज़ाम करना पड़ा कि जिससे सब झंझटोंसे बचकर रुपये दूध और दवामें तबदील हो सकें।

बस, इस ऊपरकी कथासे समझ लीजिए कि सेठीजीके हाथमें पहुँचा हुआ रुपया जाने कहाँ-कहाँ और किस तरह बिखर जाता था और किस तरह कम-ज्यादा देशकी आज़ादीके दीपकका तेल बनकर जल जाता था। सारी संस्थाएँ एक-एक आदमीके बलपर चलती हैं और वह आदमी इधर-उधरसे माँगकर ही रुपया लाता है, पर जिनपर वह रुपया खर्च करता है, उनपर सौ एहसान जमाता है। इतना ही नहीं, वह तो प्लेटफ़ार्मसे चिल्ला-

चिल्लाकर यह भी कहता हूँ कि यह मैं ही हूँ जो भूखोंका पेट भर रहा हूँ। पर अर्जुनलाल सेठीने इस तरह भीख माँगकर पाये हुए रुपयेसे न कभी किसीपर एहसान जमाया और न कभी प्लेटफ़ार्मसे तो क्या कोने-कतरेमें भी अपने दानकी कोई बात कही। वह सच्चे मानोंमें त्यागी था। उसने अपने आपको कभी पैसेका मालिक नहीं समझा, पर समझा तो यह समझा कि वह पोस्टमैन है जो इधरसे रुपया लाता है और उधर दे देता है। यहाँ हो सकता है कि कोई व्यवहार-धर्मके रँगमें बुरी तरहसे रँगा हुआ यह सवाल उठा बैठे कि अर्जुनलाल सेठी भीख माँगकर ही नहीं पैसा इकट्ठा करते थे, बल्कि इस तरहसे भी रुपया जुटा लेते थे, जिसे वह जानते थे कि यह रुपया ठीक तरहसे हासिल नहीं किया गया। उसे हम क्या कहें, उसे दलीलोंसे समझाना किसी तरहसे नहीं हो सकता। उसे तो हम यही कहेंगे कि वह एक मर्तबा अपने भीतर आज़ादीकी आग सुलगाये और देखे कि उस आगकी जब लपटें उठती हैं तो वह क्या करता है और व्यवहार-धर्मको कैसे निभाता है। अर्जुनलाल सेठीको निश्चय और व्यवहार-धर्मके दोनों रूपोंकी जानकारी बहुत काफ़ी थी और इस नाते वह पण्डित नामसे पुकारे जाते थे। पर वह कोरे पण्डित नहीं थे। कोई दिन ऐसा नहीं जाता था जिस दिन वह रातको बैठकर अपने दिन भरके कामका अकेलेमें पर्यालोचन नहीं कर जाते थे। उन्होंने तो कभी अपने मुँहसे नही कहा पर उनके पास रहकर हमारा यह अनुभव है कि उनका जीवन सचमुच जलमें कमलकी तरह था।

जयपुर कालेजसे बी० ए० करनेके बाद उनके लिए रियासतमें नौकरी का मार्ग खुला हुआ था, उनके साथियों और क़रीबी रिश्तेदारोंमेंसे कई उस रास्तेको अपना चुके थे। पर ये कैसे अपनाते, इन्हें नौकरीसे क्या लेना था, इन्हें तो उसी राज्यके जेलखानेका मेहमान बनना था।

बी० ए० इन्होंने फ़ारसी लेकर किया था और संस्कृत घरपर सीखी थी। धर्मशिक्षाके मामलेमें वे चिमनलाल वक्ताको अपना गुरु मानते थे, हमने वक्ताजीके व्याख्यान सुने हैं। श्रोताओंको समझानेकी शैली

उनकी बड़ी सीधी होती थी और इतनी मनलगती होती थी कि असली बात झट समझमें आ जाती थी। ऐसे गुरुके शिष्य अर्जुनलालजी अगर कुछ ऐसी बातें कह गये जो बहुतोंको मन लगती नहीं अँचतीं तो उसमें उनका क्या दोष ! वे तो सचाईके साथ खोजमें लगे और जो हाथ आया कह गये।

वह भरी जवानीमें समाज-सेवाके मैदानमें कूद पड़े और सबसे पहले उन्होंने वह काम उठाया जिसकी समाजको सबसे ज्यादा जरूरत थी, यानी उन्होंने एक शिक्षासमितिकी नींव डाली, उसीके मातहत जयपुर-में पाठशालाओंका जाल बिछा दिया। अब्दुलगफ़ूर नामके विद्यार्थीको लेकर समाजमें बड़ी खलबली मची, पर समाज पैदायशी त्यागी अर्जुन-लालका क्या बिगाड़ सकती थी और फिर उन्हें एक साथी घीसूलाल गोलेच्छा ऐसे मिल गये थे, जिसकी दोस्तीने सेठीजीके त्यागको और भी ज्यादा मज-बूत कर दिया था।

यह शिक्षासमिति कुछ दिनोंमें एक छोटी-मोटी यूनिवर्सिटीका रूप ले बैठी और दूर-दूरके विद्यार्थी उसकी परीक्षामें शामिल होने लगे।

शिक्षाकी सड़क जिस रास्ते होकर गई है, उस रास्तेमें दासतासे मुठभेड़ हुए बग़ैर नहीं रहती और कैसी भी शिक्षासमिति क्यों न हो, दासता की बेड़ियोंमें फँसकर वह सच्चे धर्मकी तालीम नहीं दे सकती। उसका सच्चा धर्म और स्वाधीनता एकार्थवाची शब्द हैं, इसलिए उसको राजसे टक्कर ही नहीं लेनी पड़ती, बल्कि उसे उखाड़ फेंकनेकी तैयारी करनी होती है। सेठीजीकी शिक्षासमिति आखिर उस मंजिलपर पहुँच तो गई और वे सरकारसे टक्कर लें कि इन्दौरमें श्री कल्याणमलविद्यालयके प्रधाना-ध्यापककी हैसियतसे गिरफ़्तार कर लिये गये और कुछ दिनों जयपुर जेलमें और कुछ दिनों वैलोर जेलमें रहनेके बाद बाहर निकले कि जल्दी ही सन् २१ के आन्दोलनमें शामिल हुए। पैदायशी त्यागीके लिए और राह ही क्या थी।

हमसे उमरमें दो वर्ष बड़े थे और हमारी उनसे जब जान-पहचान

हुई तब वह हमसे कई गुने ज्यादह धर्मके ज्ञाता थे और कहकर नहीं, तो मन ही मन हम उनको धर्मके मामलेमें गुरु ही मानते थे और हम उनकी बहुत-सी बातोंकी नक़ल करनेकी कोशिश करते थे। जब वह शिक्षा-प्रचारक समितिके काममें लगे हुए थे, तब शिष्टाचारके वह आदर्श थे। गाली तो उनके मुँहपर फटकनेकी सोच ही नहीं सकती थी। मामूली पाजी या नालायक़ शब्द भी उनके मुँहसे निकलते हमने कभी नहीं सुना, वह अध्यापक भी थ पर विद्यार्थियोंपर कभी नाराज़ नहीं होते थे। विद्यार्थियोंसे 'आप' कहकर बोलना हमने उन्हींसे सीखा। यह तारीफ सुनकर सम्भव है हमारे पढ़नेवाले एकदम ऐंठ जायें, क्योंकि उनमेंसे बहुतोंने उनको गाली देते सुना होगा, और बुरी-बुरी गालियाँ देते हुए भी सुना होगा। हम उनकी बातोंको झुठलाना नहीं चाहते, पर हम तो अर्जुनलाल सेठीके बहुत पास रहे हैं और मुद्दतों रहे हैं। यह गाली देनेकी बला उनके पीछे बेलौर जेलसे लगी, जहाँ वे वर्षों राजकाजी क़ैदीकी हैसियतसे रहे हैं। वहाँ वे इतने सताये गये थे कि 'बेलौर' जेलसे निकलनेके बाद उनके बारेमें यह कहना कि वह अपने होशहवासमें थे ज़रा मुश्किल हो जाता है। जेलसे छूटकर वह देहली गये तब हम वहाँ उनसे मिले थे। वे अनेकों काम ऐसे करते थे कि जो इस शिष्टाचारसे ज़रा भी मेल नहीं खाते थे, जिसको हमने जयपुरमें देखा था। उदाहरणके लिए हर औरतके पाँव छूने और जगह बेजगह यह कह बैठना कि मैंने भगवान्‌की मूरतका मेहतरोंसे प्रक्षाल करवाया। उन दिनों सारी बातें कुछ इस तरहकी होती थी कि यह नहीं समझा जा सकता था कि उनको होश-हवास थी। धीरे-धीरे उन्होंने अपनेपर क़ाबू पाया, पर गालियोंपर इस वजहसे पूरा-पूरा क़ाबू नहीं पा सके कि कांग्रेसकी राजकारी चपेटोंने उनका मरते दमतक कभी पीछा न छोड़ा।

निश्चयके बलपर व्यवहारमें वह कभी-कभी इतने पीछे पड़ जाते थे और वह कभी-कभी इतने आगे बढ़ जाते थे कि आम आदमी उन दोनोंका मेल नहीं बिठा पाते थे। इस वास्ते कभी-कभी किसी-किसी समझदारके मुँहसे तंग आकर यह निकल पड़ता था कि अर्जुनलाल योगभ्रष्ट

हो गया है। हम उनसे हर हालतमें मिलते रहे। उस हालतमें भी मिले जब उन्हें योगभ्रष्टकी पदवी मिली हुई थी, पर हमने तो उनमें कोई अन्तर पाया नहीं। उनकी आज़ादीकी लगन ज्योंकी त्यों बनी हुई थी, उनका सर्वधर्मसमभाव ज्योंका त्यों था और उनकी आज़ादीकी तड़पमें कोई अन्तर नहीं आया।

हम तो उसीको धर्मकी चोटीपर पहुँचा हुआ मानते हैं जो जिस धर्ममें पैदा हुआ हो, उस धर्मके आम लोग उसे धर्मभ्रष्ट समझने लगें और उससे खूब घृणा करने लगें और बन सके तो उन्हीं आम लोगोंमेंसे कोई ऐसा भी निकल आये जो उस धर्मभ्रष्टको मौतके घाट उतार दे और क्या गाँधीजी कुछकी नज़रमें धर्मभ्रष्ट नहीं थे और क्या उन्हें धर्मभ्रष्ट होनेकी सज़ा नहीं मिली। इस लिहाज़से तो सेठीजी अच्छे ही रहे। फिर वे धर्मभ्रष्ट तो रहे पर सज़ासे बच गये।

अर्जुनलाल सेठीका जीवन सचमुच जीवन है। यह भी कोई जीवन है कि बनी-बनाई पक्की सड़कों पर दौड़े हुए चले जायें, सेठीजीका जीवन कभी पहाड़ीकी चोटियोंको लाँघना और कभी चक्करदार रास्तोंमें घूमना, घने जंगलमें पगडंडीकी परवाह किये बिना जिधर चाहें उधर चल पड़ना। ऐसा करनेके लिए नामवरीको अपने पाँवोंके नीचे कुचलनेके लिए जितनी हिम्मत चाहिए, उतनी उनमें थी और यही तो एक ऐसी चीज़ थी कि जिसकी वजहसे हमको सेठीजीके जीवनसे स्पर्द्धा होती है।

तो क्या सेठीजीमें कोई कमी या बुराई नहीं थी, हाँ कमियाँ और बेहद बुराइयाँ थीं। अगर गुलाबके फूलकी टेक, गुलाबकी झाड़ीके काँटे, गुलाबकी बुराइयाँ हैं तो वैसी उनमें अनगिनत बुराइयाँ थीं। और गुलाबके फूलकी झाड़ीके वह सूखे पत्ते जो पीले पड़ जाते हैं, कमियाँ हैं तो उनमें अनेकों कमियाँ थीं। अगर गुलाबकी टेढ़ी-मेढ़ी बेढंगी, बदसूरत जड़ें गुलाबकी कमियाँ हैं तो ये सब उनमें थीं। पर हम करें तो क्या करें, हमारी नज़र तो गुलाबपर है और हम उस गुलाबपर इतने मस्त हैं कि उसे तोड़ते हुए हमारे सैकड़ों काँटे भी लग जायें तो भी अपनी मस्तीमें उस

और हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हम सेठीजीकी उस लगनको देखें जिसको लेकर वह पहले पहल धर्मके मैदानमें कूदे, फिर समाजके मैदानमें आये और फिर देशके मैदानमें आये, या हम यह देखें कि वे क्या खाना खाते थे, किस तरहकी टोपी लगाते थे या वे उस मकानमें सोते थे, जिसका पश्चिमकी तरफ़ दरवाज़ा था, उस मकानमें रहते थे, जिसका पूरबकी तरफ़ दरवाज़ा था, जो काँटोंका ही रोना रोते हैं वो न फूल पाना चाहते हैं और न फूल पानेकी इच्छा रखते हैं। हम इसे मूर्खता ही समझते हैं कि फूल सूखकर जब उसकी पंखुड़ियाँ गिरें, तब इस आधारपर फूलके बारेमें हम अपनी राय बतायें कि उसकी पंखुड़ियाँ जंगलमें गिरी थी, या किसी साधुकी कुटीमें गिरी थी, या मन्दिरमें किसी देवताकी वेदीपर गिरी थीं, या राजाके महलमें गिरी थीं, आदमीके मरनेके बाद उस लाशको चील, गृद्ध खायें तो वही बात, जलाई जाय तो वही बात, दफ़नाई जाय तो वही बात और बहाई जाय तो वही बात।

एक शोर है कि सेठीजी दफ़नाये गये और साथमें यह भी शोर है कि उनके दफ़नाये जानेकी जगहका ठीक पता नहीं है। अगर यह पिछली बात ठीक है तो बड़े कामकी बात है क्योंकि इस तरह मरनेके बाद नाम न छोड़कर दफ़नाये जानेसे किसी दिन तो उन हड्डियोंपर हल चलेगा और वहाँ खेती होगी और उससे जो दाने उगेंगे उसे जो खायेगा उसमें देश-भक्ति आये बग़ैर न रहेगी। सेठीजीको जो मौत मिली, वैसी मौतके लिए दिल्लीके मशहूर कवि ग़ालिब तक तरसते गये—

> **"रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो।**
> **हमसुख़न कोई न हो, और हमज़ुबां कोई न हो॥**
> **बेदरोदीवार-सा इक घर बनाना चाहिए।**
> **कोई हमसाया न हो और पासबां कोई न हो॥**
> **पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार।**
> **और अगर मर जाइये तो नौहाख़्वां कोई न हो॥"**

बैरिस्टर
चम्पतराय

उन्हें मरना नहीं आता

— गोयलीय —

"बाबूजी ! आप इतनी रुग्णावस्थामें विलायतसे क्यों लौट आये ? वहाँ तो बीमारीका इलाज कराने लोग यहाँसे जाते हैं और आप हैं कि गये हुए वापिस आ गये।"

"मैं वहाँ धर्म-प्रचार करने जाता हूँ, मरने नहीं जाता।"

"समझा नहीं।"

"मेरे दोस्त ! यूरोपियन जीना जानते है, उन्हें मरना नहीं आता।"

"बाबूजी ! बेअदबी माफ़ ! यह तो आपने एक अनोखी-सी बात कह दी। वे तो जिस शानसे जीते हैं, उसी शानसे मरते भी हैं। हिमालय पर्वतपर मरनेको हँसते हुए चढ़ते है, हवाई जहाज़से किलकारियाँ मारते हुए कूदते हैं, इँगलिश चेनल थिरकते हुए पार करते हैं। कोई भी जोखमका कार्य्य हो, उसके लिए मर्दानावार तैयार रहते है, और मृत्यु आनेपर बेझिझक मुस्कराते हुए उसका आलिंगन करते है।"

मेरी न जाने यह बकवास कबतक चलती कि वे बोले–"अयोध्या-प्रसादजी ! आप दुरुस्त फ़र्मा रहे हैं, वे लोग जब जानबूझकर मृत्युको निमन्त्रण देते है, तब हँसते हुए ही उसका स्वागत करते हैं। लेकिन मेरे कहनेका आशय यह है कि मौत जब बग़ैर बुलाये उनपर झपट्टा मारती है, तब उनके सारे होशोहवास ग़ायब हो जाते हैं, और फिर वह उन्हें जिस तरह घसीटते हुए ले जाती है, वह स्थिति मुझे पसन्द नहीं।"

". . . . .?"

"शायद आपको मेरे उत्तरसे अभी सन्तोष नहीं हुआ, मालूम होता है, मै अपने मनोभाव ठीक तरहसे व्यक्त नहीं कर पा रहा हूँ। मेरे कहने-

का मंशा सिर्फ़ इतना है कि मौतके दिन नज़दीक आनेपर वहाँवाले घबरा उठते हैं और वे अच्छे-बुरे सभी प्रयत्न उससे बचनेके करते हैं और जब नहीं बच पाते है तो एड़ियाँ रगड़ते हुए और बिलखते हुए मरते हैं। मृत्यु-महोत्सव मनाना वे नही जानते, क्योंकि वह यह क़तई भूल जाते हैं कि मृत्युका दिन भी मुक़र्रर है और इसका आना भी लाज़िमी है। और जब यह आये तो सब ओरसे मोह-माया त्यागकर मृत्यु-महोत्सव मनाते हुए समाधिमरण पूर्वक उसका वरण करें। इसी महोत्सवके लिए मैं इतनी दूरसे यहाँ आया हूँ। इस महोत्सवसे वे लोग परिचित नहीं है। वे मरनेका आनन्द किरकिरा कर देते। वे आधिभौतिकवादी हैं। पर-लोकका विश्वास और सम्यग्दर्शन उनके पास नहीं है और मै अपनी इन दोनों क़ीमती वस्तुओंको किसी भी हालतमें गँवानेको तैयार नही।"

बैरिस्टर साहबसे उक्त वार्तालाप सम्भवतः फ़रवरी १९३७ में हुआ था, जब कि वे अत्यन्त नाज़ुक स्थितिमें यूरोपसे दिल्ली आये थे और अनेक रिश्तेदारों और कुटुम्बियोंके होते हुए भी कश्मीरी दर्वाज़ेपर एक किरायेके मकानमें ठहरे हुए थे। किरायेके मकानमें ठहरनेका भी एक कारण था।

श्री सम्मेदशिखरकी अपील प्रिवी कौंसिलमें चली गई थी। उसकी पैरवीके लिए बैरिस्टर साहबका १९२६ में लन्दन जाना निश्चित हुआ, तो शेष जीवन धर्म-प्रसार और समाज-सेवामें व्यतीत करनेकी अभिलाषा-से क़ानूनी पेशेसे अथवा अन्य उपायोंसे अर्थोपार्जन न करनेका उन्होंने व्रत ले लिया। हरदोईके वे ख्यातिप्राप्त और सर्वोच्च क़ानून-विशेषज्ञ थे। उनका यह संकल्प मामूली संकल्प नहीं था।

क़ानूनी पेशेको लात मारकर, वैभवशाली जीवनका परित्याग करके, मोह-ममताके बन्धनोंको काटकर, बाह्यमें कपड़े पहने हुए, किन्तु अन्तरंगमें निर्लिप्त साधु होकर, मुमुक्षु बैरिस्टर साहब लन्दनके लिए जब बम्बई प्रस्थान करने लगे तो दिल्लीकी जैनसमाजने भी उनका स्वागत-समारोह करके कृतकृत्य होनेके अवसरको हाथसे नहीं जाने दिया। समा-

में जब बैरिस्टर साहबके इस त्यागकी प्रशंसा की गई तो उन्होंने सहज स्वभाव अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहा कि—"मैंने वकालत-पेशेका त्याग करके समाजपर कोई उपकार नहीं किया है। बल्कि मैंने अपनी आत्माका भला किया है। क्योंकि मेरी आत्मा इसे हकीर और ज़लील पेशा समझती थी। वेश्यावृत्ति और वकालतमें विशेष अन्तर नही है।"

बात तो केवल अपनी लघुता प्रकट करनेको कही गई थी, लेकिन यह बात उनके ससुर बा० प्यारेलालको खटक गई। बा० प्यारेलाल दिल्लीके सबसे बड़े वकील, बार एसोसियेशनके प्रेसीडेण्ट और दिल्ली जैनसमाजके सरपंच थे।

उस वक़्त तो बा० प्यारेलाल कुछ न बोले, परन्तु बैरिस्टर साहबके विलायत प्रस्थान करनेके बाद उस बातने बतंगड़का रूप ले लिया, और यहाँ तक बिषैला प्रचार किया गया कि "बैरिस्टरी छोड़नेका प्रचार तो धोका-फ़रेब है। वे तो तीर्थक्षेत्र कमेटीसे मार्गव्यय और मेहनताना लेकर लन्दन गये हैं।" और यह बतंगड़ इस ढंगसे प्रसारित किया गया कि उनको नज़दीकसे जाननेवाले भी शंकित हो उठे। तीर्थक्षेत्र कमेटीके मंत्रीने इस अफ़वाहको निराधार बताया तो उनका वक्तव्य यह कहकर अप्रामाणिक बता दिया गया कि "यह भी तो परिषद्-हितैषी है। चोर-चोर मौसेरे भाई, इनकी बातका क्या विश्वास?"

हमारे यहाँ कितनी निराधार बातें सत्यका रूप ले लेती हैं, यह हम आये दिन देखते हैं। खैर, यह तो एक बवण्डर था, जो उठा और बैरिस्टर साहबके तप-त्यागको धूमिल कर गया। लेकिन बवण्डर तो बवण्डर ही है, वह जितने वेगसे चढ़ता है, उतने ही वेगसे मिटता भी है। जब यह शान्त हुआ तो जैनधर्मका दिवाकर असोजके सूर्यकी तरह और प्रखर हो उठा।

इसी कड़ुवाहटने बैरिस्टर साहबके स्वाभिमानको इजाज़त नहीं दी कि वे उनके यहाँ ठहरें। और अन्य कुटुम्बियों-मित्रोंके यहाँ ठहरनेसे बा० प्यारेलालके हृदयको ठेस पहुँचती, इसे बैरिस्टर साहबका कोमल

हृदय कब सहन कर सकता था ? इसलिए किरायेके मकानमें ही रहना उन्होंने उचित समझा।

बचपनमें माँ और भूआसे उनका ज़िक्र अक्सर सुननेमें आया था। इधर सामाजिक कार्योंमें भाग लेनेसे उनकी ख्याति फैल रही थी, पत्र-पत्रिकाओंमें फोटो भी देखे थे। साक्षात् दर्शनका सौभाग्य भी १९२४ में प्राप्त हो गया। भूआके घर उन्हें देखा तो देखता ही रह गया। ऐसा रूप और शानदार व्यक्तित्व पहले कभी नहीं देखा था। यह वृद्धा-वस्था और यह रूप-रंग! मालूम होता था गुलाब और अंगूरोंके सम्मि-श्रणसे शरीरका निर्माण किया गया है। उन्नत ललाटपर धवल गाँधी टोपी ऐसी फब रही थी, मानो हिम-पर्वतपर क़रीनेसे बर्फ बिछा दी गई है। आँखें बड़ी-बड़ी और रसभरी, उनपर सुनहरी फ्रेमका चश्मा, नाक सुतवाँ, दाँत मोती जैसे, बोलते हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानो चमेलीके फूल झड़ रहे हैं। बच्चों-जैसी सरल-गुलाबी मुसकराहट, किताबी चेहरा, चौड़ा चकला सीना, छरेरा शरीर। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि सप्तम एडवर्डने भारतीय पोशाक पहन ली है। वही खसखसी दाढ़ी, वही गोरा-चिट्टा शरीर, वही रंग, वही रूप।

भूआने पहले ही ज़िक्र कर रखा था, देखते ही मुस्करा उठे, और इस स्नेह और प्यारसे मुझे अपने पास बिठाया कि मालूम होता था मैं अपने हक़ीक़ी पितामहकी गोदमें बैठा हुआ हूँ। आयुमें उनके पौत्रके समान और ज्ञानमें हाथीके समक्ष जैसे चींटी, फिर भी उन्होंने वार्तालाप-में नाम लिया तो 'जी' अवश्य लगाया, या 'मित्र' सम्बोधन देते रहे।

फिर तो उनके सम्पर्कमें आनेके मुझे कई अवसर मिले। जैनधर्मका प्रसार करके पहली बार लौटे तो २१ फरवरी १९२७ की रात्रिको दिल्ली-जैन-समाजकी ओरसे जो स्वागत किया गया, उसमें मैंने भी एक तुकबन्दी पढ़ी, जिसके चन्द अशआर आज भी याद हैं—

जिनधर्मके हितैषी हैं, इसपर निसार हैं,
यह बहरे क़ौम रहमते परविर्दगार हैं;

*   *   *

सच्चे वतनपरस्त हैं, लीडर हैं क़ौमके,
मैदाने मारफ़तमें ये रहबर हैं क़ौमके
ये धर्मके सिंगार हैं, ज़ेवर हैं क़ौमके,
रूहे रवाँ हैं क़ौमके, गौहर हैं क़ौमके।

*   *   *

साथी हैं उनके, जिनको न था कलका आसरा।
मायूसकी मुराद तो निर्बलका आसरा॥

*   *   *

यकताँ हैं, बेमिसाल हैं और लाजवाब हैं,
हुस्नेसिफ़ाते दहरमें ख़ुद इन्तख़ाब हैं;
पीरीमें भी नमूनये अहदे शबाब हैं;
गोया कि जैनक़ौमके एक आफ़ताब हैं।

*   *   *

जब मैंने यह तीसरा मिसरा—"पीरीमें भी नमूनये अहदे शबाब हैं" पढ़ा तो जनताने तो जो दाद देनी थी, वह दी ही, लेकिन इस मिसरेपर आप भी मुस्करा उठे और अकेलेमें मज़ाक करते हुए बोले—"भाई अयोध्याप्रसादजी ! तुम तो अच्छे-खासे शायर बन बैठे।" मै शर्माकर दूसरी तरफ़ देखने लगा।

सन् २८ में मेरा एक ३२ पृष्ठका ट्रैक्ट छपा तो बीमार होते हुए भी शिमलेसे लिखा—"अब तो आप पूरे मुसन्निफ (लेखक) ही हो गये, हमें आपकी तहरीरोंको पढ़कर खुशी होती है।" १९३३ में मेरा "राजपूतानेका जैनवीर" छपा तो लन्दनसे भी प्रोत्साहन दिये बग़ैर न चूके "मुझे बड़ी खुशी हासिल हुई कि आप अपने वक़्तको बेकार नहीं खोते हैं। इस पुस्तकके बाज़-बाज़ हिस्सोंको मैंने बहुत पसन्द किया है।"

वे मुक्तकंठसे नवीन लेखकों और समाजसेवियोंको प्रोत्साहन देते थे। भरी सभामें पीठ थपकते थे। पत्रों द्वारा प्रेरणा देते थे, और उनके आशीर्वादात्मक शब्दोसे बल भी मिलता था।

धर्मके प्रति जैसी अटूट श्रद्धा-भक्ति उनमें थी, वह शब्दों द्वारा व्यक्त नही की जा सकती। उनका रोम-रोम उसमें भीगा हुआ था। सोते-बैठते, चलते-फिरते वे विदेह मालूम होते थे। आतुर जनताके समक्ष जब वे प्रवचन करते थे, तो मालूम होता था, सावनके बादल रिम-झिम, रिम-झिम बरस रहे है। वे तो जीवन्मुक्त थे ही, मोह-मायामें फँसे हुए श्रोता भी आत्मविभोर हो जाते थे। धर्मके सूक्ष्म तत्त्वों और गूढ़ अभिप्रायोंको इतने सरल, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ढंगसे प्रस्तुत करते थे कि जनताका रोम-रोम भीग उठता था।

पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षामें पले-पोसे होनेपर भी उन्होंने इस रंगको इस तरह पोंछ फेंका था कि आश्चर्य्य होता था। उन्होंने पाँचों अणव्रतोंका अत्यन्त तत्परतासे पालन किया। खान-पान उनका अत्यन्त शुद्ध स्वच्छ और सात्त्विक था। उनके खानपानकी शुद्धता-पवित्रताको देखकर स्वयं जैनोंको भी आश्चर्य होता था। बैरिस्टर साहब जब विलायत थे, तब श्री जमनाप्रसादजी (वर्तमान सिशन जज) को १६ माह उनके सम्पर्कमें रहनेका अवसर प्राप्त हुआ। वे लिखते हैं–"विलायतमें पले-पुसे होनेपर भी, विलायतमें रहकर भी वे अण्डे-तकका परोक्ष रूपसे यानी बिस्कुट-केक आदिसे भी बचाव रखते थे।" वे रहन-सहन और भोजन आदिमें स्वच्छता और शुद्धताका बहुत ध्यान रखते थे। मेरी आँखों-देखी बात है–एक बार उनको दवा जिस काग़ज़में दी जा रही थी, वह ज़मीनपर गिर पड़ा तो फिर उस काग़ज़को उपयोगमें लानेसे मना कर दिया था। सत्याणुव्रतका वे इतनी दृढ़तासे पालन करते थे कि स्वयं तो कभी झूठ बोलते ही न थे, मुक़दमे भी झूठे नहीं लेते थे, चाहे उनमें कितना ही अर्थ-लाभ क्यों न होता हो। इस सचाईके लिए वे कमिश्नरी भरमें प्रसिद्ध थे; और उन्हें छोटे-बड़े सब चचा जैन (Uncle Jain) स्नेहमय

सम्बोधनसे पुकारते थे। वे अपनी सत्य-वादिताके लिए अदालतमें इतने मशहूर थे कि फाँसीकी सज़ा पाये हुए व्यक्ति भी इनकी पैरवीसे छूट जाते थे। क्योंकि जज जानते थे कि वह झूठे मुक़दमे नही लेते हैं। एक दिन मैंने विनोदमें पूछा—"बाबूजी ! जहाँ आपने अनेक व्यक्ति फाँसीसे बचाये हैं, वहाँ दो-चार फाँसी चढ़वाये भी होंगे।" मुसकराकर जवाब दिया "जिससे किसीके प्राणोंपर आ बने ऐसा मुक़दमा मैंने आजतक एक भी नहीं लिया।"

बैरिस्टरी छोड़कर आये, परन्तु अपने मुंशी और नौकरोंको नहीं छोड़ा। विलायतसे भी उनके लिए वेतन बराबर भेजते रहे, और जब भारत आते थे, तब उन्हें अपने साथ रखते थे। वे नौकरों तकसे बड़ी सौजन्यतासे पेश आते थे। वे वाणीका संयम इतना रखते थे कि नौकरों तकको असावधानीमें उनके मुँहसे कोई ऐसा वाक्य निकल जाता था, जो क्रोधका द्योतक हो या उनको नागवार ख़ातिर हो तो वे प्रायश्चित्त स्वरूप उस रोज़ भोजन नही करते थे। ख़्वाह वह नौकर स्वयं कितनी ही मिन्नतें करे।

अचौर्य्यव्रतका यह हाल था कि रेलमें सफ़र करते हुए क़ायदेसे सेर भर भी वज़न अधिक होता था तो लगेज़ करा लेते थे। कभी चुगी तककी चोरी नहीं करते थे।

ब्रह्मचारी वे आजीवन रहे। उनका विवाह बाल्यावस्थामें ही दिल्लीके सर्वोच्च वकील और दिल्ली जैन-समाजके सरपंच बा० प्यारेलाल-की पुत्रीसे हुआ था। उन दिनों देखनेका रिवाज नही था। उनकी पत्नी केवल कुरूप होती, तब भी ग़नीमत होती, किन्तु वह तो पागल थीं। बैरिस्टर साहबका एक रोज़ भी सम्पर्क नहीं रहा। जीवनभर वे पिताके यहाँ रहीं। दाम्पत्य सुख उन्होंने एक दिन भी नहीं देखा। उनको दूसरी शादीके लिए जब-जब मजबूर किया गया, तो यही कहकर सदैव बचते रहे कि "यदि

१ वीर चम्पतराय अंक पृ० ९४

भाग्यमें स्त्री-सुख होता तो इतने सभ्य सुसंस्कृत घरानेकी लड़की क्यों पागल निकलती। जब उसने एक रोज़ भी पति-सुख नहीं जाना तो मैं ही क्यों उसका उपभोग करूँ। दोनों ही ब्रह्मचर्य्य व्रत पालन करेंगे।" जब वे किसी भी तरह शादी करनेको प्रस्तुत नहीं हुए तो उन्हें दत्तक पुत्र रखनेको बाध्य किया गया ताकि वंशका नाम चल सके। दत्तक पुत्र-का प्रसंग छिड़नेपर वे गम्भीर हो उठते थे और कहते थे—"नाम सन्तान-से नहीं, अपनी करनीसे होता है। मेरा धर्म मेरे पास है, इसके होते हुए अब मुझे किसी सांसारिक वस्तुकी अभिलाषा नहीं रही है", और जब उन्हें विद्यावारिधि, जैनदर्शनदिवाकर-पदवियाँ दी गईं तो घबराकर भविष्य-में कोई उपाधि न लेनेकी प्रतिज्ञा कर ली।

परिग्रहपरिमाण व्रतका वह हाल था कि उन्हें धनसे कभी लिप्सा नही हुई। धर्मनिष्ठ और सत्यवादी रहकर भी जो धन उनके पास एकत्र हो गया, उसे भी कौड़ी-कौड़ी समाजको अर्पण कर गये। वे वैभवशाली कुलमें पले-पोसे, वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत किया। पैसेको हाथके मैलसे अधिक महत्त्व नही दिया। सरल और सादा जीवन व्यतीत करते थे। यूरोपमें जैनधर्मके प्रचारमें कई लाख रुपये व्यय किये और शेष जो २१४७८५ रु० बचा उसका इम्पीरियल बैंकको ट्रस्टी बना गये, जिसका ६००० रु० वार्षिक व्याज सत्साहित्यके प्रचारमें व्यय हो रहा है।

हरदोईमें स्वयं अकेले रहते थे, लेकिन नौकरोंकी भीड़ रहती थी। रसोइया, कहार, अर्दली, माली, दरबान सभी रहते थे। एक बार सम्मेद-शिखरकी यात्राको गये तो भूआ भी साथ थीं। अपने नौकर तो थे ही, वहाँ भी २-३ नौकर रख लिये। भूआ बोलीं—"भाई, इतने नौकर तो साथ हैं, इनका और क्या होगा?"

"बहन! अगर इनको हम यात्री लोग काम न दें तो फिर इनका गुज़ारा कैसे होगा? ये लोग तो यात्रियोंकी आशामें ही यहाँ पड़े रहते हैं।"

"भाई! जो देना है, इन्हें खुशीसे दो, मगर यों भीड़ लगानेसे क्या फ़ायदा?"

"बहन ! जिन्हें हमने नौकर नहीं रखा है, उन्हें हम कब क्या देते हैं ? सच बताओ तुम उन्हें क्या दे जाओगी ? और भीखके तौरपर दोगी भी तो जो मँगते नहीं हैं, उसे लेंगे भी क्यों ?"

भूआ चुप हो गईं। देरतक उनकी इस सहृदयता और अपनी अनुदारतापर सोचती रही; और जब तक उन्होंने अपनी इस लघुताका मुझसे जिक्र नहीं कर लिया, मन हलका नहीं हुआ।

१६२२ में जैन महासभा—लखनऊ अधिवेशनके सभापति निर्वाचित हुए। उनकी वक्तृता और सभा-सञ्चालनके ढंगने सभीको मुग्ध कर दिया। ऐसा योग्य व्यक्ति समाजमें सदियों उत्पन्न नहीं होगा, न जाने हमारी कितनी तपश्चर्य्याओंका फल है कि समाजको यह रत्न नसीब हुआ, सभीके मुँहपर यह बात थी। फिर भी कुछ दकियानूसी थर-थर काँप रहे थे। क्योंकि बैरिस्टर साहब अंग्रेजी पढे-लिखे थे ! और अनपढ़ लोगोंको भय था कि न जाने कब बैरिस्टर साहब भगवान्को कोट-पतलून पहनवा दें, हालाँ कि बैरिस्टर साहब स्वयं इस पोशाकका त्याग कर चुके थे। उन्हें आशंका होने लगी कि यदि इन्होंने शास्त्र छपवानेका आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया तो हमारा फैलाया हुआ पोपडम सब विलीन हो जायगा, और न जाने कब कोई ऐसी समझदारीकी बात कह दें, जो हमारे पोंगापन्थके खिलाफ़ जा पड़े। अतः उन्हें महासभाकी सीमासे दूर-दूर ही रखा गया, और उनके धर्म-प्रचार कार्योंमें वे सदैव राहु बने रहे।

लेकिन बैरिस्टर साहब सचमुच जैनधर्म-दिवाकर थे। वे अहर्निश धर्मका प्रसार करते रहे ! दलबन्दीके दलदलमें वे कभी नहीं फँसे। महासभाकी तीर्थक्षेत्र कमेटीके लिए वे नंगे पाँव अदालतोंमें गये। देश-विदेश सर्वत्र घूम-घूमकर उन्होंने धर्मकी अलख जगाई ! बड़े-से-बड़े ईर्ष्यालुकी उन्होंने कभी निन्दा नहीं की। जैन धर्मका यह दिवाकर पूरी आव-तावके साथ बढ़ता हुआ हमारे तिमिराच्छन्न हृदयोंको आलोकित करता गया और अस्त हो गया।

डालमियानगर, २४ मई १९५१

जीवन-झाँकी

श्री बनवारीलाल स्याद्वादी

देहलीके कूंचा परमानन्दमे ला० चैनसुखदासजीकी हवेलीमें माता पार्वतीदेवीके उदरसे श्री चम्पतरायजीका जन्म हुआ था। आपके बाबाजीका नाम श्रीमान् ला० निहालचन्द्रजी तथा पिताजी-का नाम ला० चन्द्रामलजी था। ला० चन्द्रामलजी अपने पिताजीके समान नित्य देवदर्शन, जिनपूजा, स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओमें रत रहते हुए सर्राफेका कार्य करते थे। आपकी धर्मपत्नी श्री पार्वतीदेवीजी धर्म-परायणा महिला थी। अभक्ष्यभक्षण और रात्रिभोजनकी तो बात क्या रातको जल तक पीनेका त्याग था। आप जिस नियम या प्रतिज्ञाको लेती, उसे कभी भी नही त्यागती थी। आपने एक बार प्रतिज्ञा की थी कि महा-वीरजी (चादनपुर) गये बिना दही न खाऊँगी। सयोगवश आप अधिक बीमार हो गई। वैद्यजीने एक दवाई दहीके साथ देनेके लिए कहा। आपने तुरन्त ही उत्तर दिया—"वैद्यजी, मै दही न खाऊँगी। मेरी प्रतिज्ञा है।"

वैद्यजी—"बीमारीमे प्रतिज्ञा या नियमको हठवश पकडे रहना उचित नही। आप इस औषधिका सेवन करें और आराम हो जाने दीजिए। फिर अपनी प्रतिज्ञा या नियमका पालन स्वेच्छापूर्वक करे।"

पार्वती—"मुझे रोगमुक्तिसे अपनी धार्मिक प्रतिज्ञाका पालन अधिक आवश्यक मालूम होता है क्योकि 'रोगमुक्तिके बाद धर्मपालन होगा' यह तो निश्चित नही, किन्तु यह निश्चित है कि प्रतिज्ञा भग करनेसे मेरा धर्म तो समाप्त हुआ।"

वैद्यजी इस उत्तरको सुनकर अवाक् रह गये। उन्हे धर्मप्रधाना

और प्रतिज्ञासूरि पार्वतीसे पराजय माननी पड़ी और दूसरी दवाई दी गई।

जननी पार्वतीके क्रमशः ३ पुत्र हुए थे, किन्तु वे दो-दो और तीन-तीन वर्षकी अल्पायुमें मर चुके थे। रिक्तगोद तथा पुत्र-वियोगकी अकथ पीड़ासे उनका हृदय भरा हुआ था। ला० चन्द्रामलजी भी इससे बड़े चिन्तित और उद्विग्न रहते थे। इसके बाद चौथी सन्तान धरतीपर आई तो वह भी पुत्री। इन असाधारण प्रतिकूलताओंमें भी पार्वती अपने धर्मपालनमें सदैव सावधान और दत्तचित्त रही। एक दिन स्वप्नमें पार्वतीसे किसीने कहा :—

"चिन्ता न करो, अबकी बार तुम्हारी अभिलाषा पूरी होगी, किन्तु जब तुम्हें प्रसव-वेदना प्रतीत हो तो तुम पाखानेमें चली जाना।"

ऐसा ही किया गया और बालक चम्पतरायजीका जन्म पाखानेमें हुआ।

बाल्यकाल

ला० चन्द्रामलजीके भाई मिट्ठनलालजी तथा गुलाबसिंहजीके भी कोई पुत्र न था, अतः शिशु चम्पतराय ही सबके स्नेह-दुलार और आकांक्षाके केन्द्र बन गये, इधर नामकर्मकी विशेषताके कारण सुन्दर शरीर, ऊँचा माथा और आकर्षक मुखाकृति मिली थी, अतः माता-पिता, बहिन आदि कुटुम्बियोंके लिए वे बड़े प्रिय थे। सबकी स्नेहमयी दृष्टि इन्हींपर पड़ती थी। लालन-पालन सावधानी तथा प्रयत्नशील ढंगके होनेपर भी, बालक चम्पतराय दो वर्षकी अवस्था तक अनेक बीमारियोंके शिकार रहे। रूढ़िवश ५ वर्षकी अवस्था तक उनके सिरके बाल नहीं उतारे गये। बालक चम्पतरायको बाल्यकालसे ही देवदर्शनकी आदत थी। वह माताके साथ-साथ जिनमन्दिरजी जाते और णमोकार मंत्र, बिनती आदि पढ़ते। बाल्यावस्था ही में धर्मशीला माताको जाप करते हुए देखते, तो आप भी वैसे ही बैठकरकी आँखोंकी पलक बन्द कर अँगुलियोंको चलाते। धार्मिक माता-पिताके आचरणका प्रभाव बाल्यकालमें बालक चम्पतरायपर अच्छा पड़ा।

शिक्षारम्भ

इनका विद्यारम्भ इनके पिताजीने अपनी दुकानके पास ही 'काला-महल' नामक प्राइवेट स्कूलमें कराया था। चम्पतरायजी जन्मसे ही तीक्ष्णबुद्धि थे, जो पाठ याद करनेको मिलता, तुरन्त वहीं याद कर लेते थे। इनके शिक्षक इनसे प्रसन्न रहते थे। एक बार शिक्षकने कुछ छात्रों-से पिछला पाठ सुना, क़रीब ८ या १० छात्रोंसे पाठ नहीं बताया गया था। उनमें बालक चम्पतरायजी भी थे। शिक्षकको इससे बड़ा असन्तोष हुआ। उनके असन्तोषने क्रोधका स्वरूप धारण कर साँटियोंसे पीटना प्रारम्भ कर दिया। बालक चम्पतराय ४ या ५ दिनसे स्कूल न आये थे और उस पाठको भी नहीं पढ़ा था। शिक्षकका क्रोध उग्र रूपमें था ही, वह बालक चम्पतरायके पास भी पहुँचे। तेवरी चढ़ाकर साँट उछालते हुए बोले—

"बाबू साहब, अब तुम भी इन्हीं जैसे हो गये ?" यह वाक्य समाप्त भी न हो पाया कि बालक चम्पतराय एकदम स्कूलसे भागे और पिताजी-के पास दुकानपर पहुँचकर साँस ली। यदि कोई साधारण छात्र होता, तो शिक्षक साहब भी बेपरवाह हो जाते, पर मामला था स्कूलके व्युत्पन्न-मति बालक चम्पतरायका। शिक्षक महोदय दुकानपर पहुँचे। लाला चन्द्रामलजीसे बोले—

"लालाजी, आज चम्पतराय स्कूलसे चम्पत होकर यहाँ आया है !"

पिताजीने पूछा—"चम्पत, क्या बात है ?"

बालक—"लालाजी, मास्टरजीने आज नया पाठ पढ़ाया था, उसे मैं नही पढ़ूँगा।"

पिता—"बेटा, स्कूल तो पढ़ाईके लिए ही है। जो मास्टरजी पढ़ावें उसे ज़रूर सीखो। (मास्टरजीसे) क्या क्लासमें कमज़ोर है ?"

मास्टर—"चम्पतराय, अपने क्लासमें तो मॉनीटर है।"

बालक—"लालाजी, आज मास्टरजीने किताबका पाठ न पढ़ाकर बहुतसे लड़कोंको हाथोंसे मारका पाठ पढ़ाया। मुझे भी पढ़ाना चाहते

थे, मैं उसे नहीं पढ़ूँगा।"

पिताजीने स्कूलकी सारी घटना शिक्षकसे जान ली। और बालक चम्पतरायसे कहा, "बेटा स्कूल जाओ।"

बालक चम्पतरायने नम्रभावसे कहा, "मैं मारका पाठ न पढ़ूँगा!"

बालकके इस नम्र भावका शिक्षक महोदयके चित्तपर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि, उसने बच्चोंके मारनेकी आदत सदाके लिए छोड़ दी।

माताका स्वर्गवास हो जानेसे जननीके दुर्लभ दुलार तथा लालन-पालनका सौभाग्य केवल ६ वर्षकी आयु तक आपको मिला।

गोद जाना

ला० चन्द्रामलजीके वंशज सोहनलाल बाँकेलाल भी थे। ये दोनो सहोदर भ्राता देहलीके विख्यात जैन धनिकोंमेंसे थे, किन्तु कोई संतान न होनेसे बहुत चिंतित रहते थे। बालक चम्पतरायपर उनका ममतामय सन्तान-स्नेह जन्मसे था। ला० सोहनलाल बाँकेलालजीको पुत्रचाहसे व्यथित देखकर ला० चन्द्रामलजीने कहा, "भाई, जैसा चम्पत मेरा, वैसा ही तुम्हारा है, तुम्ही अपने यहाँ रक्खो। तुम्हारे सुखसे मैं सुखी हूँगा।"

अतः क़रीब ७ वर्षकी आयुमे बालक चम्पतरायजी गोद चले गये। इस धन-गद्दीपर आते ही चम्पतरायजीके रहन-सहन वेष-भूषा आदिमें महान् परिवर्तन हो गया। अब उनकी शिक्षा अंग्रेज़ी स्कूलमें होने लगी थी, बुद्धिकी प्रखरताके कारण अंग्रेज़ी स्कूलमे बाबू चम्पतरायजी खूब चमके।

विवाह-सम्बन्ध

धनकी प्रचुरता, बुद्धिकी तीक्ष्णता, शरीरकी सुन्दरता और वेश-भूषाकी आकर्षकता बालकोंको किसी अंशमें अधिक अभिशाप रूप होती हैं। इसका कारण यह है कि अनेकोंकी आँखें अपनी-अपनी पुत्रियोंके विवाह-सम्बन्धके लिए बाल्यकालसे ही अपना लक्ष्य बना लेती हैं। बालक चम्पत-रायजी भी इसके अपवाद न रह सके। उनका विवाह-सम्बन्ध १३ वर्ष-

की आयुमें देहलीके प्रसिद्ध रईस स्व० ला० प्यारेलालजी (M. L. A. Central) की सुपुत्रीके साथ हुआ था। ला० प्यारेलालजी देहली समाजके केवल सरपंच व नेता ही नहीं थे, बल्कि देहली बार एसोसिएशनके प्रमुख, हिन्दू कॉलेजके सभापति, देहली यूनीवर्सिटीके सम्मानित सदस्य तथा विख्यात राष्ट्रिय नेताओंमेंसे थे।

विदेशमें शिक्षा

बा० चम्पतरायजीने मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा फ़र्स्ट डिवीज़नमें पास की थी। बादको आपने देहलीके प्रसिद्ध सेंट स्टीफन कॉलेजमें एफ़० ए० का अध्ययन किया। आप कुशाग्रबुद्धि तो थे ही, सन् १८९२ ई० में शिक्षा प्राप्त करनेको इँगलैंड गये। वहाँसे सन् १८९७ ई० में बैरिस्टर होकर आये।

विचित्र परिवर्तन

विलायतके विद्याध्ययन और वहाँके उन्मुक्त वातावरणने इनमें अजीव परिवर्तन ला दिया। शिक्षा और सहवासने वेश-भूषाके साथ ही विचारोंमें भी आमूल परिवर्तन कर दिया। बाल्यकालकी धार्मिक शिक्षाकी विदाई भी विलायतमें हो गई थी। खान-पान और आचार-विचार सभी पाश्चात्य ढाँचेमें ढल गये। उनकी जीवन-धाराका बहाव विपरीत रूपसे बहने लगा। इस जगत्‌के सिवाय परलोक आदिका विश्वास भी अब उनके मनमें नहीं रहा।

बैरिस्टरीका व्यवसाय

बा० चम्पतरायजीमें इस असाधारण परिवर्तन होनेके कारण उनके कुटुम्बी व देहलीकी जैन-समाजने उन्हें नास्तिक समझकर उनसे बातचीत करना तक छोड़ दिया। बैरिस्टर साहब भी इन्हें रूढ़िवादी, विवेकहीन और लकीरके फ़क़ीर समझकर इनकी उपेक्षा करने लगे। पहिले हम उन्हें बैरिस्टरीके व्यवसायमें देहली, मुरादाबाद, अमृतसर आदि स्थानोंमें और अन्तमें स्थायी रूपसे हरदोईमें देखते हैं। जब वे हरदोई

पहुँचते हैं, अपने प्रतिभा, श्रम और बर्तावके कारण साधारण और अपरिचित बैरिस्टरसे हरदोईके प्रमुख बैरिस्टर और फिर वहाँ बराबर बार एसोशिएशनके सभापति और अन्तमें अवध चीफ कोर्टमें फ़ौजदारीके प्रमुख बैरिस्टर बनते हैं। वे प्रान्त भरकी जनतामें यह धारणा बैठा देते हैं, "फाँसीकी सजासे अगर किसी अपराधीको बचाना है तो जैन बैरिस्टर का सहारा लीजिए।" इस प्रसिद्धिका कारण यह था कि बैरिस्टर साहबने जितने भी केस अपने हाथमें लिये, उन केसोंके मुलजिमोंको फाँसीके तख्तेपर चढ़ने नहीं दिया। आपकी इस सफलता के करण उनका क़ानूनी ज्ञान, भारी श्रम और "जिस कार्यको करना उसे सफल बनाना" ये स्वर्ण सिद्धान्त थे। बैरिस्टर साहब अपने इस व्यवसायका अनुभव बताते थे, "अधिक केस लेनेकी अपेक्षा कम केस लेना और पूरे श्रमसे तैयार करना, अधिक फ़ीस दिलाता है" वे अपने जूनियर वकीलोंके साथ कृपापूर्ण सद्व्यवहार करते थे और उन्हें अनेक प्रकारसे उपकृत करते थे। वहाँके वकील उन्हें प्रेम और श्रद्धाके कारण अंकिल जैन (Uncle Jain) के नामसे पुकारते थे। उस समय हरदोईके डिस्ट्रिक्ट जज मि० वधावर आई० सी० एस० के द्वारा एक जूनियर वकीलका कोर्टमें अपमान करनेपर बैरिस्टर साहबने अपनी अध्यक्षतामें स्थानीय प्रमुख वकीलों और बैरिस्टरोंके साथ क़रीब ११ माहतक उस कोर्टका बहिष्कार कर रक्खा था। अन्तमें सफलता प्राप्त करना यह बैरिस्टर साहबका ही कार्य था।

विरक्तिका बीज

धन, जन-सम्पर्क, पद और प्रतिष्ठाके अनुरूप रहन-सहन, रीति-व्यवहार आदि भी बढ़ते गये। उनका जीवन-जहाज़ लोक-यात्रा करता हुआ जा रहा था। 'टीटोनिक जहाज'के समान किसीको स्वप्नमें भी विचार नहीं आता था कि बैरिस्टर साहबके जीवन-यानपर भी कोई आकस्मिक विशेष घटना होगी। पर कभी-कभी छोटी-से-छोटी घटना महापुरुषोंके जीवनके प्रबल वेगको एकदम रोककर ऐसी दिशामें बहा देती है, जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। यही बात यहाँ हुई।

बैरिस्टर साहबका ममतामय गाढ़ा स्नेह ला० रंगीलालजी (उनके ससुर ला० प्यारेलालजीके लघु भ्राता) के साथ था। ला० रंगीलालजीकी आकस्मिक मृत्यु हो गई। इससे बैरिस्टर साहबके हृदयपर भारी प्रतिक्रिया हुई। उनका मन इन्द्रियोंके सुख व गार्हस्थ्यसे हटकर अशान्तिकी ओर गया। पश्चिमी शिक्षा और साहित्य उनके मनकी अशान्ति दूर न कर सके। आपने स्व० रामतीर्थ-रचित कुछ वेदान्त ग्रंथ अंग्रेजीमें पढ़े। इससे आपका मन प्रभावित हुआ। आपमें अन्य मतोंकी जिज्ञासा जगी। आपके तर्कको पूरा निश्चय था कि सत्य धर्म एकरूप ही है। अनेक मतोंके अध्ययन, अनुशीलन और सन्तुलनमें आपने जीवनका बहु उपयोग लगाया और ग्रंथोंकी रचना प्रारम्भ कर दी। पर तर्कसे कुछ ऐसी शंकाएँ उठती थी, कि उनका समाधान सन्तोषके साथ न हो पाता था। सन् १९१३ में सौभाग्यवश बा० देवेन्द्रकुमारजी आराका सम्पर्क उन्हें प्राप्त हुआ। बाबू देवेन्द्रकुमारजी बड़े उत्साही व लगनशील कार्यकर्त्ता थे। उन्होंने अन्य धर्मोंके समान जैनधर्मकी कुछ पुस्तकें पढ़नेके लिए उन्हें प्रेरित किया। आपने जैन-सिद्धान्तका अध्ययन किया। उस अध्ययन से सत्यके स्वर्ण-प्रकाशकी झाँकी-सी आपको मालूम पड़ी, जैन सिद्धान्तके अध्ययनको आपने अधिक विस्तृत तथा गतिशील किया। जो-जो अन्य मतोंमें शंकाएँ आपको मिली थीं, उनका सत्य समाधान उन्हें इसमें मिलने लगा? तब आपने कहा, "सत्यका खजाना अपने यहाँ ही है, पर मैं उसे पानेके लिए इधर-उधर व्यर्थ चक्कर लगाता रहा।" नास्तिक बने हुए बैरिस्टर सर्वज्ञकथित सत्यधर्मपर दृढ़ श्रद्धा करने लगे। यह सत्यधर्म बड़े खोज और श्रमसे उन्हें मिला था। अतः यह उनके जीवनकी सबसे प्यारी वस्तु बनी। इसके रंगमें वे ऐसे रँगे कि और सब बातें उन्हें फीकी और नीरस लगने लगीं। बैरिस्टरीके व्यवसायसे उनका मन विमुख हो गया।

बैरिस्टर साहब अपने भाव, भाषा और वचन, बल्कि यों कहिए, धन, तन और जीवनका सर्वस्व इसी सत्यके प्रचारमें लगा देनेके लिए निकलते हैं। हरदोईके उनके सहयोगी लिखते हैं कि वे यहाँपर अंग्रेजी वेषभूषा,

विचार और पद्धतिमें सजे हुए बैरिस्टर-से आते हैं, पर यहाँसे ज्ञान, भाव आचरण और शुद्धतासे सम्पन्न होकर भारतीय-सन्त-वेषमें जाते हैं। वे इस सत्यके प्रकाशको विश्वके विद्वानों तक पहुँचानेके लिए ज्ञानके साहित्य-की रचना करते हैं, देश-विदेशोंमें व्याख्यान देते हैं, और एकमात्र सत्यके प्रचारको अपने जीवनकी साधना बनाते है। फल यह होता हैं कि पृथ्वी-मंडलपर कोने-कोनेमें लाखों महानुभाव उनके साहित्यको पढ़ते है और मनन करते हैं तथा करोड़ों व्यक्ति आगे करेंगे।

समाज-सेवा

समाज-सेवामें प्रथम बार बैरिस्टर साहबको सन् १९२२ में जैन महासभाके लखनऊ-अधिवेशनका सभापति देखते है। वे अपने उत्तर-दायित्वको बड़ी सतर्कता और सावधानीसे निभाते है। इसके कोषके द्रव्यको बड़ी बुद्धिमानी और दक्षतासे निकलवाते है। वे इसके टूटे हुए तारोको ठीक करनेमें पूरा प्रयत्न और श्रम करते है। महासभाके मुख-पत्रको सुधारने और इसके अनुरूप बनानेके लिए वे अपनी सेवाएँ समर्पित करते है। पर पुराने विचारोंके कुछ महानुभावोको यह उचित नही मालूम होता, वे इसका विरोध करते है। इसपर समाजमें जीवन-संचार करने तथा सुधारोंके फैलानेके लिए परिषद्‌का जन्म होता है। परिषद्-को प्रगतिपूर्ण और समाजोपयोगी संस्था बनानेमें बैरिस्टर साहबने स्तुत्य सेवाएँ की हैं। परिषद्‌की ममता उनके जीवनकी अन्तिम साँसतकमें रही है।

श्री सम्मेदशिखर आदि तीर्थोकी रक्षा, जैन लॉका निर्माण, दिगम्बर मुनियोंके विहारपर प्रतिबन्ध हटानेके प्रयत्न, जैन-रथोके निकलवाने, कुड़चीके अत्याचारोंके विरुद्ध विलायतमें भारतमंत्री और पार्ल्यमिंट तक आवाज़ पहुँचाने, जैन पुरातत्त्वोंकी खोज करने, तुलनात्मक अपूर्व साहित्य-के सृजन, देश-विदेशोंमें व्याख्यानोंके देने, विलायतमें जैन लाइब्रेरीकी स्थापना कराने, विद्वानों और विद्यार्थियोंके साथ विचार-विनिमय करने, समाज-सेवियोंको तैयार करने, जैन-समाजमें जीवन और संगठन लाने, जैनधर्म और संस्कृतिके प्रसारमें तन, मन, धन और अपना सर्वस्व त्याग

करने, आदि परमार्थ साधनाओंमें ही श्रद्धेय बैरिस्टर साहबके जीवनकी अमूल्य घड़ियाँ गुजरी हैं।

—वीर, चम्पतराय अंक

वे और उनका मिशन

श्री कामताप्रसाद जैन

श्रद्धाञ्जलि !

वे पूज्यपाद अमर विभूति थे ! उनका रोम-रोम जैनधर्मके रहस्य, विश्वप्रेमसे अनुप्राणित था ! वे अहर्निशि धर्मोद्योत करनेके लिए जागरूक थे—अपना तन, मन और धन धर्मपर न्योछावर किये बैठे थे । वे धर्म-प्रभावनाके लिए—सतप्त ससारको प्रभु वीरका सुख शान्ति सन्देश सुनानेके लिए—उसे आकुल-व्याकुल न देख व्याधि-मुक्त हुआ देखनेके लिए 'अपने से भी बेसुध थे । धर्मतत्त्वकी अमृत-घूंट पीकर वे ऐसे तन्मय हुए थे कि स्व-परकी द्वैतभावना उनमें कही दिखती न थी । लोकके वे थे, लोक उनका था ! धर्मध्यानका पुनीत फल उन्होने आँखोसे देखा था । वे लोक-कल्याण-भावनामें निरत कैसे न होते ? उस वृद्धावस्थामें भी युवाओकी स्फूर्तिको लिये हुए वे एक बार नही अनेक बार सात समुद्र पार धर्मका झण्डा ऊँचा फहरानेके लिए गये—वे युगवीर और धर्मवीर थे ! जैनसघके गौरव और जैनभालके तिलक थे वे ! सघकी प्रतिष्ठामें वे अपनी प्रतिष्ठा समझते थे ! धर्मपर कोई आक्षेप करता तो उनकी आत्मा तडपकर कह उठती, "भूलते हो भाई ! धर्म त्राणदाता है । उसे समझो और मनमें बिठाओ ।" पाशविक बलके झूठे दम्भ और मोहसे मृत्युलोकका वक्षस्थल प्रकम्पित हो रहा है—मानव हैं पर दानव बने हुए, शासक है पर अज्ञानी बने हुए, विद्वान् है पर निस्स्वार्थी नही । कषाय-दावानल भडक रहा है । मनीषी बैरिस्टर सा० का विवेक यह सब कुछ कैसे देखता ? उन्होने अर्थसचयको ठुकराया—त्यागको अपनाया । शासक और शासितको अहिंसाका पाठ

पढ़ानेके लिए वह निकल पड़े ! एकाकी—निःस्पृही—निराकांक्षी ! महान् थे वे ! उनकी वाणीमें पीयूष था—उनका ज्ञान परीक्षित और परिष्कृत था—उनके नेत्रोंमें प्रकाश था—उनके हृदयमें अमित करुणाका वास था। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। जो भी उनके दर्शन करता, नतमस्तक हो जाता। भला बताइये क्यों न हम उन्हें महापुरुष कहें ? आज पूज्य बैरिस्टर चम्पतरायजी हमारे मध्य नहीं हैं ! उनके शरीराकार दर्शन दुर्लभ हैं, परन्तु उनकी सजीव प्रतिमा आज भी हमारे सम्मुख है। समाजका बच्चा-बच्चा उनके नाम और कामसे प्रभावित है। आइये, उनके चरण-चिह्नोंपर चलनेकी सद्भावना जागृत करके अपने सच्चे हृदयकी श्रद्धाञ्जलि उनकी पवित्र स्मृतिको अर्पण कीजिये।

धर्ममूर्ति विद्यावारिधि !

पूज्य बैरिस्टर सा० से साक्षात् होनेके पहिले मैं उन्हें एक अधिकारी लेखकके रूपमें जान चुका था। यों तो मैंने उन्हें दूरसे कानपुरकी जैन-साहित्य-प्रदर्शनीका उद्घाटन करते हुए बहुत पहले देखा था। पर उनके निकट बैठकर बात करनेका सौभाग्य मुझे लखनऊमें महासभाके अधिवेशनके समय मिला। दोनों अपरिचित—एक दूसरेकी सूरतसे नावाक़िफ़ ! किन्तु जिस प्रेम और वात्सल्य भावसे उन्होंने मुझको अपने पास आराम-कुर्सीपर बैठाया, उससे मैं यह न समझ सका कि वह मुझे नहीं पहचानते। किन्तु दूसरे क्षण मैं अवाक् रहा, जब उन्होंने मेरा भी परिचय पूछा—अनुकम्पा—वात्सल्य-प्रेमसे वह ओतप्रोत थे ! बोले, 'क्यों जी ! तुम चुपचाप कैसे बैठ गये ?' मैं क्या कहता ? उनका प्रेम असीम था। उन्होंने हर किसीसे धर्मतत्त्वपर चर्चा की और बड़ी विनयसे स्वरचित पुस्तक आगन्तुकोंको भेंट की। यह सरलता देखकर मैं अवाक् था ! धर्म-तत्त्वको प्रत्येक जैन वैज्ञानिक रूपमें समझे यही उनकी हार्दिक कामना थी।

एक ज्योतिषीने उनको बताया कि ३२ वर्षकी उम्रमें उनका अकाल-मरण होगा ; उनकी बुद्धिने तर्क किया। "क्या मृत्युको जीतनेका उपाय नहीं है ?" इस तर्कने उन्हें धर्मका जिज्ञासु बनाया। वे ईश्वरके कर्तृत्व-

वादके खिलाफ़ प्रारम्भसे ही थे। उन्होंने संसारमें प्रचलित सभी धर्मोंका अध्ययन किया। अद्वैत वेदान्तमें वह कुछ रस लेने लगे, परन्तु उनकी मनस्तुष्टि नहीं हुई। सन् १९१३ में स्व० कुँवर देवेन्द्रप्रसादजीके सम्पर्कमें वह आये और यहीसे उनका जैनधर्म-विषयक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। वह धर्मके ज्ञाता हुए। धर्मविज्ञानके दर्शन उन्होंने जैन-सिद्धान्तोंमें किये। धर्मतत्त्व दो रूप नही हो सकता—इसलिए उन्होंने तुलनात्मक रीतिसे अध्ययन करनेकी शैलीको प्रोत्साहन दिया। उन्होंने धर्मतत्त्वपर इस शैलीके अनूठे ग्रंथ रचे हैं। वह मानते थे कि जैनधर्मके शास्त्रोंमें धर्मतत्त्व का वैज्ञानिक निरूपण हुआ मिलता है, क्योंकि वह सर्वज्ञकथित मत है। अन्य धर्मोंमें अलकृत भाषा (Pictographic language) का प्रयोग हुआ है--उन धर्मग्रन्थोंको शब्दार्थमें नहीं पढ़ना चाहिए। उनमें जिन अलंकारोका उल्लेख है उनका परिचय बैरिस्टर सा० ने अपने साहित्यमें कराया है। खूबी यह है कि उस मतके धर्मग्रंथसे ही उद्धरण उपस्थित करके उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह कुछ अपनी तरफ़से नहीं मिला रहे हैं। धर्मज्ञानके वह 'विद्यावारिधि' हुए—काशीके धर्ममहामंडलने उनकी विद्वत्तासे प्रभावित होकर उन्हें इस उपाधिसे अलंकृत किया। इस धर्मज्ञानने बैरिस्टर सा० को विलासिता और वासनाका पुजारी नहीं रक्खा। उनकी अपूर्व कायापलट हुई। उन्होंने राजसी ठाठसे रहना छोड़ दिया। परिमित वस्त्रोंको रखते हुए एकान्तमें उच्च विचार और गहन अध्ययनमें उन्हें रस आने लगा। एक-एक दिनमें जहाँ वे बीसों सिगार (Cigars) पी जाते थे, वहाँ उसका धूआँ भी उन्हें अप्रिय हो गया। इस परिवर्तन का कारण उन्हीके शब्दोंमें यह है, "क्षेत्रका प्रभाव अमिट है—तीर्थङ्करों की पद-रजसे यहाँकी एक-एक कंकरी पवित्र और पूज्य है। मुझपर तो इस क्षेत्रका ऐसा प्रभाव पड़ा कि पहले ही पहल इसके दर्शन करते ही मैने सिगार पीना छोड़ दिया, जिसका मैं बड़ा आदी था।" निस्सन्देह वे धर्ममूर्त्ति थे! उस तीर्थस्थानपर उस सप्रभ-मुखको सामायिक करते हुए देखकर सुख और शान्तिका अनुभव होता था! अगाध! नि:स्तब्ध

विद्यावारिधि !!

श्रद्धालु 'जैन दर्शन दिवाकर'–

उन्होंने जिस सत्यको स्वयं समझा था और जिसपर वह श्रद्धा लाये थे, उसको लोकव्यापी बनाना वह अपना कर्तव्य मानते थे—वह जलद ही क्या, जो चातककी प्यास न बुझाये। बैरिस्टर सा० ने अपनी थैलीका मुँह धर्मपुस्तकोंको आधुनिक वैज्ञानिक शैलीपर रचकर छपाने और दूर-दूर देशोंमें वितरित करनेके लिए खोल दिया था और अन्ततः वे इसी ज्ञानप्रसारके लिए अपने शेष धनको ट्रस्टियोंके सुपुर्द कर गये। भाई पन्नालालजी अग्रवाल दिल्लीके द्वारा वे अपने नये-नये ग्रन्थोंका वितरण भूमण्डलके सभी विद्वानों-धीमानों और विश्वविद्यालयादिके पुस्तकालयों में कराया करते थे। अग्रवालजीके पास ऐसे अनेक पत्र सुरक्षित हैं, जिनमें उन ग्रन्थोंकी प्राप्ति (Acknowledgment) स्वरूप हर्ष एवं धन्यवाद व्यक्त किया गया है। यूरोपमें उनके ग्रन्थ बड़े आदरसे पढ़े जाते है। लड़ाईके पहले इँगलैण्ड-फ़ान्स और जर्मनीके बुकसेलर उनके ग्रन्थ भारतसे मँगाते थे। प्रेस ही नही, प्लेटफ़ार्मके द्वारा भी उन्होंने धर्मतत्त्वका प्रसार विश्वमें किया था। भारतकी अपेक्षा यूरुपमें वे अधिक विचरे थे। उनके ज्ञानप्रसारकी अथक लगनको देखकर जैनियोंका हृदय गद्गद हो गया—जैनियोंने 'भा० दि० जैन परिषद्' के खुले अधिवेशनमें उन्हें 'जैनदर्शन-दिवाकर' की पदवीसे विभूषित किया !

इस युगमें उन-सा ज्ञानी श्रद्धालु गृहस्थ मिलना दुर्लभ है। तीर्थङ्कर भगवान्के महान् व्यक्तित्वमें उनकी श्रद्धा अटल थी। जब पं० दरबारीलालजी सत्यभक्तने "जैन जगत्" द्वारा २४ तीर्थंकरोंके अस्तित्वमें ही शङ्का की तो उस समय भी बैरिस्टर सा० अपनी श्रद्धामें सुदृढ़ रहे और उनके प्रहारोंका उन्होंने उत्तर भी दिया। वही क्या ? जो भी जैनधर्मके विरुद्ध लिखता और अनाप-शनाप लिखता, बैरिस्टर सा० उसका निराकरण करनेके लिए चूकते नहीं थे ! ऐसे विरोधी मित्रोंका उत्तर भी वे मध्यस्थ भावसे प्रेरित हुए प्रेमपूरित शब्दोंमें ही देते थे—उद्वेग नहीं, तर्क

ही उनका बल और सत्य ही उनके उत्तरका आधार होता था। जब मैंने उन्हें तीर्थंकरकी दिव्य वाणीके विषयमें "जैन जगत्" के कटाक्षोंकी बात लिखी तो उन्होंने जिस सरलता और दृढ़तासे उत्तर दिया वह पढ़ते ही बनता है। उन्होने लिखा—

"इसमें अचम्भेकी कोई बात नही, यदि तीर्थंकरकी वाणी स्वतः एक आश्चर्य हो। याद रखिए, पूरे अर्द्धकल्प कालमें केवल चौबीस ही ऐसे महाभाग पुरुष जन्मते हैं जो तीर्थंकर पदवी पाते हैं। देवता उनकी पूजा करने आते हैं। घातीयकर्मोंके नाशसे वे सर्वज्ञ और इच्छारहित होते हैं। उनके आन्तरिक बनाव (Inner constitution) में बहुत बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। उनका रक्त भी तो लाल नही सफेद होता है। उनको बोलनेकी इच्छा नही होती–सूक्ष्मबुद्धि (Lower mind) उनके नहीं रहती—इंद्रियजनित परिज्ञानका होना बन्द हो जाता है। बुद्धिका अभाव हृदयकमलके नाशका भी द्योतक है; जो कि बोलनेकी इच्छाका आधार है। जब यह सब कुछ ऐसे होता है, तब आप यह कैसे कह सकते है कि तीर्थंकर एक साधारण मानवकी तरह बोलते हैं? वह कैसे बोलते है? इसका चित्रण सुगम नही है। यह निश्चित है कि वे बोलते है और इच्छारहित बोलते हैं। उन्हें तालु-जिह्वादिका प्रयोग भी आवश्यक नहीं है। ऐसे प्रश्नोंपर हमें शान्तिसे विचार करना चाहिए—जल्दी कोई मत स्थिर नही करना चाहिए।"

यह उद्गार उनके सम्यग्दर्शनकी निर्मलताको प्रकट करते हैं—वे धर्मके दृढ़ श्रद्धालु थे!

चरित्र-मूर्ति-श्रावक–

बैरिस्टर सा० केवल धर्मतत्त्वके दार्शनिक विद्वान् या उसके श्रद्धालु भक्त मात्र ही न थे। उन्होंने 'रत्नत्रय-धर्म' को अपने जीवनमें यथासम्भव मूर्तिमान बनानेका उद्योग किया था। वे महान् थे। इसलिए नही कि उनको महान् बननेकी आकांक्षा थी। महत्त्वाकांक्षा कभी भी मनुष्य-को महान् नहीं बनाती, त्यागवृत्ति और सेवाधर्म ही मनुष्यको ऊँचा उठाते

हैं। बैरिस्टर सा० महान् हुए, क्योंकि वह त्याग और सेवाधर्मको जानते और उसपर अमल करते थे। लखनऊ महासभा अधिवेशनके वे सभापति मनोनीत हुए; परन्तु उस पदको ग्रहण करनेके पहले उन्होंने स्थूल रूपमें पञ्चाणुव्रतोंको धारण किया। उन व्रतोंका उन्होंने यावज्जीवन पालन किया। विलायतमें भी अपने व्रतोंकी सँभाल रखनेका वह पूरा ध्यान रखते थे। लन्दनसे ता० १६ अप्रैल १९३० के पत्रमें उन्होंने लिखा था :—

"शामको मैं अपना भोजन स्वयं बनाता हूँ। मेरे कमरोंके पास ही एक छोटा-सा रसोई-घर है। भोजन और कमरोंके किरायेमें लगभग बीस पौंड प्रतिमास खर्च पड़ता है। प्रातः मैं फल और मलाई लेता हूँ। कभी-कभी चाय भी पी लेता हूँ। ६-४५ बजे मैं उठ बैठता हूँ और पौने आठ बजे सामायिक करने बैठ जाता हूँ, जिसमें मुझे ३५ से ४५ मिनट लगते हैं। उसके बाद ही मैं ९ बजेके करीब फलाहार करता हूँ। उपरान्त पासके बगीचेमें घूमने चला जाता हूँ। वहाँसे १२-३० बजे लौटता हूँ। तब मैं अपना खाना बनाता और खाता हूँ, जिसमें रोटी और भाजी मुख्यतः होती है। दिनमें दो-से-पाँच बजे तक मैं लिखने-पढ़नेमें समय बिताता हूँ और ६-३० पर अपनी शामकी व्यालू बनाकर खा लेता हूँ। लोगोंने मुझसे कई बार पूछा है कि क्या विलायतमें व्रती श्रावकका जीवन बिताना सम्भव है। मुझे तो लगता है कि यह उतना कठिन नहीं है जितना कि लोग समझते हैं। सब चीज़ें बाज़ारमें मिलती हैं और यदि रसोई-घर है तो मनचाहा बनाकर खाइये—इसमें दिक्क़त ही क्या? रही बात मानसिक शान्ति और निराकुलताकी, सो भारतकी अपेक्षा यहाँ (विलायतमें) अधिक शान्ति और निराकुलता है, क्योंकि यहाँ उनके विरोधी साधन ही नहीं हैं। यह सच है कि यहाँके जीवनमें बहुत-सी लुभावनी बातें हैं; परन्तु थोड़े-बहुत यह बात तो सभी ठौर है। मनुष्य लुभावोंमें फँसकर कहाँ नहीं ग़लती कर सकता? वास्तवमें यह प्रश्न तो चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे सम्बन्ध रखता है। यदि उसका क्षयोपशम है तो बाह्य निमित्त निरर्थक होंगे और चारित्र मोहनीयके

उदयमें रहते हुए एक व्यक्ति बम्बईमें भी भ्रष्ट हो सकता है। अतः आठवी एवं उससे न्यूनतम प्रतिमाओंके धारी श्रावक विलायतमें सानन्द रह सकते हैं। एक खूबी इस देशमें और है—वह यह है कि यहाँ चींटियाँ और कीड़े-मकोड़े प्रायः होते ही नही। अतः हमे उनकी आरम्भजनित हिंसा-का भी पाप नही लगता।"

पाठक, ज़रा सोचिए कि पूज्य बैरिस्टर सा० संयमी जीवनकी सँभाल-में कितने जागरूक थे? उनका आदर्श बरबस हमसे कह रहा है कि संयमका पालन करो—श्रावक हो, तो श्रावकके आठ मूल गुणोका पालन करो—मद्य, मांस, मधु और पंच उदम्बर फल मत खाओ—पानी छानकर पियो—रातमें खाना मत खाओ।

बैरिस्टर सा० तो वहाँ भी दिन ही मे भोजन कर लेते थे, जहाँ सब ही प्रायः रात्रिभोजी थे। वह अपने व्रतपालनमें खूब सावधान रहते थे। एक दफ़ा वह बहुत प्रातः ही रवाना होनेको थे—उनके मित्र नाश्ता लाये। पौ फटनेको थी। बैरिस्टर सा० ने कहा, 'अभी तो रात है, मै नाश्ता नही करूँगा।' मित्रका आग्रह निरर्थक था। चारित्र-धीर बैरिस्टर सा० अपने व्रतमें दृढ़ थे। वह चारित्र-मूर्ति जो थे!

परीक्षा-प्रधानी सम्यक्त्वी–

बैरिस्टर सा० के जीवनमें अपूर्व क्रान्तिका सिरजन उनकी परीक्षा-प्रधानताके कारण ही हुआ। यदि उनको जिज्ञासुवृत्ति न होती—वह वस्तुस्थितिके परीक्षक न होते तो विलासिताके गहरे गर्तसे बाहर नही निकल सकते थे। तत्त्वान्वेषण करके ही वह जैनधर्मपर श्रद्धा लाये थे। उसपर भी वह शास्त्रोंमें लिखी हुई प्रत्येक पंक्तिको इसलिए ही नही स्वीकार कर लेते थे कि उसपर तीर्थंकर-कथित होनेकी मुहर लग गई है। वह उस बातको तर्क और विज्ञानकी कसौटीपर कसते थे और जब उसे ठीक पाते थे तभी उसे मान्य करते थे।

जैन-सिद्धान्तके करणानुयोग-विषयक साहित्यको वह अधूरा सम-झते थे—वह स्पष्ट कह देते थे कि भू-भ्रमण और सूर्य-चन्द्रादिके विषय

में तीर्थंकर भगवान्‌का बताया हुआ सिद्धान्त शायद हमें उपलब्ध नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ कथित वाणी सदोष नहीं हो सकती !

पूज्य बैरिस्टर सा० ने सन् १९२६ में नार्वे (Norway) देशकी यात्रा की थी—वहाँ उन्होंने ता० ११ जुलाई १९२६ को अपनी आँखोंसे बराबर रातदिन सूर्यको चमकते हुए पाया था। वहाँ तीन-चार महीने तक मुतवातिर सूर्य अस्त नही होता—सर्वज्ञका कथन इस प्रत्यक्षके अविरुद्ध ही हो सकता है। बैरिस्टर सा० ने वहाँका मनोरंजक वर्णन लिखा था, जो उस समय 'वीर' में प्रकाशित हुआ था। रातके ११॥ बजे सूर्य अस्ताचलकी रेखाको चूमने लगा—बारह बजते-बजते उसका आधेसे ज्यादा भाग डूब गया—शेष भाग आँखोंके सामने रहा। आधी रातके पश्चात् सूर्यास्त होना बन्द हो गया—सूर्यका जो भाग नेत्रोंके सामने था, वह धीरे-धीरे ऊपरको उठने लगा और उगने लगा। डेढ़ बजे रातको पूरा सूर्य फिर निकल आया था। चारों ओर धूप ही धूप थी। वह दृश्य देखते ही बनता था। इस प्राकृतिक दृश्यका तारतम्य जैन-सिद्धान्तके करणानुयोगसे कैसे बैठता है, यह बतानेवाले साधन-सूत्र अभी प्रकाशमें नहीं आये हैं। बैरिस्टर सा० उन सर्वज्ञ-प्रणीत सूत्रग्रंथको पाकर फूले न अघाते, परन्तु शास्त्रभण्डारोंकी खोज तो अब भी नहीं हो रही है !

बैरिस्टर सा० तो केवल शास्त्रोंके ही परीक्षक न थे, वह गुरु-परीक्षामें भी सतर्क थे, किन्तु उनकी परीक्षा गुरुभक्तिको अक्षुण्ण बनाये रहती थी। सन् १९२७ की बात है शायद हमारे आग्रहसे बैरिस्टर सा० ने अलीगंज आना स्वीकार किया—वह आये। तभी अलीगंजमें स्व० मुनीन्द्रसागर-संघके एक मुनिजी भी आये हुए थे। बैरिस्टर सा० ने आते ही सविनय उनकी वन्दना की। उपरान्त वह एकान्तमें मुनिजीसे देर तक बातें करते रहे। बाहर आये तो बोले, "यह मुनि महाराज या तो पूरे सुधारवादी हैं, वरन् पाखंडी (Diplomat) हैं।" फिर वह शायद उनकी वन्दना करने नहीं गये। उनकी परीक्षण-शैली तो उनके साहित्यके एक-एक शब्दसे प्रकट है।

धर्म-रक्षक–

धर्म स्वतः पंगु है—वह धर्मात्माओंका आश्रय चाहता है—धर्मात्माओंके सहारे वह दुनियामें चमकता है। बैरिस्टर सा० स्वयं धर्माश्रय थे। यदि कोई धर्मपर आक्रमण करता तो वह उसका प्रामाणिक उत्तर दिये बिना चुप नही होते थे। उन्हें ज्ञात हुआ, बयानामें जैनरथ रुका हुआ है—वह फ़ौरन वहाँ गये और स्थितिका अध्ययन करके जैनरथ निकलवानेमें सतत उद्योगी बने। उन्होंने सुना कि कुड़चीके जैनियोंपर मुसलमान गुण्डे अत्याचार कर रहे हैं—गुण्डोंने पूज्य प्रतिमाओंके शत खण्ड कर दिये हैं ! कुड़ची भी वह गये और अपने भाइयोंको ढाढ़स बँधाया। बोले, "घबराओ नही; परिषद् आपके साथ है !" जब भारतीय अधिकारियोंने हमारी बात सुनी-अनसुनी की तो बैरिस्टर सा० ने विलायत जाकर मि० फ़ेनर ब्रॉकवे M. P. द्वारा इस अत्याचारकी कहानी भारत-मन्त्री और पार्ल्यामेंट तक पहुँचाई। उनकी शक्तिमें न्याय पानेके लिए उन्होंने कुछ उठा न रक्खा; परन्तु जैनी तो असंगठित हैं—आपसमें लड़नेके लिए मर्द हैं ! इस पापका दण्ड तो मिलना ही चाहिए, किन्तु बैरिस्टर सा० अपने कर्तव्यपालनमें कभी पीछे नहीं रहे। इसीलिए हम उन्हें धर्मरक्षक कहें तो अनुचित नहीं है।

मुनि-रक्षक–

सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थगुरु और जिनधर्मके वह अटल श्रद्धानी थे। जब मूढ़ जनताने दिगम्बर मुनियोंके नग्न-वेषपर अँगुली उठाई एवं सरदार पटेल और महात्मा गाँधीने साधुत्वके लिए नग्नतापर अशिष्टताका लाञ्छन लगाया—परिणामस्वरूप सरकारकी ओरसे भी कुछ कड़ाई हुई—कई स्थानोंपर दिगम्बर मुनि-महाराजोंके स्वतन्त्र विहारमें बाधाएँ उपस्थित हुईं—उस संकट-समयमें बैरिस्टर सा० आगे आये। वह दिल्लीमें रहे और प्रयत्न किया कि दि० मुनि-विहारपर वैधानिक स्वाधीनता प्राप्त कर ली जावे। उस समय बैरिस्टर सा० ने प्रेस और प्लेटफ़ार्मसे साधुत्वके लिए प्रत्येक मतमें दिगम्बरत्वको आवश्यक सिद्ध कर दिखाया था।

उन्होंने मुझे दिल्ली बुला भेजा—मैंने देखा, वह दिगम्बरत्वकी सार्वभौमिकता सिद्ध करनेके लिए तन्मय हो रहे थे। उनकी साधुमूर्ति विदुषी बहन मीरोदेवी उनके स्वास्थ्यकी चिन्ता रखती थीं; परन्तु बैरिस्टर सा० को केवल एक धुन—मुनिरक्षा की थी।

उन्होंने मुनिचर्याके कतिपय ऐतिहासिक प्रसंगोंकी चर्चा मुझसे की और बोले, "हमारे यहाँ सच्चे कार्य करनेवालेकी क़दर नहीं। जो उपयोगी सामग्री और ऐतिहासिक प्रमाण आपकी पुस्तकमें हैं, वह श्री घोषालकी पुस्तकमें नही दिखते। जैनी रुपया बरबाद करना जानते हैं—ठोस काम नही देखते।" उपरान्त वह मुझे बराबर जैनेतर शास्त्रोंके उद्धरण प्रकाशनार्थ भेजते रहे—शारह-आमसे हर मज़हबके जुलूस निकालनेकी क़ानूनी नजीरें भी उन्होंने भेजी, जो 'वीर' में बराबर छपती रहीं। उसी समय म० गाँधीजीको भी उन्होंने इस प्रसंगमें कई पत्र लिखे। एक पत्रमें उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि :—

"I don't know, if I shall ever succeed in this life in gaining my ambition, but it is my ambition one day to become a Digambara saint. I wonder, what you will do to me in the Swarajya, if it shall come by that time?"

इससे स्पष्ट है कि बैरिस्टर सा० दिगम्बरत्वको निर्वाण पानेके लिए कितना आवश्यक मानते थे। उनकी यह कामना थी कि वह भी कभी दिगम्बर मुनि हों। कहना न होगा, म० गाँधीने अन्ततः इस विषयमें अपना स्पष्टीकरण प्रकाशित कर दिया था। बैरिस्टर सा० मुनिभक्त ही नहीं, मुनिधर्मके रक्षक भी थे।

तीर्थ-रक्षक—

तीर्थस्थानको वह पवित्र भूमि मानते थे—तीर्थ जैसे एकान्त निर्जन स्थानपर बड़े-बड़े मकानोंको बनाकर उसकी शान्तिको नष्ट करना उनकी दृष्टिमें तीर्थ-आसादना थी। उनका मत था, जो भी जिनेन्द्रका भक्त

है वह तीर्थवन्दना करनेका अधिकारी है। उन्होंने प्रयत्न किया कि तीर्थोंके मुक़दमे जो दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें चल रहे हैं, आपसमें तै हो जायें; किन्तु भवितव्य ऐसा न था। आखिर दिगम्बर सम्प्रदायकी ओरसे उन्होंने निःशुल्क शिखिरजी केस—अन्तरीक्ष पार्श्व-नाथ केस आदि मुक़दमोंकी पैरवी की—स्वतः अपना खर्च करके प्रिवी कौसिलमें अपीलकी पैरवी करने गये। उन्हीकी दलीलको कि यह पवित्र तीर्थ किसीकी निजी सम्पत्ति नहीं है—वे देवद्रव्य हैं, जिसपर प्रत्येक भक्त को वन्दना करनेका अधिकार है, प्रिवी कौसिलने मान्य किया था।

उन्हें जैनियोंकी मुक़दमेबाज़ीकी मूढ़तापर बड़ी चिढ़ थी। एक दफ़ा वह बोले, "भला देखो तो लाखों रुपया बरबाद किया जा रहा है। एक अजैन वकील और एक अजैन न्यायाधीश हमारे धर्मके मर्मको क्या समझेगा और वह कैसे धार्मिक निर्णय देगा? फिर भी जैनी सरकारी न्यायालयोंमें न्यायके लिए दौड़ते है।"

श्वेताम्बर सम्प्रदायसे मुकदमा लड़ते हुए भी वे उनके मित्र थे—हज़ारीबाग़में श्वेताम्बरीय कोठीमें जाते और श्वेताम्बरीय नेताओंसे मिलते-जुलते और उठते-बैठते थे। इस घनिष्ठताने स्व० लाला देवी-सहायजीके दिलमें बैरिस्टर सा० के प्रति शङ्का पैदा कर दी थी; किन्तु बैरिस्टर सा० ने स्पष्ट कहा था कि 'मेरा अहिंसाधर्म यह नहीं सिखाता कि मैं अपने विरोधीसे प्रेम न करूँ। यदि आपको कुछ डर हो तो मैं मुक़दमे-की पैरवीसे अलहदा हो सकता हूँ।' ऐसे स्पष्टवादी तीर्थरक्षक थे वे!

अखंड जैन समाजके आदर्श–

उपर्युक्त घटनासे पाठक समझ गये होंगे कि बैरिस्टर सा० जैनोंके सभी सम्प्रदायोंके संगठनके हामी थे। वह उपदेशके स्थानपर उदाहरण-को कार्यकारी मानते थे। उन्होंने बराबर ही दिगम्बर संस्थाओंके साथ श्वेताम्बरीय संस्थाओंके अधिवेशनोंमें भाग लिया। सन् १९२७ में काश्मीरसे लौटते हुए उन्होंने रावलपिंडी, फ़रीदकोट, गुजरानवाला आदि स्थानोंके श्वेताम्बर भाइयोंके निमन्त्रणको स्वीकार करके धर्मामृत-वर्षा

की थी। इस प्रकार ही तो साम्प्रदायिक विषमता दूर करके संगठन का बीज बोया जा सकता है। अन्य नेताओंके लिए उनका यह आदर्श अनुकरणीय है।

विश्व-बन्धुत्वके मिशनरी–

बैरिस्टर सा० **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** सूत्रके अनुयायी थे—एक सम्यक्त्वीकी दृष्टिमें सारे विश्वके प्राणी ही उसके बन्धु हैं। बैरिस्टर सा० सारे लोकको विश्वप्रेममय देखनेको लालायित थे। दिल्लीमें वीर-जयन्तीके उत्सवमें 'सार्वधर्म सम्मेलन' को वह विशेष रूपसे करनेकी प्रेरणा करते थे। उनका अपना साहित्य और उनके अपने भाषण केवल विश्वबन्धुत्व-भावनाको जागृत करनेके लिए होते थे। उनका 'मिशन' केवल समाज विशेष तक सीमित न था। उन्हें अज्ञानी शासक और दलित शासितोंका समान रूपसे दुःख दूर करना था—वह दोनोंका हृदय-परिवर्तन करना चाहते थे—राजनैतिक लीडरीसे यह बात नहीं मिलती—इसीलिए वह राजनीतिमें नही पड़े। वह कई बार यूरुप गये और वहाँ धर्मका प्रसार किया। सच पूछिये तो वह विश्वविभूषित थे—उनका 'मिशन' महान् था! वे समभाव और समदृष्टिके समर्थक ही नहीं, स्रष्टा थे। भ० महावीरके अनेकान्त-सिद्धान्तको उन्होंने ही मूर्तिमान् बनाया था!

स्व० रवीन्द्रके सम्पर्कमें–

अपनी विश्वहित-कामनासे प्रेरित होकर बैरिस्टर साहब स्वर्गीय रवीन्द्रकी शान्तिनिकेतनस्थ विश्वभारतीमें ८ मार्च १९२७ को पहुँचे थे। उन्होंने कवीन्द्र रवीन्द्रसे वार्तालाप किया था। वह विश्वभारतीमें कुछ समय तक रहे थे। प्रति सप्ताह वह तीन दिन (मंगल, बृहस्पति और इतवार) को तुलनात्मक धर्मपर भाषण देते और शंका-समाधान करते थे। दो-तीन छात्र उनसे धर्मशास्त्र भी पढ़ते थे। उनकी इस सेवाका महत्त्व परिमित शब्दोंमें चित्रित नहीं किया जा सकता!

वीरकी सिंह-गर्जना–

यूँ तो बैरिस्टर साहब बहुत ही शान्त-प्रकृतिके महापुरुष थे, परन्तु

उनके निकट शान्तिका अर्थ दब्बूपन और अहिंसासे मतलब कायरताके नहीं। श्री दक्षिण महाराष्ट्रीय जैनसभाके सभापति-पदसे उन्होंने कहा था कि "जैनधर्मके लिए स्वार्थत्याग और आत्मबलिदान करनेकी आवश्यकता है। कोई अत्याचार करे तो उससे दबना नहीं चाहिए। अन्यायके हटानेके लिए, धर्मरक्षाके लिए हमें लड़ने-मरनेको तैयार होना चाहिए। सीताजीको रावणने हरण किया; मात्र इसी अन्यायके प्रतीकार के लिए मोक्षगामी श्री रामचन्द्रजीने रावणसे युद्ध किया। सुग्रीव, हनूमानादिने भी उनका साथ दिया। ये सब ही मोक्ष प्राप्त किये। अहिंसा हमें कायरता नहीं सिखाती—वीरता बताती है।" जैनयुवक इस तत्त्व को समझें!

मंदिर भिक्षुकोंके लिए नहीं–

जैनधर्म एक विज्ञान है—कारण-कार्य सिद्धान्तपर वह अवलम्बित है। जैसा बोओगे वैसा फल पाओगे, किन्तु आज जैनी धर्मविज्ञानको भूल गये है—वे धनके लिए, पुत्रके लिए, यशके लिए मन्दिरोंमें मनौती मनाते हैं। बैरिस्टर साहबने इसपर कहा था—"जैनमन्दिरोंमें भिक्षा माँगनेकी ज़रूरत नही है—जैन-मन्दिर भिखारियोंके लिए नहीं हैं। जो मोक्षाभिलाषी हों—निर्ग्रन्थ होना चाहते हों, उन्हीके लिए जैनमन्दिर लाभकारी है।"

समाज-सुधारके पथपर–

जैन-समाजको उन्नत देखनेके लिए बैरिस्टर साहब योग्य वीर पुत्रों और पुत्रियोंको जन्म देना आवश्यक मानते थे। वे कट्टर सुधारवादी थे। एक भाषणमें उन्होंने स्पष्ट कहा था–"बालविवाहोंको बिल्कुल रोकना चाहिए। वीर पुत्र व पुत्रियाँ प्रौढ़ विवाहसे ही होंगी। हमें शारदा एक्टके अनुसार चलना चाहिए। किसी समय मुसलमानोंके शासन-समयमें कन्याका विवाह जल्दी करनेकी प्रथा चल पड़ी होगी। यह प्राचीन नहीं है—प्राचीन कालमें प्रौढ़ स्त्रियोंके ही विवाह होते थे। कैकेयी जो युद्ध

करना व रथ चलाना जानती थी, बालिका नहीं हो सकती। शादी तब होनी चाहिए जब स्त्री-पुरुषको परस्पर भाव समझनेकी शक्ति हो। जैनोंकी संख्या कम होती जाती है। इस प्रश्नपर बड़ी गम्भीरतासे विचारना चाहिए। जैनियोंकी उपजातियोंमें परस्पर विवाह करना बहुत ही आवश्यक है। इससे बहुत लाभ है। जातियाँ मात्र भेद हैं—कोई वस्तु नहीं है। चार वर्ण राजनैतिक व सामाजिक हैं—धर्मसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं। प्राचीन कालमें म्लेच्छोंकी कन्याओंको चक्रवर्तीने विवाहा है। रूढ़िके दास न होना चाहिए। हमारा धर्म पतितोंका उद्धारक है। हम पतितको—अशुद्धको—शुद्ध कर सकते हैं। अजैनोंको जैन दीक्षा दे सकते हैं। अपनी संख्याकी रक्षाके लिए यह सब कुछ करना होगा। जैनधर्म तो पारस पत्थर है, जो लोहेके समान अशुद्ध जीवको शुद्ध सुवर्ण-तुल्य बना देता है। खेद है कि हमने जैनधर्मको क़ैद कर रखा है।" यह थी उनकी सुधार-विचारधारा; जिसपर प्रत्येक जैनीको अमल करना आवश्यक है।

नवीन शिक्षा-पद्धति–

बैरिस्टर साहब प्रत्येक जैनयुवकको जैनधर्मका ज्ञाता देखना चाहते थे—वह शिक्षित जैनियोंके हृदयोंमें जैनत्वकी भावना भरना चाहते थे। परन्तु वह जानते थे कि पुरातन स्वाध्याय या शिक्षा-पद्धतिसे यह कार्य नहीं होनेका। इसीलिए उन्होंने कहा :—

"धर्मशिक्षा और स्वाध्यायकी पद्धतिमें सुधार होनेकी ज़रूरत है। नई पद्धतिसे वस्तुका स्वरूप समझनेकी व जाननेकी ज़रूरत है। शास्त्रकी पंक्तियोंके रटनेसे काम न चलेगा। हमें मुख्यतः सात तत्त्वोंको जाननेकी ज़रूरत है। न्यायका पठन-पाठन बहुत कठिन कर दिया गया है। यदि वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे देखा जावे तो न्याय बहुत जल्दी समझा जा सकता है।" उन्होंने जो कहा उसे व्यावहारिक रूप देनेके साधन भी जुटाये। स्वतः ही उन्होंने वैज्ञानिक शैलीकी पुस्तकें रचीं जिनमें आत्म-ज्ञान, न्याय, समाजशास्त्र और इतिहासका नई पद्धति पर प्रतिपादन

किया गया है। निस्सन्देह उनकी लेखनशैली तर्कप्रधान और साथ ही समाधान-कारक है—इसलिए वह प्रामाणिक है। आधुनिक तर्कशील मस्तिष्ककी मनस्तुष्टि उससे होती है। इस नूतन पद्धतिको यह गौरव है कि अनेक शिक्षित जैन युवकोंको इसने धर्मका श्रद्धानी बनाया है।

साहित्य व शैली–

बैरिस्टर साहब प्रेमके अवतार थे। उनके स-प्रभ शान्त आकृति-से जब निर्मम आत्मज्ञानवर्द्धक वाणी झरती थी, तो लोग एकटक उनकी ओर निहारते रह जाते थे—वह जो कहते सीधे-सादे शब्दोंमें युक्ति और प्रमाणसे कहते थे। गहन-से-गहन दार्शनिक विषयको ऐसी सरलतासे समझाते कि साधारण श्रोता भी उसे समझ लेता था। अपने भाषणके अन्तमें वह लोगोंको शंका समाधान करनेका अवसर देते थे। शंका उपस्थित करने वाला उनकी बातको पूरी समझ ले, जल्दी न करे। फिर भी कोई शंका रहे तो वह उसका समाधान करते—उग्र उत्तर देकर उसके हृदयको चोट नहीं पहुँचाते थे! जैसी उनकी निराली प्रचारशैली थी, वैसा ही उनका अनूठा साहित्य था—उसमें वह मौलिकता है जो अन्यत्र नही है।

यद्यपि उन्होंने अंग्रेज़ीमें ही साहित्य-रचना की है, परन्तु हिन्दी और उर्दूमें भी उनके रचे हुए ग्रन्थ उपलब्ध है। आवश्यकता तो यह है कि हिन्दीमें उनके सब ग्रन्थोंका प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित किया जावे। उनका साहित्य विश्वसाहित्यके प्रांगणमें भारतका मस्तक ऊँचा करता है। उनकी एक अमर-रचना "ज्ञानकी कुञ्जी" अपूर्व और विशाल है। धर्म-दर्शन, और सिद्धान्तके विश्वसाहित्यका उन्होंने अपूर्व अध्ययन किया था—उसकी झलक उनके साहित्यमें मौजूद है।

पुरातत्त्वप्रेमी और अन्वेषक–

बैरिस्टर साहबको पुरातत्त्वसे प्रेम था—वह पुरानी चीजोंको ग़ौर-से देखते थे। जब सन् १९२५ में मैं उनसे हरदोई मिलने गया और वापिस चलने लगा, तो वह कुछ पुराने सिक्के लाये और मुझे देकर बोले, "आप

इन्हें लेते जाइये—इनका आप ठीक उपयोग करेंगे।" वह जहाँ जाते जैनचिह्नोंको तलाश करना नहीं भूलते। लन्दन और पैरिसके अजायब-घरोंसे उन्होंने अनेक जिनमूर्तियोंके फोटो भिजवाये थे; जिनमें एक ऐसी भी मूर्ति है, जिसके सात मस्तक हैं। मेरे लिखनेपर उन्होंने घंटों इंडिया ऑफ़िस लायब्रेरी लन्दनमें बैठकर अन्वेषण किया। उन्होंने जैन प्राचीनतापर जो लिखा, वह भी अपनी ही शैलीपर और महत्त्वपूर्ण। जैनेतर साहित्यसे उन्होंने ऐसी-ऐसी बातें खोज निकालीं जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। वे महान् अन्वेषक थे!

इस युगके समन्तभद्र–

इस युगमें शायद ही जैनियोंमें कोई ऐसा महापुरुष हुआ है, जिसने धर्मप्रचारके लिए दूर-दूर देशों तक इतना अधिक पर्यटन किया हो, जितना बैरिस्टर साहबने किया। स्वामी समन्तभद्रमें धर्मप्रकाशकी लगन थी कि वह सारे भारतमें धर्मदुन्दुभि बजाते घूमे थे—उसी लगनकी प्रतिच्छाया हमें बैरिस्टर साहबमें मिलती है। बैरिस्टर साहबने विदेशों—यूरुप, अमरीका तकमें घूम-घूमकर धर्मध्वजको ऊँचा फहराया, इसलिए दुनिया उन्हें महान् पर्यटकके रूपमें भी याद रक्खेगी।

परिषद्के संस्थापक और संरक्षक–

जब सन् १९२३ में महासभाका अधिवेशन दिल्लीमें हुआ, उस समय उसके मुखपत्र 'जैनगजट' की दशा सुधारनेके लिए उसके सम्पादकोंकी नियुक्तिका प्रश्न आया। बैरिस्टर साहबका नाम जनताने तजवीज़ किया, परन्तु महासभाके सूत्रधारोंने उस योजनाको ठुकरा दिया—उधर वृद्ध-विवाहादि कुरीतियोंके विरोधमें भी महासभा धीमे स्वरमें बोल रही थी—समाजके सुधारवादी दलको यह असह्य हुआ! समाज एक समुदार संस्थाको अपना प्रतिनिधि बनानेके लिए उत्सुक थी। परिणामतः 'अ० भा० दि० जैन परिषद्' की स्थापना हुई। मूल संस्थापकोंमें बैरिस्टर साहबका नाम उल्लेखनीय है।

वह परिषद्‌के संस्थापक ही नहीं, उसके आजन्म संरक्षक भी रहे ! परिषद्‌ने उनके संरक्षणमें पर्याप्त शक्तिका संचय किया और अपने निर्भीक सुधारों द्वारा समाजको बहुत आगे बढ़ाया है। दस्सा-पूजाधिकार, अन्तर्जातीय विवाह, मरणभोज-निषेध इत्यादि सुधारकार्य आज समाजको संगठित और शक्तिशाली बना रहे हैं। बैरिस्टर साहबको परिषद्‌पर गर्व था—युवकोंको वह बताते, 'भा० दि० जैन परिषद्' को देखिए—वह पूर्णतः कार्यमें लगा हुआ है। उसके विधानमें आवश्यकता हो तो परिवर्तन कर लीजिये; पर आप परिषद्‌में शामिल होइये और सुधार-कार्य कीजिये।' उनके इस आह्वानको जैन युवकोंने स्वीकारा और आज हज़ारों युवक परिषद्‌के सदस्य हैं। समाजकी वह प्रतिनिधि सभा है।

जैन-विश्वविद्यालयकी कामना !

पूज्य ब्र० सीतलप्रसादजीके अनुरूप ही बैरिस्टर साहबकी यह धारणा थी "जैन समाजको उन्नत बनानेके लिए—संसारमें सुख-शान्तिका सन्देश फैलानेके लिए एक 'जैनविश्वविद्यालय' स्थापित करना आवश्यक है। 'जैनविश्वविद्यालय'से सम्बन्धित जैनशिक्षालयोसे ही उच्चकोटिके वे विद्वान् सिरजे जा सकते हैं, जो 'जैनस्प्रिट' से ओत-प्रोत हों और अहिंसा-शासनको विजयी बनानेके लिए अपना 'सर्वस्व' उसीमें लगानेकी तैयार हों। वे ही विद्वान् दुनियाके केन्द्र-स्थानों—लन्दन, पैरिस, न्यूयार्क आदिमें जैन सेंटरोंको स्थापित करके अहिंसा संस्कृतिकी विजय-वैजयन्ती फहरा सकते हैं।"

बैरिस्टर साहबने इस आवश्यक कार्यकी पूर्तिके लिए कई मरतबा उद्योग किया, परन्तु समाजका दुर्भाग्य, उनकी यह कामना अपूर्ण रही। तो भी उन्होंने अपनी बिसात उसकी पूर्ति "श्री बाँकेराय सोहनलाल जैन एकेडेमी" की स्थापना करके की, जिसका उद्देश्य अहिंसाधर्मको दुनियामें फैलाना है। यह छोटा-सा प्रयास है, परन्तु है पवित्र और महान् ! काश एक दिन वह "जैनविश्वविद्यालय"का एक अंग बनकर चमके !

धैर्य मूर्ति !

सन् १९३७ से बैरिस्टर साहबका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था; परन्तु रोगशय्यापर लेटे हुए भी वे अपने 'मिशन' को पूरा करनेमें जागरूक थे—रुग्णावस्थामें भी वे धर्मको न भूले थे। शरीरसे उन्हें ममत्व नहीं था। लन्दनसे जब वह बम्बई आने लगे तो उनके अंग्रेज-मित्रोंने कहा कि वह यहीं इलाज करायें—क्षयका इलाज यहाँ भारतसे अच्छा होगा। यह सच था, और बैरिस्टर साहबने वहाँ इलाज कराया भी। किन्तु जब अपनेको ज्यादा शिथिल पाया तो वह भारतको वापस आ गये। उन्होंने अपने अंग्रेज मित्रोंसे कहा, "निस्सन्देह आप लोगोंकी चिकित्सा-प्रणाली श्रेष्ठ है; परन्तु आप व्यक्तिकी आत्माकी परवाह नहीं करते—अन्त समय तक दवाइयाँ देते रहते हैं। हम भारतमें जीना ही नहीं, मरना भी जानते हैं। यदि हमारा मरण अवश्यम्भावी है, तो हम शान्तिके साथ उसका स्वागत करेंगे—यह बात यूरुपमें हमें कहाँ नसीब हो सकती है ?"

वह भारत आये और बम्बई एवं करांचीमें इलाज कराते रहे—कुछ स्वस्थ भी हुए। जब सन् १९४० में मैंने उनके अन्तिम दर्शन बम्बई-में किये तो मैं अवाक् रह गया ! उनका शरीर बहुत क्षीण हो गया था—वे कृशकाय थे; परन्तु उनका तेज और उनका प्रभाव वही पूर्ववत् था। उनमें धर्मप्रसारकी वही लगन थी। अपनी नवीन पुस्तकोंके प्रकाशन और प्रसारमें वह संलग्न थे। उनका धैर्य, उनका उत्साह अपूर्व था।

एक उपाय

उनकी एक धुन थी और वह यही कि जैनशासन अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त करे ? इसी धुनमें वह अपनी अन्तिम घड़ियों तक निमग्न रहे—अपाय-विचय धर्मध्यानकी साक्षात् मूर्ति ही बन गये थे वे। उनका वह 'एक उपाय' क्या था ? उन्हींके शब्दोंमें पाठक पढ़ें :—

"वह मात्र एक उपाय यह है कि हम अपने प्यारे जैनधर्मके प्रति लोगोंके दिलोंको मोह लें—उनको जीत लें ! यह कार्य जैसा दीखता है वैसा कठिन नहीं है। जीवनभर इस समस्याको हल करनेकी उधेड़-बुनमें

रहकर मैं इसी परिणामपर पहुँचा हूँ कि जैन-सिद्धान्तकी विजय होगी। दुनिया एक रोज उसे अपनायेगी। किन्तु जैनसिद्धान्तका इस ढंगसे प्रचार करना चाहिए कि जिससे उसका प्रभाव लोगोंके दिलोंपर पड़े। शताब्दियों पहलेके उपायों द्वारा आज धर्मप्रचार करनेसे सफलता नहीं मिल सकती। जबतक जैनोंका रुपया मन्दिरों और रथयात्राओंमें खर्च होता रहेगा, तब तक दुनिया, जो मन्दिरों और रथयात्राओंका महत्त्व नहीं समझती, हमें एक बुतपरस्त दहक़ानी क़ौम ही समझेगी! प्रत्येक कार्य द्रव्य-क्षेत्र-कालभावके अनुसार करना उचित है। अन्यथा असफलता ही नहीं, सर्वनाश होना सम्भव है!"

यह एक उपाय है जिससे जैनशासन फिर चमक सकता है। यदि सचमुच हमारे हृदयोंमें बैरिस्टर साहबके कार्योंका प्रभाव है—कृतज्ञताका भाव है, तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने साहित्यको—बैरिस्टर साहबके साहित्यको दुनियाके कोने-कोनेमें पहुँचायें और ऐसे विद्वान्, त्यागी, वीर, पैदा करें जो सारे लोकमें जैनधर्मके सन्देशको फैलावें! दुनियाको सुख-शान्तिकी ओर बढ़ावें!

अन्तिम झाँकी!

मिस फ़ेज़रका पत्र ता० २-६-४२ का करांचीसे आया, वह दुःखद समाचार लिये जिसकी कल्पना भी तब नहीं थी! बैरिस्टर साहब अच्छे हो रहे थे और यह आशा की जाती थी कि वह पूर्ण स्वस्थ होकर धर्म और जातिके उत्थान-शकटको आगे बढ़ानेमें युवकोंको उत्साहित करते हुए विचरेंगे—यूरुपमें अपने अधूरे 'मिशन' को पूरा करनेका उद्योग करेंगे, किन्तु विधिको यह स्वीकार न था। उक्त पत्रमें उनके निधनका संवाद पढ़कर 'बेकस' की हालत हो गई। लोकका सच्चा हितैषी सदाके लिए सो गया!

करांचीके कतिपय दिगम्बर और लगभग चार हज़ार श्वेताम्बर जैनोंको ही यह सौभाग्य प्राप्त था कि बैरिस्टर साहबकी अन्तिम घड़ियोंमें उनके अमूल्य प्रवचनसे लाभ उठावें। बैरिस्टर साहब बिल्कुल अपरिचित

वहाँ पहुँचे थे; परन्तु अपने ज्ञान और प्रेमभावनासे सब ही जैनियोंके हृदयोंको उन्होंने मोह लिया! श्वेताम्बर जैनी भाई दिल खोलकर उनसे मिलते थे—उनसे दिगम्बर और श्वेताम्बर मतभेदपर दार्शनिक चर्चा करते थे—वह चर्चा प्रेमपूरक होती थी—द्वेष उससे नहीं बढ़ता था।

उनका स्मारक

धन्य थे कराँचीके वे श्वेताम्बरी तथा दिगम्बरी भाई, जिन्हें बैरिस्टर साहबके अन्तिम दर्शन नसीब हुए थे। उनकी शवयात्रामें वे शरीक हुए और दाह-संस्कार भी उन्होंने विधिवत् कराया।

उनका यह अन्तिम आदर्श मानो यही कह रहा है, "जैन-नेताओ! मतवादमें मत बहो! दिगम्बर-श्वेताम्बर कोई भी हो, वह जैनी है—हमारा भाई है—उससे मिलो और प्रेमका व्यवहार करो!" आज हम तीनों सम्प्रदायोंका संगठन चाहते हैं—बैरिस्टर साहब अपने आदर्श उदाहरणसे उसकी नींव डाल गये हैं—जैन-नेताओंका कर्तव्य है कि उस नींवपर संगठनकी भव्य इमारत खड़ी करें! यही बैरिस्टर साहबका सच्चा स्मारक होगा; इसीमें उनकी दिवंगत आत्माको शान्ति तथा समाजका उद्धार है।

उनके जीवन दर्शन

बैरिस्टर साहब अपने कर्तव्य-पथपर दृढ़तासे आरूढ़ रहे। वह इस युगके सबसे बड़े जैनी और मानवताके रत्न थे। विश्वको अहिंसाका पुजारी बनाकर उसे शान्त और सुखी देखनेका उनका स्वप्न यद्यपि सफल न हुआ; किन्तु वे अपने कर्तव्यपालनमें अवश्य सफल हुए। उनका यशस्वी जीवन न रहा—उन्होंने अपने 'मिशन' को सफल बनाया। जिस अमरत्वके लिए उन्होंने अपनेको उत्सर्ग किया, उसको अपने ग्रन्थ-रत्नोंमें सुरक्षित करके वह उसे साकार अमरत्व दे गये हैं। जिनके पास ज्ञाननेत्र हैं, वह उस अमरत्वका महत्त्व आँकें—स्वयं प्रतिष्ठित जीवन बिताकर मानव-जन्मका सुफल लें और दूसरोंको उसका रसास्वादन कराकर उन्हें

भी सुखी और अमर जीवन पानेमें सहायता दे। यही बैरिस्टर साहबके जीवनका सन्देश है और वह अमर है। भले ही बैरिस्टर साहबका नश्वर शरीर पञ्चभूतमें लीन हो गया है; परन्तु उनका यशाकार ज्ञान-शरीर तो हमेशाके लिए मुमुक्षुओंके सम्मुख रहेगा !

—वीर चम्पतराय अंक

जन्म—	देवबन्द, आश्विन कृष्ण १०, वि० स० १९३६
स्वर्गवास—	ज्येष्ठ कृष्ण अमावस, वि० स० १९९४

वे मुझे अक्सर याद आते हैं

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

[१]

ऐसे लोग भी इस दुनियामे हैं, जो खानेके लिए परसी-परसाई थाली पा जाते है और ऐसे लोग भी, जो अपनी उँगलियोसे आटा गूंध, अपनी हथेलियोसे रोटी थपक-सेक और अपने ही हाथसे तोडे पत्तेपर उसे रख खा लेते है।

पहले लोगोकी भाग्यशीलतापर हम प्रशसाके पुल बाँध सकते है, पर जीवन तो दूसरे ही लोगोके जीवनमें लहराता है, इसमें सन्देह नही। स्वर्गीय बाबू ज्योतिप्रसादजी जैन, सम्पादक 'जैनप्रदीप' इसी श्रेणीके पुरुष थे और यही कारण है कि मुझे अक्सर याद आते हैं वे !

उनका कमरा ही उनका राजभवन था। ऊपर चारों ओर चित्र, नीचे आलमारियोंमें पुस्तकें, एक ओर उनका पलंग, दूसरी ओर लिखनेके लिए तख्त, एक ओर नहानेकी बाल्टी-चौकी और कुछ कुरसियाँ, बस यही उनका परिग्रह था।

एक बार मैंने कहा—"बाबूजी, इधर कोनेमें एक मेज़ लगा दीजिये, तो अच्छा रहेगा और आप उसपर ही बैठकर लिखा कीजिये।"

बहुत सादगीसे बोले—"मेरे पास कोई मेज़ है ही नहीं!"

उनकी सादगीमें उलझकर मैं बेवक़ूफ़ बन गया—"बाबूजी, मैं अपनी मेज़ भेज दूंगा कल!"

मुस्कराकर बोले—"फिर तो एक टोप भी भेजना!"

अब मैं सुलझा और शरमाया। वे कहने लगे—"उस जीवनमें शान जरूर है, पर आराम इसीमें है, तख्तपर डेस्कके सहारे लिख लेता हूँ, इसी पर थाली रख भोजन कर लेता हूँ, तकियेके सहारे तिरछा ही पढ़ता रहता हूँ, आनेवाले ज्यादा हो जायें, तो कई कुरसियोंका काम इससे ले लेता हूँ और जरूरत आ पड़े तो यह सोनेका भी काम दे देता है। भला, इसके मुक़ाबिलेमें मेज़ क्या चीज़ है?"

उनके कमरेकी हर चीज़ अपनी जगहपर रहती थी। साफ़-सुथरी और व्यवस्थित। वे अपने इस कमरेमें स्वयं झाड़ू लगा लिया करते थे। कई बार मैं पहुँच गया और चाहा कि झाड़ू उनके हाथसे ले लूँ, तो बोले— "ना-ना, यह तो मेरा ही काम है!"

सफ़ाई और व्यवस्थाके सम्बन्धमें मुझमें जो गहरा संस्कार है, उसके लिए मैं बहुत कुछ उन्हींका ऋणी हूँ और अब भी जब कभी मैं अपनी कोठरी या कार्यालयमें स्वयं झाड़ू लगाता हूँ, तो वे मुझे याद आ जाते हैं।

[२]

वे अपने नगरके श्रेष्ठ नागरिक और जैन-समाजके सारे देशमें अग्रणी पुरुषोंमें थे, पर यह प्रतिष्ठा उन्हें वसीयतमें नहीं मिली थी, न लाटरीमें ही। यह उन्होंने अपने सतत श्रमसे उपार्जित की थी—वे अपनी

परिस्थितियोंके स्वयं पिता थे ।

बहुत साधारण-सी स्थितिमें वे जन्मे, पले और बढ़कर एक दिन जैनजागरणके दादाभाई स्वर्गीय बाबू सूरजभान वकीलके निकट आ खड़े हुए । उन्हें इस बालकमें कुछ चमक दिखाई दी और उन्होंने इसे अपने पास रख लिया । ये उनके पास कुछ काम करते, कुछ सीखते और कुछ सोचते । इस सोचमें ही उन स्वप्नों और संकल्पोंकी सृष्टि हुई, जिन्होंने इस बालकको भावीका विकास और भीतरका प्रकाश दिया ।

जवानी आते-न-आते वे अपनी जन्मभूमि देवबन्द (सहारनपुर, उत्तर प्रदेश) के सबसे बड़े आदमी—धनमें भी और प्रतिभामें भी—लाला हरनाम सिंहके यहाँ मुनीम हो गये । उस युगमें यह बड़ी बात थी । इस स्थानपर बैठे वे सरकारी अफ़सरों और ज़िलेके दूसरे बड़े आदमियोंके सम्पर्कमें आये और इससे उनमें स्वयं एक बड़प्पनकी सृष्टि हुई ।

लालाजी जीवनकी कलाके पण्डित थे, वे जीना जानते थे । साधन-सम्पन्न होकर भी सादे; वेश-विन्यासमें ही नहीं, जीवनमें सादे और शक्ति-सम्पन्न होकर भी नम्र, वाणीमें ही नहीं स्वभावमें—मानसमें करुण । स्वयं मैंने अपने बचपनमें उन्हें अपने बहलखानेकी छतपर गोबरके उपले उलटते देखा था और सुना था कि वे अपने बाग़में घास छीलनेमें भी न हिच-कते थे ।

बाबूजीपर लालाजीके इस जीवनका गहरा प्रभाव पड़ा और उन्हों-ने अपने स्थानका ऐसा अच्छा उपयोग किया कि वे शीघ्र ही अपने नगरके सर्वप्रिय 'जोती मुनीम' हो गये, पर वे किसी स्टेटका हिसाब-किताब लिखने-को ही पैदा न हुए थे—उन्हें तो जीवनका हिसाब-किताब लिखना था ! वे इसकी तैयारी करते रहे और यहीं बैठे-बैठे वे उर्दू मासिक 'जैन प्रचारक' के ऐडीटर (सम्पादक) हो गये । आगे चलकर उन्होंने नौकरी छोड़ दी और पूरी तरह सार्वजनिक जीवनमें रम गये । कहते हैं जनताका रक्खा हुआ नाम कभी नहीं बदलता, पर वे इसके अपवाद थे और जनताने

ही 'जोती मुनीम' को "जोती ऐडीटर' घोषित कर दिया था। वे अपने नगरमें जीवनके अन्ततक 'ऐडीटर साहब' रहे।

'जैन-प्रचारक' के बाद उन्होंने अपना 'जैनप्रदीप' मासिक निकाला, जिसके वे चपरासी भी थे और चेयरमैन भी। वे स्वयं डाक लाते, स्वयं उसका जवाब देते, आई-गई डाक रजिस्टरमें चढ़ाते, लेख लिखते, काट-छाँट करते, पते लिखते, चिपकाते, टिकट लगाते और सारी व्यवस्था कुछ इस तरह करते कि उनका अंक ३-४ घण्टेमें पूरेका पूरा डिस्पैच हो जाता; कामसे निपटकर उनके चेहरेपर एक ऐसा सलोना सन्तोष छिटकता कि मैं देखता ही रह जाता!

[३]

वे उर्दूके लेखक थे, पत्रकार थे, पर हिन्दीके कवि थ। वे कविताएँ अपने उपनाम 'जैनकवि' से लिखते और लेखादि पूरे नामसे। उनकी कविताओंमें भावुकता कम और यथार्थ अधिक है। वे असलमें प्रचारक थे, सुधारक थे, निर्माता थे। उनका व्याख्यान, उनके लेख, उनका सम्पादन और उनकी कविताएँ उनका जीवनधर्म नहीं, उनके जीवनधर्मका साधन थे।

वे विद्वान् नहीं थे, जीवनकी पाठशालामें पढ़े थे, पढ़ते रहते थे। यही कारण है कि उनके लेखोंमें ज्ञान कम, जीवन अधिक होता था। इस जीवनके ही कारण 'जैन-प्रदीप'के ग्राहकोंमें अजैनोंकी संख्या भी कम नहीं थी! भाषण हो या लेख और या फिर कविता, वे सरलतासे अपनी बात कहते थे और यही कारण है कि उनकी बात सीधी दिलों तक पहुँचती थी।

'जैनप्रदीप'में उन्हें कभी आर्थिक लाभ नहीं हुआ, पर वह उनका क्षेत्र सारे जैनसमाजको बनाये रहा, जिससे वे और 'जैनप्रदीप' दोनों निभते रहे। १९३० में 'गांधीजी और भगवान् महावीर' नामक लेख-के कारण सरकारने 'जैनप्रदीप' पर जो पाबन्दी लगाई उसीसे वह बन्द हो गया, नहीं तो वह सदैव ठीक तारीखपर ही निकला।

[४]

नाटा क़द, भरा-उभरा शरीर, भरी-भूंगी मूछें, चौड़ा ललाट, भीतर तक झाँकती-सी आँखें, धीमा बोल, सधी चाल और सदैव शान्त मुखमुद्रा, बस यही उनका अंगन्यास !

मामूली कपड़ेका जूता पैरोंमें, नेड़े पाँवचेका पाजामा, आम तौरपर कमीज़ और कभी-कभी बन्द गलेका कोट; कमीज़पर गांधी टोपी, तो कोटपर ज़रा तिरछा साफा; बस यही उनका वेश-विन्यास !

मिलनसार, अपनोंके लिए सदा चिन्तित और ग़ैरोंसे सदाके लिए निश्चिन्त, जीवन नियमित, दृष्टि स्पष्ट, शक्ति सीमित, पर उसीमें सन्तुष्ट, समझदार साथी–कड़वाहट पीकर भी वातावरणकी मधुरता बनाये रखनेवाले श्रेष्ठ नागरिक; बस यही उनका अन्तर-आभास !

१९२० में वे उभरकर समाजसे राजनीतिमें आये। बोले भी, गरजे भी, पर सरकारने उन्हें जेल न भेजा, तो वे मसमसाकर रह गये।

१९३० में भी वे आन्दोलनमें आये तो सही, पर धारोंधार नहीं, किनारे-किनारे, बचे-बचे; उनकी घरेलू स्थिति जेल जाने लायक़ न थी ! एक दिन मेरी गिरफ़्तारीकी सम्भावना चारों ओर फैली तो मैं उनका आशीर्वाद लेने गया।

बोले–"तुम जा रहे हो और मैं यही धरा हूँ पहाड़का टीला-सा !"

भाषामें ही नहीं, उनकी अभिव्यक्तिमें भी गहरी व्यथा थी। उन्हें सँभालते-से मैंने कहा—"मैं आपका ही तो प्रतिनिधि हूँ !"

बहुत ही डूबकर बोले—"मेरे भाई, इस मामलेमें तो मैं खुद ही अपनी नुमायन्दगी कर सकता, तो ठीक था !" और कहकर वे इतने द्रवित हो गये कि रोकते-रोकते भी उनकी आँखें भीग ही गईं।

अपनी परिस्थिति बताकर बोले—"मेरी यह कमज़ोरी ही है कि जालमें उलझ रहा हूँ। यों मैं आज मर जाऊँ तो क्या परिस्थितियाँ न निभेगीं ?"

मैंने कहा—"जो परिस्थितियाँ हैं, उनमें मैं तो आपको जेल जानेकी सलाह दे नहीं सकता !" बोले–"हाँ, वे तो हैं ही ऐसी !"

इसके दूसरे दिन डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेटने उनसे कहा—"ऐडीटर साहब! हमारे फ़ादरने, जब वह यहाँ कलक्टर थे, आपके अखबारका डिक्लेरेशन मंजूर किया था । हम नहीं चाहते कि हमारे समयमें वह बन्द हो, इसलिए आप हमको एक खत लिखो कि उस लेखका वह मतलब नहीं है, जो समझा गया है । बस हम अपना आर्डर वापस ले लेंगे ।"

बाबूजीने उत्तर दिया—"कलक्टर साहब, आप मुझसे सलाह करके पाबन्दी लगाते, तो उसे हटानेके लिए भी मेरे खतकी जरूरत पड़ती । अब तो वह हटेगी, तो वैसे ही हटेगी, जैसे लगी है ।" और उठकर चले आये ।

नगरके एक बड़े रईसने, जिसने कलक्टर महोदयको नरम किया था, उसी दिन मुझसे कहा—"आज ऐडीटर साहबने हमारे किये-धरेपर चौका फेर दिया !" मैं तुरन्त उनके घर गया, तो बहुत खुश थे । बोले–"भाई, हम जेल नहीं जा सकते, तो इज्ज़तके साथ अपने घर तो रह सकते हैं !"

उनके छोटे भाईकी अकालमृत्युने उन्हें झकझोर दिया था और उनकी ममताकी केन्द्र भतीजी पुष्पाके विवाहके तुरन्त बादके वैधव्यने तो उन्हें जीते-जी ही मार डाला था । स्वयं उनकी पत्नीको मरे युग बीत गया था और बहुत आग्रह होनेपर भी उन्होंने दूसरी शादी न की थी । भाईके परिवारको ही वे अपना परिवार मानते थे, पर उनके मानसिक मोहका यह क़िला भी बुरी तरह टूट गिरा, तो जैसे वे स्वयं ही टूट गये ।

भतीजीके विधवा होनेपर उसके विवाहका प्रश्न भी उठा था ! इसपर वे बहुत गम्भीर रहे और कई बार मुझसे सलाह करते रहे, पर उत्तर भारतमें एक नई चन्दाबाईके निर्माणकी भावना उन्हें बहुत गहराई-में प्रभावित कर रही थी । एक दिन मुझसे कहा था—"विवाह तो हर घड़ी हाथमें है, पर यह प्रयोग तो फिर न होगा । क्या राय है ?" मैंने कहा था—"आप अपनी आत्मा इसीमें लगा दें, तो यह सम्भव है, नहीं

तो विवाह ही श्रेयस्कर है !" बहुत गहरे होकर बोले—"आत्मा लगाने को अब मुझे और करना ही क्या है ?"

उनके अभागे जीवनचरित्र-लेखकने जेल न जाने और यह विवाह न करनेपर उनको बहुत हलके हाथों नापा है, पर उसकी बुद्धिमें यह बात न आई कि उन्होंने पत्नीके मरनेपर, समय रहते, स्वयं भी विवाह न किया था। हाँ, यह तो स्पष्ट ही है कि वे एक सुधारक थे, कोई क्रान्तिकारी नहीं !

नये लोगोंको वे आगे बढ़कर प्रोत्साहन देते थे, हिन्दू-जैन-एकताके प्रबल समर्थक थे, दिगम्बर-श्वेताम्बर सबके लिए अपने थे और संक्षेपमें अपनी जगह खूब थे ! वे चले गये।

वे आश्विन कृष्णा दशमी वि० सं० १९३९ (१८८२ ई०) में जन्मे थे और २८ मई १९३७ अमावस ज्येष्ठ १९९४ में उनका देहान्त हो गया !

जन्म— १८८१ ई०

स्वर्गवास— ५ जून १९३८ ई०

श्री सुमेरचन्द एडवोकेट

—— गोयलीय ——

बाबू सुमेरचन्दजीके निधन-समाचार जिस मनहूस घड़ीमें मुझे सुननेको मिले, फिर ऐसी कुघड़ी किसीको नसीब न हो। यह अनहोनी बात जब उनके सम्बन्धीने मुझे बताई तो मानो शरीरको लकवा मार गया। मैं उसकी ओर हतबुद्धि बना-सा देखता रहा। समझमें नहीं आया कि मैं उसका मुँह नोच लूँ या अपना सिर पीट लूँ। रुलाईसे गला रुँध रहा था, मगर घरवालोंके भयसे खुलकर रो भी न सका। रातको कई बार नींद उचाट हुई, क्या बाबू सुमेरचन्दजी चले गये? दिल इस सत्य बातको निगलनेके लिए तैयार नहीं होता था। मगर रह-रहकर कोई सुइयाँ-सी चुभो रहा था। और दिमाग़में यह फ़ितूर बढ़ता जा रहा था कि बाबू सुमेरचन्दजी अब देखनेको नहीं मिलेंगे।

खंडवा अधिवेशनके बाद ८ मई १९३८ को तो मुजफ्फ़रनगरकी मीटिंगमें वह आये ही थे। काश! उस समय मालूम होता तो जी भरकर उन्हें देख लेता। मुझे क्या मालूम था कि मीटिंगके बहाने उनके दर्शनार्थ कोई आन्तरिक शक्ति मुजफ्फ़रनगर खींचे ले जा रही है। मुजफ्फ़र-नगरकी मीटिंगका सँभालना उन्हींका काम था। कन्धेपर हाथ रखकर जो-जो बातें सुझाईं, वह सब आज रुलाईका सामान बन रही हैं।

मैं कहता हूँ यदि उन्हें इस संसारसे जाना ही था तो जैसे दुनिया जाती है, वैसे ही वे भी चले जाते। व्यर्थमें यह प्रीति क्यों बढ़ानी थी। समाजने उनका दामन इसलिए नहीं पकड़ा था कि मँझधारमें धोखा दिया जायगा। किसने कहा था कि वह इस झगड़ालू समाजको प्रीतिकी रीति बतायें, और जब प्रीतिकी रीति बताई ही थी तो कुछ दिन स्वयं भी तो निभाई होती।

सहारनपुर-जैसी ऊसर ज़मीनमें किस शानसे और किस कौशलसे परिषद्का अधिवेशन कराकर सुधारका बीजारोपण किया; और रुड़की-में परिषद्के छठे अधिवेशनके सभापति होकर क्या-क्या अलौकिक कार्य किये? मैं यह कुछ नहीं जानता हूँ, मैं पूछता हूँ परिषद्के बारहवें अधि-वेशनके सभापति बनकर वह देहलीमें क्या इसीलिए आये थे कि इतना शीघ्र हमें यह दुर्दिन देखना नसीब होगा। यदि ऐसी बात थी तो क्यों वे सैकड़ों बार महगाँव-कांडके सम्बन्धमें देहली आये? क्यों वह सतना, खंडवा, लाहौर, फ़ीरोजपुर, रोहतक, मुजफ्फ़रनगर, मेरठ, ग्वालियर आदि स्थानोंमें परिषद्के लिए मारे-मारे फिरे? यदि परिषद् उन्हें इस तरह छोड़नी थी तो अच्छा यही था कि वह परिषद्का नाम भी न लेते और इसे उसी तरह मृतक-तुल्य पड़ी रहने देते। क्यों उन्होंने देहली अधिवेशन-में आकर परिषद्में नवजीवन डाला, और क्यों सतना और खंडवामें पहुँचकर परिषद्की आबरूमें चार चाँद लगाये? बाबू सुमेरचन्द अब नहीं हैं, वर्ना सब कुछ मैं उनका दामन पकड़कर पूछता।

मैंने उन्हें सबसे पहली बार सन् ३५ में जब देखा था, तब वह देहली

में परिषद्के बारहवें अधिवेशनके सभापति होकर आये थे। बा० सुमेर-चन्दजी जितने बड़े आदमी थे, उतनी ही शानका देहलीवालोंने उनका स्वागत किया था। देव-दुर्लभ जुलूस निकाला था। देहलीकी जनतामें परिषद्-विरोधियोंने भ्रम फैलाया हुआ था, किन्तु यह सब बा० सुमेरचन्दजी के व्यक्तित्वका प्रभाव था, जो देहली-जैसे स्थानकी धार्मिक जनता, परिषद्की अनुयायी हो गई, और परिषद्को वह अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई जो इससे पूर्व परिषद्को तथा अन्य जैन-सभाओंको नसीब नहीं हुई थी।

खंडवा अधिवेशनमें जब विषय-निर्वाचनी समितिमें मन्दिर-प्रवेश प्रस्तावपर बहस करते हुए हम मनुष्यत्व खो बैठे थे, तब बा० सुमेरचन्दजी किस शानसे मुस्कराते हुए उठे, और किस कौशलसे प्रस्तावका संशोधन करके परिषद्को मरनेसे बचा लिया था। वह सब आज आँखोंमें घूम रहा है। बा० सुमेरचन्दजीने कितनी आरजू-मिन्नत करके परिषद्के आगामी अधिवेशनका निमन्त्रण स्वीकार कराया था। उनकी आँखोंमें कौन-सा जादू था, उनकी वाणीमें ऐसी क्या शक्ति थी कि अन्य सब स्थानोंके निमन्त्रण वापिस ले लिये गये, और देहली प्रान्तका ही निमन्त्रण सर्वसम्मतिसे स्वीकृत हुआ।

बाबू सुमेरचन्दजी बातके धनी, समयके पाबन्द धर्मनिष्ठ पुरुष थे। जो बात कहते थे, तोलकर कहते थे। क्या मजाल, उनकी बात काटी जाय, मीटिंगमें बैठे हुए सबकी बात बच्चोंकी तरह चुपचाप सुनते, बच्चोंकी तरह हँसते, और जब वह बोलते तो बहुत थोड़ा बोलते। मगर जो बोलते वह सब सूत्ररूप, बा-मायने। हम कहते—"यह बात आपने पहिले ही क्यों न कह दी, व्यर्थ हमें बकवादका मौक़ा दिया।" वह खिलखिलाकर हँस पड़ते और हम उनकी इस सरलताकी ओर नतमस्तक हो जाते। बा० सुमेरचन्दजी सहारनपुरके सबसे बड़े वकील थे। उन्हें लखनऊ, इलाहाबाद, आगरा, कानपुर-जैसे नगरोंमें वकालतके लिए जाना पड़ता था। उनके क़ानूनी ज्ञानका लोहा प्रतिद्वन्द्वी भी मानते थे। मैंने कभी आपकी त्यौरियोंपर बल पड़ते हुए नहीं देखा। आपत्तिके समयमें भी उन्होंने

साहसको नही खोया। ऐन मौक़ेपर जिन सहयोगियोंने आपको धोका दिया, कभी उनके प्रति आपके हृदयमें अनादरने घर नहीं किया। उल्टा लोगोंके आगे उनकी बेबसीकी वकालत की और उनके अन्य उत्तम गुणोंकी प्रशंसा करके जनताकी दृष्टिमें आदरणीय ही बनाये रक्खा।

बा० सुमेरचन्दजीको अपनी वकालतसे साँस लेनेको फ़ुरसत न थी। मगर परिषद्के लिए कितना समय देते थे, यह परिषद्वाले जानते है। महमाँनवाज ऐसे कि घरपर कैसा ही साधारण-से-साधारण महमान आये तो उनके पाँवमें अपनी आँखें बिछा देते थे। अभिमान तो नामको भी न था। शायद ही उन्होंने अपनी उम्रमें किसी नौकरको अपशब्द कहे हों।

देहली अधिवेशनमें सभापति-पदसे आपने कहा था–"सज्जनो, आज हम अपनेमें एक ऐसे सज्जनको नही देख रहे है जिसने अपनी सेवाओं-से हमारी समाजको सदैवके लिए ऋणी बना दिया है। इनका शुभ नाम श्रीमान् रायबहादुर साहब जुगमन्दरदासजी है। आज हमारे बीच आप नहीं हैं, अब तो स्वर्गीय रत्न बन चुके हैं। आपकी सेवाओंका पूर्ण विवरण तो लिखा जाना कठिन है। मैं तो आपकी थोड़ी-सी भी कृतियोंका उल्लेख नही कर सका हूँ। हाँ ! इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि आप जैन-समाजके एक असाधारण महापुरुष थे। आपके वियोगसे जैनसमाजकी जो क्षति हुई है, निकट भविष्यमें उसकी पूर्ति नही दीखती। आपकी उदार सेवाओंके लिए समाजका मस्तक आपके आगे झुका हुआ है। क्या मैं यह आशा कर सकता हूँ कि उदार जैन-समाज आपके उचित स्मारककी स्थापनापर विचार करेगी।"

मैं आज इतने दिनके बाद उक्त शब्दोंकी क़ीमत समझ पाया हूँ। यह उनका संकेत किसी अनन्तकी ओर था। खंडवाकी स्वागतकारिणीने जुगमन्दर-सभा-स्थान बनाकर आपके शब्दोंको मान दिया था। क्या मैं आशा करूँ कि बा० सुमेरचन्दजीकी पवित्र स्मृतिमें जैन-समाज कोई अलग स्मारकका आयोजन करेगी। बा० सुमेरचन्दजी कहनेको अब

इस नश्वर शरीरमें हमारे साथ नहीं हैं, मगर उनकी आत्मा, ऐसा मालूम होता है कि हमारे चारों तरफ़ मँडरा रही है। जिस दस्सापूजा-प्रक्षालकी अभिलाषाको लेकर वह खंडवेसे आये थे और आते ही जिसमें वह जुट गये थे, क्या वह कार्य पूरा करके हम उनकी इस अभिलाषाको पूर्ण करके उनकी आत्माको शान्ति प्रदान कर सकेंगे ?[१]

आ अन्दलीब मिलके करें आहों जारियां।
तू हाय गुल पुकार पुकारूँ मैं हाय दिल॥

—जैनसन्देश, आगरा
१९३८

---

१ यह मेरा लिखा संस्मरण जैन सन्देशमें एक नामके लोभी सज्जनने अपने नामसे छपवा दिया था। —गोयलीय

जन्म— नसीराबाद, १८७४ ई०

स्वर्गवास— लखनऊ १७ सितम्बर १९५१ ई०

आत्म-कथा

[वकील साहबने अपनी जीवनी स्वयं लिखकर एक बहुत बड़ी आवश्यकताकी पूर्ति की है। यह जीवनी 'अज्ञात जीवन' शीर्षकसे २०×२६ आकारके २४० पृष्ठोंमें मुद्रित है। उसीपरसे हम यह संक्षिप्त सार दे रहे हैं।]

जाति-मद, कुल-मदकी भावना हेय है, किन्तु अपने पूर्वजोंकी गौरवगाथा उत्साहवर्द्धक तथा शक्तिप्रद होती है। हमलोग क्षत्रियकुलोत्पन्न, राजा अग्रकी संतान, बीसा अग्रवाल, जिन्दल गोत्रीय हैं। रुईका व्यापार करनेसे रुईवाले सेठ कहलाते थे। व्यापार करते-करते वैश्य कहलाने लगे। इधर चार पीढ़ियोंसे अंग्रेजी सरकारकी चाकरी करनेसे वैश्य पदसे भी गिर गये और सेठके स्थानमें बाबू कहलाने लगे। मैं तो वकालतका व्यवसाय और संस्कृत भाषाका अभ्यास करनेसे अपनेको पण्डित कहलानेका अधिकारी समझता हूँ। मेरे चारों पुत्रोंने भी वकालतकी उपाधि प्राप्त कर ली है। मेरी छोटी बेटी शान्ति और पोती शारदा दोनोंने संस्कृत भाषामें एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर ली है। मेरी कनिष्ठ पुत्र-वधू एम० ए० (Previous) पास है। मेरी बड़ी बेटीकी बेटी प्रेमलताने लन्दन विश्वविद्यालयसे बी० ए० (Hons) डिगरी प्राप्त की है। कर्मणा वर्णव्यवस्था सिद्धान्तानुसार हम लोग किसी प्रकारसे भी बनिये नहीं हैं।

हमारे पुरखा खास शहर दिल्लीके रहनेवाले थे। मेरे परपितामह सेठ चैनसुखदासजी नसीराबाद जा बसे थे। मेरे पितामह बनारसीदासजीका जन्म वहीं हुआ था। वहीं वे उच्च पदाधिकारी हुए और वहीं ३५ वर्षकी भरी जवानीमें १८५८ ई० में उनका शरीरान्त हुआ।

मेरे बाबा फ़ारसी विद्यामें निपुण और पारंगत थे। मेरे पिताजी भी फ़ारसी भाषामें धाराप्रवाह निःसंकोच बात कर लेते थे, और मैंने भी फ़ारसीकी ऊँचे दरजेकी पुस्तकें पढ़ी हैं।

१८५७ के ग़दरसे कुछ पहिलेसे दादाजी, पिताजी और बुआजी दिल्लीमें रह रहे थे। बाबाजी अकेले ही नसीराबादमें थे। ग़दर शान्त हो जानेपर उन्होंने दो आदमी लेनेके लिए दिल्ली भेजे। लेकिन उनमेंसे एक आदमी रास्तेमें मार डाला गया और दूसरा आदमी उन सबको लेकर बैलगाड़ीसे नसीराबादको रवाना हुआ। रास्तेमें एक मुसलमान सिपाही मिल गया। वह फ़रुक़नगरका रहनेवाला था, और यह जानकर कि दादीजी फ़रुक़नगरकी बेटी हैं, वह गाड़ीके साथ-साथ पैदल चलने लगा। आगे चलकर कुछ डाकुओंने गाड़ी घेर ली। सिपाहीने ललकारा—"जब तक मैं जिन्दा हूँ गाड़ीपर हाथ न डालना।" उसने डाकुओंसे बातचीत की और उनसे कहा कि यह मेरे गाँवकी बेटी है। मैं थक गया हूँ। तुम लोग ऐसा बन्दोबस्त कर दो कि यह अपनी सुसराल नसीराबाद सही-सलामत पहुँच जाय।" और दादीजी सकुशल नसीराबाद पहुँचा दी गई।

बाबाजीके देहान्तके बाद मेरी दादी, पिताजी और माताजीको लेकर दिल्ली आ गई थीं। पिताजीका प्रारम्भिक शिक्षण उस जमानेके रिवाजके अनुसार फ़ारसीमें हुआ। दिल्लीमें आकर उन्होंने घरपर अंग्रेज़ी पढ़ी। फिर स्कूलमें भर्ती हो गये। १८६५ ई० में वे एण्ट्रेंस परीक्षामें उत्तीर्ण हुए और जुलाई १८६५ में गुरुसराय तहसील (ज़िला झाँसी) में अंग्रेजी भाषाके अध्यापक हुए। फिर अगस्त १८६७ में शिमले में ४० रु० मासिकपर सहायक अध्यापक नियत हुए, एक वर्ष बाद ५ रु० वेतन-वृद्धि हुई।

शिमलेमें स्कूलके अतिरिक्त पिताजी सेनाके अंग्रेज़ोंको उर्दूका अध्ययन भी कराया करते थे और २० रु० मासिक प्रति घण्टेके हिसाबसे वेतन लेते थे। १८७७ ई० में उन्होंने वकालतकी परीक्षा दी, किन्तु

पास नहीं हुए।

१८७७ ई० में ३०-३५ वर्ष पीछे दिल्लीके बाज़ारोंमें रथोत्सव करनेका सौभाग्य जैनियोंको प्राप्त हुआ। अधिकतर विघ्नबाधा हमारे अग्रवाल वैष्णव भाइयोंने उपस्थित की थी। उनका सरदार रम्मीमल चौधरी था। दिल्लीके डिप्टी कमिश्नर कर्नल डेविसने जैनियोंकी विशेष सहायता की और अन्ततः गवर्नर सर लेपिल ग्रिफ़नसे स्वीकृति प्राप्त हुई। इस कार्यमें पिताजीने अग्रभाग लिया था। रथोत्सवके शान्ति-पूर्वक प्रबन्धकी ज़िम्मेदारी ११ जैनियों और ११ वैष्णवोंपर रक्खी गई थी। पिताजी उन ११ व्यक्तियोंमें थे। प्रबन्धके लिए करनाल, पानी-पत, अम्बाला और रोहतकसे भी पुलिस बुलाई गई थी। घण्टों पहलेसे रथोत्सवकी सड़कोंपर अन्य सड़कोंके मिलानके मार्ग बन्द कर दिये गये थे। कोतवालीके सामने रेलसे उतरे हुए सैकडों जैनी पुलिसकी रोकसे विह्वल हो रहे थे। पिताजी यह देखकर कर्नेल डेविसके पास गये। उन्होंने पिताजीकी ज़िम्मेदारीपर नाका खोल देनेकी परवानगी दे दी। उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ।

मेरा जन्म नसीराबादमें वैसाख कृष्ण ४, संवत् १९३१ सन् १८७४ को सूर्योदय समय हुआ। मेरे जन्मसे पहले ४ भाई-बहन गुज़र चुके थे। इस कारण मेरे नानाजीके आग्रहसे मेरा जन्म उन्हींके घर हुआ। छठीके कुछ दिन पीछे ही मेरे दोनों कान छेदकर बाली पहना दी गई थी; दोनों हाथोंमें कड़े भी।

उन दिनों किरासन तेलका किसीने नाम भी नहीं सुना था। सरसों-के तेलसे दीपकका प्रकाश होता था। सोते समय दीपक बुझा दिया जाता था। एक रात सोते समय मेरे हाथका कड़ा कानकी बालीमें अटक गया। ज्यों-ज्यों मैं हाथ खींचता था, कान बालीसे कटता जाता था और मैं ज़ोर-ज़ोरसे चिल्लाता जाता था। दीपक जलाया गया तो पता चला कि कान कट गया है और ख़ून बह रहा है। बायें कानकी लौ अब भी इतनी कटी हुई है कि उसमें सुरमा डालनेकी सलाई आरपार जा सकती है। इस

घटनाके कारण नानाजीने मेरा नाम बूची (कनकटा) रख दिया।

क़रीब दो वर्षकी उमरमें पिताजीके साथ मैं दिल्ली चला आया। उन दिनों चेचकका ज़ोर था। मुझे भी चेचक निकली। शुभ कर्मोदयसे बच गया। चेहरेपर चेचकके दाग़ अबतक मौजूद हैं। चेहरे और बदन-का रंग भी मैला हो गया, गोरापन जाता रहा। अतः मेरा नाम कल्लू पड़ गया। मिडिल परीक्षाके प्रमाणपत्रमें भी मेरा नाम कल्लूमल लिखा हुआ है। १८८७ में नवीं कक्षामें दाखिल कराते समय मेरा नाम अजित-प्रसाद लिखवाया गया।

मेरी माताजीका १८८० में क्षयरोगसे शरीरान्त हो गया। रातभर पिताजी मुझे छातीसे लगाये नीचे बैठकमें लेटे रहे और दादी आदि रोती-पीटती रहीं।

सालभरके बाद ही दादीजीके विशेष आग्रहपर पिताजीका पुन-र्विवाह हो गया। विमाता मूर्ख, अनपढ़, संकीर्णहृदया थीं। पिताजी का प्रेम उसने मुझसे बटवा लिया। एक बार क़ुतुब मीनार देखने गये। पिताजी, भाभी (विमाता) को पीठपर चढ़ाके ऊपर ले गये। मैं रोता हुआ साथ गया कि मैं भी पद्धी चढ़ूँगा, भाभीको उतार दो। पिताजीने थोड़ी दूर मुझे भी चढ़ा लिया और फिर भाभीको चढ़ा लिया। मुझे इससे दुःख हुआ।

फिर पिताजीकी बदली रुड़की हो गई। रातको रोज़ मैं पिताजी से चिमटकर सोता। लेकिन आँख लगते ही मेरी जगह भाभी ले लेती। दिनकी दुपहरीमें भी इसी बातपर तकरार होती। कुछ अरसे बाद दादी जी दिल्लीसे आ गईं, तब मुझे माँका प्यार नसीब हुआ, किन्तु दादीके साथ भी भाभीका बर्ताव ठीक नहीं रहता था। किसी-न-किसी बातपर आठवें-दसवें दिन दादी-पोते रो लेते थे। दादीजीको मरते दमतक चैन न मिला।

बचपनमें दादीजीके साथ रहनेसे मेरे जीवनपर धार्मिक क्रियाओंका गहरा प्रभाव पड़ा, और उस प्रभावसे मुझे अत्यन्त लाभ हुआ। मैं उनके

साथ हर रोज़ दर्शन करने जाता था ।

सन् १८९३ में बी० ए० की परीक्षामें भी मै फ़र्स्ट आया । मुझे कनिंग कॉलेज गोल्ड मेडिल मिला । मेरा नाम १८९३ की स्नातक-सूचीमें स्वर्णाक्षरोंमें कॉलेज हालमें लिखा गया था । उन दिनों आई० सी० एस० की परीक्षा भारतमें नहीं होती थी । पिताजीके पास इतना धन नहीं था कि वे मुझे लन्दन भेज सकते । उनकी अनुमतिसे बम्बई गया और सेठ माणिकचन्दजीसे मिला, किन्तु छात्रवृत्ति प्राप्त न हो सकी । लाचार भारतमें ही रहकर १८९४ में एल्-एल० बी० और १८९५ में एम० ए० की परीक्षा पास कीं । मुझे थियेटर देखनेका व्यसन था, किन्तु परीक्षाकी तैयारीमें न देखनेका दृढ संकल्प कर लिया था, और उसे अन्त तक निभाया ।

अप्रैल १८९५ में ५०० रु० के स्टाम्पपर मैंने हाईकोर्ट अलाहाबादसे वकालत करनेकी अनुमति प्राप्त कर ली । लेकिन मुझे वहाँ एक भी मुकदमा नही मिला । कुछ दिनो बाद लखनऊ चला आया, और १० रु० किरायेके मकानमें रहने लगा । एक मुशी भी रख लिया । यहाँ मुझे काम मिलने लगा । और ३-४ वर्षके बाद कचहरीमें नाम फैलने लगा ।

१९०१ में मैंने रायबरेलीकी मुन्सिफ़ीका पद ग्रहण किया । १९०९ ई० में ६२ वर्षकी उम्रमें मेरे घुटनेपर सिर रखे हुए पिताजीका प्राणान्त हो गया । रायबरेलीमें तीन माह मुन्सिफ़ी करनेके बाद में लखनऊ वापिस आ गया, और प्रयत्न करनेपर मै सरकारी वकील हो गया । १९१६ में १५ बरस तक सरकारी वकालत करते-करते मैं उकता गया । सरकारी वकीलका वेतन उस समय २५ रु० प्रतिदिन था । सरकारी वकालतके १६ बरसके समयमें मेरा सतत उद्देश्य यही रहा कि मैं अन्याय या अत्याचारका निमित्त कारण न हो जाऊँ । मैंने कभी गवाहोंको नहीं सिखाया, न ऐसी गवाहीपर ज़ोर दिया जो मेरी समझमें झूठ थी । सरकारी वकीलका कर्तव्य है कि प्रजाके साथ न्यायपूर्वक व्यवहारमें सहायक हो । वह पुलिसका वकील नहीं है, जैसा लोग साधारणतया समझते

हैं। मेरा यह भी प्रयत्न रहा कि दैनिक फ़ीस २५ रु० के बजाय ५० रु० कर दी जाय, किन्तु असफल रहा। आखिर असन्तुष्ट होकर १९१६ ई० में मैंने त्यागपत्र दे दिया।

सन् १९१० में मैं आल इण्डिया जैन एसोसियेशनके वार्षिक अधिवेशनका अध्यक्ष निर्वाचित होकर जयपुर गया। पं० अर्जुनलाल सेठी बी० ए० ने 'जैन-शिक्षण-समिति' स्थापित कर रखी थी। एक आदर्श संस्था थी। श्री दयाचन्द गोयलीय छात्रालयके प्रबन्धक और समितिमें अध्यापक भी थे। श्री गेन्दनलाल सेक्रेटरी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड रुड़की तथा भगवानदीनजी असिस्टेण्ट स्टेशन मास्टर, दिल्ली-निवासी जगन्नाथ जौहरी, भाई मोतीलाल गर्गसे भी वहाँ मिलना हुआ और सर्वसम्मतिसे यह निश्चय हुआ कि एक ब्रह्मचर्य्याश्रमकी स्थापना की जाय। परिणामस्वरूप पहली मई १९११, अक्षयतृतीयाके दिन हस्तिनागपुरमें श्री ऐलक पन्नालालजीके आशीर्वादपूर्वक "श्री ऋषभब्रह्मचर्य्याश्रम"की स्थापना हुई। अक्षयतृतीयाकी पुण्यतिथिमें राजा श्रेयांसने हस्तिनागपुरमें एक वर्षके उपवासके पश्चात् भगवान् ऋषभदेवको इक्षुरसका आहार दिया था।

भगवानदीनजीने नौकरीसे त्यागपत्र देकर २९ वर्षकी आयुमें ही आजन्म ब्रह्मचर्य्यव्रत ले लिया। तीन बरसके इकलौते बेटेको आश्रमका ब्रह्मचारी बना दिया। उनकी पत्नी बम्बई श्राविकाश्रममें चली गई। अधिष्ठाता पदका भार भगवानदीनजीने स्वीकार किया। मंत्रि-पद मुझे दिया गया। हस्तिनागपुर मेरठसे २६ मील दूर है। १९ मील घोड़ागाड़ीका रास्ता था, शेष ७ मील बैलगाड़ीसे या पैदल जाना पड़ता था। तीन दिनकी छुट्टीमें मैं भी चला जाया करता था।

सरकार उन दिनों ऐसी संस्थाओंको सन्देहकी दृष्टिसे देखती थी। जहाँतक मुझे मालूम हुआ एक पुलिसका जासूस आश्रममें अध्यापकके रूपसे लगा हुआ था।

जैन-समाजके पंडिताई पेशेवर और धनिकवर्गको भी आश्रमके कार्य्यमें पूर्ण श्रद्धा नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि ४ बरस पीछे मुझको

और भगवानदीनजीको त्याग-पत्र देना पड़ा और एक-एक करके गेन्दन-लालजी, ब्र० सीतलप्रसादजी, भाई मोतीलालजी, जौहरी जगन्नाथजी, बाबू सूरजभानजी आदि सभी आश्रमसे हट गये। नामको वह आश्रम अब भी मथुरानगरके चौरासी स्थानपर चल रहा है, किन्तु जो बात सोची थी, वह असम्भव हो गई।

दृष्टान्तरूप इतना लिखना अनुचित न होगा कि जब मैंने त्यागपत्र दिया, उस समय ६० ब्रह्मचारी आश्रममें थे। शिक्षणका प्रभाव उनपर इतना था कि एक दिन सबके साथ मैं भोजन करने बैठा। सब ब्रह्मचारी साधारणतया भोजन कर चुके, मुझसे खाया ही नहीं गया। तब भगवान-दीनजीने नमक दाल-शाकमें डाल दिया। फिर तो मैंने भी भोजन कर लिया। भगवानदीनजीने बतलाया कि बालकोंके मनमें यह दृढ़ श्रद्धा है कि भोजन स्वादके लिए नहीं, बल्कि स्वास्थ्यके लिए किया जाता है, जो भोजन अधि-ष्ठाताजी देंगे, अवश्य स्वास्थ्यप्रद होगा।

समस्त विद्यार्थी अपने जूठे बर्तन स्वयं माँजते, स्वयं कुएँसे पानी भरते, अपने वस्त्र स्वयं धोते थे, और आज्ञाकारी इतने थे कि भगवान-दीनजीका इशारा पाते ही एक लड़का कुएँमें कूद गया, रस्सेसे उसे तुरन्त बाहर निकाला गया। एक बालक उस बियाबान जंगलमें ५-६ मीलकी दूरीसे आदेश मिलनेपर अकेला ही आश्रम पहुँच गया। बालक निर्भीक, विनयी और आज्ञाकारी थे।

१९१० ई० में लखनऊमें मकान बनवाया। अजिताश्रम उसका नाम रखा गया। १९११ में गृहप्रवेशके अवसरपर भारत-जैन-महामण्डल-की प्रबन्धकारिणीका अधिवेशन हुआ। फिर १९१६ में महामण्डल और जीवदया सभाके विशाल सम्मिलित अधिवेशन हुए। अजिताश्रमका सभामण्डप सजावटमें लखनऊभरमें सर्वोत्तम था। सभाध्यक्ष प्रख्यात पत्रसम्पादक मि० बी० जी० होर्नीमैन थे। वक्ताओंमें महात्मा गांधी भी थे। अधिवेशनमें उपस्थिति इतनी अधिक थी कि छतों और वृक्षोंपर भी लोग चढ़े हुए थे। सामनेकी सड़क रुक गई थी, खड़े रहनेको भी कहीं

जगह न थी।

श्री सम्मेदशिखर, गोम्मटेश्वर, गिरनारजी आदि तीर्थोंकी भक्ति-पूर्वक वन्दनाएँ कीं। १९१० में गोम्मटेश्वर स्वामीका महामस्तकाभिषेक था। उस ही अवसरपर महासभाके अधिवेशनका भी आयोजन किया गया था। पं० अर्जुनलाल सेठी, महात्मा भगवानदीन भी पधारे थे। एक रोज महात्माजीने एक चट्टानपर अर्घ रख दिया, दूसरे दिन देखा कि वहाँपर सामग्रीका ढेर चढ़ा हुआ है। वह स्थान पूज्य मान लिया गया। जनता अन्धश्रद्धासे चलती है, विचार-विवेकसे काम नहीं लेती।

एक दिन यह चर्चा चली कि यात्राके स्मारक रूप कुछ नियम सबको लेना चाहिए। भगवानदीनजीने कहा कि सब लोग गालीका त्याग कर चलें, गालीका प्रयोग बुरा है। लेकिन इस कुटेवका ऐसा अभ्यास पड़ गया है कि किसीकी भी हिम्मत नहीं हुई कि गालीका यावज्जीवन त्याग कर दे। अन्ततः सबने यह नियम लिया कि जहाँतक बनेगा, गालीका प्रयोग न करेंगे। यदि करें तो प्रायश्चित्तस्वरूप दण्ड लेंगे। उस नियमका परिणाम अच्छा हुआ। जब कभी ऐसा अशुभ अवसर आता है तो मैं उस दिनकी वार्ताको याद कर लेता हूँ और कषायावेगको रोक लेता हूँ। परिणामशुद्धिरूप त्याग, खाने-पीनेकी वस्तु-त्यागसे कई गुना अच्छा और पुण्याश्रवका कारण है, किन्तु ऐसी प्रथा चल पड़ी है कि त्यागीवर्ग तथा साधुवर्ग गृहस्थोंसे खाने-पीनेकी वस्तुओंका ही त्याग कराते हैं। यदि कषायका त्याग कराएँ तो जैनसमाज और जैनधर्मका महत्त्व संसारमें फैल जाय, महती धर्मप्रभावना हो।

गिरनारजीसे हम लोग बम्बई आये, रास्तेमें गुरुवर्य्य वादिगज-केसरी पं० गोपालदासजी बरैया, पं० माणिकचन्द कौन्देय, खूबचन्द, देवकीनन्दन, वंशीधर (शोलापुरवाले), मक्खनलालजीका भी साथ हो गया था। हमारे स्वागतके लिए स्टेशनपर बम्बईके प्रायः सभी दि० जैनसमाजके प्रतिष्ठित सज्जन उपस्थित थे। प्लेटफ़ार्मपर लाल बनात बिछाई गई थी। मुख्य बाजारोंमेंसे जुलूस निकाला गया।

२८ दिसम्बर १९१२ को बम्बई प्रान्तिक सभाकी पहली बैठक शुरू हुई। पं० धन्नालालजीने मंगलाचरण किया। सेठ हीराचन्द नेमिचन्दके प्रस्ताव करनेपर मैं सभापति चुना गया। मैंने अपने भाषणमें जातिभेद-सम्बन्धी कुछ बातें कहीं तो कुछ सभासद् ऐसे बिगड़े कि उन्हें शान्त करना दुष्कर हो गया। मूर्खताके सामने बुद्धिको हारना पड़ा और अल्पजनमतने बहुमतको दबा लिया। केवल दस-बीस महात्माओंने ऐसा हुल्लड़ मचाया कि उस दिनकी सभाका कार्य समाप्त कर देना पड़ा। बादमें मालूम हुआ कि बाहरके सेठ लोगोंकी तरफ़से दो गुप्तचर भेजे गये थे और उन्हीकी कृपाकटाक्षसे यह सब कार्य्य हुआ। उन्होंने बाज़ीमार लेनेका तार उसी रोज़ दे दिया था। अन्ततः इस अधिवेशनमें सफलता अवश्य प्राप्त हुई। जो लोग अशान्ति उठानेवाले थे, और जिन्हें कुछ बाहरसे आये हुए महात्माओंने बहकाकर उत्तेजित किया था, उन्होने पीछेसे पश्चात्ताप किया और उनमेंसे कई भाइयोंने मेरी बिदाईके समय स्टेशनपर आकर प्रेमपूर्वक बिदाई दी।

पं० अर्जुनलाल सेठीको नज़रबन्दीसे मुक्त करानेमें मैंने १९१३ से १९२० तक निरन्तर प्रयत्न किया। ब्र० सीतलप्रसाद, बैरिस्टर जगमन्दरलाल तथा महात्मा गांधीने पर्याप्त सहयोग दिया, कोशिश की।

मेरा विवाह बाल्यावस्थामें ही कर दिया गया। माताजीके मरने के कुछ दिन बाद छह बरसकी उमरमें ही मेरी सगाई हो गई। पत्नी मुझसे डेढ़ बरस छोटी थी। हम दोनों नई मन्दिरकी जनानी डयोढ़ीके मैदानमें अनारके वृक्षके नीचे अनारकी कलियाँ चुन-चुनकर खेला करते थे। विवाह छह बरस पीछे हुआ।

विद्योपार्जनका शौक़ मुझे बचपनसे था। अपनी कक्षामें सर्वोच्च रहता था। विवाहके समय १२ बरसका था। विषयवासना जागृत नहीं हुई थी। एंट्रेंस परीक्षामें उत्तीर्ण हो चुका था। मई १८८९ में पत्नी दिल्लीसे लखनऊ आई। सहवासके लिए मुझे और उसे लैम्प जलाकर कमरेमें बन्द कर दिया गया। वह लैम्पके पास बैठी रही, मैं पलंगपर लेटा रहा। हाथ-

में लघुसिद्धान्तकौमुदी थी, व्याकरणके सूत्रोंकी पुनरावृत्ति कर रहा था। न मैं पत्नीके पास गया, न वह मेरे पास आई। उसने कई दफ़ा बाहर जानेको दर्वाज़ा खटखटाया, और आखिर दर्वाज़ा खोल दिया गया। इस तरहके बराबर प्रयत्न किये गये, परन्तु हम आपसमें वार्तालाप तक नहीं करते थे।

सहधर्मिणीका स्वास्थ्य प्रबल था। ३१ बरसके वैवाहिक जीवनमें छह बच्चोंकी जननी होनेपर भी उसको कभी हकीम, वैद्यकी आवश्यकता नहीं पड़ी। धार्मिक क्रियाकाण्डमें उसका गहरा श्रद्धान था। निर्जल उपवास महीनेमें एक-दो हो जाते थे। कभी-कभी निरन्तर दो दिनका निर्जल उपवास हो जाता था। और भी अनेक नियमोंका पालन करती थी। पतली दवाका तो आजन्म त्याग था, केवल सूखी दवाकी छूट रखी थी, जिसके प्रयोगका कभी अवसर नहीं आया! १६१८ की अष्टाह्निकामें दो रोज़का उपवास करनेके बाद उसे हैज़ा हो गया और लाख प्रयत्न करने पर भी न बच सकी।

गृहिणीके देहान्तके पहले ही मैंने सरकारी वकालतसे तो त्यागपत्र दे दिया था। उसके देहान्तपर सब क़ानूनी पुस्तकें तथा असबाब नीलाम करके दोनों कोठियाँ बेचकर, काशीवासके अभिप्रायसे बनारस चला गया।

काशी-स्याद्वाद-विद्यालयकी प्रबन्धकारिणी-समितिका सदस्य मैं उसकी स्थापनाके समयसे बरसों तक रहा। जो बालक वहाँ भर्ती होते थे, उनको भोजन, वस्त्र, बिना दाम मिलते थे, और पढ़ाई निःशुल्क थी ही। फिर भी कुछ विद्यार्थी ऐसी संकीर्ण प्रवृत्तिके थे कि समाजके प्रतिष्ठित सज्जनोंसे गुप्त पत्र लिखकर आर्थिक सहायता प्राप्त कर लेते थे। इस व्यवहारसे महाविद्यालयकी महिमामें बट्टा लगता था। एक सज्जनने कितने ही कपड़ेके थान भेंट किये। कमेटीने विद्यार्थियोंके वस्त्र एक प्रकारके बनवा देनेका प्रस्ताव किया। इसपर विद्यार्थियोंने विद्रोह मचा दिया कि हम सिपाहियोंकी-सी वर्दी नहीं पहनेंगे। हम अपने मनका

कपड़ा और अपनी पसन्दकी काटका वस्त्र बनवायेंगे।

विद्यार्थियोंमें यह भी कुटेव थी कि रसोईके समय अपनी-अपनी घीकी हाँड़ी लेकर जाते थे। कमेटीने निश्चय किया कि घी विद्यार्थियोंके पास न रहे। सब घी दालमें रँधते समय डाल दिया जाय और रूखी रोटी परसी जाये। इसपर भी विद्रोह बढ़ गया। उद्दण्डताके कारण कुछ विद्यार्थियोंको विद्यालयसे पृथक् करना पड़ा। मामला फिर कमेटीके सामने पेश हुआ। मैंने इसपर प्रबन्ध-समितिसे त्यागपत्र दे दिया। जैन जातिके विद्यार्थियोंने महाविद्यालयको गिराकर अनाथालय-सा बना दिया है, और इसी कारण कोई प्रतिष्ठित सज्जन अपने बालक इस जैन-संस्थामें पठनार्थ नहीं भेजते।

१७ नवम्बर १९२२ को लखनऊसे दिल्ली पहुँचा। पंचायती मन्दिरकी पञ्चकल्याणक-प्रतिष्ठाके अवसरपर महासभाको निमन्त्रित करनेका प्रस्ताव मैंने ज़ोरसे भाषण देकर स्वीकार करा लिया, किन्तु मुख्य नेता, अधिकारप्राप्त पुरुषोका सहयोग नही मिला।

महासभाके अधिवेशनमें तुरन्त सदस्यपत्र भरवाकर सदस्य बना लिये गये। बैरिस्टर चम्पतरायजीके जैनगज़ट (हिन्दी) के सम्पादक होनेके प्रस्तावका समर्थन करनेको लाला देवीसहाय फ़ीरोज़पुर खड़े हुए। उनको एक महाशयने पकड़कर बिठा दिया और अनियमित अनिधिकार बहुमतसे एक पण्डितपेशा महाशयको सम्पादक बनानेका प्रस्ताव पास करा लिया। ऐसी खुली धाँधली देखकर कितने ही सदस्य उठ खड़े हुए और दूसरे मण्डपमें एकत्र होकर भारतवर्षीय दि० जैन परिषद्की स्थापना की। प्रथम अध्यक्ष रायबहादुर सेठ माणिकचन्दजी सेठी झालरापाटनवाले निर्वाचित हुए। ब्र० सीतलप्रसादजीने सदस्य-सूचीपर प्रथम हस्ताक्षर किये।

तीर्थक्षेत्र-कमेटीकी स्थापना जैनसमाजके वास्तविक दानवीर सेठ माणिकचन्दजीने की थी। वे स्वयं उसके महामन्त्री थे। रोज़ाना कार्यालयमें आकर ४-५ घण्टे कार्य करते थे।

७ मार्च १९१२ को श्वेताम्बर जैन-संघकी ओरसे दिगम्बर जैन-समाजके विरुद्ध हजारीबाग़की कचहरीमें नालिश पेश की गई। उनका दावा था कि सम्मेदशिखरजी निर्वाणक्षेत्रस्थित—टौंक, मन्दिर, धर्मशाला सब श्वेताम्बर संघ द्वारा निर्मित हुई है। दि० जैनियोंको श्वेताम्बर संघकी अनुमतिके बिना प्रक्षाल-पूजा करनेका अधिकार नहीं है, न वह धर्मशालामें ठहर सकते है। इस मुक़दमेमें उभयपक्षके कई लाख रुपये व्यर्थ व्यय हुए !

१९१७ में मैं और भगवानदीनजी कांग्रेस अधिवेशनके अवसर-पर कलकत्ते गये और वहाँ महात्मा गांधीसे मिलकर निवेदन किया कि आप इस मुकदमेबाजी और मनोमालिन्यका अन्त करा दें। महात्मा गांधीने हमारी प्रार्थना ध्यानसे सुनी और मामलेका निर्णय करना स्वीकार किया, और कहा कि चाहे जितना समय लगे, मैं इस झगड़ेका निबटारा कर दूंगा; किन्तु उभयपक्ष इक़रारनामा रजिस्ट्री कराके मुझे दे दें कि मेरा निर्णय उभयपक्षको निःसंकोच स्वीकार और माननीय होगा।

हम दोनों कितनी ही बार रायबहादुर बद्रीदासजीकी सेवामें उनके निवासस्थानपर गये और उनसे प्रार्थना की कि वह श्वेताम्बर समाजकी ओरसे ऐसे इकरारनामेकी रजिस्ट्री करा दें। हम दि० समाजसे रजिस्ट्री करा देनेकी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेते हैं। लेकिन उन्होंने बातको टाल दिया और मेल-मिलापके सब प्रयत्न व्यर्थ हुए। परिणामतः जैन-समाजके प्रचुर द्रव्यका अपव्यय और पारस्परिक मनोमालिन्यकी वृद्धि हुई। वकील और पैरोकार-मुख्तार अमीर हो गये। मैंने ७ वर्षतक १९२३ से १९३० तक तीर्थक्षेत्र कमेटीका काम किया। ४६,००० रु० मेरे नामसे तीर्थक्षेत्र कमेटीकी बहीमें दान खाते जमा हैं।

१९२६ में काकोरी षड्यन्त्रका मुक़दमा चला ! मैंने रामप्रसाद बिस्मिलकी निःशुल्क वकालत की। मैंने उसे सलाह दी कि वह काकोरी डकैती करना और क्रान्तिकारी दलका सदस्य होना स्वीकार कर ले। मैं उसे प्राणदण्डसे बचा लूंगा; क्योंकि उसने किसी भी डकैतीमें किसी

भी व्यक्तिकी जानकर हत्या नहीं की थी, किन्तु उसने मेरी सलाह नही मानी, परिणामतः मैंने उसकी वकालत छोड़ दी और उसे फाँसी हो गई।

२३ जुलाई १९२६ को ब्र० सीतलप्रसादजी लखनऊ पधारे। लखनऊकी जैनजनता स्वागतार्थ स्टेशन गई। वे अजिताश्रममें ही ठहरे। उनको देवदर्शनका नियम था। अष्टमी-चतुर्दशीको उनका प्रोषधोपवास होता था, और उस रोज़ सवारी भी इस्तेमाल नहीं करते थे। उनके पधारनेके दूसरे दिन २४ जुलाईको चतुर्दशी थी। ब्रह्मचारीजी पैदल ही अहियागंज दर्शनार्थ गये और आये। गर्मीमें उनका इस प्रकार आना-जाना मुझे बहुत खटका और भावावेशमें बाराबंकीसे एक प्रतिमा लाकर २५ जुलाईको अजिताश्रममें विराजमान कर दी। २७ जुलाईको अजिताश्रम चैत्यालयकी नीव खुदनी प्रारम्भ हो गई। नीवकी पहली ईंट ब्रह्मचारीजीने जमाई, वह पवित्र समय मेरे और शेष अजिताश्रमवासियोंके जीवनमें चिरस्मरणीय रहेगा। १६ नवम्बरसे १८ नवम्बर तक मंत्रके आठ हज़ार जप होकर वेदी-प्रतिष्ठा हुई। चौककी पंचायतने ब्रह्मचारीजीसे आग्रह किया कि अजिताश्रममें चैत्यालयके लिए मूर्ति पसन्द कर लें और बाराबंकीकी मूर्ति वापिस कर दें। ब्रह्मचारीजीने ऐसा ही किया।

ब्रह्मचारीजीने चतुर्मास अजिताश्रममें करनेके समय जैनवाङ्मय अंग्रेज़ी भाषामें प्रकाशनका निश्चय किया। मैं और वे गोम्मटसारका काम रात्रिको तीन बजेसे छह बजेतक प्रतिदिन करते रहे। अगस्त १९२७ में श्री जे० एल० जैनीका ४६ वर्षकी अवस्थामें आकस्मिक शरीर छूट गया। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति जैनधर्म-प्रचारार्थ अर्पण कर दी। ट्रस्टकी सम्पत्ति अनुमानतः ९० हज़ार होगी।

आत्मानुशासन, समयसार, नियमसार, गोम्मटसार, जीवकाण्ड भाग १, अंग्रेज़ीमें श्रीयुत जे० एल० जैनी द्वारा अनुवादित भाष्य, उपोद्घात और प्राक्कथन सहित नवलकिशोर मुद्रणालयमें अत्यन्त परिश्रमसे शुद्ध करके छपवाये और प्रकाशित कराये। उनके शरीरान्तके बाद मैंने पुरु-

षार्थसिद्धयुपाय, ब्रह्मचारीजी और मैंने मिलकर कर्मकाण्ड भाग २, और श्री शरच्चन्द घोषाल मैजिस्ट्रेट कूचबिहारने परीक्षामुखमूका अंग्रेज़ीमें बृहद् भाष्य और उपोदघातसहित अनुवाद किया। श्री घासीराम जैन प्रोफ़ेसर विक्टोरिया कॉलेज ग्वालियरने तत्त्वार्थसूत्रके पंचम अध्याय के आधारपर Jain cosmology शीर्षक मौलिक ग्रन्थ लिखा। इस प्रकार The Sacred Books of Jainas Series में १२ पुस्तकें छप चुकी हैं। जिनमेंसे तीन कुमार देवेन्द्रप्रसादने आरासे प्रकाशित कीं। भावपाहुड और आत्ममीमांसा इस समय मेरे पास मुद्रणार्थ तैयार रखे हैं।

१९२९ में मैं बीकानेर हाईकोर्टका जज नियुक्त हुआ। छह सौ रु० वेतन मिलता था। लेकिन स्वतन्त्र विचारका मनुष्य उन दिनों रियासतोंमें नहीं निभ सकता था, अतः हम तीनों जज २-३ बरसके अन्दर वापिस आ गये।

१९३० में लाहौरके प्रसिद्ध बैरिस्टरका जो कि मेरे सहपाठी थे सहसा देहान्त हो गया। उनके लिये हुए बहुतसे मुकदमे थे। वहाँ जाकर उन सबको निबटाया।

यदि मैं निरन्तर सरकारी नौकरी करता रहता तो जज या कमिश्नर अवश्य हो जाता, परन्तु इसके आगे जीवन कितना शुष्क और नीरस हो जाता? दिन दफ़्तरमें और रात क्लबों और पार्टियोंमें बीत जाती। मानसिक अभिवृद्धि और आत्मोन्नतिका कोई अवकाश न मिल पाता। अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है।

मैंने सरकारी वकालतसे १९१६ में त्यागपत्र दिया। इन ३५ वर्षोंमें कितना परिभ्रमण किया, कितने व्यक्तियोंसे मिला, कितने हज़ार पृष्ठ लिख डाले, कितनी पुस्तकें पढ़ डालीं—सोचकर मुझे स्वयं आश्चर्य्य होता है। भारतका कोना-कोना मैंने छान डाला। कलकत्ता, पटना, इलाहाबाद, लखनऊ, लाहौर, बम्बई—प्रायः सभी हाईकोर्टोंमें वकालत कर ली। देशके सभी नेताओंसे सम्पर्क रहा, मेरे जीवनका और जैनसमाजका इतिहास तो लगभग तत्सम रहा है। संस्कृत और प्राकृतके जितने

जैन-ग्रन्थोका अँगरेजीमें अनुवाद हुआ, उनके सम्पादन, मुद्रण या प्रकाशन में मेरा हाथ रहा है। बिरले ही किसी व्यक्तिने समाचार-पत्रका निरन्तर इतने वर्ष सम्पादन किया हो जितना मैंने गजटका किया है। इतना बहु-मुखी और सम्पन्न जीवन व्यतीत करनेके बाद अब मुझे किस वस्तुका अभाव है ?

—१५ जून १९५१

सूरजमल

जन्म— हरदा, सी० पी० भाद्रपद कृष्ण १
सवत् १९४६

स्वर्गवास— इन्दौर, ७ जून सन् १९४२

मालव-क्रान्तिके दूत

श्री कौशलप्रसाद जैन

बाबूजीके दर्शनका सौभाग्य मुझे सन् १९३६-३७ में हुआ था, उनके बारेमें मैंने इतना काफ़ी पढ़ा और सुना था कि मुझे उन-जैसे बहुमुखी नेताके पास जानेमें कौतूहल-मिश्रित भय-सा लग रहा था, पर मुझमें यह भाव केवल उसी समय तक रहा, जब तक उन्होंने मेरा परिचय-पत्र नही पढ लिया। उसके बाद तो मैंने महसूस किया कि मैं एक पिताकी स्नेहमयी छत्रछायामें आ गया हूँ। सबसे पहिले उन्होंने मेरे ठहरने और भोजनके बारेमें प्रश्न किया, निश्चिन्तता बतला देनेपर भी उन्होंने मुझे पहिले घरपर ही नाश्ता कराया और तुरन्त ही पत्रमें लिखित कार्यके लिए मुझे साथ लेकर एक प्रसिद्ध कोटाधीशके पास चल दिये। इतने बडे कार्यकर्त्ता और साहित्यिकके समाज-सेवा सम्बन्धी कार्यके लिए यह तत्परता मेरे लिए नई बात थी। एक घण्टेके अन्दर उन्होंने मुझे इन्दौरके प्रायः सभी प्रमुख व्यक्तियोंसे मिला दिया और रास्तेमे प्रायः प्रत्येकका परिचय और पड़नेवाले स्थानोंकी चर्चा कर दी। इतने थोड़े समयमें इन्दौर-जैसे बड़े शहर और वहाँकी समाजके प्रमुख व्यक्तियोंका परिचय करानेके अद्‌भुत ढंग और प्रभावने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया। हर स्थानपर मैंने देखा कि बाबूजीका बड़ा मान और प्रभाव था, प्रत्येक व्यक्ति नम्रतापूर्वक कहता था—"बाबूजी, जब आप कहते है, हमें क्या एतराज़ है ?' परिषद्-क्षेत्रोंमें उन दिनों इन्दौरके सम्बन्धमे एक विशेष धारणा बनी हुई थी, अतः काफ़ी सोच-विचारके बाद इन्दौर डेप्युटेशन लानेकी बात निश्चय की गई थी और मुझे सफरमैनाके एक सिपाहीका कार्य सौंपा गया था। सबसे मिलकर मैंने मनमे सोचा कि हम लोग व्यर्थ ही घबरा

रहे थे, इन्दौर तो हमरा घर-जैसा ही है, हालाँकि पीछे अनुभवने मुझे बताया कि इस सारी सफलताके पीछे तो बाबूजी थे।

उसके बाद तो जबतक बाबूजी जीवित रहे, मुझे कई बार उनसे मिलने और उन्हें नज़दीकसे देखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। केवल इतना ही नहीं, मुझे उनका स्नेहभाजन होनेका सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। जितना-जितना में उनके नज़दीक आता गया, वे मुझे उतने-उतने बड़े दिखाई देते गये। विद्वान्, साहित्यिक, विचारक, सुधारक, देशभक्त होनेके साथ-साथ वे महामानव थे। प्रत्येक ईमानदार सार्वजनिक कार्यकर्त्ता की तरह वे भी अभावोंके बीचमें खड़े थे, पर उनके पास पहुँचनेवाला अनाथ, विद्यार्थी अथवा कोई भी ज़रूरतमन्द अपने आपको किसी धन्ना-सेठके पास पहुँचा हुआ अनुभव किया करता था। दूसरोंकी सहायता के लिए अपने घरके ज़ेवर बेच देनेकी बात उनके सम्पर्कके प्रायः सभी लोग जानते हैं। दूसरोंके लिए ही बाबूजी जैसा स्वाभिमानी व्यक्ति धनवानों और राजाओंके यहाँ याचक बनकर जाता था, जबकि अपने किसी भी अभावमें वे किसीके आगे ज़बान नहीं खोलते थे। मध्य-भारतके प्रसिद्ध पत्रकार श्री कृष्णचन्द्र मुद्गल द्वारा बताया गया बाबूजी का एक संस्मरण इस बातका प्रमाण है। देवास स्टेटमें बाबूजीको आमन्त्रित करके उनका सम्मान किया गया था, राज्यके अतिथिके रूपमें वे वहाँ सम्मानित किये गये थे, उन्हें जो भेंट वहाँ मिली थी, उसे उन्होंने सार्वजनिक सम्पत्ति मानकर वहींकी किसी संस्थाको दे दिया था, जबकि उनके पास इन्दौर पहुँचनेके लिए खर्च समाप्त हो गया था, और किसीके आगे हाथ फैलानेके मुक़ाबले उन्होंने अपनी घड़ी बन्धक रखना पसन्द किया था। हमारे आजके जीवनमें कितने सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हैं, जो किराया और भेंट स्वीकार नहीं करते हैं।

अपनी उत्कट देशभक्तिके कारण वे चार वर्ष इन्दौर राज्यसे निर्वासित रहे, अपने सुधारक विचारोंके कारण धनाढ्योंके साथ उनकी पटरी नहीं बैठती थी, अपनी स्पष्टवादिताके कारण वे साथियोंमें आलो-

चित होते थे, पर जहाँतक बाबूजीके व्यक्तित्वका प्रश्न है, वे सर्वप्रिय थे, सर्वमान्य थे, सब लोग उनका आदर करते थे।

उनका सार्वजनिक कार्य भी इसी प्रकार चतुर्मुखी था, मालवेकी कोई ऐसी संस्था नहीं थी, जिसमें बाबूजीका किसी-न-किसी प्रकार सहयोग न रहा हो, या वे उसके पदाधिकारी न रहे हों। काग्रेस कमेटीके सभापति, मध्यभारत-हिन्दी-साहित्यसमितिके प्रचार-साहित्य व संयुक्त प्रधान मंत्री, राज्य-प्रजा संघकी व्यवस्थापक और कार्यकारिणीके सदस्य, अखिल भारतीयलमेंचू जैन-सभाके सभापति, म्युनिस्पल कौन्सिलर आदि न जाने कितनी प्रवृत्तियोंसे वे सम्बन्धित थे, इसके अलावा प्रत्येक व्यक्ति और संस्थाका कार्य करनेमें कभी संकोच नही करते थे। जब भी उनको देखा, वे किसी संस्थाकी रिपोर्ट, किसी मीटिंगका कार्यक्रम, किसीका अध्यक्षीय भाषण, किसीका आय-व्यय लिखते ही मिले।

इन सब विविध कार्यक्रमोंके बीच उनका ठोस साहित्यिक कार्य कभी बन्द नही होता था, सस्ता-मनोरंजक साहित्य न वे लिख सकते थे और न पढ़ ही सकते थे, बेंजामिन फ्रेन्कलिनका जीवनचरित्र, गुरुदेव रवीन्द्र-नाथ सम्बन्धी 'जीवन-स्मृति, जैनधर्मका इतिहास (चार भाग), सुधार और प्रगति, मराठा और अंग्रेज (एक ऐतिहासिक ग्रन्थ) जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उनके द्वारा लिखी गई देखकर उनकी रुचिका अन्दाज़ लगाया जा सकता है। इन्दौरमें हिन्दी-साहित्य-समितिकी स्थापना और प्रसारणमें पूर्ण सहयोग देकर कायको आगे बढ़ाना उन्हींका कार्य था। अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इन्दौरमें कराना, प्रथम बार उसके साथ सम्पादक-सम्मेलन, खादीप्रदर्शनी और कविसम्मेलनका आयोजन बड़े-बड़े साहित्य-महारथियोंके सभापतित्वमें सम्पन्न करा लेनेके पीछे बाबूजीका परिश्रम और योग्यता कार्य कर रही थी।

सामाजिक विचारोंमें वे कट्टर सुधारवादी होते हुए भी जनताको अपने साथ लेकर चलनेके पक्षमें रहते थे। अपनी बात वे निधड़क और ज़ोरदार शब्दोंमें कहते थे और सिद्धान्त रूपमें कोई समझौता नहीं करते

थे। अन्यायके प्रति झुकना या समझौता करना, उनके स्वभावके विरुद्ध था। इन्दौरके तात्कालिक शासकके चरित्र सम्बन्धी उच्छृंखलताओं को लेकर आपने इन्दौरमे जो आन्दोलन उठाया था, उसके बदले आपको और आपके साथियोको इन्दौरसे निर्वासित किया गया था। आपके अन्य साथी माफी माँगकर वापिस आ गये, पर आपने कोई आश्वासन देकर भी आना स्वीकृत नही किया था।

पूरे मालवप्रान्तमे जब भी कभी कोई सार्वजनिक हितका कार्य होता था, बाबूजी सब कुछ भूलकर सबसे आगे रहते थे। आजके अनेक कार्य-कर्त्ता बाबूजीके प्रोत्साहन, सहयोग और अनुभवसे आगे बढ पाये है। बहुतसे व्यक्तियोको बाबूजीने सहारा देकर सार्वजनिक जीवनमे उतारा है। एक शब्दमे यदि हम कहे, आजके जागृत मालवेके उत्थानमें बाबूजीका बडा हाथ है, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

—२९ अक्टूबर १९५१

वह देवता नहीं, मनुष्य था !

श्री दौलतराम मित्र

"हमने माना हो फरिश्ते शेख़जी !
आदमी होना बहुत दुश्वार है !!"

बाबू सूरजमलजी जैन ता० ७ जून १६४२ को इन्दौरमें ५२ वर्षकी आयु पार करके उस पार चले गये।

म० गांधीके कथनानुसार मृतकका तो गुणगान ही करना चाहिए। बाबूजीने मनुष्यत्व प्राप्त किया था, वे मनुष्य थे। फिर भी मुझे यह कह देनेमें ज़रा भी संकोच नहीं हो रहा है कि उनमें मनुष्योचित कमज़ोरियाँ भी थीं।

यह मूरत सौम्य और प्रतिभाशाली थी। इस प्रतिमामें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण झलकते थे।

शरीर रोगी था और आर्थिक स्थिति खराब थी, फिर भी परोपकार के लिए वे आपत्तियोका खयाल न करते थे ।

द्विजेन्द्रलालरायने अपने 'उस पार' नाटकमे ऐसे (बाबूजी-जैसे) एक व्यक्तिकी कल्पना की है, जिसका नाम भोलानाथ है । आशा लेकर आये हुए गरीबके सामने अपनी आर्थिक स्थितिका खयाल छोडकर इनका हाथ आगे बढ ही जाता था । इनके पास गया हुआ व्यक्ति कभी निराश होकर लौटता किसीने नही देखा ।

बाबूजीने अपना तन, मन, धन सबके लिए खुला रख छोडा था, जिसका जी चाहता उपयोग कर लेता । लोगोने दुरुपयोग भी किया, पर उन्होने किसीकी शिकायत नही की । वे खुद या दोस्तोके द्वारा यह ज्ञात हो जानेपर भी कि दूसरा उनका दुरुपयोग कर रहा है, वे उसे दुरुपयोग करने देते थे । यह बात उन्हे प्यारी थी ।

सैकडो छात्रोको पढाईसे तथा सैकडो गृहस्थोको रोजीसे लगानेमें उन्होने अपनी सारी शक्ति खपा डाली ।

मतभेदी तो क्या मतद्वेषी लोगोसे भी वे प्रेम करते थे ।

बाबूजी प्राचीन सस्कृतिके काफी हिमायती थे । भले ही सस्कृति के किसी अश या अगको वे न अपना सके हो, परन्तु उसका उन्होने कभी विरोध नही किया, जैसे नित्य देवपूजा ।

सुधारक भी वे पूरे थे । यह बात उनके लेखोसे स्पष्ट जाहिर होती है ।

राजपुरुषोका चित्त-हरण कर लेना कठिन काम है, उसे भी वे साध लेते थे, और उसका उपयोग वे असहाय लोगोके बिगडे काम बनाने तथा जैनधर्मके प्रचारमें करते थे । जनहितके लिए वे राजपुरुषोसे विरोध भी कर बैठते थे । एक बार ऐसा विरोध करनेके कारण उन्हे इन्दौरसे बाहर होना पडा था ।

बाबूजी कितने कर्मठ और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, इस बातका

पता यो लग जाता ह कि व किसी समय एक साथ २१ पारमार्थिक सस्थाओ का नतत्व करते थ ।

बुद्धिमत्ता उनम इतनी थी कि उनके साधारण स्वाभाविक नर्सगिक ज्ञानके आग विशष ज्ञानीजनोको झप जाना पडता था ।

उनका जनधमपर श्रद्धान कलधमके रूपम नही था किन्तु परीक्षा प्रधानताके रूपम था। जनधम प्रचारके लिए जो अष्टनिमित्त बतलाय गय ह उनमसे बहुतसे निमित्तोके जरिय उन्होन जनधर्मका प्रचार किया ह । इस परसे यह कहना अत्यक्ति नही होगा कि व मुक्तिके अधिकारी ह ।

व सबके थ पर मेरी समझम मेर ज्यादा थ । एक वक्त हम दोनो सख दु खकी बात कर रहे थ कि म अपन अश्रु बिन्दुओसे उनका पाद प्रक्षालन करन लगा तो उन्होन भी मेरा मस्तकाभिषक कर डाला। व मुझ एक चीज दे गय ह--मन उनसे कछ सीखा ह । म उनका कृतज्ञ हू । मै जानता हू बाबजीके निंदक भी ह । उसका कारण ह--

'द्विषन्ति मन्दाश्चरित महात्मनाम् ।"

--कालिदास ।

– अनेकान्त

जून १९४२

--o--

महात्मा भगवानदीन

तप-त्यागकी मूर्ति

महात्माजी तप-त्यागकी साक्षात् मूर्त्ति हैं। जैनसमाज-सेवाकी लगनने उन्हें स्टेशनमास्टरी छोड़नेको मजबूर कर दिया। ऋषभ-ब्रह्मचर्य्याश्रमके अधिष्ठाताका पद ग्रहण करते ही भरी जवानीमें गृहस्थी त्याग कर ब्रह्मचर्य्यव्रत ले लिया और सदैवको मोह-मायासे मुक्त हो गये, और ३२-३३ वर्षसे देश-सेवाकी दीक्षा लेकर निष्काम मानव-सेवामें जुटे हुए हैं। हमारी इच्छा थी कि देशके इस निस्पृही महात्मा-का संस्मरण उसके व्यक्तित्वके अनुकूल ही प्रकाशित हो, किन्तु खेद है कि हम लिखानेमें सफलता न पा सके।

—गोयलीय

महात्माजी

श्री जैनेन्द्रकुमार

लेखन व्यक्तिके अन्तरगकी अभिव्यक्ति है। महात्मा भगवानदीनजीके सम्बन्धमें तो यह और भी बात है। क्योकि शुद्ध आत्म-प्रयोजनको छोडकर किसी और नाते उन्होने लिखा है, ऐसा मुझे नही मालूम। उनके लेख-क्रमको समझनेके लिए हमें उनकी जीवन-धाराका कुछ परिचय पाना चाहिए।

उनकी मूलवृत्ति साधककी वृत्ति है। धर्मपुस्तकोको उन्होने विद्याके तौरपर नही, मानो साधनाके निमित्त पढा। उस समय उनमें तीव्र धर्मजिज्ञासा थी। धर्माध्ययनसे धर्मार्थ जीवन होम देनेकी ही तत्परता उनमें जागती गई। वह उनके आत्ममन्थनका समय था। उसका परिणाम यह हुआ कि नौकरीको और परिवारको भविष्यपर छोड वह घरसे निकल पडे। धर्मकी प्यास उनमें उत्कट थी, और सयम-साधनाके वह व्रती थे। तीर्थोंकी यात्रा की, जगल-पहाड घूमे, अनेक सस्थाएँ देखी और अन्तमें ऋषभब्रह्मचर्याश्रम लेकर हस्तिनागपुरमें जम बैठे।

यह काल साहित्य-रचनाकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। धर्मोत्कण्ठा जागनेसे पूर्व देवकीनन्दन खत्रीकी 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के मुकाबलेका एक तिलस्मी उपन्यास उन्होने लिखा था।

जीवनमें यह साधनाका काल उपस्थित होनेपर उन्होने उस ग्रन्थ-को जला दिया। इस समय उन्होने दैनन्दिनी (डायरी) लिखी, जिसमें आत्म-मन्थनके अनुभव दर्ज किये। और कुछ भक्तिके पद-भजन लिखे। ब्रह्मचर्याश्रमके बालक अक्सर उनकी बनाई प्रार्थना गाया करते थे। इसके साथ धार्मिक पुस्तकोका अध्ययन करते समय, उनकी कुञ्जी और

भाष्य भी आत्मलाभकी दृष्टिसे वह रचा करते थे। स्पष्ट है कि यह सब साहित्य-रचना मुद्रणमें नहीं आई, क्योंकि उसका ध्यान ही न था। पर जीवनमें उसका लाभ अवश्य भरपूर हुआ।

ब्रह्मचर्याश्रमका काल महात्माजीके जीवनका अत्यन्त स्मरणीय परिच्छेद है। पुस्तकोंसे जो स्फूर्ति प्राप्त की थी, वह यदि भावुक थी तो आश्रम-जीवन उसके लिए कसौटी बन गया। यहाँ उनकी साधनामें जो रूढ़िबद्ध और सामाजिक था, वह कम होता गया और जो शुद्ध नैतिक और आध्यात्मिक था, वह प्रबलतर होता गया। इसी समय ब्रह्मचर्याश्रम-के इतिहासमें संघर्ष उपस्थित हुआ, जिसको मै तो आज रूढ़ि और प्रगतिके संघर्षके रूपमें ही देखता हूँ।

अस्तु, इस कालमें श्री नाथूराम प्रेमीने उनसे 'जैनहितैषी'में कुछ लेख प्राप्त किये, जिनमें धार्मिक श्रद्धाके साथ कार्मिक तेजस्विता भी देखी जा सकती है। आज भी वह लेख पुराने नही मालूम पड़ेंगे, उनमें फड़क है और सच्ची क्रान्तिका स्वर है; क्योंकि मूलमें धर्मनिष्ठा है और स्थितिसे तीव्र असन्तोष है।

इस काल उन्होंने रजिस्टरोमें जो अपने अध्ययन और अनुभवके परिणाम अङ्कित किये, अथवा कि सहयोगियोंके साथ जो पत्रव्यवहार किया, वह भी यदि पाया और प्रकाशित किया जा सके तो साहित्यकी वह अनमोल निधि सिद्ध हो, ऐसा मेरा अनुमान है।

किन्तु जीवन तो वर्द्धनशील है और हस्तिनापुरके ब्रह्मचर्याश्रमसे अलग होकर जल्दी ही उन्होंने अपनेको राष्ट्रिय क्षेत्रमें पाया। आन्दो-लनके आत्यन्तिक प्रारम्भ यानी सन् १८ में ही वह जेल पहुँचे। इस कालकी उनकी अभिव्यक्ति राष्ट्रिय गौरवसे भरी हुई है। उन्होंने भाषण दिये, कविताएँ लिखी और विविध प्रकारोंसे अपने विचार व्यक्त किये। पहली बार जेलमें दो मोटे रजिस्टर तो दोनों तरफ़ भरकर लिखे ही। यह राष्ट्रिय प्रवृत्ति ठेठ सन् ३४ तक उनमें प्रधान रही। इसमें कर्मसे जीवन इतना भरा था कि मननको अवसर न था। जेल ही लिखने-

के लिए जगह हो सकती थी। वह समय साहित्य-रचनाकी दृष्टिसे उनका कभी खाली नहीं गया। कभी मुझे उन जेलके रजिस्टरोंमें झाँकनेका सौभाग्य मिला है, मैंने पाया है कि उनकी अधिकांश अभिव्यक्ति अध्यात्म-मुखी है और अतिशय मूल्यवान् है। मुझे भय है कि बहुत करके वह आज अप्राप्य है।

सन् २१ में अरविन्द घोषका तत्कालीन साहित्य महात्माजी इसी दृष्टिकोणसे पढ़ते और स्वीकार करते थे कि वह जैन-आत्मवाद और कर्मवाद तथा मुक्तिवादका शुद्ध समर्थन है।

इस राष्ट्रिय और राजनैतिक अध्यायके बाद उनके जीवनका समन्वय-युग आरम्भ होता है। इस कालमें उन्होंने अत्यन्त उपयोगी और रुचिकर बाल-साहित्यका निर्माण किया है, वह इतस्ततः पत्रोंमें भी छपता रहा है। यद्यपि रचनाकारका उनपर नाम नही रहा है। यह पद्यात्मक है, और किन्हीं उद्योगी जनको इन्हें पुस्तकाकार निकालनेका यत्न करना चाहिए।

इसके साथ कुछ निबन्ध भी उन्होंने लिखे हैं। यथा-प्रयोजन ही अधिकांश बाध्य होकर ही वह लिखते हैं और उनके लेखोंका श्रेय उनसे अधिक 'विश्ववाणी'के सम्पादकको है, जहाँ कि वे छपते रहे हैं। 'जैन संस्कृति' वाला लेख तो जैनियोंको विशेष रुचिकर हुआ है और जहाँ-तहाँ उद्धृत होता रहा है। उन निबन्धोंकी खूबी यह है कि भाषा एकदम सहज और बोलचालकी है और भाव वह है जो आध्यात्मिकोंके लिए भी गूढ़ पड़ते हैं। अत्यन्त कठिन विषयको बेहद सरलतासे वे उपस्थित करते हैं। और किसी पक्षका खण्डन न करके सत्य पक्षको ऐसे चित्रित करते है कि मानो वह उन सबका समुच्चय ही हो। यही अपने जैनधर्मकी अने-कान्त पद्धति है।

उनके इस समूचे जीवनकालमें और उसमें सृष्ट साहित्यमें यहाँसे वहाँ तक एक विशेष निष्ठाकी रीढ़ देखी जा सकती है। उस निष्ठाको मैं नाम देना चाहूँगा आत्म-धर्मपरायणता। यह गुण उनके रचे प्रत्येक शब्द-को स्पंदन और स्थायित्व देता है। इसीसे वह निस्तेज नहीं पड़ सकता।

तत्त्वार्थसूत्र उन्होने अपने जीवनके पहिले उत्थानमें पढा। तबसे मानो वह उनके समूचे आत्मदर्शनका मूलाधार ही बन गया है। उन्होने उसे अपने ही रूपसे मनन किया और मनमें बैठाया है। अपने आचरणको भी उसपर ही गढनेकी चेष्टा की है। हम उसे मोक्षशास्त्र कहते हैं। महात्मा-जी उसे अपने शब्दोमें 'स्वातत्र्य-दर्शनसार' कहते है। उस भावार्थमें उक्त ग्रन्थका भाष्य उन्होने शायद ऋषभ-ब्रह्मचर्याश्रममें रहते ही आरम्भ किया था। लेकिन वह बात अब भी उनके मनमें उपस्थित है और भला दिन होगा कि जब उस महान् ग्रन्थका उस प्रकारका भाष्य महात्माजी सबके लाभके लिए लिखकर पूरा कर प्रकाशित होने दे सकेंगे।

—दिगम्बर जैन
दिसम्बर १९४३

राजा हरसुखराय

राजा हरसुखराय

गोयलीय

वे भी दिन थे, जब हमारे पूर्वज लक्ष्मीकी आराधना न करके उसपर शासन करते थे। धनको कौड़ियोंकी तरह बखेरते थे, पर वह कभी कम न होता था। ग़रीब-गुरबाओंकी इमदाद करते थे, मगर डरते हुए। कहीं ऐसा न हो कोई भाई बुरा मान जाय और कह बैठे—"हम ग़रीब हुए तो तुम्हें धन्नासेठी जतानी नसीब हुई!" धार्मिक तथा लोकोपयोगी कार्योंमें लाखों रुपये लगाते थे, परन्तु भय बना रहता था कि कहीं किसीको आत्म-विज्ञापनकी गन्ध न आ जाये। किये हुए धर्म-दानकी प्रशंसा सुन पड़ती थी तो बहरे बन जाते थे, जिससे आत्म-प्रशंसा सुनकर अभिमान न हो जाय। वे लक्ष्मीके उपासक न होकर वीतरागके उपासक थे। लक्ष्मीको पूर्वसंचित शुभ कार्योंका उपहार न समझकर कुमार्गका प्रवर्त्तक समझते थे। उनका विश्वास था—सुईके छिद्रमें हज़ार ऊँटोंका निकल जाना तो सम्भव, पर धनलोलुपका संसार-सागरसे पार होना सम्भव नहीं, इसीलिए वे लक्ष्मीको ठुकराते थे और उसके बलपर सम्मान नहीं चाहते थे; पर होता था इसके विपरीत। लक्ष्मी उनके पाँवोंसे लगी फिरती थी। कोयलोंमें हाथ डालते तो अश-

फियाँ बन जाती थीं और साँपपर पाँव पड़ता था तो वह रत्न-हार बन जाता था।

वे लक्ष्मीके लिए हमारी तरह वीतराग भगवान्‌को रिझानेका हास्यास्पद प्रयत्न नहीं करते थे। और न धेलेके खील-बताशे मेलेमें बाँटते हुए मँगतोंके सरपर पाँव रखकर दानवीर कहलानेकी लालसा रखते थे। पाँच आनेकी काठकी चौकी मन्दिरमें चढ़ाते हुए उसके पायोंपर चारों भाइयोंका नाम लिखानेकी इच्छा नहीं रखते थे और न अपनी स्वर्गीय धर्मपत्नीकी पवित्र स्मृतिमें सवा रुपयेका छतर चढ़ाकर कीर्ति ही लूटना चाहते थे। उन्हें पद-प्रतिष्ठा तथा यश-मानकी लालसा न होकर आत्मोद्धारकी कामना बनी रहती थी।

नेकी करके कुएँमें फेंकनेवाले ऐसे ही माईके लालोंमें देहलीके राजा हरसुखराय और उनके सुपुत्र सुगनचन्दजी हुए हैं। सन् १८०७ में देहली-के धर्मपुरे मोहल्लेमें राजा हरसुखरायजीने एक अत्यन्त दर्शनीय भव्य जिन-मन्दिरका निर्माण कराया, जिसकी लागत उस समयकी ८ लाख कूती जाती है। यह मन्दिर ७ वर्षमें बनकर जब तैयार हुआ तो एक दिन लोगोंने सुबह उठकर देखा कि मन्दिरका सारा काम सम्पूर्ण हो चुका है, केवल शिखरपर एक-दो रोज़का काम और बाक़ी है, किन्तु तामीर बन्द कर दी गई है और राजा साहब, जो सर्दी-गर्मी, बरसातमें हर समय मेमार-मज़दूरोंमें खड़े काम कराते थे आज वहाँ नहीं हैं।

लोगोंको अनुमान लगाते देर न लगी। एक सज्जन बोले—"हम पहले ही कहते थे, इस मुसलमानी राज्यमें जब कि प्राचीन मन्दिर ही रखने दूभर हो रहे हैं, तब नया मन्दिर कैसे बन पायेगा?"

दूसरे महाशय अपनी अक़्लकी दौड़ लगाते हुए बोल उठे—खैर भाई, राजा साहब बादशाहके खज़ाञ्ची हैं, मन्दिर बनानेकी अनुमति ले ली होगी। मगर शिखरबन्द मन्दिर कैसे बनवा सकते थे? अगर मन्दिरका शिखर बनानेकी आज्ञा दे दी जाय, तो मस्जिद और मन्दिर-में अन्तर ही क्या रह जायगा?"

तीसरेने अटकल लगाते हुए कहा—"बेशक मन्दिरके शिखरको मुसलमान कैसे सहन कर सकते हैं ? देखो न, शिखर बनता देख फ़ौरन तामीर रुकवा दी।"

किसीने कहा—"अरे भाई, राजा साहबका क्या बिगड़ा, वे तो मुँह छुपाकर घरमें बैठ गये। नाक तो हमारी कटी ! भला हम किसीको अब क्या मुँह दिखायेंगे। इस फजीतेसे तो यही बेहतर था कि मन्दिर की नींव ही न खुदवाते !!!"

जिस प्रकार म्युनिस्पैलिटीका जमादार ऊँचे-ऊँचे महल और उसके अन्दर रहनेवाले भव्य नर-नारियोंको न देखकर गन्दगीकी ओर ही दृष्टि-पात करता है, उसी प्रकार छिद्रान्वेषी गुण न देखकर अवगुण ही खोजते फिरते हैं। जो कोरे नुक्ताचीं थे, वे नुक्ताचीनी करते रहे; मगर जिन्हें कुछ धर्मके प्रति मोह था, उन्होंने सुना तो अन्न-जल छोड़ दिया। पेट पकड़े हुए राजा हरसुखरायजीके पास गये और आँखोंमें आँसू भरकर अपनी व्यथाको प्रकट करते हुए बोले—

"आपके होते हुए भी जिन-मन्दिर अधूरा पड़ा रह जाय, तब तो समझिए कि भाग्य ही हमारे प्रतिकूल है। आप तो फ़र्माते थे कि बादशाह सलामतने शिखर बनानेके लिए खुद ही अपनी ख्वाहिश ज़ाहिर की थी, फिर नागहानी यह मुसीबत क्यों नाज़िल हुई ?"

राजा साहबने पहले तो टालमटूलकी बातें की, फिर मुँह लटकाकर सकुचाते हुए बोले—"भाइयोंके आगे अब पर्दा रखना भी ठीक नहीं मालूम होता। दरअसल बात यह है कि जो कुछ थोड़ी-सी पूंजी थी, वह सब खत्म हो गई, कर्ज में किसीसे लेनेका आदी नहीं, सोचता हूँ बिरादरीसे चन्दा कर लूं, मगर कहनेकी हिम्मत नहीं होती। इसीलिए मजबूरन तामीर बन्द कर दी गई है।"

सुना तो बाँछें खिल गईं—"बस राजा साहब इतनी ज़रा-सी बात !" कहकर आगन्तुक सज्जनोंने अशर्फ़ियोंका ढेर लगा दिया और बोले—

"आपकी जूतियाँ जाएँ चन्दा माँगने। हम लोगोंके होते आपको इतनी परेशानी !! लानत है हमारी ज़िन्दगीपर !!!"

राजा साहब कुछ मुस्कराते और कुछ लजाते हुए बोले—"बेशक, में अपने सहधर्मी भाइयोंसे इसी उदारताकी आशा रखता था। मगर इतनी रक़मका मुझे करना क्या है, दो चार-रोज़की तामीर खर्चेके लिए जितनी रक़मकी ज़रूरत है, उसे अगर में लूँगा तो सारी बिरादरीसे लूँगा, वर्ना एकसे भी नहीं।"

हील-हुज्जत बेकार थी, हर जैन घरसे नाम मात्रको चन्दा लिया गया। मन्दिर बनकर जब सम्पूर्ण हुआ तो बिरादरीने मिन्नतें कीं—"राजा साहब, मन्दिर आपका है, आप ही कलशारोहण करें।" राजा साहब पगड़ी उतारकर बोले—"भाइयो, मन्दिर मेरा नहीं पंचायतका है, सभीने चन्दा दिया है, अतः पंचायत ही कलशारोहण करे और वही आजसे इसके प्रबन्धकी ज़िम्मेदार है।"

लोगोंने सुना तो अवाक् रह गये, अब उन्होंने इस थोड़ी-सी रक़मके लिए चन्दा उगाहनेके रहस्यको समझा।

यह मन्दिर आज भी उसी तरह अपना सीना ताने हुए गत गौरव-का बखान कर रहा है। इस मन्दिरकी निर्माण-कला देखते ही बनती है। समवसरणमें संगमरमरकी वेदीमें पच्चीकारीका काम बिल्कुल अनूठा और अभूतपूर्व है। कई अंशोंमें ताजमहलसे भी अधिक बारीक और अनुपम काम इस वेदीपर हुआ है। वेदीमें बने हुए सिंहोंकी मूँछोंके बाल पत्थरमें खुदाई करके काले पत्थरके इस तरह अंकित किये गये हैं कि कारीगरके हाथ चूम लेनेको जी चाहता है और बेसाख्ता हरसुखरायजी-की इस सुरुचिके लिए वाह-वाह निकल पड़ती है। श्री जिनभगवान्का प्रतिबिम्ब इस वेदीमें जिस पाषाण-कमलपर विराजमान है, वह देखते ही बनता है। यद्यपि प्राचीन तक्षणकलासे अनभिज्ञ और जापानी टाइलों-से आकर्षित बहुतसे जैनबन्धुओंको यह मन्दिर अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका है, फिर भी जैनोंके लाख-लाख छुपानेपर भी विदेशोंमें इसकी

भव्य कारीगरीकी चर्चा है और विदेशी यात्री देहली आनेपर इस मन्दिर को देखनेका जरूर प्रयत्न करता है। यह मन्दिर १३२ वर्ष पुराना होने पर भी नये मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है।

इस मन्दिरकी जब प्रतिष्ठा हुई थी, तो तमाम क़ीमती सामान मुसलमानोंने लूट लिया था, किन्तु बादशाहके हुक्मसे वह सब सामान लुटेरोंको वापिस करना पड़ा। हरसुखरायजी शाही ख़जांची थे और बादशाहकी ओरसे उन्हें राजाका खिताब मिला हुआ था। उन्हीके सुपुत्र सेठ सुगनचन्दजी हुए है। इन्हें भी पिताके बाद राजाकी उपाधि और शाही खजांचीगिरी प्राप्त हुई थी और वह ईस्ट इण्डिया कम्पनीके शासन-काल तक इन्हीके पास रही।

—अनेकान्त, अप्रैल १९३९ ई०

सेठ सुगनचन्द

सेठ सुगनचन्द

—— गोयलीय ——

कुछ सुना आपने ? यह जो हस्तिनागपुर-तीर्थक्षेत्रपर खड़ा हुआ गगनचुम्बी विशाल जैनमन्दिर स्वच्छ धवल पताका फहरा रहा है, कब और कैसे बना ? देहलीके सेठ सुगनचन्दजीकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि हस्तिनागपुर जैसे प्राचीन जैन-तीर्थ-स्थानमें एक जिनमन्दिर बनवाकर तीर्थक्षेत्रका पुनरुद्धार किया जाय, किन्तु उन दिनों जैनमन्दिर बनवाना मानो लन्दनमें कांग्रेस-भवन निर्माण करना था। एक ओर मुसलमानी बादशाहत मन्दिरोंके निर्माणकी आज्ञा नहीं देती थी, दूसरी ओर कुछ धर्मान्ध और ईर्ष्यालु हमारे पड़ोसी भी जैनोंका विरोध करते थे। वे विरोधी भावनाएँ आज इस संगठन और स्वतन्त्रताके युगमें भी बहुत कुछ अवशिष्ट बनी हुई हैं, कितने ही स्थानोंपर अब भी जैन-मन्दिर बनवाने और रथयात्राएँ निकालनेमें रुकावटें आती हैं और सैंकड़ों स्थानोंमें लाखों रुपया व्यय करके अदालतों द्वारा रथ-यात्राओंके अधिकार प्राप्त हुए हैं। अतः तबकी तो बात ही निराली थी। सेठ साहबकी मनोभिलाषाको मीरापुरके राँगड़ पूरी नहीं होने देते थे। वे मरने-मारने पर तुले हुए थे। उन दिनों हस्तिनागपुर और मीरापुर साढ़ौरा स्टेटमें सम्मिलित थे।

भाग्यकी बात, दुष्काल पड़नेपर महाराज साढ़ौराको एक लाख रुपयेकी ज़रूरत पड़ी। सेठ सुगनचन्दजी साहूकारीके लिए काफ़ी विख्यात थे। अतः सब ओरसे निराश होकर महाराज साढ़ौराने अपना दीवान सेठ साहबके पास भेजा और बग़ैर कोई लिखा-पढ़ी कराये ही सेठ साहबके संकेतपर मुनीमने एक लाख रुपये गिन दिये।

एक वर्षके बाद दीवान साहब जब एक लाख रुपया ब्याज समेत वापिस देने आये तो सेठ साहबके मुनीमने रुपया लेनेसे इनकार कर दिया और कहा कि "हमारे यहाँसे महाराज साढौराको कभी रुपया क़र्ज़ नही दिया गया।"

दीवान हैरान था कि मै स्वय इस मुनीमसे एक लाख रुपये ले गया हूँ और फिर भी यह अनभिज्ञता प्रकट् करता है? एक लाख रुपयेकी रकम भी तो मामूली नही, जो बहीमें नाम लिखनेसे रह गई हो। इससे तो दो ही बातें जाहिर होती है—या तो सेठ साहबके पास इतना रुपया है कि कुबेर भी हार मानें या इतना अन्धेर है कि कुछ दिनोमें सफाया होना चाहता है। आखिर दीवान साहब तग आकर बोले—"सेठ साहब, यह हमने माना कि आपने आडे वक्तमें रुपया देकर हमारे काम साधे। मगर इसका यह अर्थ तो नही कि आप अपना रुपया ही न लें, और उसपर भी कहा जा रहा है कि रुपया कर्ज़ दिया ही नही गया। अगर रुपया हम कर्ज़ न ले जाते तो हमारे पास आपकी तरह रुपया फालतू तो है नही, जो व्यर्थमें देने आते। मै स्वय मुनीमजीसे ता०. . को रुपया उधार लेकर गया हूँ। आखिर ?"

सेठ साहब बातको जरा सँभालते हुए बोले—"मुनीमजी, जरा अमुक तारीखकी रोकड बही फिर ध्यानसे देखो। आखिर एक लाख रुपयेका मामला है। दीवान साहब भी तो आखिर झूठ नही बोल रहे होगे।"

मुनीमजीने रोज़नामचा उस तारीखका देखा तो गर्म हो गये। ताबमें भरकर बोले— लीजिए, आप ही देख लीजिए, उधार दिया हो, तो पता चले। मुझे व्यर्थमें इतनी देरसे परेशान कर रखा है।"

सेठ साहब और दीवान साहबने पढा तो लिखा हुआ था—"दीवान साहबके हस्ते महाराज साढौराके पास एक लाख रुपया हस्तिनागपुरमें जैनमन्दिर बनवानेके वास्ते बतौर अमानत जमा कराया।"

पढा तो दीवान साहब अवाक् रह गये। फिर भी रुपया जमा कर

लेनेके लिए आग्रह किया, किन्तु सेठ साहबने यह कहकर रुपया जमा करने-में अपनी असमर्थता प्रकट की कि–"जब मन्दिरके लिए रुपया लिखा हुआ है तो वापिस कैसे लिया जा सकता है ? धर्मके लिए अर्पण किया हुआ द्रव्य तो छूना भी पाप है।"

लाचार दीवान साहब रुपया वापिस लेकर महाराजाके पास पहुँचे और सारी परिस्थिति समझाई और कहा कि जब अन्य उपायोंसे सेठ साहब मन्दिर बनवानेमें असफल रहे तो उन्होंने यह नीति अख्तियार की। अन्तमें महाराज साढ़ौराने कृतज्ञता स्वरूप राँगड़ोंको राज़ी करके जैनमन्दिर बनवा दिया। मन्दिर-निर्माण होनेपर सेठ साहबको बुलाया गया और हँसकर उनकी अमानत उन्हें सौप दी।

सेठ साहबकी इस दूरदर्शिताके कारण हस्तिनागपुरमें आज अमर-स्मारक खड़ा हुआ श्री शान्तिनाथ आदि तीन चक्रवर्ती तीर्थकरों और कौरव-पाण्डव आदिकी अमर कथा सुना रहा है। हज़ारों नर-नारी जाकर वहाँ-की पवित्र रज मस्तकपर लगाते हैं। सेठ साहब चाहते तो हर ईटपर अपना नाम खुदवा-सकते थे, मगर खोज करनेपर भी कही नाम लिखा नही मिलता। केवल वहाँकी वायु ही उनकी सुगन्ध-कीर्ति फैलाती हुई भावुक-हृदयोंको प्रफुल्लित करती हुई नज़र आती है।

सेठ सुगनचन्दजी और उनके पिता राजा हरसुखरायजीने भारतके भिन्न-भिन्न स्थानोमें कोई ६०-७० जैन-मन्दिर बनवाये है।

दूसरोंको उपदेश देनेकी अपेक्षा स्वयं जीवनमें उतारना उन्हें अधिक रुचिकर था। उन्होने मन्दिरमें देखा कि एक स्त्री आवश्यकता-से-अधिक चटक-मटकसे आती है। सेठजीको यह ढंग पसन्द न था। उन्होने सोचा यदि यही हाल रहा तो और भी बहू-बेटियोंपर बुरा असर पड़े बग़ैर न रहेगा। बिरादरीके सरपंच थे, चाहते तो मना कर सकते थे, किन्तु मना नहीं किया और जिस टाइमपर वह फ़ैशनेबिल स्त्री दर्शनार्थ आती थी, उसी मौक़ेपर अपनी स्त्रीको भी ज़रा अच्छी तरह सज-धजसे आनेको कह दिया। शाही खजांचीकी स्त्री, सजनेमें क्या शक होता ? स्वर्गीय

अप्सरा बनकर मन्दिरमें प्रविष्ट हुई तो सेठ साहबने दूरसे ही कहा–"यह कौन रण्डी मन्दिरमें घुसी आ रही है ?"

सेठानीने सुना तो काठमारी-सी वही बैठ गई, मानो शरीरको हज़ार बिच्छुओने डस लिया। मन्दिरका व्यास सेठ साहबकी आवाज़ सुनकर आया तो सेठानीको देखकर भौचक-सा रह गया। उससे उत्तर देते न बना कि सेठ साहब, यह रण्डी नही आपकी धर्मपत्नी है। व्यासको निरुत्तर देख सेठ साहब वहाँ स्वय आये और बोले–"ओह ! यह सेठानी हैं, यह कहते हुए भय लगता था। खबरदार, यह वीतरागका दरबार है, यहाँ कोई भी कामदेवका रूप धारण करके नही आ सकता। चाहे वह राजा हो या रक, रानी हो या बाँदी। यहाँ सबको स्वच्छता और सादगीमे आना चाहिए।"

सेठानीपर मुर्दनी-सी छा गई, न जाने वह कैसे घर पहुँची, और वह फैशनेबिल स्त्री ! ! मन्दिरमें ही समा जानेकी राह देखने लगी ! सेठानीने घर आनेपर रोकर अपराध पूछा तो सेठजी बोले—"देवी, अपराधी तुम नही, मै हूँ ! मैने उस स्त्रीको समझानेकी शुभ भावनासे तुम्हारा इतना बडा तिरस्कार किया है। अपने समाजका चलन न बिगडने पाये इसी ख्यालसे यह सब कुछ किया है।" उस दिनके बाद सेठजीके जीतेजी किसीने उनकी उक्त आज्ञाका उल्लघन नही किया।

एक बार सेठ साहबने नगर-गिन्दौडा किया। सारी देहलीकी जनताने आदर-पूर्वक गिन्दौडा स्वीकृत किया। केवल एक स्वामिमानी साधारण परिस्थितिके जैनीने यह कहकर गिन्दौडा लेनेसे इन्कार कर दिया कि 'मेरे यहाँ तो कभी ऐसा टेहला होना है नही, जिसमें सेठ साहबके गिन्दौडोके एवज़में मैं भी कुछ भिजवा सकू, इसलिए मैं ।"

सेठजीने उस गरीब सहधर्मी भाईकी स्वाभिमान-भरी बात कर्मचारियोसे सुनी तो फूले न समाये और स्वय सवारीमें बैठ नौकरोको साथ ले गिन्दौडा देने गये। दुकानसे २०-३० गजकी दूरीसे आप सवारीसे उतरकर अकेले ही उसकी दुकानपर गये और जयजिनेन्द्र करके उसकी

दुकानपर बैठ गये। थोड़ी देर बाद बातचीत करते हुए दुकानमें बिक्रीके लिए रक्खे हुए चने और गुड़के सेव उठाकर खाने लगे। चने और सेव खानेके बाद पीनेको पानी माँगा तो ग़रीब जैनी बड़ा घबड़ाया। मैली-सी टूटी सुराही और भद्दा-सा गिलास, वह कैसे सेठ साहबको पानी पिलाये ? और जब सेठ साहबने माँगा है तो इन्कार भी कैसे करे ? उसे असमंजसमें पड़ा हुआ देख सेठ साहबने स्वयं ही हाथ धोकर पानी पी लिया।

इशारा पाते ही कर्मचारी गिन्दौड़ा ले आये। वह विचारा जैन अत्यन्त दीनता और लज्जाके साथ कुछ सटपटाता-सा बोला—"ग़रीब-परवर, मुझे क्यों काँटोंमें घसीट रहे हैं ? भला गिन्दौड़ा देनेके लिए आपको तकलीफ़ उठानेकी क्या जरूरत थी ? मुझे गिन्दौड़ा लेनेमें क्या उज्र हो सकता था, मगर. . . . . ?"

"अजी वाह, भाई साहब ! यह भी आपके कहनेकी बात है, मै तो खुद ही आपका माल बग़ैर आपसे पूछे लेकर खा चुका हूँ, फिर आपको अब एतराज़ करनेकी गुंजाइश ही कहाँ रही ?"

ग़रीब जैन निरुत्तर था, गिन्दौड़े उसके हाथमें थे, सेठ साहब प्यार-से थपथपा रहे थे और वह इस धर्मवत्सलताको देख झुका जा रहा था।

एक नही, ऐसी अनेक किंवदन्तियाँ है। कहाँ तक लिखी जायें।

सेठ सुगनचन्दजीके पूर्वज सेठ दीपचन्दजी अग्रवाल जैन, हिसारके रईस थे। देहली बसाये जानेके समय शाहजहाँ बादशाहके निमन्त्रण पर वे देहली आये थे और दरीबेके सामने ४-५ बीघे ज़मीन बादशाह द्वारा प्रदान किये जानेपर आपने अपने १६ पुत्रोंके लिए पृथक्-पृथक् महल बनवाये थे। बादशाहने प्रसन्न होकर सात पार्चेका (जामा, पायजामा, चादर जोड़ी, पेटी, पगड़ी, सिरपेच, कलगी, तुर्रा) खिलअत अता फर्माया था। ईस्टइण्डियाके शासनकालतक आपके वंशज खज़ांची रहे !

मुझे यह लेख लिखनेके लिए बहुत-सी बातें वयोवृद्ध चन्दूलालजीसे भाई पन्नालालजीकी सहायतासे ज्ञात हुई थीं, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। बाबा चन्दूलालजी भी उक्त सेठजीके वंशमेंसे ही थे।

—अनेकान्त, मई १९३९ ई०

राजा लक्ष्मणदास सी. आई. ई.

जन्म— मथुरा, आश्विन कृष्ण ८ सं० १९१०

मृत्यु— मथुरा, मार्गशीर्ष कृष्ण ९ सं० १९५७

महासभाके जन्मदाता
वंश-परिचय

श्री गुलाबचन्द्र टोंग्या

राजा लक्ष्मणदासजीके पूर्वज श्री जिनदासजी, जयपुर राज्यान्तर्गत मालपुरा गाँवके रहनेवाले थे। आर्थिक स्थिति ठीक नहीं होनेके कारण जिनदासजीके दोनो पुत्र--फतहचन्दजी, मनीरामजी,—जयपुर चले गये। लेकिन वहाँकी भी व्यावसायिक स्थितिसे मनीराम-जैसे महत्त्वाकांक्षी परिश्रमी युवकको सन्तोष नही मिला। उनका उद्योगी स्वभाव किसी विशाल-क्षेत्रमें कुलाँचे भरनेको उतावला हो उठा। उन दिनों यातायातमें अनेक विघ्न-बाधाओं और आपदाओंका मुक़ाबिला करना पड़ता था। कोई साहसी युवक घरसे बाहर पाँव रखनेका प्रयत्न करता भी था तो उसके पाँवोमें मोह-ममताकी ज़ंजीर इस तरह डाल दी जाती थी कि वह छटपटाकर रह जाता था। लेकिन मनीरामजी स्वभावतः स्वावलम्बी और इरादेके मज़बूत थे, उनके पथमें यह सब विघ्न-बाधाएँ क्या आड़े आती ? वे जयपुरसे अज्ञात दिशाकी ओर निकल पड़े।

> **"जो बाहिम्मत हैं उनका रहमते हक़ साथ देती है।**
> **क़दम ख़ुद आगे बढ़के मंज़िले मक़सूद लेती है॥"**
>
> **—गोयलीय**

भाग्यकी बात, जिस धर्मशालामें मनीरामजी विश्राम कर रहे थे, उसीमें सेठ राधामोहनजी पारिख मृत्युशय्यापर पड़े हुए छटपटा रहे थे। स्वार्थी नौकर सामान लेकर चम्पत हो गये थे। राज्य-सम्मानित और धनिक होते हुए भी निरीह और लाचार बने मृत्युकी घड़ियाँ गिन रहे थे।

उनकी यह स्थिति देखकर मनीरामजीका दयालु हृदय द्रवित हो उठा। पारिखजी जिस शोचनीय अवस्थामें पड़े हुए थे, उन्हें देखकर किसी

को उनके धनसम्पन्न होनेका ख्वाबोखयाल भी नही हो सकता था। मनीरामजीने मानव कर्तव्यके नाते उनकी खूब नि स्वार्थ सेवा-शुश्रूषा की।

पारिखजी स्वस्थ हुए तो मुसीबतके साथी मनीरामजीको वे अपने साथ ग्वालियर ले गये और उन्हें कपडेके व्यवसायमें लगा दिया।

पारिखजी गुजराती वैश्य और वल्लभ सम्प्रदायी वैष्णव थे। जवाहरातके अच्छे पारखी होनेके कारण पारखी नामसे प्रसिद्ध थे। जीवाजीराव सिन्धियाका शासनकाल था। उनकी महारानी बैजाबाईके पारिखजी अत्यन्त विश्वस्त कृपापात्र थे। उन्ही दिनो सिन्धिया फौज, उज्जैनको लूटकर करोडो रुपया लाई। बैजाबाईने वह लूटका रुपया राज्यकोषमें रखना उचित न समझकर पारिखजीको १४ करोड रुपया मथुरामें मन्दिर बनवानेके लिए दे दिया।

पारिखजी अपने साथ अपने विश्वस्त सखा मनीरामजीको भी मथुरा ले गये और वही स्थायी रूपसे रहनेका निश्चय कर लिया। पारिखजी वल्लभ-सम्प्रदायी वैष्णव थे। अत उन्होने इसी सम्प्रदायका एक विशाल मन्दिर करोडोकी लागतका बनवाया, और उसके दैनिक आवश्यक व्ययके लिए एक बहुत बडी जागीर भी लगा दी, जिसकी आय वर्तमानमें दो लाखके अनुमान है। यह मन्दिर मथुराका सर्वश्रेष्ठ दर्शनीय मन्दिर है। द्वारिकाधीशकी मूर्ति स्थापित होनेके कारण द्वारिकाधीश-मन्दिर और सेठजी द्वारा बनवाये जानेके कारण सेठजीके मन्दिर नामसे समस्त भारतमें प्रसिद्ध है। वर्तमानमें भी इस मन्दिरका पूर्ण सम्बन्ध सेठ घरानेसे बना हुआ है।

पारिखजी अपना समस्त कारोबार मनीरामजीको सौंपकर निराकुलतापूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। पारिखजीके कोई सन्तान नही थी। अत जब मनीरामजीके यहाँ पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ तो बहुत प्रसन्न हुए और गद्गद स्वरमें बोले—यही बालक हमारा उत्तराधिकारी होगा और सेठ लक्ष्मीचन्द नामसे खूब यश कीर्ति प्राप्त करेगा।

यद्यपि पारिखजी गुजराती वैश्य एव धर्मसे वैष्णव थे, और मनीरामजी

मारवाडी खण्डेलवाल जैन थे, फिर भी दो शरीर और एक प्राण थे। भले ही आज इस सम्प्रदायी और प्रान्तीयताके युगमें अटपटा-सा मालूम हो, लेकिन मनुष्य जब केवल मनुष्य था, उसपर जाति-सम्प्रदायके आवरण नही चढे थे, तब यह सब कुछ सम्भव था।

हाँ, तो सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी वैष्णव कुलमें गोद गये, किन्तु जैनधर्म पर उनकी श्रद्धाभक्ति अविचल बनी रही। उनका आचार-विचार सब जैन-धर्मानुसार रहता था। वे बहुत बडा सघ लेकर श्री सम्मेद-शिखरकी वन्दनाको भी गये थे। वे धार्मिक और श्रद्धालु तो थे ही, भ्रातृ-वत्सल और उदार भी अत्यन्त थे। यद्यपि पारिखजीके यहाँ दत्तक चले जानेके कारण समस्त सम्पत्तिके केवल मात्र वही अधिकारी थे और उनके भाइयोका कोई भी कानूनी अधिकार नही था, फिर भी उन्होने अपने दोनो भाइयो—राधाकिशनजी, गोविन्ददासजीको सम्मानपूर्वक अपने साथ रखा, उनमें और अपनेमें कभी अन्तर नही समझा।

विधिका विचित्र विधान देखिए कि वैष्णवकुलमें गोद चले जानेपर भी लक्ष्मीचन्दजी जैनधर्मानुयायी बने रहे, लेकिन उनके दोनो सगे भाई वैष्णवकुलसे कोई सम्पर्क न होते हुए भी उस ओर झुक गये और सेठजी जब जैनसघ लेकर तीर्थयात्राको गये हुए थे, उनकी अनुपस्थितिका लाभ उठाकर रामानुज सम्प्रदायके धर्मगुरु रगाचार्य्यकी सीखमें आकर वृन्दावन-में एक विशाल मन्दिर बनवाना प्रारम्भ कर दिया। सेठ लक्ष्मीचन्दजी वापिस आये तो उन्हें मालूम हुआ कि ३० लाख व्यय हो चुके है। भाइयो-के इस व्यवहारसे उन्हें दु ख तो अवश्य हुआ, किन्तु ज़बानपर एक शब्द भी नही लाये और जब एक चीज़की भाइयोने नीव डाल दी है, तब वह पूर्ण होना ही चाहिए। हमारा आपसका मतभेद दूसरोपर प्रकट न हो, इसीलिए स्वय वृन्दावन रहकर उन्होने अपनी देख-रेखमें मन्दिरका[1]

---

[1] यह मन्दिर एक विशाल क़िले-जैसा है। सात परकोटे हैं। सैकड़ों मनुष्योंके रहने योग्य स्वतंत्र मकान आदि हैं। प्रत्येक मकानमें पृथक्-

निर्माण कराया। सेठजीके बल-पराक्रम, धर्मप्रेम, साहस आदिकी कितनी ही बातें जनतामें सीने-ब-सीने चली आ रही हैं, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

१. सेठ लक्ष्मीचन्दजी वृन्दावनमें जब मन्दिर-निर्माण करा रहे थे, तब स्वयं भी मज़दूरोंका हर काममें साथ देते थे। एक बार एक पत्थरको यथास्थान ले जानेमें जब १५-२० मजदूर भी असफल रहे, तब सेठ लक्ष्मीचन्द कमरमें रस्सा बँधवाकर पत्थरको घसीटते हुए यथास्थान रख आये।

२. अपने पुत्र सेठ रघुनाथदासको ब्याहने दिल्ली गये तो बारातके जुलूसका हाथी बिगड़ गया। जनतामें भगदड़ पड़ गई। सेठ लक्ष्मीचन्दजीने सुना तो निर्भय होकर उसका दाँत पकड़ लिया और कार्य समाप्त होनेतक उसे बराबर बसमें किये रहे।

३. सेठ लक्ष्मीचन्दजी एक बार कलकत्ते गये तो एक शीशेके व्यापारीकी दुकानमें चले गये। एक झाड़का मूल्य पूछा तो इनके साधारण वस्त्र देखकर व्यापारी उपहास-सा करने लगा। सेठजी चुपचाप चले आये और आदमी भेजकर दुकानका रत्ती-रत्ती सामान खरीद मँगवाया। तब व्यापारीको अपनी मूर्खताका पता चला।

४. सेठजी कलकत्ते गये तो उन्हें यह ख़याल न रहा कि यहाँ चार घोड़ोंकी गाड़ीमें निकलनेका उन्हें अधिकार नहीं है। अनायास ४ घोड़ोंकी गाड़ीमें बैठकर निकल गये। क़ानूनकी इस अवज्ञापर मैजिस्ट्रेटने एक हज़ार रुपये जुर्माना कर दिया। सेठजी एक हज़ार भिजवाकर दूसरे दिवस छह घोड़ोंकी गाड़ीमें निकले तो दो हज़ार जुर्माना कर दिया गया। यह जुर्माना अदा करते रहे और घोड़ोंकी संख्या बढ़ाते रहे। अन्तमें जब ३२ घोड़ोंकी संख्या हुई तो मैजिस्ट्रेटने घबराकर वाइसरायको सेठजीके इस सत्याग्रहकी सूचना दी, और वाइसरायको लाचार होकर ३२

पृथक् कूप तथा वाटिकाएँ हैं। मन्दिरके बीचमें स्वर्ण-स्तम्भ हैं, जो कि वृन्दावन मार्गमें बहुत दूरसे दीखने लगता है। लाखों रुपयोंके सोने-चाँदीके आभूषण, वाहन, बर्तनादि हैं। चार लाख रुपये वार्षिक आयका मन्दिरके लिए सदैवको समुचित प्रबन्ध कर दिया।

घोड़ोंकी गाड़ीमें निकलते रहनेका सदैवको अधिकार देना पड़ा।

सेठ लक्ष्मीचन्दजीके पुत्र सेठ रघुनाथदासजी भी पिता-तुल्य जैन-धर्म-श्रद्धालु और प्रतिभासम्पन्न थे। सेठ मनीरामजीने श्री जम्बूस्वामी सिद्धक्षेत्र चौरासीपर बृहत् मन्दिरका निर्माण कराया तो मन्दिरके अनुरूप ही विशाल एवं मनोज्ञ प्रतिमाकी आवश्यकता थी। सौभाग्यसे ग्वालियर राज्यमें खुदाई करते समय अभिलाषानुसार अजितनाथ भगवान्‌की मूर्ति प्रकट हुई। ग्वालियर महाराजने मूर्ति ले जानेकी स्वीकृति भी दे दी। लेकिन इतनी विशाल मूर्ति चौरासीमें किस प्रकार ले जाई जाय, इसका कोई उपाय नहीं सूझता था। आखिर एक रात्रिको सेठ मनीराम-जीको स्वप्नमें किसीने कहा—'ऐसा व्यक्ति जिसकी जैनधर्ममें अत्यन्त आस्था और भक्ति हो, शुद्धतापूर्वक उठाकर गाड़ीमें रख देगा तो मूर्ति निर्विघ्न चौरासी पहुँच जायगी।" युवक रघुनाथदासजीने बाबाजीका यह स्वप्न सुना तो वे स्वयं इस कार्य्यको करनेके लिए तत्पर हो गये। भक्तिविभोर होकर पहले पूजा वन्दना की और जय बोलकर अकेले ही मूर्तिको उठाकर गाड़ीमें विराजमान कर दिया! यह प्रतिबिम्ब आज भी चौरासीके मन्दिरमें मूलनायक प्रतिमाके रूपमें विराजमान है।

सेठ रघुनाथदासजीके निःसन्तान होनेके कारण उनके उत्तराधिकारी सेठ लक्ष्मणदासजी[1] हुए। आपका जन्म आश्विन कृष्ण ८ वि० सं० १६१० में हुआ। और ४७ वर्षकी अल्पायुमे ही मार्गशीर्ष कृष्ण ६ वि० सं० १६५७ में स्वर्गवास हो गया।

भा० व० दि० जैन-महासभाके आप जन्मदाताओंमें थे। आपकी ही प्रेरणासे चौरासीपर महासभाने महाविद्यालय स्थापित किया और जैनगज़टका प्रकाशन प्रारम्भ किया था। कार्तिक कृष्णमें प्रतिवर्ष ८ दिवस रथयात्रा महोत्सव होता था। यह उत्सव उस समय भारतके जैन उत्सवोंमें सर्वश्रेष्ठ महान् उत्सव गिना जाता था। भारतवर्षके ख्यातिप्राप्त सेठ-साहूकार, विद्वान्, संगीतज्ञ बहुत बड़ी संख्यामें एकत्र होते थे।[1]

१ ये सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीके भाई राधाकिशन जीके पुत्र थे।

आपको जनता तो आदर-प्रेमकी दृष्टिसे देखती ही थी, अंग्रेज सरकारने भी राजा और सी० आई० ई० की पदवीसे सम्मानित किया था। लार्ड कर्जन भी आपके यहाँ अतिथि रहे थे, जयपुर, भरतपुर, धौलपुर, रामपुर, मैसोर, ग्वालियर-नरेशोसे भी आपके मैत्री सम्बन्ध थे। राजा साहबका रहन-सहन, आदर-प्रतिष्ठा राज्योचित थे और उस प्रान्तकी जनता इन्हें अपना अधिपति समझती थी। जैनधर्मी होनेपर भी सभी धर्मोके प्रति आदर और प्रेमभाव रखते थे। हिन्दू-मुसलमान सभीको मुक्त कठसे दान देते थे और उनके धार्मिक उत्सवोमें अत्यन्त प्रेमसे सहयोग देते थे। हर सम्प्रदायी इन्हें अपना ही समझता था। बगालमें जो सम्मान जगतसेठको प्राप्त था, वही सम्मान इस ओर इस वशको प्राप्त था। प्रत्येक नगरमें इनकी कोठियाँ खुली हुई थी। और जनता बेझिझक लेन-देन करती थी। आज जो कार्य बैंक करते है, वही इन गद्दियोसे सम्पन्न होता था। मिस्टर ग्रोसने अपनी मथुरामेमोयर और सरकारी गजटमें लिखा है कि—'बैंक आफ इँगलैण्डके चेकका भुगतान जिस तरह सब स्थानोपर हो सकता था, उसी तरह एक समय था जब सेठजीकी हुडीका भुगतान प्रत्येक स्थानपर होनेमें कोई कठिनाई नही हो पाती थी।''

व्यवसायके अधिक फैल जानेके कारण व्यवस्थाका समुचित प्रबन्ध न होनेसे और कलकत्तेके मुनीमकी अदूरदर्शिताके कारण राजा साहबका व्यवसाय फैल हो गया। इससे आपको बहुत सदमा पहुँचा, किन्तु अपने जीवनकालमें ही सबका एक-एक पैसा चुकता कर दिया। मृत्युके बाद भी इतनी विशाल सम्पत्ति बची कि उचित देख-रेख न रहनेके कारण लाखो रुपयेकी वस्तुएँ नष्ट हो गई।

१ सर सेठ हुकमचन्दजी गत वर्ष चौरासी पधारे तो आपने फर्माया—"हमारी आँखों देखी बात है कि महासभाके अधिवेशनपर राजा साहबके अनुरोधपर समस्त भारतसे प्रतिनिधि चौरासीमें एकत्र हुआ करते थे। और राजासाहब स्वय प्रत्येक डेरेपर जाकर भाइयोंके सुख-दुखके सम्बन्धमें पूछताछ किया करते थे।"

उनके उत्तराधिकारी

गोयलीय

राजा लक्ष्मणदासजीको तो मैंने नही देखा, वे मेरे जन्मसे पूर्व ही स्वर्गवासी हो चुके थे। हाँ, उनकी रानी साहिबा और दो पुत्रो—सेठ द्वारिकादास, दामोदरदासको देखा है। द्वारिकादासजी अल्पायुमें ही निधन कर गये थे। उन्हें चौरासीके मेलेमें जिनेन्द्र भगवान्के रथपर सारथीरूपमें देखनेकी एक धुँधली-सी स्मृति शष है।

सेठ द्वारिकादासजीके नि स्सन्तान निधन कर जानसे उनके छोट भाई सेठ दामोदरदासजी उत्तराधिकारी हुए। इन्हें मैंने सन १९१४ से १९१९ तकके अर्सेमें पचासो बार देखा है।

ठिगना कद, गोरा-चिट्टा गठीला जिस्म, किताबी चेहरेपर बडी-बडी रसीली आँखें सुनहरी फ्रेमके चश्मेसे विभूषित, सुतवाँ नाक, उन्नत ललाट। भगवान्की सवारीमें नगे पाँव, धोती रईसाना ठाटसे पहनी हुई और ज़मीनमें घिसटती हुई, खुले गलेका कोट और सरपर लाल पगडी। पोशाक अत्यन्त भव्य और राजसी, गलेमे हीरेका कीमती कठा, व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक और भव्य। यद्यपि मसें भीग रही थी, फिर भी चाल-

ढालमें सजीदगी, बातचीत गम्भीर और अधिकारपूर्ण। रथके साथ चलते तो भी जर्क-बर्क वर्दीमें दो सिपाही और प्राइवेट सेक्रेटरी साथ रहते थे। राजा-महाराजाओ-जैसा रोब-दाब होता था। हर आदमीका हौसला उनसे वार्तालाप करनेका नही हो सकता था। चौरासी मेलेके एक माह पहलेसे उनके रहने योग्य निवासस्थानकी तैयारियाँ होती थी। कीमती दो मुश्की घोडोकी लैण्डोपर सवार होकर आते थे। लैण्डोके आगे-पीछे घोडोपर चार बावर्दी सिपाही रहते थे। कोचबानकी और साइसोकी बर्दी भी बहुत सजीली होती थी। आपकी माताजी, भाभी, पत्नी घूंघट निकाले हुए रथके पीछे-पीछे अन्य स्त्रियोके साथ चलती थी।

मथुरामें जमनाके किनारे विशाल महलमें रहते थे, जिसके एक भागमें जैन चैत्यालय था और दूसरी ओर रगमहल था। रगमहल और चैत्यालय जनताके लिए खुले रहते थे।

कुछ स्वार्थी महानुभावोके बहकावेमें आकर सेठ द्वारिकादासकी पत्नी पृथक् रहने लगी थी और मुकदमेबाजी प्रारम्भ हो गई थी। नि-स्सन्तान होनेके कारण इन्होने गोपालदासजीको गोद लिया था।

सेठ दामोदरदासजी भी भरी जवानीमें निस्सन्तान स्वर्गवासी हो गये। इनकी मृत्यु हुई तो समस्त मथुरामें और आस-पासके इलाकोमें शोक छा गया। ऐसा मालूम होता था कि सारी मथुरा विधवा हो गई है और उसने काला लिबास पहन लिया है।

सेठ दामोदरदासकी विधवा पत्नीने भी सेठ मथुरादासको दत्तक पुत्र बनाया। और दुख है कि सेठ गोपालदास और सेठ मथुरादासजी भी अल्पायुमें ही नि सन्तान निधन कर गये। वर्तमानमें वह पुराना वैभव देखनेको नही मिलता है। फिर भी किसी न किसी रूपमें स्मृति शेष है। इन्हीके पूर्वज सेठ लक्ष्मीचन्दजीकी धन-वैभवकी धाक जनतामें ऐसी थी कि आज भी लोग कह देते है कि तू कबसे सेठ लक्ष्मीचन्द बन गया है।

वंशावली
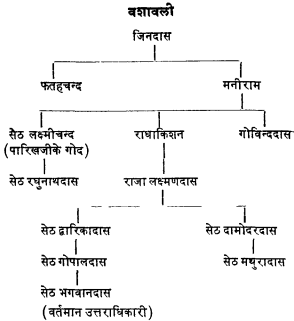
—डालमियानगर, २२ अक्टूबर १९५१

जन्म—	वि० सं० १९०८
स्वर्गवास—	१६ जुलाई १९१४

दानवीर सेठ माणिकचन्द्र

श्री नाथूराम प्रेमी

यह प्रकट करते हुए हमें बड़ा ही दुःख होता है कि ता० १६ जुलाई १९१४ की रातको २ बजे श्रीमान् दानवीर सेठ माणिकचन्द्र हीराचन्द्र जे० पी० का एकाएक स्वर्गवास हो गया। दो

घण्टे पहले जिसकी कोई कल्पना भी न थी, वह हो गया। भारतके आकाश-से चमकता हुआ तारा टूट पड़ा। जैनियोंके हाथसे चिन्तामणि रत्न खो गया, समाज-मन्दिरका एक सुदृढ़ स्तंभ गिर गया। जहाँ जब जिसने यह खबर सुनी, वहीं भौंचक-सा होकर रह गया और 'हाय-हाय' करने लगा। मृत्युकी यह अचिन्त्य शक्ति देखकर विचारशील काँप उठे।

सेठ माणिकचन्द्रजीसे हमारा जो कुछ परिचय रहा है, उससे हमारा हृदय कहता है कि उनके स्वर्गवाससे जैन-समाजकी जो बड़ी भारी हानि हुई है, उसकी पूर्ति होनेका इस समय कोई भी चिह्न नहीं दिखाई देता है और वह पूर्ति आगे जल्दी हो जायगी, इसकी भी कम सम्भावना है। यद्यपि आज सारे जैनसमाजमें सेठजीकी कीर्ति-पताका फहरा रही है और सभी लोग उनकी मुक्त कंठसे प्रशंसा कर रहे हैं, तो भी हमारा विश्वास है कि वास्तवमें सेठजी किस श्रेणीके पुरुषरत्न थे, इस बातको बहुत ही कम लोग जानते हैं? उनके हृदयमें जैनसमाजके प्रति जो भावनाएँ रहती थीं, जिन निष्कपट वृत्तियोंसे वे समाज-सेवामें अहर्निश तत्पर रहते थे और जिन शान्तता, उदारता तथा धीरतादि गुणोंसे उन्हें प्रत्येक काममें सफलता मिलती थी, उन सबके परिचय प्राप्त करनेका जिन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे उन्हें केवल दानवीर और धनी ही नहीं समझते थे, किन्तु एक महात्मा समझकर अतिशय पूज्य दृष्टिसे देखते थे। सेठजीने गत बारह वर्षोंमें जो-जो काम किये हैं, उन सबपर दृष्टि डालनेसे यदि यह कहा जाय कि वे इस समयके युगप्रवर्त्तक थे, उनके प्रयत्नोंने जैनसमाजमें एक नया युग उपस्थित कर दिया है, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। केवल रथ-प्रतिष्ठाओं में और मन्दिर बनवानेमें ही लाखों रुपया प्रतिवर्ष खर्च करके सन्तुष्ट हो जानेवाले जैन-समाजके धनियोंका चित्त विद्यामन्दिर स्थापित करने-की ओर आकर्षित करनेका प्रधान श्रेय सेठ माणिकचन्द्रजीको ही प्राप्त था। उनकी देशव्यापी अनन्यसाधारण कीर्तिने धनियोंपर वह प्रभाव डाला है, जो बीसों समाचारपत्र, पचासों उपदेशक और सैकड़ों सभा-समितियाँ नहीं डाल सकती हैं। यह आप ही के सभापति-पदका प्रभाव

है जो सभा-सोसाइटियोंको बच्चोंका खेल समझकर उनकी ओर आँख न उठानेवाले धनाढ्य लोग आज उन्हीं सभाओंके सभापति बननेके लिए लालायित रहते हैं और अपने प्रसादलब्ध पुरुषोंके द्वारा इसके लिए प्रयत्न तक कराते हैं।

सेठजी केवल दानवीर ही न थे, वे कर्मवीर भी थे। धनवानोंमें दानवीर तो अनेक हैं और आगे और भी हो जावेंगे, परन्तु सेठजी-जैसा कर्मवीर होना कठिन है। उन्होंने जैन-समाजके लिए अपने पिछले जीवन-में कई वर्षों तक अश्रान्त परिश्रम किया है। यदि उनकी पिछली चार-पाँच वर्षकी दिनचर्या देखी जाय, तो मालूम होगा कि जैनसमाजकी संस्था-ओंके लिए उन्हें प्रतिवर्ष कम-से-कम तीन महीने प्रवास-पर्यटनमें रहना पड़ा है और अपने व्यापारादिके तमाम काम छोड़कर प्रतिदिन चार-पाँच घण्टे प्रान्तिक सभा, तीर्थक्षेत्र कमेटी तथा अन्यान्य संस्थाओंके लिए देने पड़े हैं। समाजके किसी भी कार्यके लिए उनको आलस्य न था। हर समय हर कामके लिए वे कटिबद्ध रहते थे। इस समय दिगम्बर जैनियोंके जो डेढ़ दर्जनसे अधिक बोर्डिंग हाउस हैं, उनमें आपकी दानवीरताकी अपेक्षा कर्मवीरताने अधिक काम किया है। दिगम्बर-समाजकी शायद ही कोई ऐसी संस्था होगी, जिसने सेठजीकी किसी-न-किसी रूपमें सहायता न पाई हो।

सेठजी न अंग्रेजीके विद्वान् थे और न संस्कृतके, वे साधारण देशभाषा का पढ़ना-लिखना जानते थे, परन्तु उन्होने अपने जीवनमें जो कुछ किया है उससे बाबू लोग और पण्डितगण दोनो ही बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकते है। वे अपने अनुकरणीय चरित्रसे बतला गये है कि कथनीकी अपेक्षा करनीका मूल्य अधिक है—ज्ञानकी अपेक्षा आचरण अधिक आदर-णीय है। उनका अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। जैनसमाजके विषयमें जितना ज्ञान उनको था उतना बहुत थोड़े लोगोंको होगा। कभी-कभी उनके विचार सुनकर कहना पड़ता था कि अनुभवके आगे पुस्तकों और अखबारोंका ज्ञान बहुत ही कम दामोंका है।

यदि संक्षेपमें पूछा जाय कि सेठजीने अपने जीवनमें क्या किया ? तो इसका उत्तर यही होगा कि जैन-समाजमेंसे जो विद्याकी प्रतिष्ठा उठ गई थी, उसको उन्होंने फिरसे स्थापित कर दिया और जगह-जगह उसकी उपासनाका प्रारम्भ करा दिया। सेठजीके हृदयमें विद्याके प्रति असाधारण भक्ति थी। यद्यपि वे स्वयं विद्यावान् न थे, तो भी विद्याके समान मूल्यवान् वस्तु उनकी दृष्टिमें और कोई न थी। उन्होंने अपनी सारी शक्तियोंको इसी भगवतीकी सेवामें नियुक्त कर दिया था। उनके हाथसे जो कुछ दान हुआ है, उसका अधिकांश इसी परमोपासनीया देवीके चरणोंमें समर्पित हुआ है, पीछे तो उनकी यह विद्याभक्ति इतनी बढ़ गई थी कि उसने सेठजीको कंजूस बना दिया था। जिस संस्थाके द्वारा या जिस कामके द्वारा विद्याकी उन्नति न हो, उसमें लोगोंके लिहाज या दबावसे यद्यपि वे कुछ-न-कुछ देनेको लाचार होते थे, परन्तु वे उससे दानके वास्तविक आनन्दका अनुभव नहीं कर पाते थे।

सेठजीके हृदयमें यह बात अच्छी तरह जम गई थी कि अंग्रेजी स्कूलो और कालेजोंमें जो शिक्षा दी जाती हैं, वह धर्मज्ञानशून्य होती है। उनमेंसे बहुत कम विद्यार्थी ऐसे निकले हे जो धर्मात्मा और अपने धर्मका अभिमान रखनेवाले हों। अपनी जाति और समाजके प्रति भी उनके हृदयमें आदर उत्पन्न नही होता है; परन्तु वर्तमान समयमें यह शिक्षा अनिवार्य है। अंग्रेजी पढ़े बिना अब काम नही चल सकता है, इसलिए कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे उनके हृदयमें धर्मका अंकुर उत्पन्न हो सके। इसके लिए आपने "जैन बोर्डिंग स्कूल" खोलना और उनमें स्कूल-कॉलेजके विद्यार्थियोंको रखकर उन्हें प्रतिदिन एक घंटा धर्मशिक्षा देना लाभकारी समझा। इस ओर आपने इतना अधिक ध्यान दिया और इतना प्रयत्न किया कि इस समय दिगम्बर-समाजके लगभग २० बोर्डिंग स्कूल काम कर रहे हैं।

संस्कृत पाठशालाओंकी ओर भी आपका ध्यान था। संस्कृतकी उन्नति आप हृदयसे चाहते थे, परन्तु इस ओर आपके दानका प्रवाह कुछ

कम रहा है—पूर्ण वेगसे नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि एक तो कोरी संस्कृत-शिक्षाको आप अच्छी न समझते थे—इस समय वह जीविका-निर्वाहके लिए उपयोगी नहीं और संस्कृत-पाठशालाओंकी पढ़ाईका पुराना ढचरा तथा उनके प्रबन्धकी कठिनाइयाँ आपको इस ओर प्रवृत न होने देती थीं। तो भी आप संस्कृतके लिए बहुत कुछ कर गये हैं। बनारस की स्याद्वाद पाठशालाने आपके ही लगातार उद्योगसे चिरस्थायिनी संस्था-का रूप धारण किया है। आपके बोर्डिंग स्कूलोंमें वे विद्यार्थी प्रथम स्थान पाते हैं, जिनकी दूसरी भाषा संस्कृत रहती है और संस्कृतके कई विद्यार्थियों-को आपकी ओरसे छात्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। अपने पिछले दानमें वे जैन-परीक्षालयको स्थायी बना गये हैं। उक्त दानका और भी अंश संस्कृतकी उन्नतिमें लगेगा।

सेठजी बहुत ही उदारहृदय थे। आम्नाय और सम्प्रदायोकी शोच-नीय संकीर्णता उनमें न थी। उन्हें अपना दिगम्बर सम्प्रदाय प्यारा था, परन्तु साथ ही श्वेताम्बर सम्प्रदायके लोगोंसे भी उन्हें कम प्रेम न था। वे यद्यपि बीसपंथी थे, पर तेरह पंथियोंसे अपनेको जुदा न समझते थे। उनके बम्बईके बोर्डिंग स्कूलमें सैंकड़ों श्वेताम्बरी और स्थानकवासी विद्यार्थियोंने रहकर लाभ उठाया है। एक स्थानकवासी विद्यार्थीको उन्होंने विलायत जानेके लिए अच्छी सहायता भी दी थी। उनकी सु-प्रसिद्ध धर्मशाला हीराबाग़में निरामिषभोजी हिन्दू मात्रको स्थान दिया जाता है। साम्प्रदायिक और धार्मिक लड़ाइयोंसे उन्हें बहुत घृणा थी। उनकी प्रकृति बड़ी ही शान्तिप्रिय थी। पाठक पूछेंगे कि यदि ऐसा था तो वे मुक़द्दमेबाजीमें सिद्धहस्त रहनेवाली तीर्थक्षेत्र कमेटीके महामंत्री क्यों थे? इसका उत्तर यह है कि वे इस कार्यको लाचार होकर करते थे, पर वे इससे दुखी थे और अन्त तक दुखी रहे। तीर्थक्षेत्र कमेटीका काम उन्होंने इसलिए अपने सिर लिया था कि इससे तीर्थक्षेत्रोंमें सुप्रबन्ध स्थापित होगा, वहाँके धनकी रक्षा और सदुपयोग होगा। यात्रियोंको आराम मिलेगा और धर्मकी बढ़वारी होगी। इस इच्छाको कार्यमें परि-

णत करनेके लिए उन्होंने प्रयत्न भी बहुत किये और उनमें सफलता भी बहुत कुछ मिली। कुछ ऐसे कारण मिले और समाजने अपने विचार-प्रवाहमें उन्हें ऐसा बहाया कि उन्हें मुक़दमे लड़ने ही पड़े--पर यह निश्चय है कि इससे उन्हें कभी प्रसन्नता नहीं हुई। अपने ढाई लाखके अंतिम दान-पत्रमें तीर्थक्षेत्रोंकी रक्षाके लिए १०० भाग दे गये हैं, परन्तु उसमें साफ़ शब्दोंमें लिख गये है कि इसमेंसे एक पैसा भी मुक़द्दमोंमें न लगाया जाय, इससे सिर्फ़ तीर्थोंका प्रबंध सुधारा जाय।

जैनग्रन्थोंके छपाने और उनके प्रचार करनेके लिए सेठजीने बहुत उद्योग किया था। यद्यपि स्वयं आपने बहुत कम पुस्तकें छपाई है, परन्तु पुस्तकप्रकाशकोंकी आपने बहुत जी खोलकर सहायता की है। उन दिनोंमें जब छपे हुए ग्रंथोंकी बहुत कम बिक्री होती थी, तब सेठजी प्रत्येक छपी हुई पुस्तककी डेढ़-डेढ़ सौ, दो-दो सौ प्रतियाँ एकसाथ ख़रीद लिया करते थे, जिससे प्रकाशकोंको बहुत बड़ी सहायता मिल जाती थी। इसके लिए आपने अपने चौपाटीके चन्द्रप्रभ-चैत्यालयमें एक पुस्तकालय खोल रखा था। उसके द्वारा आप स्वयं पुस्तकोंकी बिक्री करते थे और इस काममें आप अपनी किसी तरहकी बेइज्ज़ती न समझते थे। जैनग्रंथ-रत्नाकर-कार्य्यालय तो आपका बहुत ही उपकृत है। यदि आपकी सहायता न होती, तो आज वह वर्त्तमान स्वरूपको शायद ही प्राप्त कर सकता। आप छापेके प्रचारके कट्टर पक्षपाती थे; परन्तु इसके लिए लड़ाई-झगड़ा, खंडन-मंडन आपको बिलकुल ही पसंद न था। जिन दिनों अखबारोंमें छापेकी चर्चा चलती थी, उन दिनों आप हमें अकसर समझाते थे कि "भाई, तुम व्यर्थ ही क्यों लड़ते हो? अपना काम किये जाओ। जो शक्ति लड़नेमें लगाते हो, वह इसमें लगाओ। तुम्हें सफलता प्राप्त होगी। सारा विरोध शान्त हो जायगा।"

सेठजीके कामोंको देखकर आश्चर्य होता है कि एक साधारण पढ़े-लिखे धनिकपर नये ज़मानेका और उसके अनुसार काम करनेका इतना अधिक प्रभाव कैसे पड़ गया। जिन कामोंमें जैनसमाजका कोई

भी धनिक खर्च करनेको तैयार नहीं हो सकता, उन कामोंमें सेठजीने बड़े उत्साहसे द्रव्य खर्च किया है। दिगम्बर जैन-डिरेक्टरी जो हाल ही में छपकर तैयार हुई है—एक ऐसा ही काम था। इसमें सेठजीने लगभग १५ हज़ार रुपये लगा दिये हैं। दूसरे धनिक नहीं समझ सकते कि डिरेक्टरी क्या चीज़ है और उससे जैनसमाजको क्या लाभ होगा। विलायतमें एक "जैन-छात्रावास" बनवानेकी ओर भी सेठजीका ध्यान था, परन्तु वह पूरा न हो सका।

दिगम्बर जैन-समाजमें इस समय कई पक्ष या दल हो रहे है, जिसे देखिये वही अपने पक्षके गीत गा रहा है और दूसरेको नीचा दिखानेका प्रयत्न करता है; परन्तु सेठजीका पक्ष इन सबसे निराला था। उनकी दृष्टि सदा समूचे जैनसमाजके कल्याणकी ओर रहती थी। किसी भी पक्षसे वे द्वेष न रखते थे। जब कभी इन पक्षोंमें लड़ाई-झगड़ोंका मौक़ा आता था और वह शान्त न होता था, तब आप तटस्थवृत्ति धारण कर लेते थे। ऐसे अनेक मौके आये जब अखबारोंमें आपपर बहुत ही अनुचित आक्रमण हुए हैं, परन्तु आपने उनमेंसे एकका भी खंडन या परिहार करनेका प्रयत्न नहीं किया है—सब चुपचाप सह लिया है। आप कहा करते थे कि "जो झूठा है उसे झूटा सिद्ध करनेका प्रयत्न करना व्यर्थ है। मैं यदि सच्चे जीसे काम करता हूँ, सच्चा हूँ तो मुझे अपयश नहीं मिल सकता।"

धनवैभवका मद या अभिमान सेठजीको छू तक न गया था। इस विषयमें आप जैन-समाजमें अद्वितीय थे। ग़रीब-से-ग़रीब ग्रामीण जैनीसे भी आप बड़ी प्रसन्नतासे मिलते थे—उससे बातचीत करते थे और उसकी तथा उसके ग्रामकी सब हालत जान लेते थे। आप शामके दो घंटे प्रायः इसी कार्यमें व्यतीत करते थे। सैकड़ों कोसोंकी दूरीसे आये हुए यात्री जिस तरह आपकी कीर्ति-कहानियाँ सुना करते थे, उसी तरह प्रत्यक्षमें भी पाकर और मुँहसे चार शब्द सुनकर अपनेको कृतकृत्य समझने लगते

थे। आपका व्यवहार इतना सरल और अभिमान-रहित था कि देखकर आश्चर्य होता था।

विलासिता और आरामतलबी धनिकोंके प्रधान गुण हैं, परन्तु ये दोनो बातें आपमें न थीं। आप बहुत ही सादगीसे रहते थे और परिश्रम-से प्रेम रखते थे। अनेक नौकरों-चाकरोके होते हुए भी आप अपने काम अपने हाथसे करते थे। इस ६३ वर्षकी उम्र तक आप सबेरेसे लेकर रात के ११ बजे तक काममें लगे रहते थे। आलस्य आपके पास खड़ा न होता था। परिश्रमसे घृणा न होनेके कारण ही आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता था। आपकी शरीर-सम्पत्ति अन्त तक अच्छी रही–शरीरसे आप सदा सुखी रहे। सेठजीकी दानवीरता प्रसिद्ध है। उसके विषयमें यहाँ पर कुछ लिखनेकी जरूरत नहीं। अपने जीवनमें उन्होंने लगभग पाँच लाख रुपयोंका दान किया है, जो उनके जीवनचरितमें प्रकाशित हो चुका है। उसके सिवाय अभी उनके स्वर्गवासके बाद मालूम हुआ कि सेठजी एक २॥ लाख रुपयेका बड़ा भारी दान और भी कर गये हैं, जिसकी बाक़ा-यदा रजिस्ट्री भी हो चुकी है। बम्बईमें इस रक़मकी एक आलीशान इमारत है, जिसका किराया ११००) महीना वसूल होता है। यह द्रव्य उपदेशकभंडार, परीक्षालय, तीर्थरक्षा, छात्रवृत्तियाँ आदि उपयोगी कार्यों में लगाया जायगा। इसका लगभग आधा अर्थात् पाँच सौ रुपया महीना विद्यार्थियोंको मिलेगा।

सेठजीके किन-किन गुणोंका स्मरण किया जाय? वे गुणोंके आकर थे। उनके प्रत्येक गुणके विषयमें बहुत कुछ लिखा जा सकता है। उनका जीवन, आदर्श जीवन था। यदि वह किसी सजीव क़लमके द्वारा चित्रित किया जावे तो उसके द्वारा सैकड़ों पुरुष अपने जीवनोंको आदर्श बनानेके लिए लालायित हो उठें।

यदि अच्छे कामोंका अच्छा फल मिलता है, तो इसमें सन्देह नहीं कि दानवीर सेठजीकी आत्मा स्वर्गीय सुखोंको प्राप्त करेगी और अपने

इस जन्मके लगाये हुए पुण्यविटपोंको फलते-फूलते हुए देखकर निरन्तर तृप्तिलाभ करनेका अवसर पावेगी। एवमस्तु।

—जैन हितैषी, अंक ८, सन् १९१४

जन्म— ई० स० १८७६

मृत्यु— ई० स० १९३०

महिलारत्न मगनबाई जे० पी०

—☰ गोयलीय ☰—

मगन बहन जैनसमाजके ख्यातिप्राप्त शिक्षाप्रसारक महान्-हितैषी दानवीर सेठ माणिकचन्द्रजीकी लाड़ली और आदर्श पुत्री थीं। यह जैनसमाजका सौभाग्य था, जो मगन बहन जवानीकी चौखट-पर पाँव रखते ही विधवा हो गई। यदि वे विधवा न हुई होतीं और गृहस्थी-की गाड़ीको जीवन भर ढोती रहतीं तो फिर यह महिला-समाजमें जीवन-ज्योति कैसे फैलती? अतः हम उस मनहूस घडीका श्रद्धापूर्वक अभि-वादन करते हैं, जिसमे मगन बहनके माथेका सिन्दूर पोंछा गया और हाथ की चूड़ियाँ तोड़ी गईं।

दुःखोंका पहाड़ उन्हीपर गिरता है, जो उसे उठाकर भी सीना तान-कर खड़े रहनेकी क्षमता रखते हैं। सूर्य्य अपनी प्रखर रश्मियोंको पहाड़ोंकी उन्ही चट्टानोपर बखेरकर गौरव अनुभव करता है, जो उसके तेजको अविचल भावसे सह सकें। कायरोंपर तो उसका साया भी पड़ जाता है तो मारे आत्मग्लानिके बादलोंमे मुँह छिपा लेता है। दुःखोंसे जूझने को हाथभरका कलेजा चाहिए। दुःख वह बरसाती बादल नही, जो अन्धेकी तरह चाहे जहाँ गिर पड़े। वह अपना निवास फौलादी जिस्ममे बनाता है।

दुख ही सुखका मूल है। रावण यदि सीता-हरण न करता, तो शीलका माहात्म्य ससारको क्योकर विदित होता ? द्रौपदीका चीर-हरण न हुआ होता तो अबलाओके आँसुओकी शक्तिका पता कैसे लगता ? अजना वनोमे न धकेल दी जाती तो अपहृता नारीको सात समुद्र पारसे भी उद्धार करके लानेका आदर्श उपस्थित करनेवाला हनुमान् कैसे पैदा होता ? झाँसीकी रानी लक्ष्मीका सुहाग न लुटा होता तो स्वतन्त्रता-यज्ञमे प्रथम आहुति देकर भारतके जन-जनकी श्रद्धा-भक्तिका पात्र कौन होता ? बापू गोरो द्वारा नही पीटे जाते तो पददलित भारतका उद्धार कैसे होता ?

मगन बहन भी ऐसी ही रत्न थी, जो दुखके खरादपर चढकर अनमोल बन गई थी। उनका जन्म श्रीमती चतुरबाईकी कूखसे पौष कृष्ण १० वि० स० १९३६ (ई० स० १८७९) में हुआ। जब उन्होने आँख खोली तो धन-वैभव उनके चारो ओर बिखरा हुआ था। कीर्ति और यश उनके आँगनम छम-छम खेलते थे। सुख-समृद्धि उन्हे पालना झुलाते थे।

उन दिनो स्त्री-शिक्षाका चलन नही था। धोबीके कपडे लिख लेने लायक योग्यता पर्याप्त समझी जाती थी। दुधमुँही बच्चियोकी शादी करना परम पुण्य समझा जाता था। जो माता-पिता अपने बालक-बालिकाओको जितनी अल्प आयुमें विवाह-बन्धनमें बाँध देते थे, वे उतने ही अधिक यश-कीर्तिके भागी होते थे। बहुत-से तो गर्भावस्थामें ही शादी कर देते थे[1]।

१—हर्ष है कि १९३० में शारदाबिल पास हो जानेसे यह प्रथा बन्द हो गई है। १९३१ की मर्दुमशुमारीके आँकडे बतलाते हैं कि १२५१३४० जैनोंकी संख्यामें १३४२४५ विधवा और ५२९०३ विधुर थे।

सेठ माणिकचन्द्रजी इस प्रथाके प्रबल विरोधी थे। वे पर-उपदेश-कुशल न होकर अपनेमें ही सुधार चाहते थे। इसी भावनासे प्रेरित होकर उन्होंने अपनी बड़ी पुत्री फूलकुमारीका विवाह १५ वर्षकी आयु होनेपर भी नहीं किया। मगन भी १३ की हो गई थी। रूढ़िवादियोंको चैन कहाँ? नकटापन्थी तो किसीके चेहरेपर भी नाक नहीं देखना चाहते। चेमेगोइयाँ होने लगीं, खुसर-फुसर चलने लगी। अपनी आँख फोड़कर दूसरोंका अपशकुन करनेवाले, जब सेठजीको तिलभर भी विचलित न कर सके तो कुटुम्बियों और इष्ट-मित्रों द्वारा नाक कट जानेका हौआ दिखलाया गया। जब हौएका भी कुछ असर न हुआ तो अन्तमें वह शक्ति छोड़ी गई, जिसके समक्ष सेठजी-जैसे इरादेके मज़बूतको भी झुक जाना पड़ा। और वह शक्ति यही थी कि सयानी लड़कियोंके उपयुक्त क्वारे वर कहाँ मिलेंगे? आपकी तरह कौन भला आदमी अपने लड़कोंको बिन-ब्याह किये बूढ़े होने देगा? बड़ी आयुके तो विधुर लड़के मिलेंगे, क्वारे तो मिलनेसे रहे!

इस आशंकाने सेठजीको विचलित कर दिया, वे फूलकुमारीका १५ वर्ष और मगनका १३ वर्षकी आयुमें विवाह करनेको बाध्य हो गये। अतः लड़कियोंकी शिक्षा साधारण प्राईमरी गुजरातीसे अधिक नहीं हो सकी।

विवाह-शादियोंमें उन दिनों व्यर्थ व्यय बहुत अधिक होता था। एक-दो माह पूर्व ही कुटुम्बी और रिश्तेदार बुलाने पड़ते थे। हज़ारों आदमियोंको भोज देना पड़ता था। बारातमें हज़ार-पाँच सौसे कम आदमी ले जाना असम्भव था। हाथी-घोड़े, रथ-मझोलीका ताँता लग जाता था। आतिशबाज़ी, फुलवाड़ी, वेश्या-नृत्य, नौटंकी विवाहके आवश्यक विधिविधानोंमें सम्मिलित थे। बरातियोंकी तो ५-६ रोज़ दावतें होती ही थीं, उनके वाहन—घोड़ों-बैलोंको भी भरपेट घी पिलाया जाता था। दूल्हा-दुल्हनके ऊपर अशर्फ़ी और रुपयोंकी बखेर की जाती थी। और

हज़ारों रुपया कमीन-कारुओंमें बाँटा जाता था[१]। बरातियोंका इतना समूह पहुँचता था कि मालूम होता था कि कोई आततायी आक्रमण करने आया है।

१—इस तरहकी कई बारातें मैंने भी अपने बचपनमें देखी हैं। एक बारातमें फुलवाड़ियोंमें १०-१० के नोट लगे देखे हैं और वह फुलवाड़ी केवल लुटानेके लिए बनाई जाती थी। एक बारातमें डेढ़ हज़ार आदमी गये थे। वेश्यानृत्य, नौटंकी, गाजे-बाजेमें दसबीस हज़ार रुपया स्वाहा हो जाना मामूली बात थी। मैंने अपनी आँखोंसे तमाम दिल्ली शहरको दावत देखी है। इसी तरहकी वैवाहिक फ़िज़ूलख़र्चियोंका एक रोज़ प्रसंग चल रहा था। हरएक एक-से-एक बढ़कर देखी-सुनी सुना रहा था कि सहारनपुरके चौधरी कुलवन्तराय जैनने जो दिलचस्प वाक़या बयान किया, उसके लिखनेका लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। फ़र्माया—

"हमारे यहाँ एक छबीली नामकी जैन-सम्भ्रान्त महिला काफ़ी प्रसिद्ध हुई है। जब वह विधवा हुई तो, उसके समधीने एक पत्रमें लिखा—"समधीजीके स्वर्गवास-समाचारसे हमें अत्यन्त दुःख हुआ। हमारी समझमें नहीं आता कि अब हम क्या करें ? हमने तो उन्हींकी लिहाज़से आपकी लड़कीका रिश्ता लिया था। रिश्ता छोड़ते हैं तो स्वर्गमें उनकी आत्माको कष्ट पहुँचेगा, नहीं छोड़ते हैं तो हमारी बारातका अब ठीक-ठीक स्वागत कौन करेगा ? आप स्त्री हैं, कैसे सब प्रबन्ध कर सकेंगी ? अस्तु, आप जितने बारातियोंका निराकुलता पूर्वक स्वागत-सत्कार कर सकें, निःसंकोच लिख दें, हम उतने ही बाराती ले आएँगे। क्योंकि हम आपकी बदनामीको अपनी बदनामी समझते हैं।" छबीलीको इतनी बर्दाश्त कहाँ कि कोई उसकी रईसी और इन्तज़ाममें शकोशुबह ज़ाहिर करे। उसने एक थैलेमें पोस्तके दाने भरकर भिजवा दिये और लिखवा दिया कि—"इससे कम तो बाराती लाएँ नहीं, अधिक आप जितना चाहें

इन व्यर्थके व्ययोंसे जो समाजका अहित हो रहा था, उससे सेठजी दुखी थे। अतः उन्होने सामूहिक विवाहका सूत्रपात अपने ही यहाँसे प्रारम्भ किया। यानी फूलकुमारीका पाणिग्रहण श्री मगनलालसे और मगनबाईका श्री खेमचन्दसे एक ही वक्तमें कर दिया। दोनों बारात एक दिन बुला लीं और एक ही दिनमें दोनोंका विवाह सम्पन्न हो गया। और बेटेवालोंके अत्यधिक दबाव डालनेपर भी दस हजारसे अधिक रुपया दोनोंकी शादीमें व्यय नही किया।[1]

ले आयें"। बेटेवालेने सुना तो होट चबा लिये। गांव-गांवमें डोंडी पिटवा दी। ऐरे-ग़ैरे नत्थूख़ैरोंको इतना भर लाया कि टिड्डीदलका धोखा होता था। लेकिन ठहरने और भोजनकी इतनी सुन्दर सुव्यवस्था थी कि चाहनेपर भी बेटेवाला कोई बाल न निकाल सका। आख़िर हारकर उसने नाक काटनेका यह उपाय निकाला कि चढ़तके वक्त छबीलीके दर्वाज़ेपर अशर्फ़ियोंकी बखेर प्रारम्भ कर दी। उन दिनों बखेरका रिवाज था, किन्तु बेटीवालेके अनुनय-विनय करनेपर बखेर बन्द कर दी जाती थी। मगर छबीली अनुनय-विनय क्यों करती? उसने मकानकी छतपर अशर्फ़ियोंकी बोरियां रखवा लीं और अशर्फियोंको छाजमें भर-भरकर बरातियोंपर बखेरने लगी। जिसका अर्थ यह था कि मेरे दर्वाज़ेपर बखेर इस तरह करना है तो करो, वर्ना बन्द करो। बेटेवाला क्या खाकर इस तरहकी बखेर करता, चुप रह गया।"

१—विवाह-शादियोंमें दिन-दूने बढ़ते हुए व्यय और उसके परिणामोंकी ओर बैरिस्टर जमनाप्रसादजी जजका ध्यान भी आकर्षित हुआ था। उन्होंने १९४५ में भारतवर्षीय जैनपरिषद्के वार्षिक अधिवेशनके अवसर पर जबलपुरमें ४–५ कन्याओंका सामूहिक विवाह सम्पन्न कराया था। परिषद्के सभापति दानवीर साहू शान्तिप्रसादजीने वरोंको तिलक लगा कर रुपये नारियल देकर आशीर्वाद दिया था। साहू श्रेयान्सप्रसादजीने

दुर्भाग्यसे मगनको ससुरालका वातावरण अनुकूल नही मिला। पति दुराचारी, शराबी और सास ससुर धार्मिक सस्कारोसे कोरे। घरेलू धन्धो और झगडोमें ही मगनका सारा समय व्यतीत होता रहता था। उचित शिक्षाका प्रबन्ध तो दरकिनार, अवकाशके क्षणोमें शास्त्र-स्वाध्याय भी उचित नही समझा जाता था। वनकी मैना पिजरेमें बन्द हो गई थी!

शादीके ३ वर्ष बाद यानी १६ वर्षकी अवस्थामें मगनके एक पुत्री हुई, वह सारे दुख भूलकर अपनी पुत्रीमें ही मगन रहने लगी, किन्तु १॥ वर्ष की होकर वह भी चलती बनी। मगनको इस मनबहलावके सम्बलके नष्ट हो जानेसे मर्मान्तिक पीडा पहुँची, किन्तु सेठजीके धार्मिक उद्बोधनसे काफी सान्त्वना मिली।

दो वर्ष बाद एक और पुत्रीका लाभ हुआ, किन्तु १६ वर्षकी अवस्थामें मगनका सुहाग लुट गया। इस वज्रपातसे मगनका चित्त विक्षिप्त-सा हो गया। बूढी माँ पछाड खाकर गिर पडी। बूढे सेठजीकी कमर टूट गई, किन्तु उन्होने अपने हृदयके उबालको आँखो तक नही आने दिया। वे इस बहते हुए ज्वालामुखीको चुपचाप पी गये। वे डकराती हुई मगनको अपने साथ बम्बई लिवा लाये और उचित अवसर देखकर सान्त्वना देते हुए बोले—

"मगन, सोच तो सही यदि ससारमें सुख होता तो तीर्थंकर-चक्रवर्ती इसका त्याग क्यो करते? यह तो सदैवसे होता आया है। अपनी

फूलमालाएँ पहनाकर उनकी सुधारक वृत्तिका अभिनन्दन किया था। और जनसमूहने जयघोषके साथ अपनी मंगल-कामनाएँ व्यक्त की थी, इस कल्याणकारी प्रथाका रूढिवादियोंने घोर विरोध किया था और सैकड़ोंकी सख्यामें आततायी जज साहब पर टूट पड़े थे। फिर भी जज साहबने शान्त और अहिंसक बनकर जिस दृढताका परिचय दिया, वैसी दृढता बिरले ही सुधारकोंमें देखनेको मिलती है। काश, यह प्रथा जज साहबने चालू रखी होती तो हज़ारों द्ररिद्र बेटीवालोंका उद्धार होता रहता।

समाजमें एक वर्षसे लेकर तेरी आयु तककी कई लाख विधवाएँ नारकीय यन्त्रणाएँ सहन कर रही हैं। तुझे जीवन-निर्वाहकी चिन्ता और कुटुम्बियों द्वारा दारुण क्लेश पहुँचाये जानेका तो भय नहीं है। हमारी समाजमें तेरी हज़ारों बहनें ऐसी निराश्रिता हैं कि जिन्हें बर्तन माँजने, चक्की पीसने, गोबर थापने, पानी लाने, चर्खा कातने-जैसा कष्टकारक परिश्रम करने पर भी भरपेट भोजन नहीं मिलता। उनके बालक कीडे-मकोडेकी तरह मर जाते हैं। विधवा स्त्रियोंपर उनके देवर, ज्येष्ठ, सास, ससुर, ननद, जिठानी जो अत्याचार ढाते हैं, काम-वासनाके लोग कैसे जाल फैलाते हैं, और निर्दोष अबला भी समाजकी आलोचनाकी किस प्रकार लक्ष्य बनी रहती है? उस ओरसे तू कबतक आँख बन्द किये बैठी रहेगी?

"पाखण्डियों-अत्याचारियों द्वारा तिरस्कृता न जाने कितनी बहनें आत्महत्या करनेपर मजबूर होती है, न जाने कितनी घरसे निष्कासित करके तीर्थोंपर भीख माँगनेको मजबूर कर दी जाती है, न जाने कितनी विधर्मियोंके और वेश्याओंके चगुलमें फँसती हैं, और न जाने कितनी भूखी गायकी तरह खूँटेसे बँधी आँसू बहा रही हैं।

"अपने दुःख-सुखके लिए तो कीट-पतग, पशु-पक्षी भी प्रयत्न करते हैं। यदि मानव भी व्यक्तिगत दुःख-सुखमें आसक्त रहा तो फिर पशु और मानवमें अन्तर ही क्या रह जायगा?

"मगन, तू अपने दुःखको सारे विश्वका दुःख बना ले, तू अपने बहते हुए आसुओंको पीकर अपनी सन्तप्त बहनोंके रिसते हुए नासूरोंपर मरहम लगाना सीख। अपने इस वैधव्यको अपने लिए वरदान समझ। और आज जो तेरी बहनें अज्ञान-अन्धकारोंमे भटक रही हैं, उन्हें सम्यक् मार्ग दिखा दे। सदाचरणका कवच पहनकर ज्ञानका दीप हाथमें लेकर समूचे भारतमें घूम-घूमकर जीवन-ज्योति जला दे बेटी!"

और सचमुच मगनने अपने माथेके सिन्दूरकी तरह आँखोंके आँसू भी पोछ डाले। वह शोकातुर अबला, सबला बनकर शोकातुर अबलाओंके आँसू पोछनेको प्रस्तुत हो गई।

सेठजी महिलाओकी दुर्दशाका कारण शिक्षाका अभाव समझते थे। अत उन्होने मगनके चारो ओर धार्मिक वातावरण बखेर दिया और आदर्श शिक्षाका समुचित प्रबन्ध कर दिया। क्योकि वे जानते थे कि यदि मगनके पास सदाचरण-कवच और ज्ञान-मशाल न होगी तो यह दूसरोका तो उत्थान क्या करेगी, स्वय ठोकर खाकर गिर पडेगी।

मगन अब अपना समस्त समय जिनदर्शन, पूजा, स्वाध्याय और पठन-पाठनमे व्यतीत करने लगी, और थोडे ही दिनोमें अमरकोश, लघुकौमदी न्यायदीपिका, द्रव्यसग्रह, तत्त्वार्थसूत्रका अध्ययन कर लिया। उस समयके प्रसिद्ध विद्वान् प० लालन जब कभी सेठजीके पास आते, मगनको अध्यात्मरसका घण्टो अनुभव कराते।

१८५६ मे मगनका ललिताबाईसे परिचय हो गया[१]। १८५७ मे मगनकी माताका भी देहान्त हो गया। सेठजी ससारमें अकेले रह गये, लेकिन इस दुखको भी वे चुपचाप पी गये। युवा विधवा पुत्रीके सामने उन्हे 'हाय' कहते भी हया आई। अब उन्होने मगनकी माताके कर्तव्यका भार भी अपने ऊपर ले लिया और अपने ध्यानको चारो ओरसे समेटकर मगनको ही अपने जीवनकी साधना बनाकर जीने लगे।

मगनकी माताका जिस वर्ष निधन हुआ, उसी वर्ष आकलूज-शोलापुरमे बिम्बप्रतिष्ठाके अवसरपर बम्बई प्रान्तिक सभाके अधिवेशनमे मगनने पहली बार भाषण दिया।

समाजसेवाकी भावनासे प्रेरित होकर जब श्री सीतलप्रसादजी नौकरी आदिके बन्धनसे मुक्त होकर लखनऊ छोडकर बम्बईमे सेठजीके पास रहने लगे, तब मगनको समाज-सेवाकी बहुत प्रेरणा मिली। उन्होने सीतलप्रसादजीसे---पचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि आध्यात्मिक

१---यह शत्रुञ्जय तीर्थके मुनीम धर्मचन्द्रजीकी भानजी थीं, और बालविधवा थीं। यह भी उन दिनों सस्कृत और धर्मशास्त्रका अभ्यास कर रहीं थीं।

ग्रन्थोका मनन किया, जिससे सस्कृत और धर्मकी योग्यता बढी। स्त्री-शिक्षा-प्रचारके लिए श्री सीतलप्रसादजी मगनको निरन्तर प्रेरणा करते रहते थे कि जब तक स्त्रियोमे शिक्षाका प्रसार नही होगा, उनका उद्धार होना असम्भव है। स्त्री-शिक्षाके लिए गाँव-गाँव और कसबे कसबेमें कन्याशालाएँ खुलवानी होगी, और कन्याशालाएँ तभी खुल सकती है, जब उनमे शिक्षा देनेके लिए आसानीसे अध्यापिकाएँ मिल सके। अत अध्यापिकाएँ तैयार करनेके लिए हमे हर प्रान्तमे महिलाश्रम स्थापित करने होगे, और इसका सूत्रपात अपने यहाँसे प्रारम्भ करना चाहिए।

एक रोज़ प्रात काल मगनके सामने श्री सीतलप्रसादजीने सेठजी को एक घण्टे तक इस सम्बन्धमे समझाया तो सेठजीपर इसका प्रभाव पडा। उन्होने कहा—"आश्रम खोलनेसे पहले यह देखना चाहिए कि कोई विधवा यहाँ आती भी है या नही ? मैं अपने मकानम २-४ कोठरियाँ खाली किये देता हूँ। पत्रोमे नोटिस देकर पढनेवालियोको बुलाओ, उनके खानपान आदिकी सब व्यवस्था हो जायगी।"

मगन बहनको इससे अपार हर्ष हुआ। उन्होने १६ फरवरी १९०६ के जैनगजटमे श्राविकाश्रम खुलनेकी सूचना और महिलाओको ज्ञानोपार्जनके लिए आश्रममे भर्ती होनेका निमन्त्रण छपवा दिया। यही छोटा-सा रूप शनै-शनै इतना विकसित हुआ कि मगन बहनने अपने जीवन-काल में ही इसके लिए ९१९३३॥=)॥ का ध्रौव्य फण्ड एकत्र कर लिया था, जो कि आज भी बैंको और शेयर्समे सुरक्षित है, और इस ध्रौव्य फण्डके ब्याज तथा सामाजिक सहायतासे आश्रमका कार्य्य सुचारु रूपसे चल रहा है।

आश्रमसे सुशिक्षित महिलाएँ, भारतके २७ भिन्न-भिन्न आश्रमो—कन्यापाठशालाओको मगन बहनके जीवनकालमे ही सचालन करने लगी थी। उनकी प्रेरणासे बम्बई–दक्षिण प्रान्तमे १२, राजपूताना-मालवा में ९, मध्यप्रदेश-बरारमे ४, देहली-पजाब प्रान्तमे ५, सयुक्तप्रान्तमें ७, बगाल-बिहारमे २, आश्रम और पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी थी।

स्त्री-सभाओं, आश्रमों, पाठशालाओंका तो एक प्रकारसे सारे भारतमें जाल-सा पुर गया था, जिनकी तालिका देना भी कठिन-सा है !

श्री सीतलप्रसादजी समाजसेवाका व्रत लेकर बम्बई तो पहले ही रहने लगे थे, किन्तु उनका मन तो सर्वस्व त्यागनेको आकुल हो रहा था। कहीं इस शुभोपयोगमें कोई इष्ट-मित्र बाधक न हो जाय, इस भयसे उन्होंने अपना यह संकल्प किसीपर भी प्रकट नहीं होने दिया, और चुप-चाप १३ दिसम्बर १६०६ को सोलापुरमें ऐलक पन्नालालजीके समक्ष सप्तम प्रतिमाधारी त्यागी बन गये। सूर्य अपने तेजको बादलोंमें कितना ही छिपाये, प्रकट हो ही जाता है। मगन बहन उनके वैराग्यमें भीगे हृदय से परिचित थी। उनसे उपदेश श्रवण करते समय, अध्ययन करते समय, उनकी समाज-सेवाकी अहर्निश लगन तथा सामायिक प्रतिक्रमणसे वह भले प्रकार समझ गई थीं कि इस मुमुक्षुको घरमें बाँधकर कोई न रख सकेगा। उसी आशकाने श्री सीतलप्रसादजीके त्यागीवेशके वस्त्र तैयार कर देनेकी उन्हें प्रेरणा की। यह मगन बहनका परम सौभाग्य था कि दीक्षा लेते ही ब्रह्मचारीजीने उनके तैयार किये हुए वस्त्र ग्रहण किये।

फ़रवरी १६१० में सम्मेदशिखरपर पंचकल्याणक महोत्सवके अवसरपर महासभाका भी अधिवेशन हुआ। मेलेमें तीस सहस्र जनता एकत्र हुई। महिलाओंमें श्री पार्वतीदेवी, ललिताबाई, चन्दाबाई, लाज-वन्ती, मगनबाई आदि भी गईं। मगनकी मुख्य प्रेरणासे महिलाओंकी ६ सभाएँ हुई। और तभी अखिल भारतवर्षीय दि० जैनमहिलापरिषद् की स्थापना हुई, जिसकी अध्यक्षा पार्वतीदेवी और मन्त्री मगन बहन चुनी गई।

मगनने तीर्थयात्राओं, मेलेप्रतिष्ठाओं और सभाओके उत्सवोंमें जाकर भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंका भ्रमण किया और महिलाओंमें जागृति उत्पन्न की।

उनके जीवनकालमें भारतके भिन्न-भिन्न भागोंमें महिला परिषद् के २० अधिवेशन अत्यन्त सफलतापूर्वक हुए। उनको इस पुनीत कार्य्य

सेठ देवकुमार

पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ

संस्मरण दो प्रकारका होता है निर्जीव तथा सजीव। जिसके संस्मरणसे सार्वजनीन कार्योंके लिए कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिले, वही निर्जीव संस्मरण है अन्यथा सजीव। मानवरूपमें अवतीर्ण बाबू देवकुमारजीने औदार्यपूर्ण विश्वजनीन कार्योंसे अपनेको अक्षरशः अमर सिद्ध कर दिया है।

भूतकालकी पूर्णताकी पराकाष्ठाको पार किये हुए, अर्थात् आजसे लगभग ५० वर्षकी बातें लिख रहा हूँ, क्योंकि उन दिनों मैं१९-२० सालका नवयुवक था और अब मेरा अगला डग ७० की सीढ़ीपर जमा हुआ है। वस्तुतः ऐसे सजीव संस्मरणके लिए सजीव एवं स्फूर्तिप्रद लेखनीकी ही आवश्यकता होती है, किन्तु उदारहृदय निष्कलंकचरित्र, छात्रकल्प-

वृक्ष, नैष्ठिक एवं शान्तिके एकान्तसेवी अपने आश्रयदाता स्व० बाबू देवकुमारजीके सजीव संस्मरणमें मेरी निर्जीव लेखनी एकाध पंक्ति लिखकर कृतकृत्य होनेसे भला कब बाज आनेवाली है और मैं भी अपनेको भाग्यशाली समझूँगा, पर पाठक इसे मखमलकी तोशक पर मूँजका बखिया ही समझें।

हाँ !!! वह दिन मुझसे भुलाये भी नहीं भूला जा सकता, जिस दिन मैली-कुचैली मिरजई पहने, एक बड़ा-सा गमछा लिए और मलयज चन्दन ललाटपर लेपे हुए मैंने दो तल्लेकी पक्की इमारतके निचले भागके एक कमरेमें श्रीचन्दनमिश्रित केसरके श्रीमुद्रांकित तिलकसे अंकित ललाट-वाले और तांबूल-रसका आस्वादन करते हुए आपको शान्त तथा गंभीर मुद्रामें देखा। बात यह थी कि दो ही तीन महीनेके पितृवियोगसे जर्जर मैं जीविकोपार्जन करनेके लिए आरा आया हुआ था। महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा विद्यावाचस्पतिजी (गुरुवर्य) की शिक्षणशाला (नारायण विद्यालय) में प्रविष्ट भी हो गया था। संस्कृत छात्रोंके अनन्य आश्रयदाता श्री गुरुजीने मेरे भोजनादिका समुचित प्रबन्ध कर दिया था, किन्तु मुझे देनी थी काव्यकी मध्यमा परीक्षा। पुस्तकें मेरे पास थीं नहीं। कई छात्रोंने मुझसे कहा कि "आप बाबू देवकुमारजीकी कोठीमें जाकर उनसे मिलें, वह आपकी पुस्तकें मँगवा देंगे। पढ़नेके निमित्त असमर्थ और होनहार छात्रोंकी अनिवार्य आवश्यकताकी पूर्तिके लिए उन्हें आप आरामें वदान्य-वरेण्य राजा कर्ण ही समझें।" बस, देर अब किस बातकी। मैं कुछ पुष्प लेकर आपकी कोठीको चला। पर छात्रोंसे आपकी सात्त्विक दानशूरताकी प्रचुर प्रशंसा सुनकर मेरे असात्त्विक अन्तः-करणमें समुदित छल-छद्मने आपसे तत्कालीन आवश्यकतासे भी अधिक माँग करनेको मुझे प्रोत्साहित कर दिया। कुछ आशीर्वादात्मक श्लोक पढ़कर दो-एक पुष्प आपके करकमलमें मैंने रख दिये। आपने मेरी ओर देखकर कहा—"आपका घर कहाँ है ? कौन हैं ? कैसे आये ?" इनके उत्तरमें जाति-ग्रामादि कहकर 'कैसे आये ?' इसका उत्तर देते समय

आपकी तेजस्विता पूर्ण आँखोंकी जाज्वल्य ज्योति मेरी तमःपूर्ण आँखोंमें पड़ते ही जिस प्रकार तपोनिष्ठ ऋषियोंके आश्रममें आय हुए हिंसक जीव भी उनके तपःप्रभावसे प्रभावित हो अपनी सहज-हिंसावृत्तिसे विरत हो जाते हैं, उसी प्रकार आप-जैसे आदर्श मानव-मुकुटके मिलनसे मेरी पूर्व-चिन्तित लोभग्रस्ति नौ-दो ग्यारह हो गई और भट अपनी प्रकृत माँग—काव्यकी मध्यमा दे रहा हूँ, पाठ्य पुस्तकें नहीं हैं—आपके समक्ष मैंने प्रस्तुत की। आपने अपने सहज सौम्यभावसे कहा कि "पुस्तकें जहाँ मिलती हों वी० पी० से भेज देनेको लिख दें। वी० पी० आ जानेपर डाकियेको लिये यहाँ आइयेगा—कोठीसे रुपये मिल जायेंगे।" मैंने तत्क्षण जीवानन्द विद्यासागर कलकत्तेको पुस्तकें वी० पी० से भेज देनेको लिख दिया। पुस्तकें यथासमय आ गईं, तथा कोठीसे रुपये भी मिल गये।

अस्तु, अब मेरा अध्ययन सुचारु रूपसे चलने लगा। मेरे गुरुजी आरा-नागरीप्रचारिणी सभाके संस्थापक, मन्त्री या यों कहिए उसके सर्वे-सर्वा थे। हिन्दीके प्रायः सभी समाचारपत्र वहाँ आया करते थे। अतः मुझे भी हिन्दीकी कुछ गन्ध लग गई थी। गुरुजीसे बा० देवकुमारजीकी बड़ी मधुर मैत्री थी। सभाके लिए आर्थिक साहाय्यकी आवश्यकता होनेपर गुरुजी आपसे उसकी पूर्तिकी अपेक्षा करते थे। क्योंकि सार्वजनीन साहाय्यापेक्ष्य कार्योंमें आपकी औदार्यपूर्ण दानधारा बड़े प्रखर वेगसे प्रवाहित होती थी। एक दिन गुरुजीने मुझसे कहा कि "बाबू देवकुमारजीने अपने षष्ठवर्षीय बच्चेको हिन्दी पढ़ानेके लिए मुझसे एक छात्र देनेको कहा है। तुम्हें ही वहाँ भेजनेको मैंने सोचा है। एक पत्र मैं दिये देता हूँ, इसे लेकर तुम उनसे मिलो।"

उन दिनों दुर्दान्त दमेकी व्याधिसे ग्रस्त होनेके कारण आप कोठी छोड़कर सपरिवार अपनी मैनेजरी कोठीमें ही रहा करते थे। मैंने वहीं जाकर गुरुजीका दिया हुआ परिचयपत्र आपको दे दिया। पत्र पढ़कर और मेरी ओर देखकर आपने कहा कि "परीक्षा पास कर ली।" मैंने संकुचित होकर कहा, नहीं श्रीमान्! क्यों? मैंने कहा कि पाँच प्राणीके

भरणपोषणके अस्त-व्यस्तोंसे समुचित अध्ययन नहीं होनेके कारण मैं असफल रहा। कुछ चिन्तित हो ठुड्डीपर हाथ रखकर आपने कहा– "आपके ऊपर परिवार-पोषणका भी भार है? साधारणतया कितनेमें आप अपनी गुजर कर लेते हैं?" मैने कहा कि "दस रुपयेमें।" वस्तुतः मेरे जैसे साधारण व्यक्तिके लिए जब कि पक्की तौलसे १४ सेरका चावल, १३ सेरका आटा, १३ सेर की दाल और १ रु० में पौने दो सेरका घी मिलता था–प्रति व्यक्ति २ रु० मासिक भोजनाच्छादनके लिए पर्याप्त थे। इन दिनों तो प्रतिप्राणीके ३५ रु० पड़ जाते हैं पर भोजनाच्छादन अनुपाततः निकृष्टतम। आपने कहा कि १० रु० के लिए कितने घंटे लग जाते हैं। कहा कि ५-६ घंटे। आपने कहा कि पंडितजीसे मैंने कहा था कि १२ बजे से ४ बजेतक हिन्दी पढानेके लिए एक छात्र दें, जिन्हें १० रु० वेतन मिलेगा। पर मै अब सोच रहा हूँ कि आप १२ से २ ही वजेतक पढायें और १२ रु० मासिक आपको कोठीसे मिलेगा, किन्तु परिश्रम करके इस साल परीक्षा पास कर लें। अन्यथा मै समझूँगा कि आप विद्यार्थी नही प्रत्युत केवल अर्थार्थी हैं। परीक्षा पास कर लेनेपर आपकी वेतनवृद्धि की भी चेष्टा की जायगी। आप आज ही से पढ़ाना प्रारंभ कर दें। मुझे तो मुँहमाँगी-मुराद मिली–मनमें कहा कि मैं आज अपने सौभाग्य-सुरतरुके आश्रयमें आ गया। अस्तु, चि० बड़े बब्बू (बा० निर्मलकुमारजी) बुलाये गये। आप भीतर बँगलेसे निकल आये। अवस्था लगभग आठ सालकी होगी। दुबले-पतले लालिमा लिये हुए तेजस्विताकी प्रतिमूर्ति चि० निर्मलकुमारजीको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। 'यही पं० जी आजसे आपको पढ़ायेंगे–किताब कापी लेते आइये'। बाबू साहबके निकट ही एक क़ालीन बिछी चौकीपर मैं बैठ गया। चि० बड़े बब्बू हिन्दीकी एक पुस्तक और दो-एक कापियाँ लिये मुझ अदृष्टपूर्व अध्यापकको एकटक देखने लगे। मैंने पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। यों मेरा अध्यापन अविच्छिन्न रूपसे चलने लगा। प्रतिदिन आपके निकट मुझे पढ़ाना पड़ता था। भले ही विशेष पढ़े-लिखे न हों, पर ब्राह्मण प्रकृत्या अपनेको वर्ण-

ज्येष्ठ तथा ज्ञानज्येष्ठ समभनेमें भूल नहीं करते थे। अतः मेरी धारणा थी कि बाबू साहब एक बड़े जमीदार हैं। थोड़े-से पढ़े-लिखे होंगे। आपको हिन्दीकी विशेषज्ञता कहाँ ? यही कारण था कि बिना कुछ सोचे-समझे निर्भीकतापूर्वक पढ़ाता था। एक दिन किसी दोहेका अर्थ उल्टा-सीधा पढ़ा रहा था। आप झट टोक बैठे–पं० जी क्या पढ़ा रहे है ? मैंने कहा कि यह दोहा। आपने कहा इसका अन्वय और शब्दार्थ तो कहिये। मैंने जरा सँभलकर अन्वय और शब्दार्थ कह दिया। तब इसका अर्थ क्या होगा ? उसका प्रकृत अर्थ भी मुझसे आपने कहलवा दिया। और कहा कि पहले आपके कथित अर्थसे इस अर्थमें कुछ अन्तर है ? मैंने सकुचित होकर कहा कि मैं अशुद्ध पढ़ा रहा था। मेरे सिरपर मानो सौ घड़े पानी पड़ गये। स्तब्ध और कुण्ठितकण्ठ देखकर मुझे आश्वासन देते हुए आपने कहा कि अध्यापकको छात्रोंको पढ़ानेमें जल्दबाजी नही करनी चाहिए। आप दोहेका अन्वय तथा शब्दार्थ जानते हुए भी इनका सदुपयोग नही कर, शीघ्रतामें मनमाना अशुद्ध अर्थ कर रहे थे। अस्तु, अबसे ऐसी शीघ्रता पढ़ानेमें न करें। मैंने डेरेपर आकर गुरुजीसे यह घटना कही। आपने कहा कि बाबू देवकुमारजी अन्यान्य जमीदारों और कोठीवालोकी तरह गद्दीपर बैठे निरक्षरताका निदर्शन बन हमेशा चापलूसोसे घिरे रहकर अपने जीवनको कृतकृत्य तथा धन्यधन्य समझनेवालोंमेंसे नही हैं। यह एक सुदक्ष, ग्रैजुएट, उर्दू-फ़ारसीके अतिरिक्त हिन्दीके अच्छे मर्मज्ञ हैं। अपने सामाजिक पत्र "हिन्दी जैन गजट" के सफल सम्पादक हैं। जैन महासभाके किसी वार्षिकोत्सवके वह सभापति भी हो चुके हैं, जिनका गवेषणापूर्ण भाषण मैंने जैन पत्रोंमें पढ़ा है। आप पटना ला कालेजमें भी ६-७ महीने तक अध्ययन कर चुके हैं। बा० देवकुमारजी संस्कृतके अधिक जानकार नही होनेपर भी संस्कृतके अनन्य प्रेमी हैं। क्योंकि अपने एकमात्र अनुज बा० धर्मकुमारजीको अंग्रेजीके साथ संस्कृतके एक अच्छे पण्डित रखकर उच्च शिक्षा दिलवाई। बा० धर्मकुमारजी धाराप्रवाह संस्कृत बोलते और लिखते थे। क्योंकि, व्युत्पत्तिके साथ

उन्होंने कौमुदी पढ़ ली थी। ऐसे होनहार एवं १८ वर्षकी उम्रमें ही बी० ए० में पढ़नेवाले अपने दक्षिण भुजतुल्य भाईकी अप्रत्याशित मृत्यु हो जानेके कारण बा० देवकुमारजीके स्वास्थ्यको बड़ा गहरा धक्का लगा है। इनका उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख स्वास्थ्य देखकर भावी दुर्घटनाकी चिन्ता हम मित्र-मण्डलीको सदा डाँवाडोल किये रहती है। संस्कृत पंडितों तथा छात्रोंके लिए देववृक्षप्रतिम बा० देवकुमारजी स्वास्थ्य-सम्पन्न होकर चिरायुष्मान रहें, यही शुभ कामना सबोंके अन्तस्तलमें सदा जागरूक रहती है। इनकी दृष्टान्तभूत चरित्रनिर्मलता, सत्यवादिता, सहृदयता, विद्यारसिकता एवं परदु:खकातरता आरा अग्रबाल मण्डलीको ही नहीं, प्रत्युत बड़े-से लेकर छोटे तक सर्वसाधारण जनताको इनमें सच्ची श्रद्धा प्रकट करनेको विवश किये रहती है। तुम अपना अहोभाग्य समझो कि इनके आश्रयमें पहुँच गये। तुम्हें २ घंटेके ४ रु० के बदले १२ रु० मासिक छात्रवृत्ति दे रहे है न कि पाठनवृत्ति।

मेरा अध्यापन अबाध गतिसे चलने लगा, एवं गुरुजीसे बाबू साहबका प्रकृत परिचय पा और गुणवर्णन सुनकर मैं बड़ा ही प्रभावित हुआ तथा साथ ही अब आपको बहुत निकटसे देखने भी लगा। आपके यहाँ अन्यान्य विषयोंके विद्वानोंका भी समागम रहता था। कभी किसी मौलवीको हाथमें तसवीर लिये बातें करते देखता था तो कभी किसी पण्डितको तात्त्विक विचार करते। मयूरपिच्छधारी कौपीनी जैन साधुओंके आगे तो भक्तिविह्वल एवं प्रणत मैंने आपको अनेक बार देखा था। हाँ, आरा के आस ही पास रहनेवाले पं० मुरलीधर शर्मा नामक एक अच्छे नैयायिक विद्वान् सदा आपके पास रहा करते थे। जब-तब बाबू साहबको पं० जीसे शास्त्रीय विचार-विनिमय करते भी मैं देखता था। पं० जी बड़े ही निःस्पृह, चिन्तनशील, आध्यात्मिकतासे ओत-प्रोत तथा ज्ञानगरिमासे गंभीर प्रकृतिके जान पड़ते थे, किन्तु दुःखकी बात है कि पण्डितजीने अपने लिए "व्याघ्रचर्मावृत शृगाल' की लोकोक्तिको ही चरितार्थ कर दिखाया। क्योंकि कालान्तरमें मुझे ज्ञात हुआ कि पं० जीके गाँवके निकट

ही बाबू साहबके सैकड़ों बीघे जीरातके खेत हैं। 'दर्शनशास्त्रकी पाठ-शाला खोलकर मैं निश्चिन्त हो घरपर ही छात्रोंको पढ़ाना चाहता हूँ' यह कहकर आपसे ५० बीघे ज़मीन उन्होंने वृत्ति रूपमें लिखवा ली, जिसका मूल्य कमसे कम ५० हज़ार रुपये होता है, किन्तु प्रस्तावित पाठशाला अपने रूपमें न रहकर पं० जीके परिवार-पोषणमें ही परिणत हो गई। अन्तमें पं० जीने बहुत दिनों तक पागल होकर बड़े कष्टसे ऐहिक लीला समाप्त की। किसीने सच कहा है–"धोखा खाना कही अच्छा है, धोखा देनेकी अपेक्षा।"

बाबू साहबमें एक अपूर्वता मैंने यह देखी कि आप कभी हँसते नही थे। आपसे बातें करते अन्यान्य शिक्षित समुदायको प्रसंगानुसार ठहाका लगाते मैं भले ही देख लूं। हाँ–पण्डिताचार्य स्वामी नेमिसागर वर्णीके साथ जब धार्मिक बातें छिड़ जाती थीं तो हास्यप्रसंगपर कभी-कभी आपके प्रशान्त मुखमंडलपर स्मितमुद्राकी एक क्षीण रेखा बिजली-सी कौंध जाती थी। वस्तुतः हमारे पण्डिताचार्य वर्णीजी महाराज विशुद्ध वीर, करुण, हास्य एवं शान्तरसका अवतरण करनेमें सिद्धहस्त हैं। आप ही जैसे कर्मठ सच्चे साधुओंकी समाजको आवश्यकता है।

मैं ऊपर एक जगह कह आया हूँ कि आप सार्वजनीन कार्योंमें भाग लेना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। ऐसी दशामें अमर भाषा संस्कृत की दौहित्री, प्राकृतकी पुत्री तथा अन्यान्य अपभ्रंश भाषाओंकी सहेली आर्यभाषा हिन्दीकी ओर आपकी सदय दृष्टि होनी अस्वाभाविक बात नही थी। उन दिनों गुरुजीके सम्पादनमें आरा नागरीप्रचारिणी सभासे पुस्तकें प्रकाशित होती थी। तर्कशास्त्र नामकी भी एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। एक बार सभामें एक विशेष बैठकका आयोजन हुआ था। उस बैठकमें सम्मिलित हो आपने उक्त पुस्तकके लेखकको एक सुवर्णपदक-से पुरस्कृत कर सम्मानित किया था। युगोंकी बात है, पूज्य गुरुजीके मुंहसे मैने सुना था कि जिस समय बाबू देवकुमारजी मृत्युशय्यापर पड़े हुए अन्यान्य अपनी संस्थाओंके लिए निर्बाध स्थायी रूपसे मिलनेवाली

मासिक वृत्तिके निमित्त अपनी लाखोंकी भू-सम्पत्ति अन्तिमवृत्ति दानपत्र (EndoWment) में लिखवाकर उसे राजमुद्रांकित (Registered) कर रहे थे, उस समय उन्होंने आरा ना० प्र० सभाको भी याद कर मुझे बुलवाया था, किन्तु पार्श्ववर्ती लोगोंने टालमटूल कर दिया। अन्यथा सभाके लिए भी कुछ न कुछ मासिक वृत्तिकी स्थायी व्यवस्था अवश्य कर देते। जो हो, आपकी अन्तिमावस्थाकी सच्चेष्टाने हिन्दीकी व्यापकता तथा प्रामाणिकताके प्रसारके लिए अलक्षित रूपसे अमूल्य तथा असीम "जैन सिद्धान्त भवन" (The Centrai Jain Oriental Library) में इकट्ठा रक्खा है। यहाँ हिन्दीके प्राणस्वरूप अपभ्रंशकी अपूर्व निधियाँ संचित हैं, जो देशी भाषाओंकी एक सबल शृंखला है। साथ ही इस "जैन सिद्धान्त भवन" को प्राक्कालीन विषयकोविदोंकी जिज्ञासा-पिपासाकी परितृप्तिके लिए उनके साध्यकी सिद्धिका असाधारण साधन समझना कोई अत्युक्ति नही कहा जायगा।

आप धार्मिक शिक्षा तथा संस्कृत-प्रसारके प्रबल पक्षपाती थे। क्योंकि आपने बच्चोंको धर्मशिक्षापूर्वक संस्कृत पढ़ानेके निमित्त पं० लालारामजी शास्त्री (संभवतः किसी प्रतिमा विशेषकी दीक्षा लेनेसे अब आपका परिवर्तित नाम ज्ञानानन्दजी है) को बड़े आग्रहके साथ बुलाकर सम्मानपूर्वक रक्खा था। चौबीसों घंटे शास्त्रीजीकी ही देखरेखमें रहकर दोनों बच्चे कातन्त्र व्याकरण पढ़ते तथा धर्मशिक्षा ग्रहण करते थे। आपकी हार्दिक इच्छा रहती थी कि आराकी जैन जनता अपनी सामाजिक रीति-नीतिकी विशुद्ध परम्पराका पालन करनेमें कभी शिथिलता नहीं आने दे। क्योंकि आप कहा करते थे कि अपने धर्मका मर्म नहीं जानने एवं दैनिक कार्य-क्रममें धर्मको प्राधान्य नही देनेसे भारतीयताकी समुज्ज्वल प्रभा सदाके लिए निर्वाणप्राय हो जायगी। अंग्रेज़ी-दाँ लोगोंसे बातें करनेमें बड़ी दृढ़ता एवं निर्भीकतासे कहा करते थे कि भारतवर्षकी आध्यात्मिकता एवं संस्कृतिके सुललित सुवर्णसूत्रको पाश्चात्यशिक्षा-दीक्षित बहुसंख्यक भारतीय अपने कन्धेसे उतार फेंकनेमें ही अपनी नव्य भव्यता

तथा आत्मसम्मानवृद्धिकी समुचित सुव्यवस्था समझते हैं। सच बात तो यह है कि पूर्वपुरुषोंके सुसंस्कार अथवा कुसंस्कार आगे आनेवाली पीढ़ियोंमें अलक्षित रूपसे संक्रान्त होते रहते हैं। और उन संस्कारोंका ह्रास अथवा विकास मात्रानुसार हुआ करते हैं। आपके पितामह बाबू प्रभुदासजी संस्कृतके मर्मज्ञ तथा धर्मप्रवण व्यक्ति थे। यह रहस्य मुझे तब ज्ञात हुआ जब मैं "जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा" में पुस्तकालयाध्यक्षके पदपर रहकर स्वर्गीय सेठ पद्मराज रानीवालेके सम्पादनमें भवनसे निकलनेवाले "जैन सिद्धान्त भास्कर" में निर्जीव-सी कुछ तुकबन्दियाँ दिया करता था। उसमें आदिपुराणके मंगलाचरण और प्रशस्ति भी मुझे देनी पड़ी। भवनमें संरक्षित आदिपुराणकी प्रति बड़ी जीर्ण-शीर्ण थी। उसे बार-बार उलटते-पुलटते मुझे देखकर बाबू साहबके पू० मामा बाबू बच्चूलाल जीने कहा कि पण्डितजी आदिपुराणकी इसी प्रतिका चि० निर्मलकुमारके प्रपितामह बाबू प्रभुदासजी प्रतिदिन स्वाध्याय करते थे, और सब लोग उन्हें पण्डित कहा करते थे। यही कारण है कि परम्परागत यह संस्कार उत्तरोत्तर विकासोन्मुख दृष्टिगोचर हो रहा है।

एक उल्लेखनीय बात मैं भूल ही रहा हूँ। बात यह थी कि काशीकी यशोविजय श्वेताम्बर जैन पाठशालाके अधिष्ठाता परम विद्वान् श्री धर्मविजय सूरिजी महाराज पाठशालाके १५-२० छात्रों तथा एक व्याकरणाध्यापकके साथ आरामें पधारे थे। यहाँ आपका शुभागमन कैसे हुआ था, यह मुझे ज्ञात नहीं। क्योंकि आरामें श्वेताम्बर साधु एक भी नहीं था। बहुत संभव है कि धार्मिक भावनासे ओत-प्रोत बाबू साहब आराकी जनताको कृतार्थ करनेके लिए श्री सूरिजी महाराजको आग्रहपूर्वक यहाँ लिवा लाये हों। आप ही सूरिजी महाराजके अनन्य आतिथ्य थे। श्री सूरिजी चार-पाँच दिनों तक यहाँ रह गये थे। एक बड़े भारी जैनाचार्य आये हुए हैं, नगरमें इसकी बड़ी धूम थी। श्री शान्तिनाथजीके विशाल मन्दिरके सुविस्तृत प्राङ्गणमें प्रतिदिन आपका प्रवचन होता था, जिसका सदुपयोग जैन-मंडली बड़ी श्रद्धासे करती थी। श्री सूरिजीके

विदाईके दिन बाबू साहबने पू० गुरुजीको भी बुलाया। आपका अन्तेवासी मैं भला क्यों नहीं साथमें रहता? आपने श्री सूरिजीसे परिचय दिया कि हमारे यह पं० जी बिहारके गण्य-मान्य विद्वानोंमें हैं। और हम सबोंका सौभाग्य है कि आप यहींके रहनेवाले हैं। सूरिजीने अपनी सहज शान्तिशीलताकी सुधाधारा प्रवाहित करते हुए जैनदर्शन तथा षड्दर्शन सम्बन्धी विचार-विनिमय करके कहा कि आप जैसे सद्विवेचक विद्वान् ही जैनदर्शनके स्याद्वाद सिद्धान्तके प्रति जो अन्यान्य ब्राह्मण विद्वानोंके हृदयमें भ्रान्त धारणा घर कर गई है उसे दूर कर सकते हैं। अन्तमें गुरुजीसे आपने कहा कि मेरे साथमें कुछ छात्र आयें हुए हैं। इनकी आप परीक्षा लें। गुरुजी प्रत्येक छात्रसे पाठ-विषयक मार्मिक बातें पूछकर उनके संतोषजनक उत्तरसे अत्यधिक प्रभावित हुए। अन्तमें सब छात्रोंको "राजते महती सभा" यह समस्यापूर्ति करनेको दी। सबोंने बहुत शीघ्र भावपूर्ण समस्यापूर्ति करके दे दी, किन्तु प्रज्ञाचक्षुजीने सब पूर्तियोंसे विशिष्ट वीररसाप्लुत ओजोगुणगर्भित अपनी सुन्दर पूर्ति सिंहनाद स्वरमें कह सुनाई। गुरुजीने सूरिजीसे कहा कि प्रज्ञाचक्षु कालान्तरमें बड़े अपूर्व विद्वान् होंगे। यह दिव्य दृश्य देखकर उस समय बा० देवकुमारजीका रोम-रोम मानो हर्ष-गद्गद, भक्तिविह्वल एवं तन्मय-सा हो रहा था। ज्ञात होता था कि आपकी धर्मप्रवणता तथा विद्यारसिकता रूपी उत्ताल तरंगमय समुद्र अपनी मर्यादाका अब उल्लंघन करना ही चाहता है। अन्तमें आपने प्रचुर मात्रामें बहुत मूल्यवान् द्रव्यादिसे सभी छात्रों और अध्यापक महोदयको पुरस्कृत कर अपनी अनुत्तर उदारता एवं वीतरागताका परिचय दिया। अन्ततोगत्वा आपके भक्तिभरित तथा सात्त्विक आतिथ्य-सत्कार और नैष्ठिकतासे परम प्रसन्न एवं प्रभावित होकर सूरिजीने कहा कि बा० देवकुमारजी बड़े ही निश्छल एवं दूरदर्शी जैन धर्मात्मा हैं। यदि अन्यान्य धनी-मानी जैनी भी आप ही के समान धर्म और विद्याके प्रचारसे समाजोत्थानकी चेष्टा करें तो जैनधर्मका महत्त्व व्यापकताको धारण कर ले और "जैन" शब्दके पीछे जो

श्वेताम्बर और दिगम्बर ये मतभेदसूचक शब्द जुड़े हुए है–कालान्तरमें निरर्थकसे जान पड़ने लगें।

दक्षिण प्रान्त हिन्दू और जैनधर्मका एक दुर्लङ्घ्य दुर्ग-सा है। अथवा सनातन भारतीय संस्कृतिका एक जीता-जागता मूर्त्त प्रतीक उसे कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नही होगी। मेरे संस्मरणीय बाबू साहब अपने प्रभविष्णु भ्राताके निधनजन्य औदासीन्यसे उद्भ्रान्त-से हो दक्षिण-तीर्थयात्राकी धुनमें लग गये और अविलम्ब स्वजन परिजन दल-बलके साथ सपरिवार यात्राको निकल पड़े। साथ ही वहाँ स्वामी नेमि-सागरजी वर्णीका सम्मिलन सोनेमें सुगन्धका काम कर गया। वहाँ आप-की दर्शनीय वस्तुओंमें प्राथमिकता थी शास्त्र-भाडार की। धर्मकी ज्ञानगरिमाका अनन्य साधन शास्त्रोंको दीमक, कीड़ों-मकोड़ोका खाद्यान्न बनते देखकर आपके रोंगटे खड़े हो गये। दक्षिणके शास्त्र-भाण्डारके अधिपति शास्त्रोका दर्शन कराना शास्त्रापमान समझते थे, किन्तु बहुत अनुनय-विनय करने तथा वर्णीजीके सहयोगसे शास्त्रोके दर्शन करनेमें आपको अधिक अड़चन नही पडी। जिस जैनधर्मका "देव, शास्त्र, गुरु" इन त्रिदेवोके अतिरिक्त दूसरा कोई आधार है ही नही, उसके एक महत्त्व-पूर्ण सर्वोत्तम अंग (शास्त्र) की ध्वंसोन्मुखता देखकर भला किस धर्मात्मा का हृदय नही दहल उठेगा? अस्तु, भाण्डारोमे अरक्षित शास्त्रोकी अपनी ओरसे अलमारियों तथा वेष्टनके कपड़ेका पर्याप्त प्रबन्ध कर वहाँ तात्का-लिक रक्षाकी व्यवस्था अपनी ओरसे आपने कर दी। दक्षिण प्रान्तस्थ सभी शास्त्रागारोंको आपने छान डाला। जहाँ जैसी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति कर शास्त्ररक्षा करना ही एकमात्र ध्येय अपना बनाते हुए तीर्थप्रवाससे आप लौटे, किन्तु स्वास्थ्य आपका साथ देनेसे विरक्त हो चला। अतः मृत्युमहोत्सवका दिवस निकटस्थ देखकर शास्त्ररक्षा-विषयक अपना अन्तिम उद्गार निम्नांकित रूपमें प्रकट किया, जो भवनमें संर-क्षित आपके चित्रके नीचे अंकित है–

"आप सब भाइयोंसे और विशेषतया जैन-समाजके नेताओंसे

मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शास्त्रों और मन्दिरों और शिला-लेखोंकी शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिए क्योंकि इन्हींसे संसारमें जैनधर्मके महत्त्वका अस्तित्व रहेगा। मैं तो इसी चिन्तामें था, किन्तु अचानक काल आकर मुझे लिये जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जबतक इस कार्यको पूरा न कर दूंगा, तब तक ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा। बड़े शोककी बात है कि अपने अभाग्योदयसे मुझे इस परमपवित्र कार्यके करने-का पुण्य प्राप्त नहीं हुआ, अब आप ही लोग इस पवित्र कार्यके स्तम्भ-स्वरूप हैं, इसलिए इस परम आवश्यक कार्यका सम्पादन करना आप सबका परम कर्तव्य है।"

यह भीष्मप्रतिज्ञा आपने तीस वर्षकी अवस्थामें की थी। जैन-समाजके प्रति आपका यह कारुणिक अतएव मार्मिक निवेदन पढ़कर मुझे रामवनवासकी बात याद आ जाती है। अवध-नरेश राजा दशरथकी आज्ञासे राम, सीता और लक्ष्मणको सुमन्तने रथमें बैठाकर वनमें पहुँचा दिया है। वटवृक्षके नीचे राजवेश-भूषाका परित्याग कर वटक्षीरसे रामचन्द्रजी अपनी तथा लक्ष्मणजीकी जटाकी रचना कर तपस्वी वेषकी सज्जासे सज्जित होने लगे। उस समय वृद्ध सचिव सुमन्तजीने यह दुर्दृश्य देखकर कहा था "हा! हन्त! दुर्दैव!!! जिन रघुवंशी राजाओंने चौथेपनमें राज्य-शासनभार अपने पुत्रोंको सौंपकर संन्यास निमित्त वनका आश्रय लिया था, उसी रघुकुलके ये नवांकुर दुधमुँहे बच्चे वनमें तपस्वियों-जैसा बाना बनाकर रह रहे है।" मैं जैन सिद्धान्त-भवनमें वर्षों लगातार लायब्रेरियनके पदपर रह चुका हूँ। तीर्थयात्रियोंमें बहु-संख्यक जैन यात्री भवनमें आपके चित्रके नीचे समुद्धृत आपका हृदय-द्रावक मार्मिक निवेदन पढ़कर रो पड़ते थे, और विवश हो मेरी भी आँखें भर आती थी।

बाबू साहब बड़ी अबोधावस्थामें अपने दोनों बच्चोंको छोड़ गये थे, किन्तु बाघके बच्चोंको सिखावे कौन? यह जनश्रुति चरितार्थ

हो रही हैं। आपके चि० पुत्र और पोते आपकी लक्ष्यसिद्धिके लिए अथक परिश्रम कर रहे हैं। इसके निदर्शनरूप आपके नामका देवाश्रम नामका सुविशाल प्रासाद तथा जैन सिद्धान्त-भवनका भव्य भवन ही पर्याप्त है। आपकी अनुजवधू ब्रह्मचारिणी पण्डिता चन्दाबाईजीने तो जैन बाला-विश्राम द्वारा आपकी कीर्तिमें चार चाँद लगा दिये हैं। सच पूछिए तो बा० देवकुमारजीकी वैद्युतरूप चेष्टासे सबके सब अनुप्राणित हो रहे हैं।

—ज्ञानोदय काशी,
अगस्त १९५१

जन्म— १८७७ ई०

स्वर्गवास— १० अगस्त १९२३ ई०

सेठ जम्बूप्रसाद जैन रईस

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

"सारा समाज सो जाय कोई साथ न दे तब भी म लडूगा !"
राज्यन सम्मेदशिखरजीका तीथ श्वताम्बर समाजको बच दिया था और उससे तीन प्रश्न उभर आय थ। श्वताम्बरोका आग्रह था कि हम दिगम्बरोको इस तीथकी यात्रा न करन देंग यह दिगम्बरियोका घोर अपमान था यह पहला प्रश्न। राज्यको तीथ बचनका अधिकार नही है क्योकि तीथ कोई सम्पत्ति नही ह यह दूसरा प्रश्न। और तीथ के सम्बन्धमें दिगम्बरोके अधिकारका प्रश्न।

दिगम्बर समाजका हरक आदमी बचैन था पर कोरी बचनी क्या करगी ? यहाँ तो आग बढकर एक पूरा युद्ध सिरपर लनकी बात थी उसके लिए प्राय कोई तैयार न था। इतन विशाल समाजमें एक सिर उभरकर उठा एक कदम आग बढा और एक वाणी सबके कानोमें प्रति ध्वनित हुई—

सारा समाज सो जाय कोई साथ न दे तब भी म लडूगा। यह दिगम्बर समाजके जीवन मरणका प्रश्न है। म इसकी उपक्षा नही कर सकता !

यह सहारनपुरके प्रख्यात रईस ला० जम्बूप्रसादजीकी वाणी थी, जिसने सारे समाजमें एक नवचेतनाकी फुहार बरसा दी । मीठे बोल बोलना भले ही मुश्किल हो, ऊँचे बोल बोलना बहुत सरल है । इस सरलता-में कठिनताकी सृष्टि तब होती है, जब उनके अनुसार काम करनेका समय आता है । लालाजीने ऊँचे बोल बोले और उन्हें निबाहा, ५० हज़ार चाँदीके सिक्के अपने घरसे निकालकर उन्होंने खर्च किये और श्री ला० देवीसहायजी फीरोज़पुर-निवासी एवं श्री तीर्थक्षेत्र कमेटी बम्बईके कन्धेसे कन्धा मिलाकर पूरे ढाई वर्ष तक रात-दिन अपनेको भूले, वे उसमें जुटे रहे और तब चैनसे बैठे, जब समाजके गलेमें विजयकी माला पड़ चुकी ।

मुक़दमेके दिनोंमें ही उनकी पत्नीका भयंकर आपरेशन हुआ । मृत्यु सामने खड़ी थी, जीवन दूर दिखाई देता था, सबने चाहा कि वे पास रहें, पर उन्हें अवकाश न था, वे न आये । यह उनकी धुन, उनकी लगन की एक तस्वीर है, बहुत चमकदार और पूजाके लायक़, पर यह अधूरी है, यदि हम यह न जान लें कि तब लाला जम्बूप्रसाद किस स्थितिमें थे, जब समाजके अपमानका यह चैलेंज उन्होंने स्वीकार किया था ।

सन् १८७७ में जन्मे और १६०० में इस स्टेटमें दत्तक पुत्रके रूप में आये । तब वे मेरठ कालिजके एक होनहार विद्यार्थी थे । १८६३ में उनका विवाह हो गया था, पर विवाहका बन्धन और इतनी बड़ी स्टेटकी प्राप्ति उनके विद्या-प्रेमको न जीत सकी और वे पढते गये, पर कुटुम्बके दूसरे सदस्य स्टेटके अधिकारी बनकर आये और मुक़दमेबाज़ी शुरू हुई । यह जीवन-मरणका प्रश्न था, कॉलेजको नमस्कारकर वे इस संघर्षमें आ कूदे और १६०७ में विजयी हुए । स्व० पण्डित मोतीलाल नेहरू प्रिवी-कौंसिलमें आपके वकील थे और आपकी विजय, किसी विवाहित युवाके दत्तक होनेकी पहली नज़ीर थी । यह विजय बहुत बड़ी थी, पर बहुत मँहगी भी । स्टेटकी आर्थिक स्थितिपर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था और आप उसे सँभाल ही रहे थे कि शिखरजीका आह्वान आपने स्वीकार कर लिया ।

हमने ला० जम्बूप्रसादजीको नही देखा, पर इस सारी स्थितिकी हम सही-सही कल्पना करते है, तो एक दृढ़ आत्माका चित्र हमारे सामने आ जाता है। आँधियोंमें अकम्प और संघर्षोंमें शान्त रहनेवाली यह दृढ़ता, परिस्थितियोंकी ओर न देखकर, लक्ष्यकी ओर देखनेवाली यह वृत्ति ही वास्तवमें जम्बूप्रसाद थी, जो लाला जम्बूप्रसाद नामके देहके भस्म होनेपर भी जीवित है, जागृत है, और प्रेरणाशील है।

इस तस्वीरका एक कोना और हम झाँक लें। अबतक देखे तीनों कोनोंमें गहरे रंग है, दृढ़ताके और अकम्पके, पर चौथे कोनेमें बड़े 'लाइट कलर' है—हल्के-हल्के झिलमिल और सुकुमार।

धर्मके प्रति आस्था जीवनके साथ लिये ही जैसे वे जन्मे थे। कॉलेज में भी स्वाध्याय-पूजन करते और धर्म-कार्योंमें अनुरक्त रहते। कॉलेजमें उन्हें एक साथी मिले ला० घूमसिह। ऐसे साथी कि अपना परिवार छोड़कर मृत्युके दिन तक उन्हीके साथ रहे। ला० जम्बूप्रसादके परिवारमें इसपर ऐतराज़ हुआ, तो बोले—मै यह स्टेट छोड़ सकता हूँ, घूमसिहको नही छोड़ सकता, और वाक़ई जीवनभर दोनोंने एक दूसरेको नहीं छोड़ा।

दत्तक पुत्रोंका सम्बन्ध प्रायः अपने जन्म-परिवारके साथ नही रहता, पर वे बराबर सम्पर्कमें रहे और सेवा करते चले। अपने भाईकी बीमारीमें १०० रु० रोज़पर वर्षों तक एक विशेषज्ञको रखकर, जितना खर्च उन्होंने किया, उसका योग देखकर आँखें खुली ही रह जाती हैं!

१६२१ में, अपनी पत्नीके जीवनकालमें ही आपने ब्रह्मचर्यका व्रत ले लिया था और वैराग्यभावसे रहने लगे थे। अप्रैल १६२३ में वे देहली-की बिम्बप्रतिष्ठामें गये और वहाँ उन्होंने यावन्मात्र वनस्पतिके आहार-का त्याग कर दिया। जून १६२३ में उन्होंने अपने श्रीमन्दिरकी वेदी-प्रतिष्ठा कराई और इसके बाद तो वे एकदम उदासीन भावसे सुख-दुःखमें समता लिये रहने लगे।

आरम्भसे ही उनकी रुचि गम्भीर विषयोंके अध्ययनमें थी—कॉलेज में बी० ए० में पढ़ते समय, लॉजिक, फिलासफी और संस्कृत साहित्य

उनके प्रिय विषय थे। अपने समयके श्रेष्ठ जैन विद्वान् श्री पन्नालालजी न्यायदिवाकर सदैव उनके साथ रहे और लालाजीका अन्तिम समय तो पूर्णतया उनके साथ शास्त्रचर्चामें ही व्यतीत हुआ।

उनकी तेजस्विता, सरलता और धर्मनिष्ठाके कारण समाजका मस्तक उनके सामने झुक गया और समाजने न सिर्फ़ उन्हें 'तीर्थभक्त-शिरोमणि' की उपाधि दी, अपना भी शिरोमणि माना। अनेक संस्थाओं-के वे सभापति और संचालक रहे और समाजका जो कार्य कोई न कर सके, उसके करनेकी क्षमता उनमें मानी जाने लगी।

समाजकी यह पूजा पाकर भी, उनमें पूजाकी प्यास न जगी। उन्होंने जीवनभर काम किया, यशके लिए नहीं, यह उनका स्वभाव था, बिना काम किये वे रह नहीं सकते थे। उनकी मनोवृत्तिको समझनेके लिए यह आवश्यक है कि हम यह देखें कि सरकारी अधिकारियोंके साथ उनका सम्पर्क कैसा रहा?

उनके नामके साथ, अपने समयके एक प्रतापी पुरुष होकर भी, कोई सरकारी उपाधि नहीं है। इस उपाधिके लिए खुशामद और चापलूसी-की जिन व्याधियोंकी अनिवार्यता है, वे उनसे मुक्त थे। उनके जीवनका एक क्रम था—आज तो सरकारी अधिकारी ही अपने मिलनेका समय नियत करते हैं, पर उन्होंने स्वयं ही सायंकाल ५ बजेका समय इस कार्यके लिए नियत कर रक्खा था। ज़िलेका कलक्टर यदि मिलने आता, तो उसे नियमकी पाबन्दी करनी पड़ती, अन्यथा वह प्रतीक्षाका रस लेनेके लिए बाध्य था।

लखनऊ दरबारमें गवर्नरका निमन्त्रण उन्हें मिला। उन्होंने यह कहकर उसे अस्वीकृत कर दिया कि मैं तो ५ बजे ही मिल सकता हूँ, विवश, गवर्नर महोदयको समयकी ढील देनी पड़ी। आजके अधिकांश धनियों का नियम तो दारोगाजीकी पुकारपर ही दम तोड़ देता है। कई बार उन्हें ऑनरेरी मजिस्ट्रेट बनानेका प्रस्ताव आया, पर उन्होंने कहा—"मुझे

अवकाश ही नही है।" यह उनके अन्तरका एक और चित्र है, साफ़ और गहरा।

१० अगस्त १९२३ को वे यह दुनिया छोड़ चले। मृत्युका निमन्त्रण माननेसे कुछ ही मिनट पहले उन्होंने नये वस्त्र बदले और भूमिपर आनेकी इच्छा जताई। उन्हें गोदमें उठाया गया और नीचे उनका शव रखा गया। जीवन और मृत्युके बीच कितना संक्षिप्त अन्तर। ला० जम्बूप्रसाद, एक पुरुष, संघर्ष और शान्ति दोनोमें एक रस ! वे आज नही है, किन्तु उनकी भावना आज भी जीवित है।

—अनेकान्त १९४३

जन्म— वि० सं० १६२६

स्वर्गवास— वि० सं० १६७५

सेठ मथुरादास टड़ैया

श्री 'तन्मय' बुखारिया

'आपका नाम ?'

'. . . . .'

'निवास-स्थान ?'

'ललितपुर ।'

'ललितपुर ? कौन-सा ललितपुर ?'

'ललितपुर, जिला झाँसी ।'

'जिला. . .आ . .आ झाँसी ई. . .ई, सेठ मथुरादासका ललितपुर ?'

अब मेरी बारी थी । साश्चर्य मैंने उत्तर दिया—'सेठ मथुरादास ? सेठ मथुरादासको तो मै जानता नही । आप शायद किसी दूसरे ललितपुरकी बात कह रहे हैं ?'

'खैर, होगा । आप जाइए । कमरा न० ११ खाली है, उसमें सामान रख लीजिए ।'

उस समय मेरी आयु लगभग १६-१७ वर्षकी रही होगी । बात इन्दौरकी एक धर्मशालाकी है । कमरा प्राप्त करने जब मै व्यवस्थापक के पास गया, उस समय जो बातें हुईं, वही ऊपर अंकित है । उस समय मेरा ज्ञान, अनुभव और परिचय आदि इतना अत्यल्प था कि यदि मैं सेठ मथुरादासको नही जान सका तो यह उचित तथा स्वाभाविक ही था । किन्तु, 'नही जानता', उस समय यह मैंने कह तो दिया, पर मेरे सहज जिज्ञासु और कुतूहलप्रिय हृदयमें, सेठ मथुरादासजीके प्रति परिचयेच्छा अवश्य ही अंकुरित होकर रह गई और उसीका परिणाम है यह लेख । आखिर कौन है ये सेठ मथुरादास, जिनके नामसे ही ललितपुरको लोग जानने लगे हैं, इस कौतूहलने मुझे शान्त नही रहने दिया और इसीलिए

जब यात्रासे घर वापिस आया तो यथावसर और यथाप्रसंग मैंने बड़े-बुजुर्गोंसे पूछ-ताछ प्रारम्भ की। उत्तर-स्वरूप उनसे जो कुछ सुननेको मिला, वह आज भी मेरे सश्रद्ध हृदयकी चिर-स्मरणीय निधि है, और आज जब कि मुझमें इतनी समझ आ गई है कि मै 'हिन्दुस्तान, गाँधीका हिन्दुस्तान', इस उक्तिमें निहित भावको जल्दी ही ग्रहण कर लेता हूँ, तब सोचता हूँ कि सेठ मथुरादासजीसे सम्बन्धित यह जन-कथन, 'ललितपुर, सेठ मथुरादासजीका ललितपुर', क्या ऐसी ही बड़ी उक्तियोंका छोटा संस्करण नहीं है। गाँधीके नामसे, संसार हिन्दुस्तानको जानता है, पर क्या यह भी सच नही है कि मेरे छोटे-से ललितपुरको लोग सेठ मथुरादास के नामसे जानते है ?

× × ×

इकेहरा-छरेहरा शरीर, ठिगना क़द, ऊँचा और चौड़ा ललाट, गोरा रंग, दोनों आँखोंके आकारमें इतना कम और सूक्ष्म अन्तर कि वह दोष न होकर कटाक्ष बन गया। पहनावेमें महाजनी ढंगकी बुन्देलखंडी धोती अथवा सराई (चूड़ीदार पायजामा), तनीदार अँगरखा, सिरपर मारवाड़ीसे सर्वथा भिन्न बुन्देलखंडी लाल पगड़ी, गलेमें सफ़ेद दुपट्टा। स्वभाव, मानो मोम और पाषाण—दोनोंका सम्मिश्रण। क्षण भरमें सावेश, क्षण भरमें करुण। बादाम या नारियलकी भाँति ऊपरसे कठोर, भीतरसे कोमल—अन्तःसलिल, पाषाणके नीचे प्रवहमान निर्झर। बिना गाली दिये बात नही करेंगे, किन्तु गाली वह जो शब्दोंसे तो गाली लगे किन्तु भावनामें आशीर्वाद-सी। स्वभावकी इस अप्रियकर विशिष्टता के होते हुए भी लोकप्रिय इतने कि सरकारकी ओरसे कई वर्षों तक स्थानीय म्युनिसिपल बोर्डके वाइस चेयरमैन नियुक्त होते रहे। एक बार अखिल भारतवर्षीय परवार-सभाके सभापति भी चुने गये थे। धर्मसाधना उनकी प्रकृति थी और आयुर्वेद हॉबी। फलतः धार्मिक और आयुर्वेदिक दोनों ही विषयोंके सुन्दर ग्रंथोंका विशाल संग्रह किया। पुस्तकालय और औषधालयकी स्थापना की।

दूर-दूर तक उनकी प्रसिद्धिका प्रमुख कारण था, उनका वह समम और उदार हृदय, जो क्षेत्रपालजीकी धर्मशालासे प्रतिदिन २-४ किन्हीं भी अनजान-अपरिचित यात्रियोंको सस्नेह अपने घर लिवा लाया करता था और उन्हें सप्रेम तथा ससम्मान भोजन कराके सन्तुष्ट और सुखी होता था। उनके इस स्वभावसे सामंजस्य करनेकी दिशामें घरकी महिलाएँ इतनी अभ्यस्त हो गई थी कि १५-२० मिनिटके भीतर गरम पूड़ी और दो साग तैयार कर देना उनके लिए अत्यन्त सामान्य बात थी। न जाने किस समय अतिथि आजाएँ और भोजन बनाना पड़ जाय, चूल्हा कभी बुझ ही न पाता था।

ललितपुरका सुप्रसिद्ध मंदिर 'क्षेत्रपाल' उन्हीके परिश्रम और संरक्षणका फल है। एक बार स्थानीय वैष्णवोंने उसपर अपना अधिकार घोषित किया था, किन्तु यह सेठ मथुरादासजीका ही साहस था कि उन्होंने उसको अदालती और ग़ैरअदालती—दोनों ही तरीक़ोंसे लड़कर जैन-मंदिर प्रमाणित और निर्णीत कराया। उनके लिए क्षेत्रपाल सम्मेद-शिखर और गिरिनार-सा ही पूज्य था। किस प्रकार उसकी यशोवृद्धि हो, प्रसिद्धि हो, आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो, वह तीर्थ, यात्रियोंके लिए आकर्षणका केन्द्र बने—यही उनके जीवनकी सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा थी। उनका प्रिय क्षेत्रपाल, जैनगति-विधियोंका एक सक्रिय केन्द्र बन सके, इसीलिए उन्होंने, वहाँ अभिनन्दन पाठशालाकी स्थापना की, जो अभी थोड़े दिनों पहले ही बन्द हुई है। क्षेत्रपालके प्रति, सेठजीके मोह की पराकाष्ठा थी कि वे अपने पीनेके लिए जल भी, एक मील दूर क्षेत्रपाल स्थित कुएँसे ही मँगाया करते थे। क्षेत्रपालके निकटस्थ कुछ भूमि, उन्होंने स्थानीय जैन-समाजसे कुछ विशेष शर्तोंपर प्राप्त कर, अपने लिए एक बग़ीचेका निर्माण कराया था, जो आज भी है। प्रतिदिन प्रातःकाल ही इस बग़ीचेसे फूलोंकी एक बड़ी टोकरी उनकी दूकानपर पहुँच जाया करती थी कि नगरके किसी भी व्यक्तिको—विशेषतया हिन्दुओंको, जिन्हें पूजाके लिए फूल अभीष्ट होते हैं, वे सहज-सुलभ हो सकें। जब तक

जीवित रहे, प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल क्षेत्रपाल जाकर पूजन करना तथा शास्त्र-प्रवचन सुनना—उनकी नियमित रुचि थी। क्षेत्रपालमें सुन्दर धार्मिक ग्रंथोंका संग्रह हो सके, इस इच्छासे उन्होंने न केवल बहुत से बहुमूल्य ग्रंथोंको प्रयत्नपूर्वक प्राप्त ही किया बल्कि बहुत-से लिखधारियों (हाथसे ग्रंथोंकी नक़ल करनवाले लेखकों) को आश्रित रखकर उनसे भी ग्रंथ लिखाये।

उनकी पारिवारिक आर्थिक स्थितिकी आज जो सबलता है, उसका बहुत बड़ा श्रेय उनके व्यवसाय-कौशलको ही है। बम्बई, टीकमगढ़, महरौनी, पछार, बामौरा, चँदेरी, हरपालपुर आदि-आदि कई मंडियोंमें उनकी गद्दियाँ थी, जिनकी सुव्यवस्था वे अपने सुयोग्य भतीजे पन्नालालजी टडैयाके सहयोगसे करते थे।

उनकी अनुकरणीय विशेषता थी कि इतने निपुण और बड़े व्यौपारी होनेपर भी 'बनियापन' उन्हें छू नहीं गया था। उनके मुनीम, नौकर-चाकर जहाँ उनकी गालियाँ सुननेके अवश पात्र थे, वहाँ उनके अत्यन्त उदार संरक्षणके अधिकारी भी। सम्मेदशिखरके आसपास, सम्भवतः कलकत्ता या पटना, व्यावसायिक कार्यसे जाकर भी, उनका एक मुनीम वन्दनार्थ शिखरजी भी क्यों नहीं गया, इसपर उस मुनीमको उन्होंने इतना डाटा कि उसे दूसरी बार, ऐसा ही अवसर आनेपर शिखरजीकी यात्रा करनी ही पड़ी। मार्गमें क्यों उस मुनीमने अपनी एक वक़्तकी खुराक़में केवल तीन आने ही खर्च किये और इस प्रकार सेठ मथुरादासकी मुनीमीके पद को लज्जित किया, इसपर उन्होंने उसको इतनी गालियाँ दीं कि सुनने वालोंको कानोंपर उँगलियाँ रख लेनी पड़ीं। नौकरी करते-करते जो नौकर या मुनीम मर गया, उसके बाल-बच्चोंको आजीवन पेंशन देना और उनके सुख-दुःखकी खोज-खबर एक कौटुम्बिककी भाँति ही रखना—आज कितने धनी ऐसा करते हैं? सेठ मथुरादासके लिए यह सामान्य बात थी!

वयोवृद्ध चौधरी पलटूरामजी, जो आज भी जीवित हैं और सेठ मथुरादासजीकी चर्चा आते ही जिनके नेत्र सजल तथा कंठ आर्द्र हो उठता

है, उनके एक प्रकारसे दाहिने हाथ ही थे। ललितपुर-समाजमें, चौधरी जी अपनी पंचायत-चातुरीके लिए विख्यात हैं। व्यवहार-कौशलकी यह देन—उन्होंने सेठ मथुरादासजीके चरणोंमे बैठकर ही प्राप्त की थी—इसको वे आज भी गर्व और कृतज्ञतासे स्वीकार करते है, और इन पंक्तियों का लेखक चौधरीजीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है कि सेठजीके सम्बन्ध में इतनी अधिक और प्रामाणिक सामग्री उन्होंने उसको दी।

सेठजी, एक बार, एक विवाहमें सम्मिलित होने मुँगावली गये। चौधरी पलटूराम भी साथ थे। सहसा न जाने क्या सूझी कि चौधरीजीको बुलाकर बोले—'अरे, पल्टुआ! (चौधरीजीके प्रति यही उनका स्नेह-सिक्त सम्बोधन था) सुना है, यहाँ जज साहब रहते हैं? उनसे मिलना चाहिए।' चौधरीजीने उत्तर दिया—'अच्छी बात है, शामको चले चलें।' इस सुझावपर चौधरीजीको उन्होंने इतनी गालियाँ दीं कि चौधरी सहमकर रह गये। बोले, 'अबे पल्टुआ! इतना बड़ा हो गया, पर तुझमें इतनी अक़्ल नहीं आई? मैं मिलने जाऊँगा? अबे, वह कामकर कि जज साहब खुद अपने डेरेपर मिलने आये।'

चौधरीजीमें, चातुर्य जन्मजात रहा है, तत्काल बोले—'ठीक है; दीजिये मुझे तीन सौ रुपये—ऐसा ही होगा।' रुपयोंकी व्यवस्था हो गई। बाज़ार जाकर चौधरीजीने दो-चार स्थानीय पंचोंको साथ लिया। सस्तेका ज़माना था। बहुत-सी धोतियाँ, कम्बल, कापियाँ, किताबें, पेंसिलें, दावातें आदि खरीदीं। स्थानीय पाठशालाओंके विद्यार्थियोंको सूचित किया। गाँवमें जो गरीब थे, उनको खबर कराई। सामानको एक सार्वजनिक स्थानपर व्यवस्थित किया। पंचोंको लेकर जज साहबके बँगलेपर पहुँचे। निवेदन किया कि आज सायंकाल, स्थानीय विद्यार्थियों और ग़रीबोंको, सेठ मथुरादासजी ललितपुरवालोंकी ओरसे पुरस्कार वितरित किये जायेंगे; सेठजीकी इच्छा है कि यह कार्य आपके कर-कमलों से सम्पन्न हो। जज साहबने प्रस्तावको सहर्ष स्वीकृत किया। कार्य हुआ। सेठजीकी उदारतासे जज साहब इतने प्रभावित हुए कि दूसरे दिन उनके

डेरेपर पहुँचे और उनको अपने घर भोजनके लिए निमंत्रित किया। चौधरी जी कह रहे थे कि जज साहबने उस दिन जो स्वागत-सत्कार किया, वह आज भी उनकी स्मृतिमें हरा है।

अपने जीवनमें उन्होने शायद ही कोई यात्रा ऐसी की हो, जिसमें मार्ग-व्यय आदिके अतिरिक्त २००-४०० रु० उनके और भी खर्च न हुए हों। विवाह-बारात आदिकी यात्राएँ भी उनके इस स्वभावकी अपवाद नहीं थी। किसीकी भी बारातमें जाते समय घरसे १०-२० सेर मिठाई-पूडी, काफी पान-सुपारी, इलायची आदि साथमें ले जाना और रास्ते भर बारातियोंकी इस प्रकार खातिर करते चलना, मानो उन्हींके लड़केकी बारात हो, आज किसके द्वारा यह उदारता साध्य है ? तीर्थ, विमान, अधिवेशन आदि धार्मिक या सार्वजनिक यात्राओंके समय समस्त सहयात्रियोंके सुखदुःखका दायित्व, मानो नैतिक रूपसे वे अपना ही समझते थे, और अपनी इस वृत्तिके प्रभावमें पैसा तो उदारतापूर्वक वे खर्च करते ही थे, अवसर आ पड़नेपर तन-मन देनेमें भी उन्हें संकोच नहीं होता था। एक बार प्रवासमें उनके सहयात्री श्री दमरू कठेल जब बीमार हो गये थे, तो उनके पाँव तक उन्होंने बेझिझक दाबे थे !

अपने नगर ललितपुर और प्रदेश बुन्देलखंडके प्रति उनके हृदयमें नैसर्गिक ममता थी। एक बार, कुण्डलपुरमें महासभाके अधिवेशनके समय, एक व्यक्ति द्वारा बुन्देलखंडके प्रति अपमान-जनक शब्द कहे जाने पर, उन्होंने इतना सख्त रुख अख्तियार किया कि आराके प्रसिद्ध रईस और अधिवेशनके सभापति स्वयं देवकुमारजी उन्हें मनानेके लिए आये और मुश्किलसे उन्हें शान्त कर सके। ललितपुरके प्रति लोगोंमें सम्मान की भावना आये—उनका सदैव यही प्रयत्न रहा करता था। मस्तापुर-रथ-यात्राके समय वे तत्कालीन भावी सिंघईसे अपना यह आग्रह स्वीकार कराके ही माने थे कि पहले ललितपुरके विमानोंका स्वागत किया जाय।

उस समय समाज-सुधारके न तो इतने पहलू ही थे और न उनके प्रेरक बहुत-से दल ही। समाजमें नारीकी स्थितिके सम्बन्धमें उनका

दृष्टिकोण बिलकुल सीधा-सादा था। एक इसी विषयमें ही क्यों, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें वे 'मर्यादा' के हामी और पोषक थे। मंदिरोंमें स्त्रियाँ अधिक तड़क-भड़कसे न आयें, उनकी गतिमें नारी-सुलभ लज्जा हो, न कि उच्छृंखल चंचलता, उनकी पैनी दृष्टि सदैव यह 'मार्क' करनेके लिए तत्पर रहा करती थी। एक बार, सम्मेदशिखर क्षेत्रपर पंजाब प्रदेशकी कुछ स्त्रियाँ कुएँपर बैठी हुई नग्न स्नान कर रही थीं। यह दृश्य, सेठजीसे न देखा गया। उसी समय कई थान मँगवाकर, कुछ बल्लियाँ खड़ी करके उनके सहारे एक पर्दा-सा तनवा दिया।

उनकी धर्म-साधना केवल पूजा-पाठ तक ही सीमित नही थी। सम्भवतः यदि कभी अवसर आ जाता तो धर्मके लिए अपने प्राण दे देनेमें भी उन्हे संकोच न होता। एक बार, स्थानीय जैन मंदिरपर, होली खेलनेवाले कुछ लोगोंने गोबर फेंक दिया। खबर सेठजी तक पहुँची। सब काम छोड़, उसी समय एस० डी० ओ० के पास दौड़े गये। एस० डी० ओ० अंग्रेज़ था, पर चर्चिल-परम्पराका नही। सेठजीका बहुत सम्मान करता था। तत्काल मौक़ेपर पहुँचकर जाँच कराई। अपराधियोंकी खोज की। जिन लोगोंने यह निंद्य हरकत की थी, उन्हीसे गोबर साफ़ कराया गया। नसेनी भी उनको नही दी गई। एक दूसरेके कन्धोंपर चढ़कर ही उन्हें गोबर पोछना पड़ा।

इसी प्रकार **'अहिंसा परमो धर्मः'** भी उनका मात्र मौखिक सिद्धान्त ही नही था। व्यवहारमें भी उसका प्रयोग उन्हें अभीष्ट रहता था। एक बार एक गाय भागती-भागती आई और सेठजीके मकानमें घुसती चली गई। पीछे-पीछे उसका स्वामी क़साई भी दौड़ता हुआ आया। सेठजीने स्थिति समझी और नौकरोंको आदेश दिया कि वह घरकी अन्य गाय-भैंसोंके साथ 'थान' पर बाँध दी जाय। क़साई, क़साई पीछे था और व्योपारी पहले। मौक़ेको ताड़ गया। गायके अनाप-शनाप दाम माँगने लगा, किन्तु सेठजीके आगे उसकी एक भी चालाकी न चली। उन्होंने चार भले आदमियोंको बुलाकर निर्णय लिया और उचित मूल्य देकर उस क़साईको बिदा किया।

निरन्तर देना, और बदलेमें कुछ भी पानेकी आशा न करना, उनके जीवनका यँह आदर्श था। एक बार टीकमगढ़की एक स्त्री अपने तीन भूखे-प्यासे बच्चों-सहित उनके दरवाजे आ गिरी। बोली, जैन हूँ, तीन दिनसे निराहार हूँ। सेठजीने तत्काल उसको ससम्मान प्रश्रय दिया। उसके स्नानादिकी व्यवस्था की। भोजनकी सामग्री दी, बर्तन दिये कि वह स्वयमेव शुद्ध विधिपूर्वक बनाकर खा ले। सेठजीको कुतूहल हुआ कि स्त्री, वास्तवमें, जैन है या यों ही झूठ बोलती है। पल्टूराम चौधरी-को साथ लेकर, छिपकर उसकी भोजन बनानेकी विधिका निरीक्षण करने लगे। स्त्री रसोई बना रही थी, उधर बच्चे भूखके मारे चिल्ला रहे थे। स्त्रीने पहली ही रोटी तवेपर डाली कि बच्चोंका धैर्य समाप्त हो गया। वे उसी अधकच्ची रोटीको ले लेनेके लिए लपके। सेठजीसे यह करुणाजनक दृश्य न देखा गया। उसी समय नौकरके हाथ थोड़ी-सी मिठाई भेज दी। क्षुधातुर बच्चोंको सब्र कहाँ ? एक बच्चेने एक साबित लड्डू अपने छोटे-से मुँहमें ठूँस लिया और उसे निगलनेके लिए व्याकुलतापूर्वक रुआसा हो उठा। जैसे-तैसे स्त्रीने उसके मुँहमेंसे लड्डूको तोड़-तोड़कर निकाला और फिर अपने हाथों थोड़ा-थोड़ा-सा खिलायो। तत्पश्चात् हाथ धोकर रोटियाँ सेंकने लगी। वह जैन थी और विधिपूर्वक ही उसने भोजन बनाया खाया। सेठजी सन्तुष्ट हुए, किन्तु साथ ही क्षुधाजनित व्यथाको साक्षात् देख इतने विगलित भी हुए कि वे उस दिन एकान्तमें बैठकर घंटों रोते रहे। उस स्त्री और उसके बच्चोंको रोटी-कपड़ों और वेतनपर नौकर रख लिया। मरते समय वेतन-स्वरूप जमा हुए उसके रुपये तथा अपनी ओरसे भी २५० रु० देकर उसको इन शब्दोंके साथ बिदा किया कि शायद उनकी मृत्युके बाद उनके उत्तराधिकारी उसके साथ निर्वाह न कर सकें, अतः वह जाये और उन रुपयोंसे कोई छोटी-मोटी पूँजीकी जीविका प्राप्त करके गुजर करे।

चाहे पारिवारिक हो चाहे सामाजिक, चाहे नागरिक हो, चाहे प्रादेशिक, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें उनकी उदारता स्पष्टतया परिलक्षित थी।

अपनी पुत्री शान्तिका विवाह किया तो इस धूमधामसे कि बारात देखनेके लिए आसपासके गाँवसे इतने आदमी आये कि उस दिन प्रत्येक घरमें २-२, ४-४ अतिथि ललितपुरमें थे। प्रत्येक नागरिकके घर मिठाई 'बायने' के रूपमें पहुँचाई गई। कोई भी सामाजिक त्योहार या पर्व ऐसा नहीं होता था, जिसपर सेठजीकी ओरसे समस्त समाजकी 'पंगत' नहीं की जाती हो। जिस नगर या गाँवकी यात्रा की, वही ग़रीबों और विद्यार्थियों को पुरस्कार वितरित किये। कोई भी याचक चाहे वह चन्दा लेनेवाला हो, चाहे सामान्य भिक्षुक, कभी उनके दरवाजेसे खाली हाथ वापिस नहीं गया।

सेठ पन्नालाल टड़ैया, उनके सुयोग्य भतीजे थे। पुत्र एक ही हैं—हुकमचन्द टड़ैया, बिल्कुल वही रूपरंग; आज भी है। मथुरादासजी की न्याय-प्रियता, उदारता, स्वाभिमान-भावना और व्यवहार-कौशल—सौभाग्यवश, स्वभावकी सभी विशिष्टताएँ पन्नालालजीको वंशोत्तराधिकारमें मिली थी। सेठ मथुरादासजी द्वारा स्थापित बहुत-सी परम्पराएँ सेठ पन्नालालजीने बहुत दिनों तक यथारूप प्रचलित रखीं। कालवश आज सेठ पन्नालालजी भी स्वर्गस्थ हैं। सेठ मथुरादासजी और पन्नालालजीकी महानताके अवशेष, यद्यपि उनके वर्त्तमान वंशज अभिनन्दनकुमारजी टड़ैया तथा जिनेश्वरदासजी और हुकमचन्दजी द्वारा आज भी कुछ-कुछ सुरक्षित हैं, किन्तु निश्चय ही तुलनाकी दृष्टिसे वे पासंग भी नहीं हैं, किन्तु जहाँ तक मथुरादासजी तथा पन्नालालजी द्वारा अपनाई गई विशेषताओंसे तुलनाका प्रश्न है, वहीं तक यह बात घटित है। नगरके अन्यान्य परिवारोंकी तुलनामें तो आज भी इसी वंशका पलड़ा भारी ठहरेगा, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

सेठ मथुरादासजीका जन्म लगभग सं० १९२९-३० में और मृत्यु सं० १९७५ में हुई। धन्य है उनके पिता सेठ मुन्नालालजीको, जिन्होंने ऐसे पुत्र-रत्नको प्राप्त किया था।

१५ जुलाई १९५१

सर मोतीसागर

सर मोतीसागर जीका नाम सुना था, दूरसे एक बार देखा भी था। १९३० के असहयोग आन्दोलनमें तीन माहकी मुझे सज़ा मिली कि जेलमे ही १२४ धाराके अन्तर्गत दो वर्षकी कैदका हुक्म और सुना दिया गया। कही दूसरे कार्यकर्त्ताओके साथ भी इस तरहका गैरकानूनी व्यवहार न हो, इसी आशकासे कॉंग्रेस-कार्यालयसे अपील करनेका आदेश प्राप्त हुआ। अपीलको धन कहाँसे आवे, इस दर्दसरसे तो चुपचाप जेल काटना ही श्रेयस्कर समझा गया। न जाने सर मोतीसागर जीके कानमे यह भनक कैसे पडी ? चटपट उन्होने नि शुल्क अपीलकी पैरवी की ज़िम्मेवारी स्वय अपने आप ले ली। ज़रूरी कागज़ात भी मँगवा लिये और अपील सुनवाईकी तारीख भी निश्चित हो गई। लेकिन भाग्यकी अमिट रेखाएँ कौन मेट सकता है ? अपीलकी तारीखसे दो दिन पूर्व अकस्मात् उनका स्वर्गवास हो गया। मुझे लाहौरसे तार मिला तो मैंने विषाद भरे स्वरमें कहा–"यहाँ न्यायकी आशा न देख, वे ईश्वरकी अदालतमे फरियाद करने गये है। इन्साफ होनेपर ही वापिस आएँगे।" लेकिन उनका साधु और परोपकारी मन इस दुनियासे ऐसा उचाट हुआ कि वापिस आनेका नाम तक नही लिया।

—गोयलीय

३१ अक्टूबर १९५१

सर मोतीसागर : एक राजा साधु

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

पासकी भी एक तस्वीर होती है और दूरकी भी। पासक. तस्वीरमें हाथ-नाक ही नही, तिल और रेखाएँ भी साफ दिखाई दे जाती है। दूरकी तस्वीरमें यह सब बात तो नही होती, पर चित्रका.र अच्छाहो, तो झिलमिल वातावरणका एक अद्भुत सौन्दर्य उसमें अवश्य होता है।

स्वर्गीय सर मोतीसागरको मैंने कभी नही देखा, पर उन्हें पूरी तरह जाननेवालोसे उनके सम्बन्धमें इतना सुना है कि मुझे अक्सर ऐसा लगता है कि मै बहुत दिन उनके पास रहा हूँ। भावनाकी इसी छायामें जब-जब में उनकी समीपता अनुभव करता हूँ, मुझे लगता है, मे एक ऐसे व्यक्तित्व-के पास बैठा हूँ, जिसमें पुराने युगके दो व्यक्तित्व एक साथ समाये हुए है — एक चमकदार राजाका और दूसरा शान्त साधुका, और शक्तिके साथ भक्तिका ऐसा सरल स्पर्श मुझे मिलता है कि जैसे अभी-अभी मै किसी उपवनसे घूमकर लौटा हूँ।

× × ×

तीन सस्मरणोमें उनके तीन चित्र है, जो मिलकर उनका एक ऐसा चित्र बनाते है, जिसमें एक्स-रेकी तरह उनका अन्तकरण तक साफ दिखाई देता है ?

कालेजके विद्यार्थी-साथियोमें मोतीसागरकी सच्चरित्रताका आतङ्क था। वे न कभी किसी अश्लील बातचीतमें भाग लेते, न कार्यकलापमें। इससे साथी उनका आदर तो करते, पर कुढते भी और सदा इस फिक्रमें रहते कि कैसे इसकी भगताई ढीली पडे।

एक दिन मोतीसागरके पिताजी कही बाहर गये थे कि कुछ साथियों-ने उनसे कहा—"मोती ! कल शामको हम तुम्हारे घर आवेंगे !" वे बहुत खुश हुए।

दूसरे दिन शामको २०-२५ साथी उनके बड़े कमरेमें आ जमे। हँसी-मज़ाककी बातें होती रही कि रातके ६ बज गये और ६ बज गये कि एक वेश्या और उसके साजिन्दे भी कहीसे चुपचाप वहाँ आ बैठे।

रातमें २-३ बजे तक खूब नाच-गाना हुआ और अन्तमें साथियोने चन्दा कर उस वेश्याको बिदा किया। मोतीसागरने किसी बातमें कोई हिस्सा नहीं लिया, पर वे चुपचाप वहाँ बैठे रहे।

दौरेसे लौटकर किसी तरह पिताजीको यह बात मालूम हो गई, तो उन्होंने पूछा—"मोती! मेरे पीछे मेरे कमरेमें वेश्याका नाच हुआ था?"

मोतीसागरने सिर झुकाकर कहा—"जी हाँ।" बड़ी तगड़ी लताड़ तो पड़ी ही, अपने पिताकी मानसिक व्यथाकी चोट भी उन्हें सहनी पड़ी। मोतीसागरके पिता रायबहादुर श्री सागरचन्द अपने समयके वर्चस्वी शिक्षाशास्त्री थे। वे अपने पुत्रका यह कारनामा सुनकर बहुत ही व्यथित हुए, पर मोतीसागरने उनसे अपने साथियोके बारेमें एक शब्द भी न कहा।

बादमें जब उन्हें मोतीसागरके साथियोंकी धूर्त्तताका पता चला, तो उनका बोझ हल्का हुआ। इसके लिए वे स्वयं उस वेश्यासे मिलने गये थे। "तुमने यह बात उस समय मुझे क्यों न बताई और खड़े-खड़े झिड़कियाँ खाते रहे?" इस प्रश्नके उत्तरमें मोतीसागरने कहा—"मुझे यह अच्छा नही लगा कि अपनेको कलंकसे बचानेके लिए, मैं आपकी आँखों-में अपने साथियोंको गिरा दूं!"

× × ×

मोतीसागरके पुत्र श्री प्रेमसागरने एक दिन श्रीरामकिशोर ऐडवो-केटसे कहा—"बाबूजी, मुझे आपका जीवन-परिचय चाहिए। एक मेरे मित्र पत्रकार है, उन्हें ज़रूरत है।"

रामकिशोरजीने अपना परिचय दूसरे दिन एक फुलिस्केप शीटपर टाइप कर दिया, पर वह किसी पत्रमें नहीं छपा। एक-दो बार उन्होंने इस बारेमें पूछा और बात अपने घरकी हो गई।

इस घटनाके कुछ मास बाद भारत-सरकारकी जो सम्मान-सूची छपी, उसमें श्री रामकिशोरको भी रायबहादुरकी उपाधि दी गई थी। उन्हें आश्चर्य हुआ और उन्होंने मोतीसागरसे पूछा–"यह तुम्हारे प्रयत्नों-का फल है हज़रत !" वे बोले–"जी नहीं, यह आपकी योग्यताका फल है !"

श्रीरामकिशोरको जब चीफ़ कमिश्नरके दरबारमें रायबहादुरकी उपाधि दी गई, तो चीफ़ कमिश्नरने रायबहादुर रामकिशोरका जो परिचय पढ़ा, वह वही फुलिस्केप शीट थी, जो कभी उन्होंने स्वयं टाइप करके प्रेमसागरको दी थी। दरबारसे लौटते समय रामकिशोरजीने अपने मित्र मोतीसागरको १०० उलाहने दिये, पर उन्होने एक बार भी यह स्वीकार नही किया कि उनके इस सम्मानमें मेरा हाथ है।

× × ×

मोतीसागर पंजाब कौसिलके लिए खड़े हुए, तो मनोहरलाल (बादमें सर और मिनिस्टर) उनके मुक़ाबले आये, पर चुनावसे चार दिन पहले ही वे समझ गये कि मोतीसागरकी जीत १०० फ़ीसदी निश्चित है। मोतीसागरको तो उनके मित्र विजयकी पेशगी बधाई भी दे चुके थे कि जीतकर वे मिनिस्टर बनेंगे।

तीन दिन पहले मनोहरलाल रातमें स्वयं उनके पास आये और बोले–"मोतीसागर, तुमपर तो भाई, चारों ओरसे भगवान्के वरदान बरस रहे हैं, इसलिए कौन्सिलकी मेम्बरीका तुम्हारे लिए इतना महत्त्व नही है, पर मैं मेम्बर हो गया, तो मेरा जीवन बन जायेगा।"

मोतीसागरने उनके पक्षमें अपना नाम वापिस लेनेका पत्र लिखकर उन्हें दे दिया। दूसरे दिन यह खबर फैली तो घरवालोने आपको बहुत लथेड़ा, पर आप चुप ही रहे और स्वयं मनोहरलालको बधाई देने गये।

× × ×

मोतीसागरने एक साधारण वकीलके रूपमें भारतकी राजधानीमें अपना जीवन आरम्भ किया और कुछ ही दिनोंमें वे इस पेशेकी चोटीपर पहुँचे। रायसाहब हुए, रायबहादुर हुए, दिल्ली विश्वविद्यालयके वायस-

चासलर हुए, डाक्टर हुए और दिल्लीसे पजाब हाईकोर्ट तक ऐसे छाये कि जस्टिस होकर सर हुए। जीवनभर लक्ष्मी उनपर मँडराती फिरी, सम्मान उनका अनुचर रहा और सफलता उन्हें घेरे रही।

उनकी असाधारण सफलताका रहस्य क्या है? एक दिन मैंने उनके जीवनसाथी रायबहादुर श्री रामकिशोरजीसे पूछा, तो बोले–"नेक-नीयती और मेहनत।"

वे कमाना भी जानते थे और खर्चना भी, पर उनके आश्रित खोना ही जानते थे। इस तरह उन्होंने लाखो कमाये, लाखो खर्चे, लाखो खोये और लाखो छोड गये। सबसे बहुमूल्य वस्तु जो वे छोड गये, वह वे छात्र है, जिन्हें सहायता देकर वे पनपा गये और जो आज जीवनके विभिन्न क्षेत्रोमें काम कर रहे है।

उनके जीवनका एक महत्त्वपूर्ण कार्य था–भारतमें सिनेमाको जमानेमें लाखो रुपये खर्च करना, 'लाइट आफ एशिया' और 'अनारकली' उनके महत्त्वपूर्ण निर्माण थे। पहला चित्र तो सारे ससारमें यशस्वी हुआ था। हिमाशुराय ही इसमे बुद्ध थे। अनारकलीमें कलाके जो ऊँचे प्रयोग किये गये थे, आजका सिनेमा उनसे बहुत नीचे है।

कमाकर उन्होने कभी गर्व नही किया और खोकर न कभी अफसोस। अपने ही पैरो उठकर वे अपने समयमें समाजके सबसे ऊँचे शिखरतक पहुँचे थे, पर उनके स्वभावकी नम्रता कभी कम नही हुई। वे जिस उत्साहसे अपने प्रान्तके गवर्नरसे मिलते थे, उसी उत्साहसे अपने बागके मालीसे भी बातें करते थे। वे अपने पुत्र-पुत्रियोको जिस लाडसे पोषते थे, उसी लाडसे अपनी बूढी (दुनियाकी भाषामें– बेकार) घोडीको भी और वह भी इस हदतक कि जब साइसने एक दिन उससे कहा–"तेरे बाबूजी मर गये" तो वह एक लम्बी साँस लेकर इस तरह बैठी कि फिर न उठी!

२३ अक्टूबर १९५१

जन्म— नजीबाबाद,
आश्विन कृष्णा ५ बि० स० १६४१

निधन— मसूरी,
आषाढ कृष्णा ६ स० १६६२

रायबहादुर साहू जुगमन्दरदास

नवम्बर १९२७ की बात है कि दिल्लीके उत्साही कार्यकर्त्ता मेरे परमस्नेही बन्धु ला० पन्नालालजीने मुझे सूचना दी कि साहू जुगमन्दरदास दिल्ली आये हुए है और दरीबेमें रायबहादुर लक्ष्मी-चन्द्र पानीपतवालोकी कपडेकी कोठीमें ठहरे हुए हैं, उनसे चाहो तो मुलाकात कर सकते हो।

मेरा रायबहादुरसे इससे पूर्व कोई परिचय नही था । नाम उनका अक्सर सुना था, परन्तु साक्षात्कार नही हुआ था । सामाजिक क्षेत्रमें प्रवेश किये मुझे २-३ वर्ष ही हुए थे । इसलिए मेरा अनुमान था कि वे मुझे नही जानते होगे, किन्तु उन्होने यह अनभिज्ञता प्रकट नही होने दी ।

उन दिनो मेरा अपना व्यवसाय चौपट हो गया था । दिन-रातकी लेक्चरबाजी और इधर-उधरकी दौड-धूपने नौकरीका बन्धन स्वीकार कर लेनेको मजबूर कर दिया था । इसी सिलसिलेमें यह मुलाकात की गई थी ।

मुझे देखते ही वे बोले–"पण्डितजी, आप नजीबाबाद तशरीफ क्यो नही ले चलते ?"

मै बीचमें ही बात काटकर बोला–"रायबहादुर साहब, बेअदबी माफ, मै पण्डित नही हूँ, कृपया आप मुझे गोयलीय कहें ।"

उन्होने मुस्कराते हुए कहा–"बहुत मुनासिब है पण्डितजी," और इस सम्बोधनको मेरे साथ वे जीवनभर चिपकाये रहे । पण्डितजी कहते थे और ओठो-ओठोमें मुस्करा लेते थे । मै भी उनकी इस सितमज़रीफी पर हँस देता था ।

जब उन्होने नजीबाबाद रहनेका निमन्त्रण दिया तो मेरे मुँहसे यकायक निकल गया–"आप रायबहादुर है, मै एक देशभक्त हूँ, मेरा आपके यहाँ निर्वाह कैसे होगा ?"

फर्माया–"रायबहादुर भी इन्सान हो सकते या नही, आप इसकी एक बार परीक्षा तो कर लीजिये ।"

मेरा मुँह बन्द हो गया । मैंने निवेदन किया–"अभी तो मुझे अपने एक लेखके सिलसिलेमें मेवाड जाना है । फिर वहाँसे आनेपर २८ फरवरी-को 'सायमन कमीशन' बहिष्कारके सम्बन्धमें कार्य करना है । यदि आप आज्ञा दें तो मार्चके प्रथम सप्ताहमें उपस्थित हो सकता हूँ ।"

फर्माया–"हम तो आपको जल्दी ही चाहते हैं। यूँ आप स्वतन्त्र हैं, जब भी तशरीफ लायें, काम होगा।"

२८ फरवरीको 'सायमन कमीशन' का बहिष्कार-कार्य सम्पन्न करके मैं २९ फरवरीको नजीबाबाद पहुँच गया। अपनी कोठीके सामने ही मुझे मकान दे दिया गया।

"रायबहादुर भी इन्सान होते हैं" इस वाक्यको उन्होने कहाँ तक निभाया, पहले इसीका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है–

उनकी जितनी डाक आती थी, मुझे उसे खोलकर पढनेकी इजाज़त थी। एक रोज़ हर रोज़के दस्तूरके मुताबिक मैंने डाक खोली तो उसमें जैन-समाजके धनिक और जीहुज़र वर्गका एक पत्र मिला, जिसमें राय-बहादुर साहबसे ज़ोरदार शब्दोमें जैन-समाजकी ओरसे सायमन कमीशन का स्वागत करनेके पक्षमें लिखा गया था। मैंने यह पत्र पढा तो जैसे साँपपर पाव पड गया। काटो तो शरीरमें रक्तकी एक बूंद नही। यह "जीहुज़ूर अपने स्वार्थके लिए समाजकी आड लेकर स्वागत करेंगे और इन स्वार्थियोके कारण सारी समाज देश-द्रोहके कलककी भागी होगी।" उसी आवेशमें मैंने एक विरोधी लेख लिखकर 'अर्जुन' देहलीको भेज दिया। जब मै लेख पोस्ट कर रहा था तो श्री शान्तिप्रसादजीने देख लिया। ये उन दिनो १०वीमें पढते थे, परन्तु बडे ज़हीन और विनयी थे। बोले– "पण्डितजी, बुरा न मानें तो एक बात कहूँ, आपको रायबहादुर साहबकी डाक खोलनेकी तो इज़ाजत है, परन्तु उसका व्यक्तिगत उपयोग करनेका अधिकार नही।"

मै उसी आवेशमें बोला–"देशभक्तिमें सभी कुछ जायज़ है। आप इसकी चिन्ता न करें।"

शान्तिप्रसादजी तो चुप हो गये और स्कूल चले गये, परन्तु मेरे हृदयमें उनका यह वाक्य घर कर गया। सचमुच यह तो अनधिकार चेष्टा है। विरोध करना है तो रायबहादुर साहबको जताकर विरोध करो और आवश्यकता पडे तो नौकरी भी छोड दो। यह कहाँकी देश-भक्ति है कि

मालिकको पता भी न चले और उसकी डाकका यों गुप्तरूपसे उपयोग किया जाय ।"

अतः वह लेख मैं पोस्ट आफ़िससे वापिस ले आया और त्याग-पत्र लिखकर जेबमें इस ख़यालसे रख लिया कि इसका उत्तर यदि स्वीकृतिमें गया तो मैं त्याग-पत्र देकर गाँव-गाँवमें घूमकर इस योजनाके विरुद्ध प्रचार करूँगा। दस्तूरके मुताबिक़ मुझे तीन बजे बुलाया गया, मुझे देखते ही बोले–"आपने यह पत्र देखा ?" मैं कुछ कहूँ कि वे स्वयं ही बोले–"सारा भारत इसका विरोध कर रहा है और हमारी समाजके ये भाँड़ स्वागत करनेपर उतारू हैं ? पढ़कर जी बड़ा ख़राब हो गया है, क्या जवाब देना चाहिए इस पत्रका ?" फिर बोले–"ऐसे बेहूदे पत्रोंका जवाब ही क्या ? रद्दीकी टोकरीमें डालिए साहब, इस पत्रको।"

उन्होंने डालनेको कहा था, मैंने वह फाड़कर डाला कि कहीं राय-बहादुरीका जोश फिर न उभर आये और आँख बचाकर अपना त्यागपत्र भी फाड़कर फेंक दिया।

दूसरी घटना इस प्रकार है–साइमन-बहिष्कारका नेतृत्व करनेपर लाहौरमें लाला लाजपतरायपर साउण्डर्सने लाठियोंका प्रहार किया था। उसी चोटसे लालाजीका स्वर्गवास हो गया था। सारे भारतमें इस अत्याचारके विरोध-स्वरूप हड़ताल और सभाएँ हुईं। हमने भी नजीबाबादमें बड़े जोशोख़रोशके साथ हड़ताल कराई, जुलूस निकाला, और सभामें आग्नेय भाषण दिये।

जब जुलूस निकल रहा था तो रायबहादुर साहब अपनी कोठीपर खड़े जुलूसको देख रहे थे। जब हम लोग यह गान गाते हुए उनके सामनेसे गुज़रे–

"दुष्टोंकी मुश्की करनेको हम रणका साज़ सजावेंगे।"

तो मुस्करा पड़े। बादमें लोगोंसे मालूम हुआ कि उन्होंने हमारे इस कार्य-की बड़ी सराहना की थी। इस कार्यकी रिपोर्ट पाकर पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट

और कलेक्टर नजीबाबाद आये और मुझे बुलाकर ऐसे कार्य न करनेकी चेतावनी दी। खैर, मेरे ऊपर तो इस चेतावनीका असर क्या खाक पड़ता। हाँ, नौकरी छूट जानेकी आशंका अवश्य हो गई। क्योंकि रायबहादुर-का इन दोनों आफ़िसरोंसे घनिष्ठ संबंध था, परन्तु हुआ आशाके विपरीत। मुझे देखते ही मुस्कराते हुए बोले—"खूब साहब! अब तो कलक्टर और कप्तान हुजूरकी नौकरी देने नजीबाबाद आते हैं। यहाँ उम्रभर-में यह रुतबा हासिल न कर सके जो आपने चन्द रोज़में हासिल कर लिया।"

मैं बैठा हुआ मुस्कराता रहा। फिर बोले—"पण्डितजी, परवाह न कीजिये इन बन्दरघुड़कियोंकी, आप अपने मनके हौसले निकाले जाइये। मेरे होते हुए आपका बाल भी बाँका नही हो सकता, परन्तु ज़रा हाथ-पाँव बचाकर काम कीजिये। एकदम आगमें न कूद पड़िये।"

तीसरी घटना इस प्रकार है—

बिजनौरमें डिस्ट्रिक्ट बोर्डने एक बृहत् नुमाइशका आयोजन किया था। रायबहादुर बोर्डके चेयरमैन होनेके नाते नुमाइशके कर्त्ता-धर्ता थे। बिजनौरके एक मुख्य नेता इस नुमाइशमें विलायती वस्त्रोका बहिष्कार कराना चाहते थे। वे काँटेसे काँटा निकालनेकी तरकीब सोचकर मेरे पास आये और उन्होंने उस योजनाको दबाकर, शहरमें निकलनेवाले जुलूसमें व्याख्यान देनेका आग्रह किया। मेरी अभिलाषा क़तई इस जुलूसमें सम्मिलित होनेकी नहीं थी। मेरे मना करनेपर उन्होंने रायबहादुरसे भी मुझे भेज देनेका आग्रह किया। राय-बहादुर मुझसे बोले—"पण्डितजी! क्या हर्ज है, अगर इनका काम आपके जानेसे बनता है तो अवश्य जाइये, मेरी ओरसे इस नेक कार्यमें क्या बाधा हो सकती है?"

अब मैं विचित्र परिस्थितिमें हो गया। मेरा जी नहीं चाहता था कि मैं किसी जुलूसमें भाग लूँ। २-४ रोज नुमाइश देखने आया था, अतः मेरी रुचि किसी अन्य कार्यकी ओर नहीं थी, परन्तु अब परिस्थिति

ऐसी हो गई कि मैं मानो गिरफ़्तारीके भयसे जानेमें आना-कानी कर रहा हूँ। खैर, बेमनसे जाना पड़ा, और स्थान-स्थानपर व्याख्यान भी देने पड़े। थोड़ी देरमें जुलूस बहिष्कारकी नीतिको लेकर जब नुमाइशमें घुसा तो मैंने जानेसे इनकार कर दिया। रायबहादुरको पता लगा तो बोले–"पण्डितजी, आप बहिष्कारमें शामिल क्यों नहीं हुए ?"

मैंने कहा–"यदि मैं शामिल होता तो ये नुमाइशके दुकानदार आपको कितना परेशान करते ? कि "एक तरफ़ तो आप हमें इतनी दूर-दूरसे बुला लेते हैं। दूसरी तरफ़ अपने आदमीसे बहिष्कार कराते हैं ? यह क्या मज़ाक़ बना रक्खा है आपने ?" अभी कांग्रेसने बहिष्कारका आन्दोलन नहीं छेड़ा है। जब छेड़ेगी तब मैं पहले आपके यहाँसे सम्बन्ध-विच्छेद करूँगा और तब इस आन्दोलनमें हाथ बटाऊँगा। यह धोखा-धड़ी और विश्वासघाती नीति मुझे पसन्द नहीं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि मैं कोई ज़िम्मेवारीका कार्य सँभाल ही नही सकता। चाहे जहाँ धोखा दे सकता हूँ।"

बोले–"मुझे आपसे इन्हीं वाक्योंकी आशा थी, मैंने तो आपको इसीलिए इजाज़त दे दी थी कि कहीं आप अन्यथा न समझ जाएँ।"

चौथी घटना भी सुनिये–

एक रोज उनके यहाँ कलेक्टर आये। कलेक्टर कायस्थ थे और शेरोशायरीका शौक़ फ़र्माते थे। रातका वक़्त था, जब आये तो सबके उठनेपर मैं भी उठने लगा तो रायबहादुरने मुझे बैठे रहनेका ही संकेत किया। चुनांचे मैं बैठा रहा। कलेक्टर आये और कोई न उठे यह उन दिनों अनहोनी बात थी। कलक्टरके बैठते ही आपने परिचय दिया–

"ये अनन्य देशभक्त और सुधारक हैं। ये कृपापूर्वक मेरे साथ रहते हैं, हमको इनपर बड़ा गर्व है। बहुत अच्छे सुखनफ़हम हैं। भगतसिंहने असेम्बलीपर बम फेंका तो किसी शायरने क्या ख़ूब शेर कहा है, आप इनकी ज़बाने मुबारिकसे सुनिये।" कलेक्टरकी ख़्वाहिशपर मैंने बर्क़ (देहलवी

नहीं, शायद बिजनौरी) का यह शेर सुनाया–

बर्क़ गिरनेको गिरी लेकिन ज़रा बचकर गिरी।
आँच तक आने न पाई ख़ानये सैयाद पर॥

शेर सुनकर कलक्टर झूम उठा। शेरकी उम्दगी और बुलन्दखयालीकी वजहसे उसे यह भी खयाल न रहा कि किस वातावरणको लक्ष्य करके यह शेर सुनाया गया है। उसने उठकर मुझसे हाथ मिलाया और झूम-झूमकर कई बार शेर सुना।

दिल्ली षड्यन्त्रके मुख्य कार्यकर्त्ता श्री विमलप्रसाद जैनका मुझे तार मिला कि मैं नजीबाबाद छोड़कर तुरन्त दिल्ली पहुँचूँ। उन दिनों लाहौर-षड्यन्त्रके जो अभियुक्त फ़रार थे, वे किसी सुरक्षित स्थानमें रहकर कार्य कर सकें, इसी योजनाके अनुसार विमलजीकी इच्छा थी कि मैं एक मकान मेरठमें लेकर अपनी माँके साथ रहूँ। रायबहादुरको इस तारका कुछ आभास मिल गया। वे नही चाहते थे कि मै इस आगमें कूदूँ, किन्तु स्वयं कहनेका साहस भी नही होता था। अतः उन्होने एक ऐसे विद्वान्‌को इस कार्यके लिए बुलाया, जिनका मुझपर काफ़ी प्रभाव था। रायबहादुरने कहा–"मैं इसे कांग्रेसमें कार्य करनेसे नहीं रोकता, परन्तु जानपर खेल जानेवाला खेल इसे मै नही खेलने देना चाहता। यह अपनी माँका इकलौता पुत्र है? कृपया आप उसे किसी तरह इस आग-में कूदनेसे बचाएँ।"

उन विद्वान्‌ने अनेक उतार-चढ़ावकी बातें समझाईं, जो कि सम्भव हो सकती थी, परन्तु मेरा दिल्ली जाना अनिवार्य्य था। जब चलने लगा तो मेरे सरपर हाथ रखकर बोले–"यों आप हमारे गुरुतुल्य हैं। पर मै तुम्हें अपना बच्चा समझता हूँ। इसी नाते कहता हूँ कि काम सब कुछ करो मैं रोकता नहीं, परन्तु तुम्हारी जान हमारी समाजकी अमानत है। उसे खोनेका तुम्हें अधिकार नहीं, मैं उसी जानकी तुमसे भीख माँगता हूँ।"

मेरा जी चाहा कि इस पितृतुल्य स्नेहीके पाँव छू लूँ, परन्तु अहंकार-

ने झुकने ही न दिया। स्टेशनपर सब लोग बिदा करने आये तो आप चुपचाप खड़े रहे। जब गाड़ी चली तब भी कुछ न बोल सके, केवल सरपर हाथ फेरकर रह गये।

बमुश्किल नजीबाबाद गये हुए मुझे ४-५ रोज़ हुए थे। रातके क़रीब ८ बजे होंगे। मैं और रायबहादुर बैठे हुए सामाजिक चर्चा कर रहे थे कि मंगू मुनीमने दर्वाज़ेके बाहरसे ही कहा—"वहाँ ताली रखी है क्या?" ताली वहीं रायबहादुरके सामने डेस्कपर पड़ी हुई थी, जब मुनीमने उक्त जुमलेको कई बार दुहराया तो रायबहादुर तो चुप रहे, लेकिन मैं उठकर ताली मुनीमको दे आया। मेरे ताली देते ही मुनीमकी तरफ़ संकेत करते हुए वे बोले—'भैयाजी, ताली यहाँ रख दो।" मुनीमने ताली वहाँ रख दी। लेकिन वह वहीं खड़ा रहा और बोला—"इजाज़त हो तो ताली ले जाऊँ, कोठेमेंसे बहुत ज़रूरी सामान निकालना है" और रायबहादुरकी मौन सम्मति देखकर वह ताली उठाकर ले गया। अब मैं हैरान कि यह क्या बात हुई? मेरे मनोभावको वे ताड़ गये। बोले—"पण्डितजी! आयुमें आप भले ही छोटे हैं, किन्तु आप हम लोगों के गुरुपदपर प्रतिष्ठित हैं, इस पदकी प्रतिष्ठा आपको और हमें सदैव रखनी होगी। इस मुनीमने आपको यों ही पण्डत-वण्डत समझकर यह हरकत की। उसने जो बाहरसे तालीको पूछा, उसका मंशा यही था कि आप उठकर उसे ताली दे दें और उसे जूते खोलनेकी ज़हमत न उठानी पड़े, और आपने उसकी मंशा पूरी भी कर दी। मैंने उससे इसीलिए ताली रखवा ली कि उसे मालूम हो जाय कि उसने आपको ग़लत समझा। अगर मैं उस वक़्त चुप हो जाता तो आपसे फिर यह नौकरों-जैसे कामकी आशा रखता।" उनकी बात सही निकली। दूसरे रोज़से मैंने देखा मुनीमजी मुझे बड़े अदबसे प्रणाम करते, गुरुजनों-जैसा आदर देते और मेरे हर कामके लिए तत्पर रहते।

इस घटनाके २-४ रोज़ बाद ही उनसे एक तहसीलदार मिलने आये। मैं अखलाकन अपने स्थानसे तनिक सरक गया और अपनी जगह-

पर उनको बैठने दिया। रायबहादुरको यह अच्छा मालूम नहीं दिया। उन्हें वहाँसे उठाकर अपने बायें तरफ बिठाया। जब वे चले गये तो फ़र्माया—"आप किसी आफ़िसर या रईसके आनेपर न कभी उठें और न उनको अपनी जगहपर बैठनेको कहें, आपके यह गौरवके अनुकूल नहीं।" मैंने कहा—"रायबहादुर साहब, मुझे तो मालूम भी न था कि ये तहसीलदार हैं और मालूम होता भी तो मेरे ऊपर उनकी तहसीलदारीका क्या खाक प्रभाव पड़ता। मैंने तो सभ्यताके नाते एक आगन्तुकको योग्य स्थान देनेका प्रयत्न किया था।" रायबहादुर बोले—"पण्डितजी, आपके भावको मैं समझता हूँ, परन्तु इन सरकारी आफ़िसरोको हम लोगोंकी नम्रता और शराफ़तमें भी जीहुजूरीकी गन्ध आती हैं। वे समझते है कि हम यह सब व्यवहार उनकी पद-प्रतिष्ठाके रौबके कारण करते हैं। इसीलिए मैंने उसको आपकी जगहसे उठाकर नीचेकी तरफ़ बैठाया, ताकि उसे ग़लतफ़हमी न हो[1]।"

× × ×

साहूवंशमें नौकर रख लेनेके बाद पृथक् करनेका रिवाज नहीं था, स्वयं नौकरी छोड़कर बेशक चला जाय, लेकिन इनके यहाँसे जवाब शाज़ोनादर ही किसी नौकरको मिला होगा। छोटे-मोटे क़ुसूर नज़रन्दाज़ कर दिये जाते थे। एक मुलाज़िम किसानोसे जमींदारी वसूल करनेपर नियत था। उसका कहना था कि "मालिकके यहाँसे जब अपने घर जाओ, कुछ-न-कुछ लेकर जाओ। अगर कुछ भी हाथ न लगे तो बुहारीकी एक सीख ही उठाकर ले जाओ। खाली हाथ घर पहुँचनेसे मालिकका असगुन होता है। क्योंकि बाल-बच्चे आशा लगाये होते है कि अब्बाजान कोई

१—उक्त स्थलोंमें मेरे आत्म-विज्ञानकी गन्ध-सी आती है, किन्तु इन सबका उल्लेख संस्मरणमें करना मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ, इसीसे यह धृष्टता हो गई है। आशा है, पाठक मेरे इस हलकेपनको नज़रन्दाज़ फ़र्मायेंगे।

चीज़ लाएँगे और जब वे खाली हाथ देखते हैं तो मालिकको कंजूस कहकर मन ही मन कोसते हैं। इसलिए मालिककी दुआए-खैरके लिए भई भला मानो या बुरा मुझे तो यह नागवारेखातिर काम करना ही पड़ता है।" इसका एक करिश्मा सुनिये–

एक रोज़ आँख बचाकर शीशमके दो तख्ते उठाकर वह ३०-४० क़दम ही गया होगा कि रायबहादुरके पिता साहू मुसद्दीलालने भाँप लिया। वे लपककर कोठीके बाहर आये और उसे आवाज़ देने लगे। लेकिन वह आवाज़को अनसुनी करके बढ़ता ही गया। उसकी इस हरकतपर खड़े हुए साहू साहब सोच ही रहे थे कि "नौकर क्या है, पूरा डाकू है। अभी तो सुना ही करते थे, आज आँखोंसे देख लिया और बुलानेपर भी वापिस न आया।" क्या करें और क्या न करें, इसी पसोपेशमें साहू साहब खड़े थे कि दूसरी गलीका चक्कर काटकर उन्हीं दो तख्तोंको बग़लमें दाबे हुए फिर कोठीकी बग़लवाली गलीसे गुज़रा। साहू साहबको देखते ही फ़र्शी सलाम झुकाया!

"क्यों भई! इधर कहाँसे, यह बग़लमें तख्ते कैसे हैं?"

"हुज़ूर क्या अर्ज़ करूँ? बुज़ुर्ग सही फ़र्मा गये हैं–

मौत, मुक़दमा, मान्दगी, मन्दा और मकान।
इतने मम्मा जब लगें, कैसे बचेंगे प्रान॥

हुज़ूर आपके ग़ुलामको मकान तो क्या बनवाना था, एक किवाड़ोंकी जोड़ी बदलवानी थी। सुबहसे यह तीसरा पहर हो गया, खातीने नाकमें दम किया हुआ है। कभी कहता है यह तख्ते छोटे हैं, कभी कहता है पतले हैं, कभी आमके लानेको कहता है, कभी शीशमके मँगाता है। अभी-अभी बमुश्किल ५ मिनिट भी न हुए होंगे, लेकर गया था कि वे भी नापसन्द कर दिये।"

साहू साहब खामोश और वह फिर एक फ़र्शी सलाम झुकाकर हज़ारों दुआएँ देता हुआ घरकी तरफ़ रवाना।

एक रोज़ झुरपटेका वक़्त था। रायबहादुर सहनमें आरामकुर्सी पर तशरीफ रखते थे कि मिस्सरजी २-२॥ सेर घी एक लोटेमें भरकर बाहर जा रहे थे कि उन्होंने भाँप लिया। आवाज़ दी, लेकिन जवाब नदारद, फिर २-३ आवाज़ दी तो जवाब मिला—आता हूँ हुजूर, आता हूँ, ज़रा किसानोंको पानी पिला दूँ।

"पहले इधर बात सुनो" मगर वहाँ कौन सुनता है, जब लोटा साफ़ कर लिया तो आकर बोला—फ़र्माइए हुजूर क्या हुक्म था ?

"तुम उस वक़्त क्यों नहीं आये।"

"हुजूर एक वक़्तमें क्या-क्या काम करूँ ? घण्टे भरसे पानीकी रौल मची हुई थी, बिचारे किसान पानीको तड़प गये, आख़िर मुझसे न देखा गया तो सब काम छोड़कर नीचे दौड़ा आया। क़ुसूर हुआ सरकार, अब हुक्म दीजिये, ताबेदारको क्या उज़्र हो सकता है ?"

"तुम उसी वक़्त क्यों नही आये ?"

"हुजूर तो सब नौकरों-जैसा मुझे भी चोर समझते हैं। अच्छा साहब ! मालिकके सामने क्या हुज्जत ? हम चोर हमारा बाप चोर, अब तो आप ख़ुश। बड़े रख गये, आप निकाल दीजिये ! नौकरी की है तो सभी बोहतान सुनने पड़ेंगे। हाय रे ज़माने और वाह रे पापी पेट।"

रायबहादुर चुप हैं और मिस्सरजी बड़-बड़ करते हुए चले जा रहे हैं।

एक कहारका छोकरा बिवाहके अवसरपर बहुतसे कपड़े चुराकर ले गया, और बाज़ारमें नीलाम करने लगा, पुलिसको शक हुआ तो गिरफ़्तार करनेपर उसने बतलाया कि वक्तन-फवक्तन मुझे रायबहादुरके यहाँसे बतौर खैरात मिलते रहे हैं। पुलिसको यक़ीन न आया और उसे हवालातमें ठोंक दिया। छोकरेके माँ-बाप घरपर आकर रोये तो रायबहादुरने कहलवा भेजा कि छोकरा छोड़ दिया जाय, ये कपड़े हमारे यहाँसे बतौर इनाम इसको मिलते रहे हैं।

× × ×

रायबहादुरके सामाजिक विचार क्या हैं, वे रूढ़िवादी हैं या सुधारक, यह जान लेना आसान नही था। वे दलबन्दीके दलदलमें फँसना मायूब समझते थे। दोनो ही दलोके प्रमुख व्यक्तियोसे उनका घनिष्ठ सबध था।

महासभाके महामत्री चैनसुखदास छावडासे व्यक्तिगत पत्रव्यवहार चलता था। अलीगढके हकीम कल्याणराय उनके पुराने मित्रोमें थे और शादी-गमीमें एक दूसरेके यहाँ आते-जाते रहते थे। यहाँ तक कि हकीमजीके यहाँ एक शादीमें ऑफीसर्सको दिये जानेवाले भोजके वे बानी-मुबानी तजवीज़ किये गये थे, और इस भोजके सिलसिलेमें जिस रोज़ वे अलीगढ जानेवाले थे, उनकी बडी लडकी चम्पा बिस्तरे मर्गपर पडी हुई दम तोड रही थी,[1] किन्तु रायबहादुर भोजके सिलसिलेमें उसी रातको अलीगढ जानेको बज़िद थे। फर्माया–"मैंने वायदा किया है, न पहूँचूगा तो हकीमजी क्या कहेंगे ?' मंने इसरार किया–'आप ऐसी स्थितिमें वहाँ जायेंगे तो हकीमजी खुश होनेके बजाय दुखी होगे। आप चलें शादीमें, मैं भी आपके साथ चलकर आपके इस कठोर आचरणका पर्दाफाश करूँगा। आप अपनेपर ही नही, इस व्यवहारसे हकीमजीपर भी सितम कर रहे हे।" बमुश्किल रुके, मगर न पहुँचनेका काफी मलाल रहा। इसी तरह सहारनपुरके सेठ जम्बूप्रसाद, रायबहादुर हुलासरायसे भी उनके पारिवारिक-जैसे सम्बन्ध थे। दिल्लीके रायबहादुर पारसदास, लाला जग्गीमल आदिसे काफी घनिष्ठता थी, दिल्लीमें वे इन्हीके यहाँ ठहरते थे। सेठ देवीसहाय फीरोज़पुर, सेठ मथुरादास मथुरा आदि सभीसे उनके सम्बन्ध थ।

महासभाके कोषाध्यक्ष बा० नवलकिशोर उनके परम मित्र थे। यहाँ तक कि इस मैत्री-सम्बन्धको चिरस्थायी बनाये रखनेके लिए राय-

---

१—यह पहाड़ी धीरज, दिल्लीमें ला० बशेशरनाथसे बिवाही थी, महीनोंसे बीमार थी और उसी रातको मर गई। रायबहादुर उसकी जलती चिताको देख सके।

बहादुरने अपनी छोटी पुत्री पद्मश्रीका रिश्ता ही उनके पुत्र लक्ष्मीचन्द्रसे कर दिया था, जो कि उन दिनों लन्दनमें पढ़ते थे और वर्तमानमें वे किसी बड़े ओहदेपर हैं। शादी होनेसे पूर्व ही लड़कीका देहान्त हो गया, और बा० नवलकिशोर भी अन्तकाल फ़र्मा गये, मगर उनके लड़केने रायबहादुर-का वैसा ही अहतराम किया जो सगे चाचा-ताऊका किया जा सकता है और इस वज़अदारीको यहाँ तक निभाया कि अपने पिताकी जगह राय-बहादुरको समझा और एक आई० सी० एस० होते हुए भी जहाँ रायबहादुर-ने उनकी शादी करना चाही, एक अक़ीदतमन्द औलादकी तरह खुशी-खुशी कर ली।

रायबहादुर किसी ज़मानेमें महासभाके महामंत्री रह चुके थे, परि-षद्के मुख्य संस्थापकोंमें थे। उसके प्रथम अधिवेशनके सभापति रह चुके थे और जीवन-पर्यन्त कोषाध्यक्ष रहे। परिषद्के प्राण बा० राजेन्द्र-कुमारजी उनके आत्मीयोंमें थे। बा० सूरजभानजी वकीलका वे बहुत श्रद्धा-भक्तिसे ज़िक्र करते थे और उन्हें अपने सामाजिक क्षेत्रका गुरु मानते थे। पं० जुगलकिशोरजीका बहुत आदर करते थे। उनको शास्त्र-प्रवचनके लिए भी बुलाया था और उनके लिखे कई ट्रैक्टोंको प्रकाशित करनेमें आर्थिक सहायता भी देते रहते थे। श्री अर्जुनलाल सेठीके वे अत्यन्त सम्मानपूर्वक मुझसे संस्मरण सुना करते थे और जिन दिनों उनके नेतृत्वमें महासभाके डेपुटेशनमें सेठीजी, ब्र० सीतलप्रसादजी, बा० सूरज-भानजी आदि गये थे, उन दिनोंकी याद करके उनकी आँखें गीली हो जाती थीं, उस वक़्तका लिया चित्र भी उन्होंने मुझे बड़े चावसे दिखाया था। देवबन्दके बा० ज्योतिप्रसादजीसे उनकी मित्रता थी। पत्रव्यवहारके अतिरिक्त शादी-ग़मीमें भी आते-जाते थे। सहारनपुरके बा० सुमेरचन्द-जी ऐडवोकेट उनके परम मित्र थे। यहाँ तक कि सहारनपुरमें परिषद्-का अधिवेशन हुआ तो रायबहादुर ही सभापति बनाये गये और अगले वर्ष १९३६ में जब परिषद्का अधिवेशन दिल्लीमें हुआ तो उससे दो-तीन माह पूर्व रायबहादुरका स्वर्गवास हो चुका था। उस दिल्ली अधि-

वेशनके सभापतित्व पदसे बा० सुमेरचन्दजीने जिन व्यथा-भरे शब्दोमें रायबहादुरको स्मरण किया, उससे उपस्थित जनताकी आँखें गीली हो गई थी।

स्थितिपालक या सुधारक व्यक्तियोसे ही नही, उनका जैनसमाज-की सभी वर्गकी सस्थाओसे कुछ-न-कुछ सम्बन्ध रहता था। परिषद्के भी कोषाध्यक्ष थे और कट्टर रूढिवादी हस्तिनापुर पचायत कमेटीके भी कोषाध्यक्ष थे। स्याद्वाद विद्यालयकी अन्तरग समितिके भी सदस्य थे।

मुझे इस तरहकी हरदिलअज़ीज़ी पसन्द नही, मुझे इस शब्दसे ही चिढ़ है। मै हरदिलअज़ीज़ीको मिर्ज़ापुरी लोटेसे मुशाबहत देता हूँ और इसे एक तरहकी गाली समझता हूँ। यह क्या मज़ाक कि गगा गये तो गगादास और जमना गये तो जमनादास बन गये। आदमी एक तरफ होके रहे, चाहे किसीका भी बनके रहे।

परन्तु धीरे-धीरे उनके मनोभाव ज़ाहिर होने लगे। उन दिनो अजमेरसे श्री फतहचन्द सेठी "जैनजगत्" निकालते थे और साहित्यरत्न प० दरबारीलालजी उसका सम्पादन करते थे। उसमें सव्यसाचीके नामसे धारावाही लेखमाला प्रकाशित हो रही थी, उसे वे बडे मनोयोगसे सुनते थे। मै उस लेखमालाका लेखक श्री अर्जुनलाल सेठीको समझता था, परन्तु रायबहादुरने पहला ही अश सुनकर बता दिया कि यह प० दरबारीलालजीकी कलमका चमत्कार है और पण्डितजी जब (सन् २८में) दशलाक्षणीमें शास्त्र-प्रवचन करने पधारे, तब आपने इस गवेषणापूर्ण लेखके लिए पण्डितजीकी काफी सराहना की।

प० दरबारीलालजीको उन दिनो शास्त्र-प्रवचनके लिए बुलाना हँसी-खेल नही, बडे कलेजेका काम था। अन्तर्जातीय विवाह-आन्दोलनके पण्डितजी मुख्य प्रेरक थे, उन्होने रूढिवाद-गढ़पर ऐसी करारी चोटें की थी और उनके हमलोका इस खूबीसे जवाब दिया था कि लोग सकतेमें आ गये थे, और जब पण्डितजीके दिये हुए शास्त्र-प्रमाणो और युक्तियोका जवाब न सूझ पडा तो रूढ़िवादी दलने बहिष्कार-नीतिका सहारा लिया।

केवल बहिष्कार ही नहीं किया, पारिवारिक भरण-पोषणसे तंग आकर इस आन्दोलनको छोड़ दें, इसलिए आर्थिक कष्टमें डालनेके लिए उस संस्थासे भी पृथक् कर दिया, जहाँ वे अध्यापन कार्य करते थे। और दिल्लीमें उनकी व्याख्यान-सभामें अहिंसाके पुजारियोंने जो हिंसाका ताण्डव किया था और रूढ़िवादी जिस तरहका उनकी सभाओंमें उत्पात मचाते थे, उसको देखकर सुधारकोंका पण्डितजीको निमन्त्रित करनेका साहस नहीं होता था।

यों मनमें सुधारक होना और बात है, परन्तु पंचायती बहिष्कारका सामना करना मज़ाक नहीं, बड़े दिलगुर्देका काम है। इष्ट-मित्र यहाँ तक कि बाप-भाई और सन्तान भी विरोधमें खड़े हो जाते हैं, और पारस्परिक सम्बन्ध विच्छेद हो जाते हैं।

"दशलाक्षणी पर्वमें शास्त्र-प्रवचन करने पण्डित दरबारीलालजी नजीबाबाद जायेंगे," रूढ़िवादियोने सुना तो घबराहट फैल गई। "उनको हरगिज़ न बुलाया जाय"—इस तरहके सेठो, रायबहादुरों और पण्डितोंके पत्रोंके ताँते लग गये। पहले तो मैंने इन पत्रोंकी कोई परवा नही की, किन्तु जब रायबहादुरके स्नेही मित्रोके पत्र आने लगे तो मेरा दिल धक-धक करने लगा कि कहीं ऐसा न हो कि रायबहादुरका मन डोल जाय और कह दें कि भई क्यों व्यर्थमें बैठे-बिठाये झगड़ा मोल लें और पण्डितजीका निमन्त्रण स्थगित कर दें। किन्तु वाह रे रायबहादुर ज्यों-ज्यों विरोधी पत्रोंका ताँता बँधता गया, उनको बुलानेका साहस भी बढ़ता गया, और मुझसे बोले—"ऐसे जितने पत्र आएँ मुझे बग़ैर दिखाये ही फाड़कर फेंकते जाओ और पण्डितजीको सख्त ताक़ीद लिख दो कि वे हर हालतमें यहाँ ज़रूर पधारें, ऐसा न हो कि किसी अनिवार्य्य कारणवश आना स्थागित कर दें।"

पण्डितजी नजीबाबाद आये और उनका खूब स्वागत-सत्कार किया गया।

उन्ही दिनो ब्र० सीतलप्रसादजीका बहिष्कार मुनि-सघने गाँव-गाँव और खेडे-खेडेमें घूमकर कराया था। सनातन जैनसमाजकी स्थापना करनेसे पूर्व ब्रह्मचारीजीने स्वय उन सस्थाओसे त्यागपत्र दे दिया था, जिनसे उनका तनिक भी सम्बन्ध था, ताकि उनके सम्पर्कके कारण किसी सस्थाको हानि न पहुँचे। काशी-स्याद्वाद-विद्यालयके अधिष्ठाता पदसे भी वे मुक्त हो चुके थे और वे अपनी समझसे उससे क़त्तई सम्बन्ध विच्छेद कर चुके थे, किन्तु भूलसे कार्यकारिणीमें उनका नाम बना रहा। अधिकारी नही चाहते थे कि ब्रह्मचारीजीका लेशमात्र सम्बन्ध भी विद्यालयसे रहे। अत उन्होने विधानके अनुसार कार्यकारिणी समितिके सदस्योसे सम्मतियाँ माँगी। रायबहादुर भी कार्यकारिणीके सदस्य थे, उनके पास पत्र पहुँचा तो उन्हें इससे बडी व्यथा पहुँची और पत्रके उत्तरमें जो उन्होने मार्मिक शब्द लिखे वे तो अब मुझे स्मरण नही रहे, परन्तु आशय यही था कि "एक तरफ तो आप विद्यालयके उत्सवोके अध्यक्ष ऐसे जैनेतर व्यक्तियोको बनाते रहते है, जिनसे हमारा पूरब-पश्चिमका मतभेद है, दूसरी ओर आप एक ऐसे व्यक्तिको विद्यालयका सदस्य भी नही रहने देना चाहते, जिसके घोर परिश्रमसे विद्यालय इतनी उन्नति कर सका है, और जिसका हर श्वास जैनधर्मके लिए उत्सर्ग है! ब्रह्मचारीजीकी सेवाएँ विद्यालय कभी भुला नही सकता।"

महावीर-जयन्तीका प्रसार भी उन दिनो बडे वेगसे बढता जा रहा था। जगह-जगह बडी धूम-धामसे महावीर-जयन्तियोके आयोजन होते थे। यह शुभ कार्य भी कुछ लोगोकी आँखोमें खटकने लगा, और इसके विरोधमें जैन गजटमें न्यायालकार प० मक्खनलालजीने सम्पादकीय वक्तव्य तक लिखा। इन लेखोको पढ़कर रायबहादुरको बहुत क्लेश पहुँचा और उन्होने सन् २९ में जैनमित्र मण्डल द्वारा आयोजित वीरजयन्ती महोत्सवके अध्यक्ष-पदसे इन जैनधर्म-प्रसार-विरोधी विचारोकी कडी भर्त्सना की।

रायबहादुरका सभी वर्गके व्यक्तियोंसे स्नेह और मैत्री सम्बन्ध

था। वे व्यर्थकी तू-तू-मैं-मैं में पडनेके पक्षपाती न थे। अपने सुलझे हुए विचार रखते थे। जैन-सगठनके अभिलाषी और हृदयसे सुधारक थे।

रायबहादुर ज़ाहिरामें न खद्दरपोश थे न काग्रेसी। वे ऑनरेरी मजिस्ट्रेट, मुन्सिफ और ट्रेज़रर थे। इसलिए आम जनता उन्हें भी जी-हुज़ूर समझती थी। लेकिन वे जीहुज़ूर कतई नही थे। सरकारी ऑफिसर्सकी हाँमें हाँ मिलाना वे खिलाफेशान समझते थे, और देशविरोधी कार्य्योंमें उनसे सहयोगकी आशा किसीको हो ही नही सकती थी। वे अत्यन्त स्वाभिमानी और आन-मानके आदमी थे।

एक बार एक नया डिप्टी कलेक्टर नजीबाबाद आया तो रायबहादुरसे घरपर मिलने नही आया। उसे आशा थी कि अन्य रईसो और सरकार-परस्तोकी तरह रायबहादुर भी डाक-बँगलेपर आकर हाज़िरी देंगे। लेकिन यह कतई नामुमकिन था। प्रथा अभीतक यह चली आ रही थी, नया डिप्टी कलेक्टर पहले घरपर हाज़िरी दे जाता था, तब रायबहादुर उसके बँगलेपर मिलने जाते थे।

डिप्टी कलेक्टर घरपर मिलने नही आया, तो रायबहादुरने इसे अपना अपमान समझा, और उसकी इस हरकतकी सूचना कलेक्टरको दे दी। इसीतरह एक बार पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टके किसी व्यवहारसे नाराज़ होकर कलेक्टरको लिखा—"आप ज़िलेके कलेक्टर है तो मै ज़िलेका चेयरमैन हूँ। इस ज़िलेमें अमन-चैन बनाये रखनेके लिए मेरी भी सरकारको उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि आपकी। सरकारको मेरी मान-प्रतिष्ठाका ख़याल रहेगा तो मेरी सेवाएँ भी उसको मिलती रहेंगी। जिलेके उच्च अधिकारियोके मौजूदा व्यवहारको देखते हुए मुझसे सहयोगकी क्या आशा की जा सकती है?"

चूँकि अब भारत स्वतन्त्र हो गया है, और जनता बडे-से-बडे मत्री और अधिकारियोकी नि शक आलोचना करती है, इसलिए आज इस पत्रकी कोई भी अहमियत मालूम न दे, किन्तु अग्रेजोके शासनकालमें रायबहादुर और खानबहादुर तो कुजा, सर और मिनिस्टर भी इस तरह-

के पत्र लिखनेकी हिम्मत नही कर सकते थे। यह इन्हींका कलेजा था जो इतना रोष और धमकीसे भरा पत्र लिख सके। इस पत्रके लिखनेके बाद पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट और डिप्टी कलेक्टरपर खासी झाड पडी और जब तक वे लोग ज़िलेमें रहे, ठीक-ठीक रहे।

देशके अन्य ज़मीदारो और रईसोकी तरह रायबहादुरने भी स्वराज्य आन्दोलनमें भाग नही लिया और राजनैतिक-क्षेत्रसे सदैव अलग रहे। काश वे देशके आन्दोलनमें कूद पडे होते तो यू० पी० के ही नही, सारे भारत के एक सम्मान्य नेता हुए होते। उनकी परिष्कृत बुद्धि, सूझ, हाजिरदमागी और सुव्यवस्थाके शत्रु-मित्र सभी कायल थे। प्रतिद्वन्द्वीको इस खूबीसे पटखना देते थे कि चारो शाने चित्त भी गिरे, मगर पीठके मिट्टी भी न लगने पाये और देखनेवाले ही नही स्वय प्रतिद्वन्द्वी भी उठकर उनके इस चातुर्य्यकी मुक्तकठसे सराहना करे।

रायबहादुर डिस्ट्रिक्ट बोर्डके ६ वर्ष चेयरमैन रहे। लगातार दो चुनावोमें विजय प्राप्त की, और विजय भी मामूली नहीं, शायद सारे ससारमें अपने ढगकी निराली और यकताँ। सन् १९२८ का दूसरा चुनाव स्वय मैने अपनी आँखोसे देखा है। डिस्ट्रिक्ट बोर्डके कुल सदस्य २६ या २८ थे। इनमें ११ मुसलमान, ६ चौहान, ५ जाट, ३ तगे, २ वैश्य और १ रायबहादुर जैन थे। अब २२ वर्षके बाद ठीक-ठीक सख्या तो स्मरण नही रही, सम्भव है उक्त सख्यामें १-२ का हेर-फेर हो, परन्तु अनुपात लगभग यही था। लिखनेका तात्पर्य केवल इतना है कि रायबहादुरके अतिरिक्त एक भी सदस्य उन्हें वोट देनेके पक्षमें नही था, किन्तु इनका साहस देखिये कि फिर भी चेयरमैनीके लिए खडे हुए और साम-दाम, दण्ड-भेदका ऐसा जाल फेंका कि बहुसम्मतिसे चेयरमैन चुन लिये गये, और इस सौजन्यपूर्ण ढगसे कि विरोधी उम्मीदवारने भी चुनाव-स्थलपर मुबारिकवाद दी और उनके भद्र व्यवहारकी मुक्त कंठसे सराहना की, और परिहास करते हुए यह भी कहा—"हम तो रायबहादुरको अपना उस्ताद मानते है, और उस्तादसे पटखना खानेमें कोई बेइज्ज़ती

नहीं।" तभी रायबहादुरकी ओरसे किसीने कहा—"जब यह बात है तो उस्तादसे कुश्ती क्यों लड़ते हो?" जवाब मिला "उस्तादसे शागिर्द कुश्ती हमेशा लड़ते आये हैं, वर्ना दाँव-पेंच कैसे आये?" इसपर खूब क़हक़हा लगा। पक्ष-विपक्षके सभी आदमी खुशी-खुशी सहभोज और और फोटो ग्रुपमें शामिल हुए, और खूबी यह कि चेयरमैन चुने जानेपर इस सुव्यवस्थित ढंगसे बोर्डका कार्य्य चलाया और बोर्डके सदस्योंसे ऐसा व्यवहार रखा कि कभी अविश्वासका प्रस्ताव आने तककी नौबत नही आई।

रायबहादुर इतने व्यवहारकुशल और ज़ाहिरा रख-रखावके क़ायल थे कि बड़े-से-बड़े प्रतिद्वन्द्वीसे भी प्रकट रूपसे मनोमालिन्य नहीं रखते थे। सामना होनेपर बड़े तपाकसे मिलते थे। शादी-ग़मीमें शामिल होते थे। एक-दूसरेके यहाँ ठहरते थे, खाना खाते थे और ज़बानपर एक भी हर्फ़ ऐसा न लाते थे, जिससे उसकी दिलशिकनी हो।

सन् २५ या २६ में कौंसिलोंके चुनावमें बिजनौर ज़िलेसे स्वराज्य पार्टीकी ओरसे बा० नेमिसरन जैन बी० ए० एल्-एल० बी० और हिन्दू महासभाकी तरफ़से रायबहादुर खड़े किये गये। नजीबाबाद पोलिंग स्टेशन संघर्ष-केन्द्र बना हुआ था। दोनों पक्षोंके हिमायती जान लड़ा रहे थे। लाठियाँ तनी हुई थीं और कब क्या हो जाय, इसकी आशंका पल-पल बनी हुई थी, तब भी रायबहादुर और बा० नेमिसरन एक ही जगह बैठे हुए हास-परिहास कर रहे थे। उनको देखकर ऐसा मालूम होता था, गोया दो सगे भाई कौतूहलवश चुनाव-संघर्ष देखने चले आये हों।

इलेक्शनोंकी हार-जीतको अक्सर लोग जीवन-मरणका प्रश्न बना लेते हैं, और अनन्य मित्र भी एक-दूसरेके शत्रु हो जाते हैं। और इलेक्शन सम्बन्धी बदले हर तरहसे लेनेके प्रयत्न किये जाते हैं; परन्तु रायबहादुर इन इलेक्शनोंकी हार-जीतको शतरंजकी बाजी जितना भी महत्त्व नहीं देते थे। जीतनेपर न वे उफनते थे, न एक हल्का शब्द कहते थे और न हारनेपर मायूस होते थे, न किसीसे बदला लेते थे।

जीत-हार दोनो ही अवसरोपर सजीदगीका दामन पकडे रहते थे। वही खन्दाँपेशानी, वही बामज़ाक तबियत और वही दैनिक कार्य। लमहेभरको भी किसी बातमें फर्क नही पडता था।

सन् १९२६ में म्यूनिस्पल इलेक्शनमें उनकी पार्टी हार गई तो स्वभावत: उनके हितैषी मित्रोको बहुत व्यथा पहुँची। लेकिन आप उसी तरह मुस्कराते रहे और बोले—भई! अगर हार न हो तो जीतका लुत्फ भी क्या?"

दूसरे रोज़ रायबहादुरके यहाँ विजयी पार्टीके नेता अपनी लडकीके विवाहके अवसर पर—बर्तन, सवारी, कालीन आदि माँगने आये तो आप बडे तपाकसे उनसे मिले, और अपने छोटे भाई साहू रामस्वरूपजीको उलाहना देते हुए बोले—भैयाजी, अपनी ही लडकीकी शादी हो और हमें मालूम तक न हो, शादीकी तारीख तो मालूम रहनी ही चाहिए थी और सब आवश्यक सामान अपने उस मकानमें पहुँच जाना चाहिए था।" विरोधी नेता उनके इस सौजन्यपूर्ण व्यवहारसे पानी-पानी हो गया।

रायबहादुर अत्यन्त व्यवस्थित ढगसे रहते थे और फूहडपनको कतई पसन्द नही करते थे। जिस भाषामें पत्र भेजते, पता भी उसी भाषा में लिखते थे। एक बार हिन्दीके पत्रपर मैंने स्थानका नाम अँगरेज़ीमें लिख दिया तो वे इस ढगसे मुस्कराये कि मै कट-सा गया। लिफाफे और कार्डों पर यथास्थान टिकिट लगवाते, तनिक भी इधर-उधर लग जाने या उल्टा चिपक जानेको मायूब समझते और ठीक न होनेपर फाडकर फिकवा देते, किन्तु उल्टा-सीधा बेतरतीब पोस्ट न कराते।

वे पत्र-व्यवहारमें बहुत सावधानी बरतते थे। एक-एक शब्द बहुत सोच-समझकर लिखते-लिखाते थे। सरकारी आफिसर्सके पत्रोमें ड्राफ्ट करनेवाले ऐसा शब्द डाल देते कि जिससे तनिक भी खुशामद या जीहुज़ूरी की बू आये तो "हम भाँड नही है जो उसकी खुशामद या तारीफ करें"—कहकर वह शब्द निकलवा देते थे। चाहे वह शब्द वहाँ कितना ही मौज़ूँ और सही क्यो न हो।

रायबहादुर खुशपोश, खुशअखलाक, हाज़िरजवाब, महमाँनवाज़ मिलनसार और बडी वज़अ-कतअके आदमी थे।

आज उनको स्वर्गासीन हुए १७-१८ वर्ष हो गये, परन्तु उनकी व्यवस्था, सभा-सचालन, भाषणशैली, पत्रोमें भाव व्यक्त करनेके तरीके भुलाये नही भूलते।

—ज्ञानोदय, काशी
अप्रैल १९५१

जन्म— कुताना, ई० स० १८७६

स्वर्गवास— दिल्ली, ई० स० १९३०

कांग्रेसके मूक सेवक

गोयलीय

रायबहादुर सुलतानसिंह दिल्लीके प्रतिष्ठित और जनप्रिय ऐसे नागरिक थे, जिनपर हर देहलवीको नाज था। जाहिरा में उनके साथ सरकारी उपाधि चिपकी हुई थी, किन्तु अन्तरगमे वे खरे देशभक्त थे। उनके यहाँ वाइसराय, चीफ कमिश्नर और राजा-महाराजा भी अतिथि रूपमे आते रहते थे, और देशके सर्वोच्च नेता—महात्मा गाधी, प० मोतीलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू-आदि जब भी देहली तशरीफ लाते, उन्हीके यहाँ कयाम फर्माते थे। उन्हीके यहाँ काग्रेस-वर्किंग कमेटीकी बैठके होती और उन्हीके यहाँ अग्रेजी सरकारसे लोहा लेनेके दाव-पेच सोचे जाते थे।

उनका भद्रव्यवहार, नम्रतापूर्ण आतिथ्य, उदार स्वभाव और रहन-सहनके उच्च स्तरसे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि अतिथियोको आवश्यकतासे अधिक सुविधाएँ उनके यहाँ मिलती होंगी और जो एकबार उनके स्नेहपाशमे बँध गया, वह जीवनभर बँधा रहकर, उनके यहाँके अतिरिक्त अन्यत्र ठहरनेकी कल्पना भी नही कर सकता होगा। लेकिन देशके इन महान् नेताओका इतना अधिक विश्वास और स्नेह वे कैसे प्राप्त कर सके, यह जिज्ञासा उनकी जीवितावस्थामें भी मेरे मनमें उठा करती थी, किन्तु खेद है कि कभी साक्षात् परिचयका अवसर ही प्राप्त न हो सका।

मेरी प्रबल अभिलाषा थी कि उनके सस्मरण, परिचय और नेताओ की उन दिनोकी मीठी स्मृतियाँ स्वय श्रीमती रायबहादुर अपने मुबारिक कलमसे लिखकर अता फर्मायें तो इतिहासकी एक बेशबहा कीमती वस्तु बन जाये, किन्तु उनकी व्यस्तताके कारण मनकी मुराद पूरी न हो सकी।

मुझे हर्ष है कि रायबहादुर साहबका सस्मरण मेरी प्रार्थनाको मान देकर भारतीय ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमालाके यशस्वी सम्पादक श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैनकी विदुषी पत्नी श्रीमती कुन्थाजैनने लिख देनेकी कृपा की है। रायबहादुरसाहब आपके फूफा थे, उन्हीके आँगनमे खेलते-पढते बचपन गुजरा है, उनके निकट सम्पर्कमे रही है और सस्मरण लिखने से एक सप्ताह पूर्व उनके यहाँ रहकर आई है।

१६३० मे असहयोग-आन्दोलन जब पूरी जवानीपर था, तभी रायबहादुर साहबका निधन हो गया। निधनकी खबर जेलमे पहुँची तो बन्दी नेताओके मुँह शोकाकुल हो गये, और बडी कातरतासे एक-दूसरेका मुँह देखने लगे। मुझ रगरूटकी बुद्धिमे इस शोकका कारण समझमें नही आया तो एक नेतासे झिझकते हुए पूछा—"काग्रेस तो सरकारी उपाधिधारियोसे बहुत ही घृणा करती है, देशद्रोही समझती है और उनके लिए "टोडी बच्चा हाय-हाय"के नारे लगवाती है, फिर रायबहादुर सुल्तानसिंहकी मृत्युपर इस क़दर बेचैनीका इज़हार क्यो किया जा रहा

है ?" वे रुँधे कंठसे बोले—"तुम नहीं समझ सकते कि रायबहादुर कितने कामके थे। वे क्या गये, दिल्ली कांग्रेसका स्तम्भ गिर गया। उनके बलपर हम न जाने कितने खेल खेलते थे।"

उनकी अनुशासनप्रियताका तो एक उदाहरण "वह भव्य व्यक्तित्व" मिलेगा। उनकी ग़रीबपरवरीका एक वाक़या मुझे भी याद आ गया है।

रायबहादुर एक रोज़ अपनी जायदादके सामनेसे गुज़र रहे थे, एक दुकानमें मालिन बैठी देखकर एक मूली खानेको उठाने लगे तो उसने हाथ झटक दिया। वह इन्हें पहचानती नही थी, और किराया-मुंशी आगे बढ़ गया था। मुशीने मुड़कर देखा तो मालिनपर बरस पड़ा। रायबहादुर मुशीको समझाते हुए बोले—"यह बहुत ग़रीब मालूम होती है, जो मूलीके इतने टुकड़ेका भी ज़ाया जाना बर्दाश्त नही कर सकती, इसका छह माहका किराया माफ़ किया जाता है।" मालिनको वास्तविक स्थिति विदित हुई तो वह अपना ओढ़ना रायबहादुरके पाँवोंमें डालकर सुबकने लगी। रायबहादुरकी जेबमें जितने रुपये थे, उस ओढ़नेमें डालकर वे आगे बढ़ गये।

वे खुशपोश ऐसे थे कि आज भी लोग उनकी मिसाल पेश करते हैं।

—डालमियानगर,
२ नवम्बर १९५१

वह भव्य व्यक्तित्व !

श्रीमती कुन्था लक्ष्मीचन्द जैन बी० ए० (आनर्स) बी० टी०

सन् १६३० के वे तूफानी दिन ! देशकी स्वतन्त्रताका आन्दोलन ज़ोरोपर था। मीलो लम्बे जुलूस, लाख-लाख आदमियोकी सभाएँ, झडाभिवादनके रोमाञ्चक दृश्य, नेताओके भव्य दर्शन, लपकती लौ-से भाषण और शमॉपर झुलसनेवाले परवानो-सा हौसला ! लाठी, गोली और सगीन सब नजारे सामने थे। वातावरणमे और मनमे वही एक तान गूँजती थी—

सर फ़रोशीकी तमन्ना अब हमारे दिलमें है।
देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए-क़ातिलमें है॥

उन दिनो मै देहलीके इन्द्रप्रस्थ गर्ल्स हाई स्कूलमें नवी क्लासमे पढती थी। जैन-महिलाओ व लडकियोकी वौलिंटियर कोर (स्वय-सेविका दल) की सचालिका थी, इसलिए ऐसी लगनसे काम करती थी, जैसे आन्दो-लनकी सफलताका भार मेरे ही कन्धोपर हो। लालाजी (पिताजी) के उत्साहका सहारा हृदयसे तो प्राप्त था, पर बाहरी रूपसे एक हद तक। वह हद यह थी कि मेरे ताऊजी लाला रतनलाल गवर्नमेंट कौलिजके प्रिन्सिपल थे और 'रायसाहब' थे, और मेरे फूफा, लाला सुल्तानसिंहजी, 'रायबहादुर' थे। स्वयम् पिताजी उन दिनो इम्पीरियल बैंकमे खज़ाञ्ची थे। अनेक सरकारी अधिकारी मित्रताके नाते लालाजीको सावधान करते रहते कि राष्ट्रिय आन्दोलनमें लडकीको आगे बढनेसे रोके।

मै घरमे यह बातें सुनती तो थी, पर हतोत्साहित नही होती थी। इसका सबसे बडा कारण यह था कि मेरी बुआजी (मिसिज़ सुल्तानसिंह) ऑल इण्डिया विमेंस कॉनफ्रेंसकी प्रेसीडेण्ट थी और राष्ट्रिय काम करने

वाली प्रमुख महिलाओंको सदा निकटतम सम्पर्कमें रखती थीं। एक दिन मैं बुआजीके पास बैठी हुई थी कि श्रीमती अरुणा आसफ़अली आई और बुआजीसे बोलीं—"बहूजी, प्रेजिडैण्ट विट्ठलभाई पटेलका टेलिग्राम आ गया है, वह कल दिल्ली पहुँच रहे हैं। उन्होंने प्रेस-रिप्रेज़ैंटेटिव (पत्र-कारों) से कहा है कि लैजिस्लेटिव एसैम्बलीकी प्रेज़िडैण्टशिप छोड़नेके कारणोंपर और अपने आइन्दाके प्रोग्रामके बारेमें उन्हें जो कुछ कहना है, वह दिल्लीके पब्लिक जलसेमें ही कहेंगे, इसलिए कल साढ़े पाँच बजे जलसा बुलाया है। सरस्वती-भवनमें महिलाओंकी जो मीटिंग कल रखी है, उसे पोस्टपोन (स्थगित) कर दिया जाये। आपकी इजाज़त लेने आई हूँ।"

"हाँ, मीटिंग तो पोस्टपोन ही कर देना चाहिए। प्रेज़िडैण्ट विट्ठल-भाई पटेलके इस्तीफ़ेसे अंग्रेज़ोंमें काफ़ी बेचैनी है। अभी इनके (राय-बहादुर सुल्तानसिंहके) पास शिमलेसे किसीका टैलीफोन था। शायद सरदार पटेल यहीं ठहरें,"—बुआजीने मिसिज़ आसफ़अलीको बताया।

जब मिसिज़ आसफ़अली थोड़ी देर बात करके चली गई तो बुआजी बोलीं—"कुन्था, कल साढ़े पाँच बजे जल्सेमें चलना। गाड़ी भेज दूँगी; कम्पनी बागमें मीटिंग है।"

मैं जब घर वापिस आई तो देखा सब जगह मोहल्लेभरमें, बाज़ारोंमें प्रेज़िडैण्ट पटेलके इस्तीफ़ेकी धूम है। लोग खुश थे और जुलूस-जल्सेके ऐलानके इन्तज़ारमें थे। लालाजीने मुझसे कहा—"बेटा, कल तुम्हें प्रेज़िडैण्ट पटेलके विजय-तिलक करना है,—सब तय्यारी कर लेना।"

अगले दिन शामको साढ़े पाँच बजे कम्पनीबाग़में बुआजीके साथ जल्सेमें पहुँचे तो फूफाजी भी साथ थे। हम लोग मंचपर बैठे। प्रेज़िडैण्ट विट्ठलभाई पटेल जब जल्सेमें पहुँचे तो आसमान नारोंसे गूँज उठा। लाखों की भीड़ थी। जोशका ठिकाना न था। मैं अपने साथ एक चाँदीकी थालीमें रोली और अक्षत व अपने हाथसे काते हुए सूतके कुछ तार लेती गई थी। बुआजीने वह देखकर पूछा कि "यह क्या है"...मैं उत्तर देनेमें झिझक रही थी, इसलिए लालाजीने कहा कि "इसका विचार प्रेज़िडैण्ट पलटे

के विजय-तिलक करनेका है-आपकी क्या राय है ?"—बुआजी अभी कुछ सोच भी न पाई थी कि फूफाजीको फैसला करते देर न लगी । ज्यो ही मिस्टर आसफअलीने जल्सेकी कारवाई शुरू होनेका ऐलान किया कि फूफाजीने मुझे दोनो हाथोका सहारा देकर मचपर खडा कर दिया और थाली मेरे हाथोमें पकडा दी । मिस्टर आसफअलीने लाउड स्पीकर पर ऐलान कर दिया "अब हमारे अजीज और मोहत्तरिम (आदरणीय) नेताको तिलक किया जायेगा । विजयतिलक देहलीकी जनताकी ओरसे यह बच्ची करेगी । रायबहादुर साहबसे पूछकर उन्होने आगे ऐलान किया । 'इस बच्चीका नाम कुन्थकुमारी जैन है । यह जैन वौलिण्टियर कोरकी कैप्टेन है ।" मिस्टर आसफअलीने अपनी तरफसे यह भी ऐलान कर दिया कि "तिलक करनेके बाद यह बच्ची तकरीर भी करेगी ।"

जिस महापुरुषके चरणोको छूना भी सौभाग्य था, उसके महामहिम मस्तकपर जनताकी ओरसे विजय-तिलक करना जीवनकी अमूल्यतम वरदानमयी घटना है । उस उल्लासमें मैने दो मिनिटके भाषणमें क्या कहा, वह न तब याद रहा न आज याद है । याद है केवल वह प्रशस्त मस्तक, माँ भारतीकी स्फटिकोज्ज्वल पीठिका-सा जिसको आज भी मन ही मन नमस्कार कर लेती हूँ, और याद है वह फूफाजी, जिनके वरद हाथोका सहारा पाकर मै मचपर खडी हो सकी थी ।

× × ×

फूफाजीके सम्बन्धमे लिखते हुए मुझे जो घटनाएँ याद आती है और जिनकी स्मृति मेरे मनपर अमिट है, उनका यदि उल्लेख करूँ तो रायबहादुर लाला सुल्तानसिहके सम्बन्धमें एक राष्ट्रिय-प्रकारकी धारणा बनती है, किन्तु यह धारणा आशिक रूपसे ही सत्य है, क्योकि लाला सुल्तानसिहजी प्रतिष्ठित रईस, बिरादरीके अगुआ, सामाजिक सुधारोके समर्थक और सरकार द्वारा सम्मानित प्रमुख नागरिक पहले थे, और राष्ट्रिय सहयोगी बादमें । फिर भी उनकी कोठीमें होनेवाली गार्डन पार्टियाँ, जिनमें वाइस-राय और चीफ कमिश्नर आते थे; अथवा उनके अतिथि-भवनमें ठहरने

वाले महाराजा काश्मीर, महाराजा मैसूर और महाराजा जयपुरकी स्मृति की अपेक्षा, मेरे मनमें राष्ट्रिय नेताओंके सम्पर्क की ही छाप अमिट है। मैंने फूफाजीके यहाँ ही महात्मा गांधीके दर्शन किये। वहाँ ही महाकवि रवीन्द्रनाथके मुखसे कविता-पाठ सुना। वहाँ ही श्रीमती सरोजिनी नायडूसे परिचय प्राप्त किया। उस दिन होलीका दिन था। बुआजीने मुझे और मेरे पतिको विशेष रूपसे आमन्त्रित किया था, क्योंकि हमारे विवाहके बाद यह पहली होली थी। श्रीमती सरोजिनी नायडू उस रोज़ बुआजीके यहाँ ठहरी हुई थीं। बुआजी हम दोनोंको उसी तरह रंगमें भीगे और गुलालसे पुते, श्रीमती नायडूके पास ले गई और परिचय करा दिया। प्रफुल्लित आनन और मधुर कण्ठसे श्रीमती नायडूने कहा— "Oh how beautiful—immersed in colours, like Krishna and Radha." (कितने सुन्दर ! रंगोंमें डूबे—कृष्ण और राधा-से !)

गत ५० वर्षोंमें भारतवर्षकी राजधानी देहलीमें जैनसमाजके जिन व्यक्तियोंने सार्वजनिक ख्याति, राजकीय प्रतिष्ठा और बिरादरीका आदर तथा स्नेह पाया है, उनमें रायबहादुर लाला सुल्तानसिंहका स्थान निःसन्देह बहुत ऊँचा है। नई दिल्लीका निर्माण होनेसे पहले, काश्मीरी गेट देहलीका सबसे अधिक समृद्धिशील बस्ती था, जहाँ बड़ी-बड़ी अंग्रेज़ी दुकानें, विशाल कोठियाँ, विख्यात होटल और बैंक आदि थे। करोड़ों रुपयेकी लागतके इन विशाल भवनोंमेंसे अधिकाशका स्वामित्व राय-बहादुर सुल्तान सिंहको प्राप्त था। मैंने स्वयम् सुना है, उनके अंग्रेज मित्र उन्हें "King of Kashmere Gate"—कश्मीरी गेटके बादशाह—कहा करते थे। कश्मीरी गेट ही क्यों, दरीबा, चेलपुरी, दरयागञ्ज, दिल्ली दरवाज़े आदि अनेक स्थानोंमें उनकी दुकानें और कोठियाँ थीं, जिनसे लाखों रुपयेकी आमदनी थी। शिमला, कसौली, मंसूरी, देहरादून आदि प्रायः सभी पहाड़ी स्वास्थ्यप्रद स्थानोंमें उनकी कोठियाँ थीं।

लाला सुल्तान सिंहजीका मुख्य व्यवसाय साहूकारा, लेन-देन, ज़मी-

दारी और बैंकोका सचालन था। इन्होने देहली, शिमला, मेरठ आदि स्थानोके इम्पीरियल बैंकके मुख्य कार्यालय और समस्त शाखाओंके खजानो की सँभाल और सचालनका उत्तरदायित्व ले रक्खा था। इतने बडे बैंकिग व्यवसायकी जिम्मेदारी ब्रिटिश गवर्नमेंटने जिनके ऊपर छोडी हुई थी, उनकी निजी समृद्धि, ईमानदारी और व्यावसायिक निपुणतापर सरकारको कितना भारी विश्वास होगा ? जैनसमाजके प्रधान व्यक्तियो का इतिहास देखनेपर बार-बार जो बात सबसे ऊपर उठकर सामने आती है, वह यही है कि ससारके जिस अर्थ, कञ्चनको लेकर षड्यन्त्र, विश्वास-घात और विद्रोह हुए है, तथा साम्राज्योके ध्वस और निर्माणमे जिस धन न मूल प्रेरणा दी है, उसकी रक्षाका अविचल विश्वास और उत्तरदायित्व यदि किसी समाजने अर्पित किया है तो वह जैनसमाज ही है। भारतीय इतिहासके प्रत्येक युगमे इसके उदाहरण मिलेगे। रायबहादुर सुल्तान-सिहने विश्वास और प्रामाणिकताकी इस ऐतिहासिक परम्पराको उस समय सफलतासे निभाया, जब कि इस उत्तरदायित्वका सम्बन्ध ससारके सबसे बडे साम्राज्यके राज्यकोषसे था।

रायबहादुर सुल्तानसिहका जन्म सन् १८७६ में कुताना (तहसील सोनीपत) के जमीदार, दिल्लीके रईस श्री निहालचन्दजीके यहाँ हुआ था। इनके पिता इन्हे बहुत ही छोटी उम्रमे छोडकर स्वर्गस्थ हो गये थे और इनका लालन-पालन इनके दादा ला० शौसिहरायने किया, जो कि उस समय जैन-समाजके सरपच और अग्रणी थे। अपने दादाकी मृत्युके समय भी लाला सुल्तानसिह नाबालिग थे, इसलिए सरकारकी ओरसे एक अग्रेज अधिकारी इनका ट्रस्टी बना दिया गया था। दादाकी मृत्युके समय इनकी सम्पत्ति केवल सात लाख रुपये समझी जाती थी, परन्तु रायबहादुर साहबने छोटी उम्रसे ही अपनी होशियारी, मेहनत, कुशाग्रबुद्धि तथा लगनसे अपने खान्दानी कामको इतना बढ़ाया और अपने पौरुष और साहससे वह धन और यश कमाया कि यह अपने पीछे करोडो रुपये की सम्पत्ति छोड गये।

इन्होंने जितनी शानसे द्रव्य-उपार्जन किया, उतनी ही उदारतासे उसे व्यय भी किया। नई दिल्लीमें इन्होंने जिस कोठीका निर्माण कराया था, वह उस समयतककी सबसे विशाल और आधुनिकतम कोठी थी। वह कोठी अब महाराजा पटियालाने खरीद ली है। इस कोठीमें जहाँ अंग्रेजी नाचघर था, वहाँ प्रार्थना-भवन भी कम आकर्षक नही था। उसका विशाल गुलाब-बाग़ अद्वितीय था, क्योंकि इतने प्रकारके स्वदेशी-विदेशी गुलाबोंका एक ही स्थानमें और कहीं मिलना असम्भव था।

धनिक वर्गमें वैभव और ऐश्वर्यके प्रदर्शनमें जो एक मूक प्रतियोगिता चला करती है, उसमें रायबहादुर सुल्तानसिंह प्रायः सदा आगे ही रहे। नई कार, नया वायर्लेस, नई तरहकी लिफ़्ट, कोठीका नया डिज़ायन, सूटका नया कट, सबसे पहले इनके यहाँ देखनेको मिलता था। नया वाइसराय यदि पहली बार किसी रईसकी गार्डन पार्टीमें शामिल होगा, तो इनके यहाँ। नया चीफ़ कमिश्नर यदि सबसे पहले किसी नागरिकसे मिलना चाहेगा तो इनसे। मतलब यह कि राज्य, समाज और जनता उस ज़माने में रईसीके जिस रूपसे प्रभावित होती थी और जिसका प्रदर्शन उस ज़माने का 'फैशन' था, उसमें इनसे बाज़ी लेना मुश्किल था। इनके लड़के श्री रघुवीरसिंहका विवाह हुआ तो देहलीमें, जिस चार घोड़ोंकी गाड़ीमें केवल वायसराय ही निकल सकते थे, वैसी चार-चार घोड़ोंकी आठ गाड़ियाँ बारातमें निकलीं। अपनी सवारीके लिए इन्होंने बिलायतसे घोड़े मँगवाये, जिनके रहनेके लिए विशेष अस्तबल बनवाये, जिन्हें पंखों तथा खसकी टट्टियोंसे ठंडा रक्खा जाता था। ये खुद बहुत अच्छे तैराक थे और व्यायाम करनेका शौक़ रखते थे, घरमें ही अखाड़ा बनवा रक्खा था और एक पहलवानको नियत किया हुआ था, जो कुश्ती लड़ना सिखाता था। एक क़िस्सा-गो (कहानी सुनानेवाला) भी नियत था, जो प्रत्येक दिन आकर सारे शहर और समाजकी खबरें सुना जाता था और दिल बहलानेको कभी-कभी दिलचस्प कहानी भी कह जाता था।

यह बात नहीं कि लाला सुल्तानसिंहकी प्रतिष्ठा केवल उनके

धन-वैभव, उनकी रायबहादुरी अथवा राजकीय सम्पर्कोंके कारण रही हो। उनके अग्रणी होनेका मुख्य कारण यह था कि वे विचारों, भावनाओं और आदर्शोंके निर्वाहमें भी अग्रणी थे। यद्यपि कॉलिजकी पढ़ाई उन्हें ऐफ-ए (इण्टरमीडियेट) में ही छोड़नी पड़ी, क्योंकि उनकी आँखें कमज़ोर हो गई थी, किन्तु ज्ञानकी पिपासा और अनुभवकी खोज उन्हें सारे जीवन ही रही। उनके विचार उदार और दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी। पश्चिमी प्रभावोंमें उन्होंने केवल वही अपनाया जो दृष्टिको उदार और मनको महत् बनानेमें सहायक हो सका। यही कारण है कि उन्होंने अपने व्यक्तिगत सम्पर्क और अपने पुत्र श्री रघुवीरसिंहकी शिक्षाके लिए दीनबन्धु श्री सी० एफ० ऐण्ड्रयूज़ और मिशन कॉलिज देहलीके प्रिन्सिपल श्री एस० के० रुद्र-जैसे विशिष्ट विद्वानों तथा राष्ट्रियताके समर्थकोंको नियुक्त किया। दिल्लीके डायरैक्टर ऑफ ऐज्यूकेशन श्री चटर्जी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चटर्जी, जो अत्यन्त उच्च शिक्षा प्राप्त सुसंस्कृत महिला थीं, इनके यहाँ मित्र और शिक्षकके रूपमें आते-जाते थे। ऐसे व्यक्तियों के निरन्तर सम्पर्क द्वारा लाला सुल्तानसिंहको पूर्व और पश्चिमकी संस्कृतियोंका व्यवहारगम्य सुन्दर सामञ्जस्य प्राप्त हुआ था। इन्होंने ९ बार विदेशोंकी यात्रा की और इस प्रकार अपने अनुभवोंको समृद्ध तथा व्यवसाय को उन्नत किया। उस समय विदेश-यात्रा करना बहुत ही असाधारण और विचित्र बात समझी जाती थी, इसकी सामाजिक प्रतिक्रियाको झेलनेके लिए पर्याप्त साहसकी आवश्यकता थी।

उनके व्यक्तित्वकी प्रमुख विशेषता थी कि वह समाज व देशके हर काममें बड़ी तत्परता और उत्साहसे भाग लेते थे और हर श्रेणीके उच्चतम व्यक्तियोसे उनका व्यक्तिगत सम्पर्क था। उनका अपने जैनधर्म पर दृढ़ विश्वास था और जीवनकी इतनी व्यस्तताओंके बीच भी वह नित्यपाठ करना नहीं छोड़ते थे। इन्होंने सन् १९०० में जैन-यात्रा-संघ चलाया, जिसमें ४०० के लगभग स्त्री-पुरुष व बच्चे थे। सन् १९२३ में देहलीमें जो बिशाल पंचकल्याणकप्रतिष्ठा हुई थी, उसको सफल

बनानेमें इन्होंने रात-दिन एक कर दिया था और कई प्रकारके मतभेद होनेपर भी, इन्हींके नेतृत्वके बलपर इतना विशाल आयोजन सम्पन्न हो सका। शिमलेका जैन-मन्दिर जिस भूमि-स्थानपर बना हुआ है, वह इनकी माताकी जन्मभूमि थी, जो इनके नाना द्वारा इनकी माँको दहेज़में मिली थी और जिसे इन्होंने धर्मकार्यके लिए दानमें दे दिया। जहाँ जैन-जाति और जैन समाजके वह प्राण थे, वहाँ उनकी उदारता और उत्साह अन्य जातियोंके लिए भी कम न था। वह हर वर्ष ही रामलीला कमेटीके प्रेजिडेण्ट होते थे, और रामलीलाके जुलूसके साथ-साथ घोड़ेपर सवार होकर सारे प्रदर्शनका नेतृत्व करते थे। जब देहलीमें अखिल भारतवर्षीय वैष्णव कॉन्फ्रेंस हुई, जिसके सभापति महाराजा दरभंगा थे, तो उस समय इन्हें ही स्वागताध्यक्ष चुना गया। उस समय इनकी आयु २०-२२ वर्षसे अधिक न थी। जब मुहर्रमके दिनोंमें मुसलमानोंके ताजिये निकलते थे, तो यह ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट तथा प्रमुख नागरिककी हैसियतसे स्वयम् घोड़ेपर ताज़ियोंके साथ-साथ रहते थे। किसी भी प्रकारके सार्वजनिक संकटके समय भीषण परिस्थितियोंमें भी यह सहायतार्थ आगे ही आगे रहते थे। सन् १९१२ में जब दिल्लीमें चाँदनी चौकमें जुलूस निकलते समय लार्ड हार्डिगपर बम गिरा, तब जितनी स्त्रियाँ जुलूस देखने सड़कके किनारे इधर-उधर खड़ी थीं, वे सब पुलिस द्वारा पंजाब नैशनल बैंकमें बन्द कर दी गईं, उस समय यह वहाँ पहुँचे और अपनी व्यक्तिगत ज़मानत देकर सबको रिहा करवा लाये। देहलीमें गुड़वालोंका बहुत ही पुराना और क़दीमी खानदान था पर, अभाग्यवश जब उनके व्यवसायने पल्टा खाया और दिवाला देनेकी नौबत आ गई, उस समय इन्होंने ही उनको हर प्रकार की मदद देकर उन्हें दिवालिया होनेसे बचा लिया।

प्रारम्भमें दिये गये संस्मरणोंसे इस बातकी झाँकी मिलती है कि रायबहादुर साहबके व्यक्तिगत सम्बन्ध प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्रिय नेताओं से थे और राजनैतिक मामलोंमें उनकी पूरी दिलचस्पी थी। सन् १९१८ में देहलीमें होनेवाले कांग्रेसके वार्षिक अधिवेशनके वह मुख्य कार्यकर्त्ता

थे। उसी समयकी एक घटना इनके उदार और असाधारण दृष्टिकोण का परिचय कराती है। कांग्रेसके अधिवेशनके समय कार्यकारिणीकी बैठक हो रही थी और केवल कुछ गिनेचुने व्यक्ति ही उसमें सम्मिलित हो सकते थे। उस समय द्वारपर जो स्वयंसेवक ड्यूटीपर था, उसको आदेश था कि वह उसी व्यक्तिको अन्दर जाने दे, जिसके पास कार्यकारिणी समितिके मेम्बर होनेका 'पास' हो। रायबहादुर साहब अपना 'पास' लाना भूल गये और मीटिंगमें सम्मिलित होनेके लिए अन्दर जाने लगे। वौलिंटियरने उन्हें द्वारपर ही रोक दिया और अन्दर नहीं जाने दिया। वहाँ उपस्थित अन्य व्यक्तियोंने यह देखा तो उस वौलिंटियरको बहुत डाँटा-डपटा पर रायबहादुर साहब उस स्वयंसेवककी कर्तव्य-परायणतासे बहुत प्रभावित हुए,—वह खुले अधिवेशनमें उसे मंच पर ले गये और उसकी कर्तव्य-परायणताकी प्रशंसा करते हुए उसे एक स्वर्ण-पदक दिया।

सन् १९२१ में गांधीजीने जब अपना प्रथम उपवास किया तो वह इन्हींकी कोठीमें ठहरे हुए थे। वर्षों तक यह पंजाब स्टेट कौंसिलके मैम्बर, म्यूनिसिपल कमिश्नर तथा ऑनरेरी मजिस्ट्रेट रहे।

शिक्षा-प्रचारके कार्योंमें इन्होंने सदा ही तन, मन और धनसे पूर्ण सहायता की। दिल्लीका इन्द्रप्रस्थ गर्ल् ज़ स्कूल और कॉलिज जो आजकल न केवल दिल्लीकी बल्कि भारतवर्षकी उच्च कोटिकी संस्थाएँ ह, इन्हींके प्रयत्नसे स्थापित हुई और इनके आजीवन सभापतित्वमें पनपीं। यह विख्यात स्कूल इनकी ही जायदादमें स्थित है। देहलीके तिब्बिया कॉलिज, लेडी हार्डिंग मेडिकल कॉलिज, हिन्दू कॉलिज, सब ही की स्थापनाके अवसर पर इन्होंने बहुत बहुत दान दिया और जीवनभर इन संस्थाओंको चलाने, बढ़ाने और सुधारनेमें प्रयत्नशील रहे। इन्हींके शिक्षा-प्रेमके फलस्वरूप आज भारतकी अनन्य और अद्वितीय संस्था मौडॆर्न हाई स्कूल नई देहली ने देशविदेशोंमें गौरवशील स्थान प्राप्त किया है। इनके इकलौते सुपुत्र ला० रघुवीरसिंहने अपना समस्त जीवन इस ही संस्थाको बनानेमें लगा

दिया और पिताकी इतनी बड़ी पूंजी और व्यवसायोंके संवर्द्धनकी उपेक्षा करके एक त्यागी तपस्वीकी भाँति अपना धन, मन और लगन इसीपर न्यौ-छावर कर दिया। शिक्षाकी आधुनिकतम पद्धतियोंको अपनाकर, पश्चिमी देशोंके सुसंगठित पब्लिक स्कूल्सके ढंगपर भारतीय बच्चोंके अनुकूल शिक्षाका इतना बड़ा सफल प्रयोग देशमें शायद ही कही हुआ है।

सामाजिक कुरीतियोंको हटाने व आधुनिक विचारोंको कार्यान्वित करनेमें भी रायबहादुर साहब सदैव पहला क़दम उठाते थे। उस समय रईसोंके लड़कोंकी शादीमें वेश्या-नृत्य होना एक आवश्यक चीज़ समझी जाती थी। पर आपने इस कुरीतिपर सर्वप्रथम कुठाराघात किया और अपने एकमात्र पुत्र रघुवीरसिंहकी शादीमें वेश्या-नृत्य न कराकर उसके स्थानपर बारातका अन्य अनेक प्रकारके खेल-तमाशोंसे मनोरञ्जन किया। जैनियोंमें सबसे पहले इनका पौत्र वीरेन्द्रसिंह मिलिटरी ऐकेडमी देहरादूनमें फौजी शिक्षाके लिए गया। उस समय वह केवल १०-११ वर्षका था और फौजमें काम करनेकी आज्ञा देना बड़े साहसका काम था।

अंग्रेज़ी सभ्यताकी उत्तम चीज़ें सब इनके घरमें विद्यमान थी, पर प्राचीनताके अच्छे पहलू भी इनके यहाँसे लोप नहीं हो पाये। घरके अन्दर जानेपर वही भारतीय वातावरण दृष्टिगोचर होता था। घर हमेशा भरा और काम-काजमें व्यस्त नज़र आता था। कही गेहूँ चुने जा रहे हैं तो कहीं सब्ज़ियाँ सँवारी जा रही हैं,—तो दूसरी ओर मिठाई बनानेका काम जारी है। कही अंग्रेज़ोंके खानेकी तय्यारी हो रही है तो दूसरी ओर पंडितोंकी रसोईका आयोजन हो रहा है।

इनके घरमें सदैव ही कुटुम्बियों और रिश्तेदारों तथा मिलने-जुलने वालोंका ताँता लगा रहता था। दूर-दूरके रिश्तेदार और नातेदार भी इनकी सहानुभूति और सहायतासे वञ्चित न रह पाते थे। (हर एककी कठिनाईको दूर करना और उनकी समस्याओंको सुलझाना ये अपना पहला कर्तव्य समझते थे।) इन्होंने अपने बैंकोंमें सैकड़ों जैन-बन्धुओंको

स्थान दे रक्खा था तथा जैन व्यापारियोंको सब प्रकारकी सुविधा देने का प्रयत्न करते थे।

सर्वसाधारणके लिए भी यह तत्परतासे सहायता करते थे। इनकी दरीबेवाली साहूकारेकी कोठीमें सदैव सदाव्रत बँटता था और दातव्य औषधालय चलता था।

रायबहादुर साहबको प्रत्येक कार्यक्षेत्रमें अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीलादेवीसे पूरा-पूरा सहयोग मिला और यही कारण है कि उनके किये हुए कामोंमें दुगुनी चमक और उज्ज्वलता दिखाई देती थी। रायबहादुर साहबका प्रथम विवाह सन् १८६० में देहलीके प्रसिद्ध जैन पंडित रिखबदासजीकी सुपुत्रीसे सम्पन्न हुआ था और उन्हींसे एक इनके एकमात्र पुत्र ला० रघुवीरसिंह हैं। पहली पत्नीकी मृत्युके पश्चात् सन् १६०४ मे आपका विवाह श्रीमती सुशीलादेवीसे हुआ जो ला० अजोध्याप्रसाद सर्राफ सहारनपुरकी पुत्री है। श्रीमती सुशीलाजी शादीके समय बहुत ही साधारण-सी शिक्षिता थी, परन्तु रायबहादुर साहबके शिक्षा-प्रेम, व स्त्रियोंके प्रति आदर-भावनाने उन्हें अपनी पत्नीको उत्तम-से-उत्तम शिक्षा देनेकी प्रेरणा दी और श्रीमती सुशीलादेवीने भी अत्यन्त उत्साह और लगनके साथ अपने आपको सब प्रकारसे योग्य बनानेका प्रयत्न किया। जब तक रायबहादुर साहब जीवित रहे, वह उनकी परछाईंकी तरह हर कार्यमें उनके साथ-साथ रहीं। रायबहादुर साहब उनको कई बार अपने साथ विदेश-यात्राको लेकर गये और एकबार तो मिस्टर और मिसिज़ चटर्जीको भी अपने साथ योरुप केवल इसलिए ले गये, कि उनकी उपस्थिति से बुआजी विदेशके वातावरण व सभ्यतासे भलीभाँति जानकारी प्राप्त कर सकें। उन्हींकी इस उच्च भावना और प्रयत्नके फलस्वरूप बुआजी समाज और देशके बड़े-से-बड़े जिम्मेदारीके कामको सफलतासे निभा सकीं (और अब भी उनकी अनुपस्थितिमें निभानेका साहस कर सकी हैं) 'रायबहादुर' की पत्नी होते हुए भी और रायबहादुर साहबका ऊँचे दर्जेके सरकारी सम्बन्धका पूरा-पूरा ज्ञान रखते हुए भी बुआजी राष्ट्रिय

काय्योंमे बराबर दिलचस्पी लेती रही और स्वयम् सक्रिय क्षेत्रमें उतरी। सन् १९३० मे जब पुलिसने महिलाओके उस जुलूसपर लाठी चलाई जो कचहरीपर पिकेटिंग करने गया हुआ था, उस समय बुआजी उस जुलूस की अग्रणी महिलाओमेंसे थी। लाठी और गोली चलनेपर भी वह उस स्थानसे विचलित नही हुई, जहाँ यह पिकेटिंगके लिए खडी हुई थी। वह वर्षों ऑल इण्डिया विमेंस कॉन्फ्रेंसकी प्रेज़िडेण्ट रही है। इन्हीकी मूल प्रेरणासे आज सरस्वती-भवन, जो कि देहलीमे महिलाओकी सबसे उन्नत और जाग्रत सस्था है, चल रहा है। आज इस सस्थाके आधीन शरणार्थी कैम्प, दस्तकारी स्कूल, हिन्दी भाषाकी विशेष क्लासे, गरीबोके लिए औषधालय, सगीत स्कूल आदि कई योजनाएँ चालू है, जिनकी देख-भालका बहुत बडा भार इन्हीके ऊपर है। देहलीमे, विशेषकर महिला-समाजमें कोई सामाजिक या सास्कृतिक योजना ऐसी नही है, जिसमे इनकी सहायता या सहयोगकी आवश्यकता न पडती हो। यह सब कामोमे आज भी अग्रणी रहती है।

उदारता, समाज-सेवा तथा उच्च आदर्शोके प्रति कर्तव्यकी जो भावना रायबहादुर साहब अपने जीवनमे बुआजीके हृदयमे जागृत कर गये, वह आज भी ज्यो-की-त्यो स्थिर है और उनके जीवनका अधिकाश भाग इसी प्रकारके कामोमे व्यतीत होता है। रायबहादुरसाहबका स्वर्गवास सन् १९३० मे अकस्मात् ही एक बहुत छोटे अर्सेकी बीमारीमे हो गया था। घरवालो और मित्रोके हृदयपर एक गहरी चोट लगी, जो अब भी टीस-टीस उठती है। उनके दिवगत होनेसे समाजकी प्रतिष्ठा और समाजके जीवनमे जो अन्तराल पड गया है, वह आज २१ वर्षोंमे भी पूरा नही हो पाया है।

—डालमियानगर,
२ नवम्बर १९५१

—— ० ——
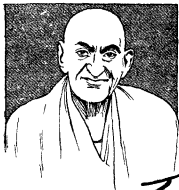
जन्म—	इन्दौर, आषाढ शु० वि० स० १९३१
वर्तमान आयु—	७८ वाँ वर्ष वि० स० २००८

राज-ऋषि

सर सेठ साहब जैनधर्मके पूर्ण श्रद्धालु और जैनसमाजके अनन्य हितैषी है। जितनी लगनसे आपने लक्ष्मीका वरण किया, उतनी ही वैराग्यपूर्ण भावनासे उसका त्याग भी कर दिया। पुराणोमे अतुल धन-सम्पदा-त्यागके उदाहरण पढा ही करते थे, आपने प्रत्यक्ष दिखला दिया। आप जैनसमाजके सदैव आडे वक्तमे काम आये है। तीर्थोंकी रक्षा, मन्दिरोका निर्माण, जीर्णोद्धार, विद्यालयो, औषधालयोके सचालन आदि आपकी मुख्य प्रवृत्ति रही है। जहाँ भी और जब भी समाजको किसी कठिनाई या आपत्तिका सामना करना पडा है। आपने तुरन्त तन, मन धनसे सहायता की है। यदि कतिपय पण्डित आपको रूढिवादी विचारोमे न फँसाये रहते, आपको जैनधर्मके प्रसारका अवसर देते, और आपकी सहायतासे देश-विदेशमे जैन-विद्वान प्रचारके लिए फैल जाते, तो जो स्थान आज बौद्धधर्ममे अशोकको, जैनधर्ममें सम्प्रति और खारवेलको प्राप्त है, वही ऐतिहासिक स्थान सर सेठ साहबको मिला होता।

सर सेठ साहब दि० जैनमहासभाके उसके जन्मसे ही स्तम्भ रहे है। अत कृतज्ञतास्वरूप इसी मईमें उसने प्रस्तुत पुस्तकसे दूनी आकारके ४२८ पृष्ठोका अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किया है। जिसमे १४५ पृष्ठोमे आपकी जीवनी, ८० लाख दानकी सूची और ५८ पृष्ठोमें देशके नेताओ, आदिकी श्रद्धाञ्जलियाँ है। आप निम्न उपाधियोसे विभूषित है—

दानवीर, तीर्थभक्त-शिरोमणि, जैनधर्मभूषण, जैन-दिवाकर, जैन-सम्राट्, रायबहादुर, राज्यभूषण, रावराजा, श्रीमन्त सेठ, के० टी० आई०।

—गोयलीय

पूज्य काकाजी

रा० ब० सेठ हीरालाल काशलीवाल

आज मेरे हर्षकी सीमा नही है। सकोचसे मेरी लेखनी रुक भी रही है। मै उन महान् व्यक्तिको किन शब्दोमें अपने हृदयके श्रद्धा-स्नेह और प्रेमकी पुष्पाञ्जलि चढाऊँ, जिनके चरणोमें पिछले पचास वर्ष मैंने दुनियामें राजसी ठाट-बाटसे जीवनका सुख उठाया और समाजकी सेवामें भी यथाशक्ति योगदान दिया। पूज्य काका साहबकी विशेषताओको, उनके जीवनकी सफलताओके रहस्योको और उनके गुणोको मुझसे अधिक जाननेका कब किसे मौका मिला होगा ? आधी शताब्दीका यह लम्बा इतिहास जैन-समाजकी नव-जागृतिका स्वर्णयुग है और पूज्य सेठ साहब इस जागृतिके जनक होनेके नाते, उनके जीवनकी विविध घटनाओका उल्लेख एक अलग ग्रन्थ-का विषय है। अत आज मनमें उमडनेवाली भावनाओको दबाकर मै उन चन्द सस्मरणो तक ही सीमित रहूँगा, जिनमें कि पाठकोको सेठ साहबकी जीवनकी चमकदार झाँकी दिखला सकूँ।

भारतमें व्यवसायी अनेक हुए, धन भी अनेकोने कमाया और दान-धर्ममें भी लगाया, किन्तु रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी-जैसा व्यव-सायी कलेजेवाला व्यापारी न तो मैंने देखा और न सुना, जिसने न केवल व्यवसाय-क्षेत्रमें प्रतापी प्रभाकरकी तरह नाम कमाया। बल्कि रईसी रहन-सहन, दान-धर्म समाज-सेवा और राज-निष्ठामें उनसे आगे बढा हो। याद हैं मुझे वे दिन जब एक बार नही, अनेक बार अकेले और बेधडक काका साहबने भारतके बाजारोको कॉर्नर किया था। देश ही नही, विदेशो तकमें सनसनी फैली हुई थी कि सेठ हुकमचन्द क्या कर रहा है ? वह फेल हो जायगा। लोग उनको डरानेकी तरह-

तरहकी बातें करते। जीवन-मरणकी उन उत्तेजनाकी घड़ियोंमें भी सेठ साहब हमेशा प्रसन्नमुख रहते। शान्तिके साथ सबसे मिलते-जुलते और सलाहकारोंकी सलाहपर हँसकर रह जाते। वे आधी-आधी रातमें स्थिर मनसे आगामी कलका प्रोग्राम बनाते और तारबाबू बनकर मैं उनके नगर-नगरके बाज़ारोंमें तूफ़ान बरसानेवाले ख़रीद-बिक्री के तारोंके मज़मून लिखता। कानोंकान किसीको ख़बर लगे बिना रातोंरात तार दूसरे दिन बाज़ारोंमें पहुँचते और सेठ हुकमचन्दकी अचानक ख़रीदी बेचवालीसे बाज़ारका संतुलन उलट-पुलट जाता।

कमाल इस बातका है कि हर कार्नरके मौक़ोंपर विजयश्रीने काका साहबके भंडारमें करोड़ोंकी सम्पदाके साथ प्रवेश किया और उनको यशस्वी बनाया, जब कि ऐसे 'कार्नरों' में कभी किसीको भी पूरी कामयाबी नही मिली है।

उनकी सफलताका मुख्य कारण है, उनका तेजस्वी व्यक्तित्व। इस तेजमें वे एक कोमलता भी लिये हुए है। जब वे महसूस करेंगे कि उनकी धारणा ग़लत है, वे एक क्षणका समय लगाये बिना उसे स्वीकार कर लेंगे। जब, उन्हें मालूम हुआ कि सामनेवाला व्यापारी आर्थिक संकटमें है और रुपया चुकानेकी सामर्थ्य उसमें नही है, तो वे उसे बिगाड़नेको कभी तैयार न होंगे, बल्कि उसे माफ़ कर देंगे, किन्तु जब वे यह मानते हों कि वे सही मार्गपर है, उनके विचार व कार्यमें त्रुटि नही है, तो वे सामनेवालेको बोलनेका भी मौक़ा नही देंगे। अपने व्यक्तित्व और आत्मबल तथा इच्छाके द्वारा वे दूसरेको निरुत्तर कर देंगे।

सेठ साहबको धनका लोभ कभी नही हुआ। हो भी क्यों ? उन्होंने इतना कमाया और ऐसे कमाया कि वाह ! तभी वे उसका उपभोग भी कर सके। धनने उन्हें दबाया नहीं, बल्कि वे धनपर हावी रहे। यही कारण है कि उन्होंने अपने जीवनमें बीस-बाईस लाखका एक बड़ा धार्मिक ट्रस्ट बना दिया। लाखोंका दान-धर्म उन्होंने प्रकट-अप्रकटमें किया,

उसका पूरा-पूरा कोई हिसाब नही है। किसी भी शुभ कार्यके लिए देनेमें उनको हिचक नही होती, किन्तु वे बिना जाँचे समझे कभी नही देते। दानका उन्हें शौक रहा है और कुछ-कुछ मै भी उनसे यह स्वभाव पा सका हूँ। मुझे इस बातका दु ख नही कि उस स्वभावसे अनेक बार मै ठगा गया हूँ, किन्तु मुझे तो इसमें भी कुछ ऐसा मजा मिला है कि सेठ साहबकी आज्ञा भी कई बार चाहते हुए भी पालन नही कर सका हूँ। सेठ साहबको ठगना टेढी खीर है।

पूज्य काका साहबमें जो एक अलौकिक गुण है, वह है किसी भी काम करनेका विचार आते ही उसको पूरा करनेकी शीघ्रता। वे कलपर कोई काम छोडनेको कभी प्रस्तुत न होगे। आँधी, पानी, अँधेरी रात और भयकर बाधाएँ ही क्यो न हो? एक-दो नही, पच्चीस आदमियो-को अँधेरी रातमें जगाना पडता हो और कितने ही खाते-बहियोकी जाँच-पडताल क्यो न करनी पडती हो, वह होगा और होकर रहेगा। सेठ तब तक चैन न लेंगे, जब तक कि काम पूरा न कर लेंगे। हम लोगोको सेठ साहब हमेशा उसके लिए उपदेश देते रहते है, किन्तु हम कहाँ है, उन जैसे दुर्धर इच्छा-काय शक्तिवाले? आज वृद्धावस्थामें भी उस स्वभावके कारण उनमें वही चचलता है और जीवन शक्तिकी प्रेरणा।

बहुत कम लोग जानते है कि पिताश्रीके इस यशस्वी जीवन-महलकी नीव रखनेका सौभाग्य किसे प्राप्त है? मुझे मालूम है यह मन्दसौर-वाली माताजी थी, सेठ साहबकी प्रथम स्वर्गीय पत्नी, जिन्होने उनके व्यवसायी जीवनके पुण्य प्रभातमें केवल सोहल वर्षकी आयुमें ऐसा प्रकाश फैलाया कि जीवनका सारा ढाँचा बदल गया। पतनकी ओरसे मुँह मोडकर उत्कर्षकी ओर जो पग उठाया, तो पीछेकी ओर मुडकर कभी झाँका भी नही।

१०-१५ लाखकी अपनी जायदादको अपनी व्यवसाय-कुशलतासे आपने १०-१५ करोडसे भी अधिक बढा लिया, किन्तु वे हमेशा इस बातको

जानते रहे कि सट्टेसे आनेवाली सम्पदा कभी उसी तरह जा भी सकती है। अतः उन्होंने अपनी सम्पत्तिको स्थायी उद्योग-धन्धोंमें लगाया। मध्यभारतमें उद्योगोके जन्मदाताके नाते उनका नाम सदैव औद्योगिकोंमें आदरपूर्वक लिया जाता रहेगा। मिल ही नही, अन्य विविध कारखानोंमें और व्यवसायोंमें भी उन्होंने रुपया लगाया। स्वयं तो लगाया ही, अपने भाइयों और अन्य रिश्तेदारों तथा व्यापारियोंको भी उद्योगोंको अपनाने की प्रेरणा दी। हम लोगोको हमेशा यही सीख देते रहे कि हम सट्टेमें न पड़ें। १९४६ ईस्वी में संयत जीवनका श्रीगणेश करते समय, उन्होंने आम-सभामें हमें फिर यही सलाह दी। उसे आज्ञाके रूपमें मैंने माना और तबसे सट्टा मेरे जीवनसे खत्म हो गया।

सेठ साहब समाज-सेवाके काममें सदैव आगे रहे। अपने व्यस्त जीवनमें भी उन्होंने समाजकी सेवाके लिए सदैव समय निकाला। गरीब-अमीरका भेद-भाव भूलकर सबका हर्ष-शोकमें साथ दिया। दिगम्बर जैन-समाजमें जो कुरीतियाँ सेठ साहबके प्रयत्नोंसे हटी, वह कौन नहीं जानता। देशके चारों कोनेमें जहाँ भी और जब भी समाजके हित या जैनधर्मके सिद्धान्तों, आचार्यों एवं धर्म-तीर्थो-मन्दिरोंपर प्रहार हुए, सेठ साहब वहाँ दौड़कर पहुँचे। तार-टेलीफोनका ताँता उन्होने लगाया। अधिकारियोंको न्यायके लिए प्ररित किया और तब चैन लिया, जब उस अन्यायको समूल नष्ट कर दिया। यदि यह कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी कि समाजका उनसे बडा हितैषी और सेवक कही नज़र नही आता। अपने तेजस्वी व्यक्तित्व, धनकी शक्ति और मिलनसारी स्वभावके कारण सेठ साहबने जिस कामको भी हाथमें लिया, पूरा किया। यह हमारा सौभाग्य है कि वे आज हमारे बीच मौजूद है और अमीरीसे दूर रहते हुए भी समाज-सेवाके किसी कामसे स्वयंको दूर नहीं करते।

नंगे-पाँवों, सिर खुला हुआ, देहपर एक धोती बाँधे और ओढ़े,—जब कुछ लोगोंने उन्हें हमारे प्रान्तके सुयोग्य मुख्यमंत्री बाबू

तख्तमलजी जैनकी कोठीपर ऐन दिनमें देखा, तो सहसा पहिचान न सके कि क्या यही अनेक पदवियोसे विभूषित सर सेठ हुकमचन्द है, जो बढिया झल्लेदार सामन्ती ज़रीकी पगडीमें मलमलका अचकन और चुस्त पैजामा, गलेमें हीरो-पन्नोका कठा और हाथमें अमूल्य हीरोकी अनेक अँगूठियाँ धारण करनेवाला—निराली आन-बान और शानका साहूकारोका बेताज-का बादशाह कहलाता है ?

सादगीकी एक प्रतिमूर्ति बुढापेके बोझसे कमर झुकाये, किन्तु सिहकी दबग चालवाले, जी हाँ यही वह सर सेठ हैं जो आज साधुत्वको सर करनेके लिए वैभव-विलासको अच्छे उच्छिष्ट आमकी गुठलीकी तरह फेंके हुए है। कहाँ तो इन्द्रभवनोमें राजसी-पलगोपर विहार करन-वाला श्रीमत और कहाँ साधु-सतोके बीच भगवत् भजनमें लीन रहने और भगवान्के नामकी माला फेरनेवाला यह सन्यासी व्यक्ति ! कितना बडा परिवर्तन है यह ! क्या कोई महसूस कर सकेगा इस व्यक्तिके अन्दर छिपी हुई अगाधता को ! जीवन भर जिसने मायाको प्यार किया, दुलार किया और जिसके मनुहारमें वह मचलता रहा,—इठलाता और अठखेलियाँ करता रहा अब उससे रूठे हुए है वह !

उनका मेरे प्रति जो प्रेम है, क्या उसका प्रतिदान में कभी दे सकूँगा ? एक अत्यन्त गरीब घरसे वे मुझे उठा लाये थे ५० वर्ष पूर्व, जब कि मै सिर्फ तीन वर्षका ही तो शिशु था। उन्होने मुझे कभी यह महसूस न होने दिया कि मैं माता-पिताके प्यारसे कभी एक क्षणके लिए भी वचित हुआ। मुझ गोद लाये बालकको उन्होने अपने स्वयके सुपुत्रसे भी अधिक लाड-प्यारसे रखा। चि० राजकुमारसिंहके जन्मके बाद भी मेरा दुलार कम नही हुआ और जब पूज्य कल्याणमलजी साहबका स्वर्गवास हुआ, तो उनकी फर्मका वारिस बना दिया। इतना ही नही, अपनी सम्पत्तिका भी लगभग एक करोड रुपया मुझे और दिया। इस कार्यमें भी सेठ साहबने जिस दूरदर्शितासे, मेरे हितका और समस्त परिवारकी भलाईका ध्यान रखा, इसे कौन नही मानेगा ?

मैं उनके अहसानोंसे कितना दबा हुआ हूँ ?

आज एक पुत्र अपने पिताको उनकी मौजूदगीमें किन शब्दोंमें श्रद्धा-जलि दे, समझ नही पा रहा हूँ। मुझे सकोच है, तो इतना ही कि हम उनकी उच्चता और गभीरताको पा न सके, उनके वारिस होकर भी। आज जब अपने भावोको उनके समक्ष प्रकट करनेका सुअवसर मिला है तो मैं तो परमेश्वरसे यही प्रार्थना करूँगा कि परिवारके लिए, समस्त जैन-समाज एव व्यापारिक समाजके लिए वे शतायु हो और हम सबपर उनकी सरपरस्ती बनी रहे।

आज सेठ हुकमचन्दजी हमारे बीच मौजद है। अत उनके प्रखर व्यक्तित्वका महत्त्व हम समझ नही पा रहे ह। मेरी मान्यता है कि भारत-के व्यावसायिक एव औद्योगिक गगनमण्डलमें फिर कभी सेठ साहब-जैसा प्रतापी सितारा प्रकट होना असभव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। सो भगवान् उन्हें चिरायु करें यही मेरी पुन पुन प्रार्थना है।

हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ

मई १९५१

अनुक्रमणिका

विशेष व्यक्ति

ख

ग

घ

च

छ

ज

य

ह

स्थान

ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ

संस्थाएँ

अ

इ

ऋ

ए

क

ग

स

ह

भारतीय ज्ञानपीठ काशी के

[हिन्दी ग्रन्थ]

१ मुक्तिदूत [पौराणिक रोमांस]—श्री वीरेन्द्रकुमार जैन एम ए ५)
२ दो हज़ार वर्ष पुरानी कहानियाँ—डा० जगदीशचन्द्र जैन एम ए ३)
३ पथ चिह्न [स्मृति-रेखाएँ और निबन्ध]—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी २)
४ पाश्चात्य तर्कशास्त्र (अप्राप्य)—श्री भिक्षु जगदीश काश्यप एम ए ६)
५ शेर-ओ-शायरी [द्वितीय संस्करण]—श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय ८)
६ मिलन-यामिनी [गीत]—कविवर बच्चन ४)
७ वैदिक साहित्य—श्री रामगोविन्द त्रिवेदी ६)
८ मेरे बापू—श्री हुकुमचन्द्र तन्मय २।।)
९ पच प्रदीप (गीत)—श्री शान्ति एम ए २)
१० भारतीय विचारधारा (दार्शनिक विवेचन)—श्री मधुकर २)
११ ज्ञानगंगा (श्रेष्ठतम सूक्तियाँ)—श्री नारायणप्रसाद जैन ६)
१२ गहरे पानी पैठ (११८ मर्मस्पर्शी कहानियाँ)
—श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय २।।)
१३ वर्द्धमान [महाकाव्य]—श्री अनूप शर्मा ६)
१४ शेर ओ-सुख़न—श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय ८)
१५ जैन जागरणके अग्रदूत—श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय ५)
१६ हमारे आराध्य—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ३)
१७ आधुनिक जैन कवि—श्री रमा जैन ३।।।)
१८ हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास २।।।=)

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१९	**कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न**—लेखक—गोपालदास जीवाभाई पटेल । अनुवादक—शोभाचन्द्र भारिल्ल	२)
२०	**जैन शासन [द्वितीय संस्करण]**—श्री सुमेरचन्द्र दिवाकर	३)

[प्राकृत-संस्कृत-ग्रंथ]

२१	**महाबन्ध** (महाधवल सिद्धान्त-शास्त्र)— सं०—श्री सुमेरचन्द्र दिवाकर एम ए, एल-एल-बी	१२)
२२	**करलक्खण**—(सामुद्रिक शास्त्र)	१)
२३	**मदन पराजय**—(हिन्दीसार सहित)	८)
२४	**कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची**	१३)
२५	**तत्त्वार्थवृत्ति** (हिन्दी सार सहित) सम्पादक—प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य	१६)
२६	**न्याय विनिश्चय विवरण** (प्रथम भाग) सम्पादक—प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य	१५)
२७	**सभाष्य रत्नमंजूषा** (छन्द शास्त्र)	२)
२८	**नाममाला** (सभाष्य)	३॥)
२९	**केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि** (ज्योतिष-ग्रन्थ)	४)
३०	**आदिपुराण** (प्रथम भाग)	१०)
३१	**आदिपुराण** (द्वितीय भाग)	१०)
३२	**समयसार** (अंग्रेजी)	८)
३३	**कुरल काव्य** (तामिल भाषाका पञ्चम वेद)	४)

पोस्ट बाक्स नं० ४८, बनारस १

ज्ञानपीठके १९५१ के प्रकाशन

— • —

[जो मुद्रित हो चुके हैं, केवल बाइंडिंग शेष है]

१, **हमारे आराध्य**–ये रेखाचित्र श्री बनारसीदास चतुर्वेदीकी सर्वोत्तम कृति हैं। इसमें उन्होंने अपनी आत्मा उडल दी है।

२, **रेखाचित्र** } हिन्दीके तपस्वी सेवक श्री बनारसीदास चतुर्वेदीकी
३, **संस्मरण** } जीवन-व्यापी साधना।

४, **भारतीय ज्योतिष**–ज्योतिषके अधिकारी विद्वान श्री नेमिचन्द्रजी जैन ज्योतिषाचार्यकी प्रामाणिक कृति।

५, **रजत रश्मि** [एकाकी नाटक]–डॉ० रामकुमार वर्मा।

[मुद्रित हो रहे हैं]

१, **राजवार्तिक [हिन्दी सार सहित]**

२, **न्यायविनिश्चय विवरण [द्वितीय भाग]**

३, **वसुनन्दि-श्रावकाचार**

नोट—जो १०) भेजकर स्थायी सदस्य बन जायँगे उन्हें सभी ग्रन्थ पौने मूल्यमें प्राप्त होंगे।

सन् १९५१ की प्रकाशित पुस्तके

भारतीय ज्ञानपीठ काशी